

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178816

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H 1314 Accession No. C-7H 319

U 65 B
Author అమర్త్య సామ్యం,

Title మార్కెట్ డిమాండ్.

This book should be returned on or before the date last marked below.

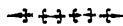
भारतीय-दर्शन

(भारतीय तत्त्वज्ञान की विभिन्न धाराओं का
साङ्गोपाङ्ग संक्षिप्त विवेचन)

[हिन्दी साहित्य सम्मेलन के द्वारा 'मंगलाप्रसाद-
पुरस्कार' से पुरस्कृत]

लेखक

बलदेव उपाध्याय एम० ए० साहित्याचार्य
प्रोफेसर, संस्कृत तथा पाली विभाग
हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी



प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥



प्राक्कथन-लेखक

महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज

प्रकाशक
शारदा मन्दिर
३९ गणेश दीक्षितलेन
बनारस

[हिन्दू विश्वविद्यालय तथा आगरा विश्वविद्यालय की
एम० ए० परीक्षा में पाठ्य-ग्रन्थ-रूप में स्वीकृत]

प्रथम संस्करण १९४२
द्वितीय परिवर्धित संस्करण १९४५
मूल्य ६)

मुद्रक
W. M. Godse
आर्यभूषण प्रेस,
ब्रह्माघाट, बनारस

[सं० १९९८ के श्री मङ्गला-प्रसाद-पारितोषिक के
ताम्रपत्र की प्रतिलिपि]

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन

संवत् १९९८ का

मङ्गलाप्रसाद पारितोषिक

(रु० १२००)

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के ३१ वें वार्षिक अवसर पर

श्री बलदेव उपाध्याय

को

उनकी रचना भारतीय दर्शन के लिए सादर दिया गया

हरिद्वार,

४ ज्येष्ठ

सं० २०००

}

माखनलाल चतुर्वेदी

सभापति

३१ वां हिन्दी साहित्य-सम्मेलन

त्वदीयं वस्तु गोविन्द !

तुभ्यमेव समर्पये ॥

बहुधाप्यागमैर्भिन्नाः पन्थानः सिद्धिहेतवः ।
त्वय्येव निपतन्त्योघा जाह्नवीया इवार्णवे ॥

—कालिदास

रुचीनां वैचित्र्याद्भुजुहुटिलनानापथजुषां ।
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

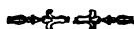
—पुण्ड्रिक

उद्धाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ ! दृष्टयः ।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरिस्त्रिवोदधिः ॥

—सिद्धसेन दिवाकर

तीर्थक्रियान्यसनिनः स्वमनोषिकाभि-
रुप्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यदमी वदन्ति ।
तत् तत्त्वमेव, भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्
संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

—अभिनवगुप्ताचार्य



काशी विश्वविद्यालय के प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने इन पृष्ठों में प्राचीन भारतीय तत्त्वज्ञान का एक साङ्गोपाङ्ग विवरण हिन्दी पाठकों के सामने प्रस्तुत किया है। चार्वाक, जैन, बौद्ध, पण्डित, पाञ्चरात्र और (गौडीय मत को सम्मिलित कर) पाँचों वैष्णव सम्प्रदाय, अद्वैतवाद तथा द्वैतवादी विभिन्न शैव तथा शाक्त—आदि सम्प्रदायों के महत्त्वशाली दर्शन-शास्त्रों की इस ग्रन्थ में आलोचना की गई है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का विवेच्य विषय माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनमंग्रह' की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। स्थान के परिमित होने के कारण ग्रन्थकार को विभिन्न तान्त्रिक तथा शैव-शाक्तादि मतों का विवेचन कुछ संक्षिप्त रूप में देना पड़ा है, परन्तु जो कुछ कार्य वस्तुतः सम्पादित किया गया है वह इतना विशाल है कि यह आवश्यक संकोच विशेष महत्त्व का प्रतीत नहीं होता।

हिन्दी जनता के सामने यह ग्रन्थ भारतीय तत्त्वज्ञान के विषय में एक अत्यन्त मूल्यवान् कृति है। दार्शनिक विचारों का परिपूर्ण तथा क्रमबद्ध विवेचन हाने के अतिरिक्त इस पुस्तक में बहुत ही अधिक उपादेय आलोचना और इतिहास-सम्बन्धी सामग्री संकलित की गई है। भारतीय विचारशास्त्र में महत्त्वशाली मतभेद होने पर भी, वह परस्परसम्बद्ध अखण्डरूप

है और उसके प्रत्येक अंश पर वस्तुतः स्वयं परिपूर्ण होने की छाप पड़ी है। जितनी भिन्नतायें दिखलाई पड़नी हैं, विभिन्न दृष्टियों के मानने के कारण उनकी सुसंगत व्याख्या की जा सकती है। सत्य के खोज करनेवाले साधकों की आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्रगतिशील होती हैं। उन्हीं पर अवलम्बित होने से तार्किक विकाश को ध्यान में रख कर, ये दृष्टियाँ सोपान-परम्परा की तरह क्रमवद्ध रखी जा सकती हैं। प्रत्येक दर्शन का गहरा अध्ययन करने से यह बात प्रमाणित की जा सकती है। ग्रन्थकार के पास पर्याप्त स्थान नहीं है कि वह विषय का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करे। विभिन्न दर्शनों के विषयों के समालोचनात्मक और तुलनात्मक अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की आवश्यकता है।

मुझे पूरा विश्वास है कि भारतीय दर्शन के प्रेमी हिन्दी पाठकों की मण्डली में ही नहीं, प्रत्युत भारत के समग्र विश्व-विद्यालयों तथा शिक्षण संस्थानों में जहाँ हिन्दी स्वतन्त्र रूप से पढ़ाई जाती है या शिक्षण का माध्यम है इस नितान्त उपादेय पुस्तक का सहानुभूति तथा आदर के साथ स्वागत किया जायगा।

काशी }
२१/१४२

गोपीनाथ कविराज



वक्तव्य

(प्रथम संस्करण)

विश्व एक रहस्यमयी पहेली है जिसे मुलज्ञानेके लिए अनेक शिक्षित तथा सभ्य देशो के चिन्ताशील विद्वानो में श्लाघनीय प्रयत्न किया है । भारतीय अध्यात्मवेत्ताओं ने अपनी सूक्ष्म प्रातिभ चक्षु के बलपर जिन तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, अपनी सूक्ष्म कुशाग्र बुद्धि के सहारे जिन सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है, वे दर्शन के इतिहास में नितान्त महत्त्व-शाली हैं । यही विचारशान्त्र भारतीय सभ्यता तथा धर्म का मेरुदण्ड हैं । इस जगतीतल पर भारत के मुख को उज्ज्वल रखने में तथा सिरको ऊँचा उठाये रखने में प्राचीन ब्रह्मवेत्ताओं की यह आध्यात्मिक सम्पत्ति सर्वथा तथा सर्वदा कारण है ॥मानसिक पराधीनता के पंक में डूबनेवाले आधुनिक भारतीय पश्चिमी सभ्यता के चाकचिक्य के सामने इन अनुपम रत्नराशियों की अवहेलना भले करें, परन्तु उन्हें याद रखना चाहिये कि यदि भारत प्राचीन काल में गौरवशाली देश था तो इन्हीं के कारण, यदि आज भी भारत की ख्याति बनी हुई है तो इन्हीं के हेतु और यदि भविष्य में भारत की स्वतन्त्र सत्ता बनी रहेगी, तो पुण्यात्मा पावनचरित अध्यात्मवेत्ताओं के द्वारा साक्षात्कृत इन्हीं दार्शनिक सिद्धांतों के बलपर । तत्त्वज्ञान तो भारतीय सभ्यता और धर्म की मूल प्रतिष्ठा है । इस तत्त्वज्ञान का प्रभाव प्राचीन काल में बाहरी देशो पर पड़ा था

और आज भी इसका प्रभाव किसी न किसी रूप में बाहरी देशों के विद्वज्जनों पर पड़ रहा है। इस तत्त्वज्ञान के उदय और अभ्युदय से परिचित होना प्रत्येक शिक्षित भारतीय का परम कर्तव्य है।

परन्तु परिताप का विषय है कि राष्ट्रभाषा हिन्दी में किसी अधिकारी पुरुष के द्वारा रचित आध्यात्मिक चिन्तनों का प्रामाणिक विवरण अभी तक उपलब्ध नहीं होता। हिन्दो-जगत् में विषय के गाढ़ अध्ययन करने वाले अधिकारी विद्वानोंकी कमी नहीं है, परन्तु अनेक कारणवश उन्होंने हिन्दी को छोड़कर अंग्रेजी को अपने भाव प्रकट करने का माध्यम बना रखा है। छोटे-मोटे ग्रन्थ अवश्य हैं, परन्तु वे दर्शन-विशेष के विषय में हैं और प्रायः अधूरे ही हैं। अतः ऐसे ग्रन्थ की नितान्त आवश्यकता है जिसमें समग्र दर्शन-साहित्य का सागोपाग पर्यालोचन नवीन दृष्टि से किया जाय। इसी अभाव को दूर करने के लिए यह मेरा एक लघु प्रयास है।

इस ग्रन्थ में चार खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में भारतीय दर्शन का उपोद्घात, श्रौत दर्शन और गीता दर्शन का वर्णन है। द्वितीय खण्ड में चार्वाक, जैन और बौद्ध—अर्थात् नास्तिक दर्शनों का विवरण है। तृतीय खण्ड में सुप्रसिद्ध षड्दर्शनों—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्ममीमांसा तथा अद्वैत वेदान्त—का विवेचन है। चतुर्थ खण्ड में तन्त्रों का रहस्य समझाया गया है। तन्त्रों को कुत्सित क्रिया-कलापों से परिपूर्ण तथा हेय ब्रतलाने वालों के आक्षेपों का यथोचित निराकरण कर उनके उन्नत दार्शनिक तत्त्वों की तथा विशुद्ध साधन-प्रणाली की थोड़े शब्दों में व्याख्या की गई है। भारतीय धर्म और सभ्यता के दो प्रतिष्ठापीठ हैं—**आगम** और **निगम**। बिना इन दोनों के तात्त्विक विचारों से परिचित हुए उस वस्तु के वास्तव रूप से हम परिचित नहीं हो सकते जिसे 'भारतीय सभ्यता' का महनीय अभिधान प्रदान किया गया है।

प्रत्येक दर्शन का वर्णन तीन शब्दों में किया जा सकता है जो प्रत्येक सकार में प्रारम्भ होते हैं—साहित्य, सिद्धांत, समीक्षा । 'साहित्य' से मंग अभिप्राय उस दर्शन के उदय तथा अभ्युदय से है । इस अंश में विशिष्ट आचार्यों की पाण्डित्यपूर्ण कृतियों का उल्लेख है । 'सिद्धान्त' का मैंने पश्चिमी पद्धति के अनुसार तीन भागों में बाँट दिया है—प्रमाणमीमासा, तत्त्वमीमासा और आचारमीमासा । 'समीक्षा' अंश में उस दर्शन के तत्त्वों का विवेचक-दृष्टि से थोड़ी मात्रा में वर्णन है । विशेषतः अन्यदर्शनों के द्वारा विहित आलोचना का समावेश इस अंश में किया गया है । इस प्रकार मैंने इस ग्रन्थ में ऐतिहासिक तथा समीक्षात्मक उभय शैलियों का समिश्रण कर विषय का विवेचन किया है । अंग्रेजी ग्रन्थों या केवल कच्चे-पक्के अनुवादों के आधार पर लिखी गई पुस्तक में अपसिद्धान्तों के होने की विशेष आशंका रहती है । इसलिए इस ग्रन्थ का मैंने मूल प्रामाणिक संस्कृतग्रन्थों के आधार पर लिखा है और अपने कथन की पुष्टि में मैंने मूल पुस्तक में या पादटिप्पणियों में तत्तत् ग्रन्थों का पर्याप्त उल्लेख किया है तथा विशिष्ट उद्धरण दे दिया है । 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्, नानवेक्षितमुच्यते' की मन्त्रिनाथी प्रतिज्ञा निभाने का मैंने यथाशक्ति प्रयत्न किया है, परन्तु कह नहीं सकता कि मैं इसमें कितना कृत्यकार्य हूँ । दार्शनिक ग्रन्थों की संस्कृतबहुला तथा पारिभाषिक-शब्दसमन्विता भाषा कितने ही जिज्ञासुओं के हृदय में वैरस्य उत्पादन का कारण बनती है । अतः इस ग्रन्थ की भाषा सीधी-सादी बोधगम्य रखी गई है । हमारा उद्देश्य हिन्दी के साधारण पाठकों के सामने भारतीय दर्शन का सरल संक्षिप्त विवरण रखना है । इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए भाषा तथा भाव दोनों की सुगमता पर विशेष ध्यान दिया है । पुस्तक के अन्त में प्रामाणिक ग्रन्थों की सूची दे दी गई है । आशा है इससे जिज्ञासु पाठकों को विशिष्ट दर्शनों के अध्ययन करने में विशेष सहायता मिलेगी ।

अन्त में अपने सहायकों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते समय मुझे अत्यधिक आनन्द आ रहा है। इस ग्रन्थ के लिखने में मुझे सब से अधिक सहायता महामहोपाध्याय श्रद्धाभाजन पण्डित गोपीनाथ कविराज जी से प्राप्त हुई है जिनके लेखों तथा मौखिक व्याख्यानों का ही उपयोग मैंने यहाँ नहीं किया है, प्रत्युत जिन्होंने अपने अमूल्य समय को व्यय कर इसका भली भ ति संशोधन कर दिया है तथा प्राक्कथन लिखकर इसे गौरवान्वित किया है। इस नैसर्गिक कृपा के लिए मैं हृदय से उनका आभार मानता हूँ। मुद्दुद्वर्य पण्डित बटुकनाथ शर्मा एम० ए० साहित्याचार्य को उनकी विविध बहुमूल्य सहायताओं के लिए मैं धन्यवाद देना अपना परम कर्तव्य समझता हूँ। विरला विद्यालय के प्रधानाध्यापक पं० समापति उपाध्याय, जुबिलीसंस्कृत कालेज (बलिया) के प्रिन्सिपल पूज्यपाद पं० राम उदित उपाध्याय, तथा मित्रवर पं० सत्याशुमोहन मुखोपाध्याय एम० ए० को उत्साहवर्धन तथा सलाह देने के लिए मेरे अनेकशः धन्यवाद हैं। मेरे अनुज पं० वामुदेव उपाध्याय एम. ए. तथा पं० कृष्णदेव उपाध्याय एम. ए. साहित्यशास्त्री, साहित्य-रत्न और चिरंजीवी गौरीशंकर उपाध्याय बी० ए० अनेक प्रकार की सहायता के लिए यथोचित आशीर्वाद के पात्र हैं।

अन्त में बाबा विश्वनाथ से प्रार्थना है कि यह ग्रन्थ अपने उद्देश्यकी पूर्ति में सफलता प्राप्त करे। यदि इसके अध्ययन से एक भी हिन्दी पाठक भारतीय दर्शन के प्रति आकृष्ट होगा, तो मैं अपने परिश्रम को फल समझूँगा।

हंदू विश्वविद्यालय, काशी

व्यास पूर्णिमा १९८८

७/८/४१

बलदेव उपाध्याय

चार शब्द

(द्वितीय संस्करण)

‘भारतीय-दर्शन’ का यह नवीन परिवर्धित संस्करण दर्शन के प्रेमी पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे अपार हर्ष हो रहा है। मुझे स्वप्न में भी इस बात का ध्यान न था कि इस ग्रन्थ का इतना आदर होगा और हिन्दी के प्रेमियों को यह इतना पसन्द आवेगा। दो साल के भीतर ही इसकी समग्र प्रतियाँ खप गईं। अतः कागज की महँगी के इस युग में बड़ी कठिनाई से इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित किया जा रहा है।

इस नवीन संस्करण में अनेक नई बातें स्थान-स्थान पर जोड़ी गई हैं। ग्रन्थकारों के परिचय के सम्बन्ध में जो त्रुटियाँ थीं वे दूर कर दी गई हैं। पङ्क्ति-दर्शन के सिद्धान्तों का संशोधन कर दिया गया है। तन्त्र के परिच्छेद में अनेक ज्ञातव्य विषयों का सन्निवेश किया गया है। ‘रसेश्वर-दर्शन’ तथा ‘पाणिनीय-दर्शन’ का परिचय एक दम नया है। जैन तन्त्र, वीर शैवमत तथा प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सिद्धान्तों की विशेष बातें विस्तार से यहाँ दी गई हैं। पञ्चमकारों का आध्यात्मिक तात्पर्य इस बार प्रदर्शित किया गया है। इस प्रकार संशोधन तथा परिवर्धन से ग्रन्थ की उपादेयता अधिक बढ़ गई है। परिशिष्ट रूपमें पाश्चात्य दर्शनों के भी संक्षिप्त परिचय देने की मुझे बड़ी इच्छा थी, परन्तु इस विषय पर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की प्रबल इच्छा से इस कार्य को इस समय स्थगित कर दिया।

आगरा विश्वविद्यालय और हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्कृत एम० ए० परीक्षा में यह ग्रन्थ पाठ्यरूप से अंगीकृत किया गया है। एतदर्थ इन विश्वविद्यालयों के अधिकारियों को अनेक धन्यवाद। हिन्दी साहित्य सम्मेलन को भी मैं हार्दिक धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिसने इस ग्रन्थ को मंगला प्रसाद पुरस्कार प्रदान कर पुरस्कृत किया है तथा मेरा उत्साह बढ़ाया है। इस ग्रन्थ को अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी निकालने का आयोजन है। अभी इसका गुजराती अनुवाद हो रहा है और अनुकूल परिस्थिति होते ही वह प्रकाशित भी शीघ्र ही होगा।

मेरा विचार विभिन्न दर्शनों के ऊपर स्वतन्त्र पुस्तक लिखने का है। इनमें 'बौद्ध दर्शन' तथा 'वैष्णव दर्शन' का सांगोपांग विवेचन लिखकर प्रस्तुत है जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। आशा है हिन्दी जनता 'भारतीय दर्शन' के समान इन्हें भी अनावेगी।

अन्त में धर्मप्राण सेठ जयदयाल गोयनका का मैं विशेष आभार मानता हूँ जिनकी कृपा से इस ग्रन्थ के छापने के लिए कागज मिल सका है। आर्यधर्म के सच्चे हितैषी श्रीनारायणदास बाजोरिया को भी मैं इस प्रसङ्ग में नहीं भूल सकता जिन्होंने इस दर्शन ग्रन्थ को पुरस्कृत कर अपना गुण ग्राहता का पर्याप्त परिचय दिया है। आशा है यह नवान संस्करण पाठकों को अधिक उपयोगी प्रतीत होगा।

काशी
पौष शुक्ल एकादशी
स० २००१

}

बलदेव उपाध्याय

विषय-सूची

प्रथम खण्ड पृ० १-११२

प्रथम परिच्छेद पृ० १-४७

विषय	पृष्ठ
उपोद्धात	१-४७
१. 'दर्शन' का अर्थ तथा उपयोग	१-१०
उपयोगिता २-३; दर्शन का अर्थ ३-४; 'फिलासफी' शब्द के साथ तुलना ४-५; दर्शन तथा फिलासफी में उद्देश्यविषयक पार्थक्य ५-६; पाश्चात्य-दर्शन का श्रेणी-विभाग ६-१०; मेटा-फिजिक्स ७; एपिस्टोमोलॉजी ७-८; लॉजिक ८; एथिक्स ८-९; एस्थेटिक्स ९; साइकोलॉजी ९-१० ।	
२. भारतीय दर्शन की कतिपय विशेषतायें	पृ० १०-१७
स्वतन्त्र स्थिति १०-११; दर्शन और धर्म ११-१२; अविच्छिन्नता १२-१४ विवेचनात्मकता १४-१५; व्यापक दृष्टि १५-१६; अनुभव की पूर्ण व्याख्या १६-१७ ।	
३. भारतीय दर्शन का लक्ष्य	पृ० १७-२२
आत्मा की श्रेष्ठता १८ १९, याशवल्क्य का उपदेश १९-२०; आत्म-साधना के त्रिविध साधन २०-२२; श्रवण २०-२१ मनन २१; निदिध्यासन २१-२२ ।	
४. भारतीय दर्शन परमिथ्यारोप	पृ० २३-२७
नैराश्यवाद २३-२४; अकर्मण्यता २४-२५; श्रुति और तर्क २५-२७ ।	

विषय

पृष्ठ

५. भारतीय दर्शनके श्रेणीविभाग तथा कालविभाग पृ० २७-३२
 'आस्तिक' का अर्थ २७-३०; काल-विभाग ३०-३२; (१)
 वैदिककाल ३०; (२) आदिम उत्तर-वैदिककाल ३०-३१;
 (३) दर्शनकाल ३१; (४) वृत्तिकाल ३१-३२ ।
६. भारतीय दर्शनों का विकास पृ० ३२-३८
 वैदिक युग में द्विविध प्रवृत्तियाँ—प्रज्ञामूलक और तर्कमूलक
 ३२-३४; पण्डितदर्शनो का विकासक्रम ३४-३५; बौद्धदर्शन का
 उदय ३५-३६; जैन-दर्शन की उत्पत्ति ३६; दार्शनिक साहित्य
 का विकास ३६-३७; पण्डितदर्शन का श्रेणी विभाग ३८ ।
७. भारतीय दर्शनों की पारस्परिक समानता पृ० ३८ ४७
 व्यावहारिक उद्देश्य ३९; वर्तमान से असन्तोष ३९-४१; नैतिक
 व्यवस्था में विश्वास ४१-४२, कर्म-सिद्धान्त ४२; बन्धन और
 मुक्ति ४२-४३; मोक्ष ४३-४४; मोक्ष-मार्ग ४५-४७ ।

द्वितीय परिच्छेद ४८-८७

श्रौत दर्शन

वेद का महत्त्व ४८-४९ वेदविभाग—संहिता ४९-५०; ब्राह्मण
 तथा उपनिषद् ५०-५१; वैदिक-साहित्य ५३; देवता-बहुत्व
 ५२-५४; वैदिक देवता—पाश्चात्यमत ५४-५६; देवता तत्त्व
 ५६-५७; ऋत ५८, देवताओं के द्विविध रूप—स्थूल तथा सूक्ष्म
 ५९-६१; हिरण्यगर्भ ६१-६२; पुरुष ६२-६३ 'स्कम्भ' ६३
 'उच्छिष्ट' ६३-६४; अद्वैत की भावना ६५-६६; ब्राह्मण तथा
 आरण्यक ६६-६७; उपनिषद् ६७-८७; महत्त्व ६७-६८; 'उप-
 निषद्' का अर्थ ६८; संख्या ६९-७०; मुख्य तात्पर्य ७०-७१ ।
 (१) आत्मतत्त्व ७१-७५; 'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति
 ७२-७३; शुद्ध आत्मा की चैतन्य स्वरूपता ७३-७४; आत्माकी

विषय

पृष्ठ

चार अवस्थायें ७४-७५; (२) ब्रह्मतत्त्व ७५-८४; द्विविध ब्रह्म-सगुण और निर्गुण ७५-७७; सगुण ब्रह्म ७७-७९; ब्रह्म का स्वरूप लक्षण ७७; ब्रह्म का तटस्थ लक्षण ७८-७९; निर्गुण ब्रह्म ७९-८१; जगत् ८०-८१; (३) उपनिषदों का व्यवहार पक्ष ८१-८५; कर्मस्वातन्त्र्य ८२-८३; द्विविध यान - देवयान तथा पितृयान ८३-८५; (४) उपनिषदों का चरम लक्ष्य ८५-८७ स्वाराज्य-प्राप्ति ८६-८७ ।

तृतीय परिच्छेद ८८-११२

गीता-दर्शन

१. महाभारत-पूर्वकाल

पूर्ण काश्यप ९०; अजितकेशकम्बल ९०; प्रकृष कात्यायन ९०-९१; संजय वेदव्यासपुत्र ९१; मंखलि गोसाल ९१-९४ ।

२. गीता

९४-९६

महत्त्व ९४-९५; गीता का स्वरूप ९५-९६ ।

३. गीता का अध्यात्मपक्ष

९६-१०२

(१) ब्रह्मतत्त्व ९६-९७; ब्रह्म के दो भाव ९७-९८; दो प्रकृतियों ९८-९९; (२) जीवतत्त्व ९९-१०० (३) जगत्तत्त्व १००-१०१ (४) पुरुषोत्तम १०१-१०२ ।

४. गीता का व्यवहारपक्ष

१०२-११२

विभिन्न मार्गों का सामञ्जस्य १०२-१०४ (१) गीता तथा कर्मयोग १०४-१०६; (२) गीता तथा ज्ञानयोग १०७ (३) गीता तथा ध्यानयोग १०८-१०९; (४) गीता तथा भक्तियोग १०९-११० (५) समन्वयमार्ग ११०-१११ (६) सिद्धावस्था १११-११२

द्वितीय खण्ड ११३-२२७

चतुर्थ परिच्छेद ११३-१३७

चार्वाक-दर्शन

विषय

पृष्ठ

महाभारतोत्तर युग ११३-११५; आरम्भ ११५-११६; नामकरण ११६-१८; संस्थापक ११८-१९; चार्वाकग्रन्थ ११९-२० ।

१. चार्वाक-ज्ञानमीमांसा १२०-१२६.

प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता १२०; अनुमान की अप्रामाणिकता १२१-२३; अनुमान तथा लोकव्यवहार १२३; स्वभाववाद १२३-२५; शब्द-प्रमाण की असिद्धि १२५-२६

२. चार्वाक-तत्त्वमीमांसा १२७-२९.

(१) जगत् १२६ (२) जीव १२७-२८ (३) ईश्वर १२९

३. चार्वाक आचार-मीमांसा १२९-३४

धर्म की अस्वीकृति १३०-३१ आधिभौतिक सुखवाद १३२-३३; पाश्चात्य दर्शन तथा चार्वाक मत १३३-३४

४. समीक्षा १३४-३७

चार्वाक ज्ञानमीमांसा की विशेषतायें १३६ व्याप्ति-निरास १३६ चार्वाक समाज-व्यवस्था १३६-३७ ।

पञ्चम परिच्छेद १३८-१७४

जैनदर्शन

१. जैनधर्म का उदय तथा विस्तार १३८-४२

पार्श्वनाथ १३९-४० वर्धमान महावीर १४०-४१; 'श्वेताम्बर' तथा 'दिगम्बर' का भेद १४१-४२ यापनीय संघ १४२ ।

२. जैन प्रमाण-साहित्य १४३-५०

(१) आगम-ग्रन्थ १४३-४४ (२) आरम्भ काल १४४-४७

विषय

पृष्ठ

उमास्वाति १४४; सुन्दरिका १४५ समन्तभद्रः १४४-४७; (३)

मध्ययुग १४७-४९; सिद्धसेन दिवाकर; वादिराज; हरिभद्र; भद्र
अकलंक; विद्यानन्द; १४९ (४) अवान्तरयुग १४९-१५०;—देव-
सूर; हेमचन्द्र; मल्लिपेणमूरि; गुणरत्न; यशोविजय १४९-५० ।

३. जैन ज्ञानमीमांसा १५-५८

परोक्ष के भेद १५०-५१; प्रत्यक्ष के भेद १५१-५२, हेमचन्द्रसम्मत
प्रमाणविभाग १५२-५३ स्याद्वाद १५३-५४ नयवाद १५४, दार्शनिक
विरोध का कारण १५५, स्याद्वाद का अर्थ १५५, स्याद्वाद की
उत्पत्ति १५६-५७, सप्तमङ्गी नय १५७-५८ ।

४. जैन तत्त्व-समीक्षा १५८-६७

द्रव्य १५९, सत् की व्याख्या १५९-६०; द्रव्य-विभाग १६१-६३,
जीव; १६३-६४ अजीव १६४-६७ (१) पुद्गल १६४ (२)
आकाश १६५ (३) काल १६५-६६ (४) धर्म १६६ (५)
अधर्म १६७ ।

५. जैन आचारमीमांसा १६७-७१

रत्नत्रय १६८, कर्म १६८, सप्तपदार्थ १६८-७०, गुणस्थान १७०-७१
सम्यक् चारित्र १७१ ।

६. समीक्षा १७२-७४

षष्ठ परिच्छेद १७५-२३७

बौद्ध-दर्शन

गौतम बुद्ध १७५-७६ त्रिपिटक १७६-१७७ ।

१. बुद्ध की आचार शिक्षा १७७-८४

आर्यसत्य १७९-८०, अष्टाङ्गमार्ग १८०-८२, त्रिरत्न १८२-८४ ।

२. दार्शनिक सिद्धान्त १८४-८७

(१) नैरात्म्यवाद १८४-८५, आत्माके विषयमें नागसेनमत १८५-
१८६, (२) सन्तानवाद १८६-८७ ।

विषय

पृष्ठ

३ बौद्धधर्म का धार्मिक विकास

१८७-९५

धार्मिक सम्प्रदाय १८७-९०, त्रिविध यान १९०-९१, चार अव-
स्थायें १९१-९३, बोधिसत्त्व १९२-९५ ।

४. दार्शनिक विकास

१९५-२२३

तार्किक विकास १९६-९७, ऐतिहासिक विकास १९७-९९ (क) वैभाषिक मत २०१-६०, माहिस्य-कात्यायनीपुत्र, वसुवन्धु, संघभद्र २०१-०२, 'सिद्धान्त' २०३-०५, निर्वाण २०५-०६, (ख) सौत्रा-
न्तिक मत २०६-१४, नामकरण २०६, आचार्य कुमारलब्ध; श्रीलब्ध; धर्मत्राता; बुद्धदेव; वसुमित्र; यशोमित्र २०७-०९; 'सिद्धान्त' २०९-१०; (ग) योगाचार सम्प्रदाय २१०-१६; आचार्य-मैत्रेय; असंग; स्थिरमति; दिङ्नाग; धर्मकीर्ति; धर्मपाल २१०-१३; विज्ञानवाद २१३-१६ (घ) माध्यमिक मत २१६-२१; आचार्य—नागार्जुन; आर्यदेव; स्थविर बुद्धपालित; भावविवेक; चन्द्रकीर्ति; शान्तरक्षित २१६-१८ । शून्यवाद २१८; शून्य का अर्थ २१९; सिद्धान्त २००-२३ ।

५. समीक्षा

२२३-२७

क्षणगंग निरास २२४; वासनानिरास २२५; विज्ञानवादखण्डन २२६-२७ ।

तृतीय खण्ड २२८-४५५

सप्तम परिच्छेद २२८-७०

न्याय-दर्शन

१. नामकरण और आरम्भ

२२८-३१

नामकरण २२८-२९ न्याय विद्या की उत्पत्ति २३०-३१ ।

विषय

पृष्ठ

२. न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य २३१-३८
 गौतम; वात्स्यायन; उद्योतकर २३३-३४ वाचस्पतिमिश्र;
 जयन्तभट्ट; भास्वर्ज्ञ उदयनाचार्य; गङ्गेश २३२-३६; नवद्वीप
 के नैयायिक—रघुनाथ शिंगमणि; मथुरानाथ जगदीश भट्टाचार्य;
३. न्याय-प्रमाण मीमांसा २३९-६०
 प्रप २३९-४०; अन्यथाख्याति २४१-४२; (क) प्रत्यक्ष २४२-४५;
 प्रत्यक्ष के भेद २४३-४४ अलौकिक सन्निकर्ष २४-४५; (ख)
 अनुमान २४५—५४ अनुमान के भेद २४६-४८; न्याय अथवा
 पञ्चायव वाक्य २४८-५०; अनुमान की मूलभित्ति २५०-५३;
 पाश्चात्य अनुमान वाक्यमे 'न्याय' की तुलना २५३-५४ हेत्वाभास
 २५९-६०; (ग) उपमान २५५-५७ (घ) शब्द २५७-६०; कार्य
 कारणसिद्धान्त—परम्भवाद—कारणभेद २५८-६० ।
- ४ न्याय-तत्त्वमीमांसा २६०-६२
 प्रमेय—२६०; ईश्वरसिद्धि के प्रमाण २६१-६२ ।
- ५ न्याय आचारमीमांसा २६२-६७
 प्रवृत्तिविचार २६३ मुक्ति २६४-६६, मुक्तिमार्ग २६७
- ६ समीक्षा २६७-७०

अष्टम परिच्छेद २७१-३०७

वैशेषिक दर्शन

नामकरण २७१-७२ ।

१. वैशेषिक दर्शन के आचार्य २७३-७८
 कणाद; प्रशस्तपाद २७३; व्योमशिवाचार्य; उदयनाचार्य श्रीधरा-
 चार्य; श्रीवत्स; नल्लभ-चार्य, पद्मानाभ मिश्र; शिवादित्य मिश्र; शंकर
 मिश्र; विश्वनाथ न्याय-पञ्चानन; अन्नभट्ट २७३-७८ ।

- विषय पृष्ठ
२. वैशेषिक तत्त्वमीमांसा २७९-२९९
 पदार्थ विभाग (१) द्रव्य २८०-८३ आत्मा; आत्मा के इन्द्रियात्मक होने का खण्डन २८४; मन आत्मा नहीं २८४-८५; आत्मा के शरीरात्मक होने का खण्डन २८५. आत्मा की अनुमेयता—प्राचीन मत, आत्मा का मानस प्रत्यक्ष—नवीन मत; दोनों का समन्वय—जयन्त भट्ट २८६-८७; मन २८७-८८; (२) गुण २८८-८९; (३) कर्म २९० (४) सामान्य २९१-९२; (५) विशेष २९२-९३ (६) समवाय २९३-९४ (७) अभाव २९४-९६; परमाणुवाद २९६-९९. जगदुपादान के विषय में नानामत २९६-९७; उत्पत्ति क्रम २९८-९९ ।
३. वैशेषिक ज्ञान-मीमांसा ३००
४. वैशेषिक कर्तव्य मीमांसा ३०१-०३
 धर्म. कर्म, मोक्ष ३०१-३०२; ईश्वर ३०३ ।
- ५ समीक्षा ३०३-०७
 जाति-समीक्षा ३०५-०६; परमाणुकारणवाद समीक्षा ३०६-०७ ।

नवम परिच्छेद ३०८-४३

सांख्य-दर्शन

सांख्य का अर्थ ३०८ ।

१. सांख्य का उद्गम और विकास ३०९-१२
 सांख्य और उपनिषद् ३०९-१०; काल-विभाग ३११-१२;
२. प्रसिद्ध सांख्य-चार्य ३१२-१८
 कपिल; आसुरि; पञ्चशिख; ईश्वरकृष्ण; माठर, गौडपाद,
 युक्तिदीपिकाकार, वाचस्पति, शङ्करार्य, विन्ध्यवासी; विज्ञानभिक्षु
 ३१८ ।

- विषय पृष्ठ
 ३. सांख्य-तत्त्वमीमांसा ३१८-३०
 कार्यकारण सिद्धान्त ३१९-२१; सांख्य का वास्तववाद ३२१,
 प्रकृति ३२२-२३; जगत् का स्वरूप ३२३-२५ गुण ३२३-२५; पुरुष
 ३२५-२७ सृष्टिक्रम ३२७-३० ।
४. सांख्य-ज्ञानमीमांसा ३३०-३४
 ज्ञान ३३०-३२ सदसत् ख्याति ३३३ प्रमाण ३३४ ।
५. सांख्य-कर्तव्यमीमांसा ३३४-४०
 आवापगमन ३३५ अपवर्ग ३३६-३७ जीवन्मुक्ति ३३७-३८ ।
 ३३८ ईश्वर ३३९-४० ।
६. समीक्षा ३४०-४३

दशम परिच्छेद ३४४-६६

योग-दर्शन

योग की प्राचीनता ३४५ उपनिषद् और योग ३४६-४७ ।

१. योग के आचार्य ३४७-४९
 पतञ्जलि, व्यास, सूत्र और भाष्य के टीकाकार ३४८-४९ ।
२. योग मनोविज्ञान ३४९-५८
 चित्त ३४९-५० चित्त की भूमि ३५०-५१ चित्त की वृत्तियाँ
 ३५१-५२ संस्कार ३५२ द्विविध योग ३५३-५४ समाधि के भेद
 ३५४ सप्रज्ञात के भेद ३५४-५५ अमप्रज्ञात के भेद ३५५-५७
 क्लेश ३५७-५८ ।
३. योग-कर्तव्य मीमांसा ३५८-६५
 (१) यम ३५८ (२) नियम ३५८ (३) आसन ३५९ (४) प्राणा-
 याम ३५९-६० (५) प्रत्याहार ३६० (६) धारणा ३६० (७)
 ध्यान ३६१ (८) समाधि ३६१ कैवल्यप्राप्ति ३६१-३६२ योगी-
 भेद ३६३-६४ ईश्वर ३६४-६६ ।

विषय

पृष्ठ

४. उपसंहार

३६६

एकादश परिच्छेद ३६७-९७ मीमांसा दर्शन

‘मीमांसा’ की प्राचीनता ३६७-६८ ।

१. मीमांसा के मुख्य आचार्य ३६८-७६
जैमिनि; उपवर्ण ३६८-६९ भवदाम, शबरस्वामी ३६९-७०, भाट्ट
मत के आचार्य ३७०-७५ कुमारिल भट्ट, मण्डनमिश्र, उम्बेक
३७०-७२ पार्थसारथि मिश्र, माधवाचार्य, वेदान्तदेशिक ३७३;
खण्डदेव मिश्र, अप्यदाक्षित, आपदेव, अनन्तदेव; नारायणभट्ट
३७३-७४ गुरुमत के आचार्य ३७४-७५ प्रभाकर मिश्र, शालिक-
नाथ, भवनाथ, नन्दाश्वर, रामानुजाचार्य ३७४-७५ मुरारि मिश्र
३७६ ।
२. मीमांसा ज्ञान मीमांसा ३७६-८५
प्रत्यक्ष और अनुमान ३७६-७७ उपमान ३७७; शब्द ३७८-८०;
वेद-विषय विभाग ३८०-८१; अर्थापत्ति ३८१ अनुपलब्धि या
अभाव ३८२ प्रामाण्यवाद ३८२-८४ भ्रमज्ञानअख्याति विपरीत-
ख्याति ३८४-८५ ।
३. मीमांसक तत्त्वसमोक्षा ३८५-९०
(क) पदार्थ-कुमारिल, प्रभाकर और मुरारि ३८६-८७ (ख) जगत्
३८७-८८ (ग) आत्मा ३८८-९० ।
४. मीमांसक आचारमीमांसा ३९०-९७
धर्म भावना-कर्म ३९०-९१; ईश्वर ३९३-९४; मोक्ष ३९४-९७ ।
५. उपसंहार ३९७

विषय

पृष्ठ

द्वादश परिच्छेद ३९८-४५५

अद्वैत वेदान्त-दर्शन

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार ३९९; ब्रह्मसूत्र ४०२

१. अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य ४०२-१३

शंकरपूर्व वेदान्ताचार्य ४०२-०६; आत्रेय आश्वमथ्य ४०२, औडु-
लोमि, कार्णार्जुनि, काशकृत्स्न. जैमिनि, वादरि ४०३, काश्यप
४०४ शंकर-पूर्व वेदान्ताचार्य ४०४-६; शंकराचार्य ४०६-०७. (१)
मण्डन मिश्र; (२) मुनेश्वराचार्य; (३) पद्मसादाचार्य; (४) सर्वज्ञा-
त्ममुनि ४०९-१०; (५) वाचस्पतिमिश्र (६) विमुक्तात्मा (७) श्रीहर्ष
(८) अद्वैतानन्द (९) आनन्दबोध (१०) चित्मग्न्याचार्य (११)
अमलानन्द (१२) विद्यारण्य ४०७-०९ (१३) शंकरानन्द (१४)
आनन्दगिरि (१५) प्रकाशानन्दयति (१६) अखण्डानन्द ४०९
(१७) भृगुसूदन सरस्वती ४०९ (१८) ब्रह्मानन्द सरस्वती (१९)
नृसिंहाश्रम सरस्वती (२०) अप्यय दाक्षित ४१० (२१) धर्मराजा-
ध्वरान्द्र (२२) रामकृष्ण (२३) सदानन्द (२४) गोविन्द (२५)
नारायण तीर्थ (२६) सदानन्दयति, गौडपाद ४११-४१३।

२. वेदान्त तत्त्वमीमांसा ४१३-४२

आत्मा की स्वयंसिद्धता ४१३-१४; आत्मा की ज्ञानरूपता ४१५-
१६ आत्मा की अद्वैतता ४१६-१८; ब्रह्म ४१८-२० माया ४२०-
२३ माया की शक्तियाँ ४२३-२४ ईश्वर ४२४-२६; ईश्वर—उपा-
दानकारण ४२५-२६ उपास्य ब्रह्म ४२६; जीव ४२६-२८; जीव
और ईश्वर ४२९; वेदान्त में जड़तत्त्व ४३०-३४ सांख्यमत का
निरास ४३०-३१ वैशेषिक मत का तिरस्कार ४३२-३३ बौद्धमत
के सिद्धान्त ४३२-३३; द्वैतवाद का निरास ४३४; जगत् ४३४-

विषय

पृष्ठ

३९; सृष्टि ४३७; त्रिविध सत्ता ४३७-३९; अनिर्वचनीयताख्याति ४३९-४० विवर्तवाद ४४०-४१ अध्याम ४४१-४२ ।

३. वेदान्त आचारम मांसा ४४२-५४
कर्म ४४४-४६; ज्ञान-प्राप्ति ४४६ ४८ आत्मा तथा ब्रह्म की एकता ४४८-५०; शांकरमत की मौलिकता ४५०-५१, शंकर से प्राचीन अद्वैतमत ४५०, शंकरपरवर्ती आचार्यों के मत-आभामवाद, प्रतिविम्बवाद अवच्छेदवाद, एकजीववाद ४५१-५४ ।

४. समीक्षा ४५४-५५

चतुर्थ खण्ड ४५६-६१४

त्रयोदश परिच्छेद ४५६-८१

वैष्णव तन्त्र

तन्त्र ४५६-५७, तन्त्रभेद ४५८ ।

१. (क) पाञ्चरात्र की प्राचीनता ४५८-६४
पाञ्चरात्र आर वेद ४६०-६२, साहित्य ४६२ ६४ ।
(ख) पाञ्चरात्र की तत्त्वमीमांसा ४६४-७०
पाङ्गुण्य ४६५ भगवान् की शक्तियाँ ४६५-६६ शुद्ध सृष्टि ४६७-६९, (१) व्यूह ४६७, (२) विभव ४६८, (३) अर्चावतार ४६८, (४) अन्तर्यामी ४६८, शुद्धेतर सृष्टि ४६८-६९, जीवतत्त्व ४६९-७० ।
(ग) पाञ्चरात्र का साधन मार्ग ४७०-७२
शरणागति, शरणागति के ६ भेद मोक्ष ४७०-७२ ।
२. वैखानस आगम ४७२-७५.
परिचय ४७२-७३; सिद्धान्त ४७४-७५ ।
३. श्रीमद्भागवत ४७५-८१
भागवत की टीकायें ४७६, सिद्धान्त ४७६-४७७ साधन—मार्ग ४७६-७९, भागवत-रचनाकाल ४८० ।

विषय

पृष्ठ

चतुर्दश परिच्छेद ४८२-५३२

वैष्णव दर्शन

१. रामानुज-दर्शन ४८२-९९

आलवार—परिचय और ग्रन्थ ४८३-८५ ।

(क) विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य ४८६-९०

(१) रंगनाथ मुनि (२) यामुनाचार्य ४८६-८७ रामानुजाचार्य;
 परवता आचार्य ४८०-८८ दो मत ४८८-८९ विशिष्टाद्वैतसाहित्य
 ४८९-९० (१) मुदर्शन मूर (२) वैकटनाथ ४८८-८९ (३) लोका-
 चार्य (४) वरवरमुनि (५) श्रीनिवास (६) रगरामानुज ४९० ।

(ख) रामानुज की पदार्थ मीमांसा ४९०-९७

ईश्वर ४९१-९३ अद्वैतमत से पार्थक्य ४९३-९४; चित् ४९४;
 ब्रह्म तथा जीव का सम्बंध ४९५. 'तन्वमस' का अर्थ ४९५-९६
 अचित् तत्त्व ४९६-९७ ।

(ग) साधन मार्ग ४९७-९९

२. माध्व मत ५००-५०८

आचार्य ५००-०२, जयतीर्थ; आनंदतीर्थ ५००; व्यासतीर्थ; रघूत्तम
 तीर्थ; रामाचार्य; वेदेशभिक्षु; ५०१ वनमाली मिश्र; विजयीन्द्र;
 पूर्णानंदचक्रवर्ती, वेणीदत्त ५०२ । माध्व पदार्थमीमांसा ५०२-
 ६०५, पदार्थ भेद ५०२-५०६, परमात्मा ५०४ लक्ष्मी ५०४,
 जीव ५०५-०६, साधन मार्ग ५०७-८ ।

३. निम्बार्क मत ५०८-१७

आचार्यगण ५०८-१० निम्बार्क ५०८, श्रीनिवासाचार्य केशवभट्ट,
 श्रीपुरुषोत्तमाचार्य श्रीदेवाचार्य, अनंतराम, पुरुषोत्तम प्रसाद,
 माधवमुकुंद ५०९-१० ।

विषय

पृष्ठ

(क) भेदाभेद का ऐतिहासिक परिचय ५१०-१४

मनूप्रपञ्च ५११; भास्कर ५१२-१३; यादव ५१३-१४ ।

(ख) निम्बार्क-पदार्थ मीमांसा ५१४-१७

जीव ५१०-१५; अचित् ५१६; ईश्वर ५१६-१७ ।

४. वल्लभ मत ५१७-२४

आचार्य ५१७-१९; वल्लभाचार्य; विद्वलनाथ; कृष्णचन्द्र; पुरुषोत्तम

गिरवर महाराज; हारराय ब्रजनाथमठ; बालकृष्णमठ ५१८-१९;

'सिद्धान्त' ५२०-२४ ब्रह्म ५२०; जाव ५२१; जगत् ५२२;

पृष्ठिमार्ग ५२३, भक्ति ५२४ ।

५. चैतन्य मत ५२५-३०

आचार्य, चैतन्यदेव; श्रीरूपगोस्वामी; श्रीमनातन गोस्वामी;

श्रीजीवगोस्वामी; विश्वनाथ चक्रवर्ती; कृष्णदाम कविराज, बलदेव

विद्याभूषण ५२५-२६ सिद्धान्त ५२६-३१ भगवान् ५२६ जगत्

५२९. साधनमार्ग ५२९-३० उपसंहार ५३१-३२ ।

पञ्चदश परिच्छेद (५३३-६०४)

शैव-शाक्ततन्त्र

१. तन्त्र-सामान्य परिचय ५३३-४५

आगम निगम ५३५, प्राचीनता ५३६, भाव और आचार ५३६-

३७ कौलममदाय ५३८, समयाचार ५३९. फलाचार ५४१-४३

प्रामाणिकता ५४३-४४ तंत्रभेद ५४४ ।

२. बौद्ध-जैनतन्त्र ५४५-५२

वज्रयान पृजा ५४५, बौद्धतंत्र की उत्पत्ति ५४७, बौद्धतन्त्र ५४८-५० ।

जैनतन्त्र ५०

तंत्र साहित्य ५५१, मन्त्रिषण ५५२ ।

३. शैव-शाक्ततन्त्र ५५३-५५८

शैव सम्प्रदाय ५५३, पागुपत—इतिहास और साहित्य ५५४-५५

लकुर्लीश ५५४, शैव सिद्धान्त—आगम ५५४-५८ शैवाचार्य—

मन्त्र-योग—

विषय

पृष्ठ

हरदत्त; गमकण्ठ; श्रीकण्ठ; नारायणकण्ठ; भोजराज; अघोर-
शिवाचार्य ५५७-५८ वागशैव-इतिहास ५५८; प्रत्यभिज्ञा
दर्शन—उत्पत्ति ५५६, आचार्य—बसुगुप्त; कल्लट, सोमानन्द;
उत्पल, अभिनवगुप्त; क्षेमराज ५५६-६१ । शाक्ततन्त्र—आम्नाय,
क्रान्ता वेन्द्र ५६१-६६; कौलतन्त्र, मिश्रतन्त्र, समयातन्त्र
श्रीविद्या के आचार्य—पशुगाम; अगस्त्य; दुर्वासा; गौडपाद,
शङ्कराचार्य; पुण्यनन्द; अमृतानन्दनाथ; भास्करगया उमा-
नन्दनाथ; रामेश्वर ५६३-६५; कौल आचार्य—पृष्णानन्द,
सदानन्द; सर्वानन्द ५६६ ।

(४) शैवतन्त्र—सिद्धान्त ५६६-८२; (क) पाशुपत—कार्य
५६६; कारण ५६७; योग विधि ५६८; दुःखान्त ५६९ । (ख)
कापालिक—कालामुख ५७०; रमेश्वरदर्शन ५७१ पाणिनीयदर्शन
५७४; (ग) वागशैव—सिद्धान्त ५७६-८४ । (घ) शैव 'सिद्धान्त'—
रत्नत्रय ५८४-८६ पति ५८५; पशु ५८६-८८; पाश ५८९-८८;
साधनमार्ग ५८९-९१ । (ङ) त्रिकदर्शन—परमतत्त्व ५९१-६० ;
ईश्वराद्वयवाद—आभामवाद ५९३-९४; लुप्तीम तत्त्व—शिवतत्त्व;
शक्तितत्त्व ५९४-९६; सदाशिव, ईश्वर, सद्विद्या ५९६-९७;
माया, कञ्चुक-कला, विद्या, राग, काल, नियति, पुरुष, प्रकृति
५९७-९८; साधनमार्ग—'प्रत्यभिज्ञा' शब्दार्थ ५९८-९९ ।
ज्ञान और भक्ति ६०१ (च) त्रपुरा सिद्धात ६०२-६०४ ।

षोडश परिच्छेद

उपसंहार

प्रमाण ग्रन्थावली
नामानुक्रमणिका
विषयानुक्रमणिका
सम्मतियाँ

६०५-६१४

६१५-६२१

६२२-६२५

६२६-६२९

६३०-६४६

संकेत सूची

अ० मो० न्य = अन्य योग व्यवच्छेदिका
 अभि० ऋ० = अभिधर्म कोष
 अहि० सं० = अ ह्यु ध्न्य संहिता
 ऐत० उप० = ऐतरेय उपनिषद्
 ऐत० आर = ऐतरेय आरण्यक
 का० सू० = काम सूत्र
 किरणा० = किरणावली
 कौषी० = कौषीतकी उपनिषद्
 छा० उप० = छान्दोग उपनिषद्
 त० कां० = तत्त्व कौमुदी
 त० वै० = तत्त्व वैशारदी
 त० सू० = तत्त्वार्थ सूत्र
 ता० टी० = तात्पर्य टीका
 तैत्ति० उप० = तैत्तरीय उपनिषद्
 तैत्ति० भा० = तैत्तरीय भाष्य
 द्र० सं० का० = द्रव्यसंग्रहकारिका
 दी० नि० = दीर्घ निकाय
 न्या० का० = न्याय कन्दली
 न्या० कु० = न्याय कुसुमाञ्जलि
 न्या० भा० = न्याय भाष्य
 न्या० मं० = न्यायमञ्जरी
 न्या० सू० = न्याय सूत्र
 प्र० पा० भा० = प्रशस्तपाद भाष्य
 बृह० उप० = बृहदारण्यक उपनिषद्
 वृ० सू० = वृहस्पति सूत्र
 ब्र० सू० = ब्रह्म सूत्र
 भा० भा० = भास्कर भाष्य

भा० प० = भाषा परिच्छेद
 म० सि० सा० = मध्वसिद्धान्तसार
 मा० का० = माह्वक्य कारिका
 मा० का० वृ० = माध्यमिक कारिका वृत्ति
 मा० मे० = मानमेयोदय
 मि० प्र० = मिलिन्द प्रश्न
 मी० सू० = मीमांसा सूत्र
 मुक्ता० = मुक्तावली
 मु० उप० = मुण्डक उपनिषद्
 यो० भा० = योग भाष्य
 यो० सू० = योग सूत्र
 वा० प० = वाक्य पदीय
 व्या० भा० = व्यासभाष्य
 वे० प० = वेदान्त परिभाषा
 वे० सा० = वेदान्त सार
 वै० सू० = वैशेषिक सूत्र
 श्लोक वा० = श्लोक वार्तिक
 श्वेता० उप० = श्वेताश्वतरे उपनिषद्
 शा० भा० = शाङ्कर भाष्य
 शारी० शा० = शारीरक भाष्य
 शा० दी० = शास्त्रदीपिका
 म० द० सं० = सर्व दर्शन संग्रह
 स० सि० सं० = सर्वसिद्धा तसंग्रह
 सां० का० = सांख्य कारिका
 सां० प्र० भा० = सांख्यप्रवचनभाष्य
 सां० सू० = सांख्य सूत्र
 ष० द० सं० वृ० = षड् दर्शनसमुच्चयवृत्ति

भारतीय दर्शन



प्रथम परिच्छेद

उपोद्घात

भारत का यह पुण्यमय देश सदा से प्रकृतिनटी का रमणीय रङ्गस्थल बना हुआ है। प्रकृति देवी ने अपने करकमलों में सजाकर इसे शोभा का आगार बनाया है। इसका बाह्यरूप कितना मनोरम है! उत्तर में हिमाच्छादित हिमालय, जिसकी उत्तुंगशिखर श्रेणियाँ मानों बाहरी संसार को भारत की अध्यात्मिक उन्नति का परिचय दे रही हैं। दक्षिण में नीलाभामय नीलाम्बुधि, जिसकी चञ्चल लहरिकायें इसके चरणयुग को प्रक्षालित करती हुई शोभा का विस्तार कर रही हैं। पश्चिम में अरब सागर तथा पूरव में श्यामल बंगाल की खाड़ी। मध्यदेश में बहनेवाली गंगा-यमुना की विमल धारायें इसे शस्यश्यामल बना रही हैं। भारत का यह बाह्यरूप जितना ही भव्य तथा मनोहर है, उसका अन्तर रूप उतना ही अभिराम तथा आभामय है। इस जगतीतल पर सभ्यता की जननी यही हमारी भारत-मही है। जिस समय अन्य देश अज्ञानान्धकार के गाढ़पटल से संच्छन्न होकर अभी बर्बरता का जीवन बिता रहे थे, उस समय इस भारत के गगन में प्रथम प्रभात का उदय हुआ था; ज्ञानमूर्य की प्रकाशमान किरणों ने अविद्या के घने तिमिर मण्डल को छिन्न-भिन्न किया था। पृथ्वीतल पर सभ्यता का विस्तार करने का श्रेय इसी देश को प्राप्त है। “इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथ्वीतल के समस्त मानवों ने अपने-अपने चरित्र को सीखा

था"; निखिल मानवों के कल्याणार्थ स्मृति की रचना करनेवाले महर्षि मनु का यह कथन कोरी कल्पना नहीं है, अपि तु यह इतिहास की कसौटी पर कमे जाने पर नितान्त सत्य प्रामाणित हो चुका है। कुछ ऐसा ही कारण होगा जिससे इस कर्मभूमि के अजिर में जन्म ग्रहण करने के लिए भोगभूमि स्वर्ग के अधिवासी देवतागण भी लालायित थे तथा यहाँ के निवासियों की भूरी-भूरि प्रशंसा करने हुए कभी नहीं अवाते थे^१। इसी भारतवर्ष की विद्याओं में से सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मविद्या के महत्त्व तथा स्वरूप, आविर्भाव तथा विकास की विविध प्रवृत्तियों के अध्ययन करने का प्रयत्न हम इस ग्रन्थ में कर रहे हैं।

१—‘दर्शन’ का अर्थ तथा उपयोग

इस संसार में आकर जीवन-संग्राम में अपने को विजयी बनाना प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है। अन्य जीवित प्राणियों के समान मनुष्य भी अपने को जीवित बनाये रखने के लिए निरन्तर उपयोगिता संघर्ष बनाये रहना है; कभी वह लड़ता है अपनी विरोधी परिस्थितियों से और कभी वह संघर्ष करता है उसे दबानेवाले प्रतिपक्षी शत्रुओं से। विभेद इतना ही रहता है कि अन्य जीव बिना विचार

१ एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।

स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवाः ।

—मनुस्मृति २।२

२ अहो भमीपां किमकारि शोभनं

प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।

यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे

मुकुन्दसेवौपयिकी स्पृहा हि नः ॥

—श्रीमद्भागवत (स्कं० ५, अ० १६, श्लो० २२) ।

किये केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति के वर्शाभूत होकर जीवन-संग्राम में लगा रहता है, परन्तु मनुष्य विवेक-प्रधान जीव होने के कारण प्रत्येक अनुष्ठान के अवसर पर अपनी विचार शक्ति का उपयोग करता है, चाहे इसका खयाल उसे रहता है या नहीं, पर उपयोग करता है वह अवश्य । शान्त चित्त से विचार करने से प्रतीत होगा कि प्रत्येक मानव जीव दृश्य या अदृश्य जगत-विषयक कतिपय श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं का समुदाय-मात्र है । मानवाय निखिल कार्यविधानों की आधारशिला मानवाय विचार हैं । गीता (१७।३) कहती है—यो यच्छ्रद्धः स एव सः । श्रद्धाओं के अनुरूप ही मनुष्य होता है, उसकी कार्यप्रणाली निश्चित होती है तथा उसीके अनुरूप उसे फल की उपलब्धि होती है । इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का 'दर्शन' होता है, चाहे वह उसे जाने या न जाने । इस तरह दर्शन हमारे जीवन के साथ अनुस्यूत है । हम उसे अपने जीवन से पृथक् नहीं कर सकते । यदि किसी प्रकार कोई उसे निकाल कर अलग फेंकने का दुःसाहस करे, तो उसका जीवन बुद्धि-जीवी चेतन प्राणी का जीवन न होगा । यह तो नैसर्गिक प्रवृत्तियों के दासभूत पशु का जीवन होगा । इसीलिये पशुओं के साथ आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन के विषय में समानता होने पर भी मनुष्यों की सबसे बड़ी विशेषता है—धर्म = धारण करनेवाला वस्तु समुदाय, उसका विवेक, उसका विचार, या उसका दर्शन ।

दर्शन शब्द का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—दृश्यते अनेन इति दर्शनम् = जिसके द्वारा देखा जाय । कौन पदार्थ देखा जाय ? वस्तु का सत्यभूत दार्ष्टिक स्वरूप । हम कौन हैं ? कहाँ से आये हैं ? दर्शन का अर्थ सर्वतो दृश्यमान इस जगत् का सच्चा स्वरूप क्या है ? इसकी उत्पत्ति कहाँ से हुई ? इसकी सृष्टि का कौन कारण है ? वह चेतन है या अचेतन ? इस संसार में हमारे लिए कौन से कार्य कर्तव्य हैं ? जीवन को सचारुरूप से बिताने के लिए कौन-सा सुन्दर साधन मार्ग है ? आदि

प्रश्नों का समुचित उत्तर देना दर्शन का प्रधान ध्येय है। दर्शन को शास्त्र कहते हैं। शास्त्र का अर्थ क्या है? 'शास्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति आगम ग्रन्थ में इस प्रकार बतलाई गई है :—

शासनात् शंसनात् शास्त्रं शास्त्रमिन्यभिधीयते ।

शासनं द्विविधं प्रोक्तं शास्त्रलक्षणवेदिभिः ।

शंसनं भूतवम्ब्वेकविषयं न क्रियापरम् ।

'शास्त्र' की व्युत्पत्ति दो धातुओं से हुई है—शास् = आज्ञा करना तथा शंस् = प्रकट करना या वर्णन करना। शासन करनेवाले शास्त्र विधिरूप तथा निषेधरूप होने से दो प्रकार के होते हैं। श्रुति तथा स्मृति प्रतिपादित कार्य अनुष्ठान करने योग्य है (विधि) तथा निन्दित कर्म-कलाप सर्वथा हेय हैं (निषेध)। अतः 'शासन' अर्थ में शास्त्र शब्द का प्रयोग धर्मशास्त्र के लिए उपयुक्त है। 'शंसक' शास्त्र अथवा बोधक शास्त्र वह है जिसके द्वारा वस्तु के वास्तव सच्चे स्वरूप का वर्णन किया जाय। शासन शास्त्र क्रिया-परक होता है पर शंसक शास्त्र ज्ञान-परक होता है। शंसक शास्त्र के अर्थ में ही शास्त्र का प्रयोग 'दर्शन' शब्द के साथ होता है। धर्मशास्त्र कर्तव्या-कर्तव्य का प्रधानतया विधान करने से 'पुरुष परतन्त्र' है, पर दर्शनशास्त्र वस्तु के स्वरूप के प्रतिपादक होने से 'वस्तुतन्त्र' है।

पाश्चात्य विचारशास्त्र की सामान्यसंज्ञा फ़िलासफी है। यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के संमिश्रण से बना हुआ है—फ़िलास = प्रेम या अनुराग

तथा सोफ़िया = विद्या। अतः इस शब्द का अर्थ 'फ़िलासफी' शब्द है विद्या का प्रेम = विद्यानुराग। ग्रीस देश में इस के साथ तुलना

शब्द का पहले पहल प्रचलन हुआ। प्रसिद्ध ऐतिहासिक हिरोडोटस (विक्रम पूर्व पञ्चम शताब्दी) ने सर्वप्रथम क्रीसस के द्वारा दार्शनिक सोलन के लिए इस शब्द के प्रयोग का

उल्लेख किया है। पेरिक्लीज़ के प्रसिद्ध व्याख्यान में एथेन्स के निवासियों को विद्यानुरागी बनलाने के लिए थ्युसिडाइड्स ने भी इस शब्द का पीछे प्रयोग किया। सुकरात ने उस समय के प्रसिद्ध, विज्ञान आदि विषयों के व्याख्याता सोफिस्ट (ज्ञानोपदेशक) लोगों से अपने को पृथक् करने के लिए अपने आपको फिलासफ़र (ज्ञानानुरागी = ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील) बनलाया है। सुकरात के शिष्य अफ़्लातू (प्लेटो) तथा प्रशिष्य अरस्तू (अरिस्टाटल) ने इसका प्रचार ही न किया, प्रत्युत इसकी विभिन्न शिखाओं पर प्रामाणिक निबन्धों का निर्माण कर ये पाश्चात्यदर्शन के वास्तविक प्रचारक बने। इस प्रकार 'फिलासफी' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विद्या का प्रेम या विद्यानुराग। जो विद्वज्जन जीव, जगत्, ईश्वर, धार्मिक या सामाजिक तत्त्वों का छानबीन करने में प्रयत्नशील होते थे उन्हें फिलासफ़र = विद्यानुरागी कहते थे। इस मूल अर्थ की अधिक व्यापकता के कारण आजकल इसे संकुचित अर्थ में प्रयोग करते हैं। आरम्भ में फिलासफी के अन्तर्गत विज्ञान भी आता था, पर आजकल पाश्चात्य देशों में दर्शन तथा विज्ञान का पार्थक्य स्पष्ट कर दिया गया है। इस जगतील के विभिन्न विषयों के विशिष्ट अध्ययन तथा वर्णन को विज्ञान कहते हैं, जैसे भौतिकविज्ञान, रसायन, ज्योतिःशास्त्र आदि। परन्तु इन विभिन्न विज्ञानों के द्वारा उद्घातित सत्त्यों का एकांकरण फिलासफी का विषय है। अतः ब्रह्माण्ड—जगत्, जीव तथा ईश्वर—के विशिष्ट स्वरूप का अध्ययन विज्ञान में तथा सामान्यरूप का अध्ययन फिलासफी में किया जाता है। इस प्रकार सामान्यरूप से 'दर्शन' के लिए 'फिलासफी' का प्रयोग किया जा सकता है, परन्तु दोनों के ध्येय में नितान्त पार्थक्य है जिस पर दृष्टिपात न करना अनुचित होगा।

इन दोनों शब्दों की जो व्युत्पत्ति तथा व्याख्या ऊपर दी गई है, उससे

१ 'फिलासफी' के प्रयोग तथा अर्थ के लिए देखिए कुल्पे—इन्ट्रोडक्शन टू

दोनों के उद्देश्य के पृथक् होने की पर्याप्त सूचना मिलती है। फ़िलासफी दर्शन तथा फ़िलासफी में कल्पना-कुशल कोंविदों के मनोविनोद का उद्देश्यविषयक पार्थक्य साधनमात्र थी। जगतीतल के अपूर्व, आश्चर्यमय वस्तुओं को देखकर उनके रहस्यों के जानने के लिए, कौतुक को ज्ञान्त करने के लिए, फ़िलासफी की उत्पत्ति बतलाई जाती है। प्रत्येक वस्तु की छानबीन करने में मनमानी कल्पना करने का बाज़ार पश्चिमी दर्शन जगत में खूब गरम था। पश्चिम के तत्त्वज्ञ उस नाविक के समान होते हैं जो बिना किसी गन्तव्यस्थान के निर्धारण किये ही अपनी नौका विचार-सागर में डाल देता है। उसे इसकी पवाह नही कि नाव किस घाट लगेगी; अगर वह मीरघाट पर अटक रही, तो भी खुशी है; यदि तीर घाट पर लग जाय, तो भी आनन्द है। पर भारत-वर्ष में दर्शनकार दुःखत्रय—आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—के रात्रिदिव विघात से उद्भिन्न होकर इनके आमूल उच्छेद करने की भावना से प्रेरित होता है और साध्य का निश्चय अपनी सूक्ष्म विवेचना-शक्ति के आधार पर करके ही वह साधनमार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होता है। प्रत्येक दर्शन के कर्ता का मार्ग तथा गन्तव्य स्थान यथार्थतः विवेचित तथा निर्दिष्ट है। उसे अपने मार्ग से भटकने का तनिक भी डर नहीं है। अतः भारतीय दार्शनिक की दृष्टि पाश्चात्य दार्शनिक की अपेक्षा कहीं अधिक व्यावहारिक तथा लोकोपकारिणी, सुव्यवस्थित तथा सर्वाङ्गीण होती है।

भारतीय दर्शन का पाश्चात्य दर्शन के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए, पाश्चात्य दर्शन के श्रेणी विभाग का पाश्चात्य दर्शन का ज्ञान अपेक्षित है। भिन्न २ ग्रन्थकारों ने इसे विभिन्न श्रेणी विभाग रीति से किया है; पर निम्नलिखित श्रेणी-विभाग में अधिकांश दार्शनिकों का एक मत है—

(१) मेथैफिजिकम (तत्त्वसामांसा)—इस दर्शन का विवेच्य पदार्थ 'सत्' है। इस संसार में प्रकृति स्वयं प्राणियों के सामने सत्य तथा प्रार्थनात्मक सत्य पदार्थों को उपस्थित करती है। अतः 'प्रतीति' से 'सत्' को पृथक् करने में इस दर्शनविभाग की उपयोगिता है। दो प्रकार की वस्तुओं को निश्चयात्मकरूप से सत्य माने जाने की सम्भावना है—(१) भौतिक पदार्थ (यथा वृक्ष, पर्वत, नदी आदि) तथा (२) मानसिक दशा (यथा सुख, दुःख, भौदामान्य आदि)। जिन दार्शनिकों की दृष्टि में भौतिक पदार्थों का ही वास्तविक स्वतन्त्र सत्ता है और मानसिक दशाएँ भौतिक सत्यता के आभास मात्र हैं उन्हें मैटीरिअलिस्ट या नैचुरलिस्ट (भौतिकवादी) कहते हैं। पर जिनकी दृष्टि में मुख्य दुःखवादि मानसिक दशाओं को या मानसमात्र की स्वतन्त्रसत्ता है और भौतिक पदार्थ केवल मानससत्ता के प्रतीतिमात्र हैं उन्हें आइडिअलिस्ट (प्रत्ययवादी) कहते हैं। कुछ दार्शनिक भौतिक तथा मानस दोनों जगत्तों की निरपेक्ष तथा शाश्वतिक सत्यता को अंगीकार करते हैं, उन्हें ड्युअलिस्ट (द्वैतवादी) की संज्ञा दी जाती है। प्रत्ययवाद के विरोधी सिद्धान्त को रीअलिज़्म (वास्तववाद) कहते हैं। इनके मन्तव्यानुसार इस जगत् के पदार्थ उर्मा रूप में 'सत्' हैं जिस रूप में हम उन्हें अपने इन्द्रियों से साक्षात्कार करते हैं। वास्तववाद प्रत्ययवाद की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक तथा विषय-प्रधान माना जाता है।

(२) एपिस्टोमोलॉजी (प्रमाणसामांसा)—इसका विषय ज्ञान की विवेचना है। इसके भी अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश किया जाता है। ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की सीमा, ज्ञान की प्रामाणिकता, सत्यासत्य का निर्णय आदि विषयों की समीक्षा इस दर्शन में की जाती है। ज्ञान की सीमा के साथ साथ ज्ञान-गम्यता तथा जानार्थता का विचार संवलित है। कुछ पदार्थ अनुभव के द्वारा अधिगम्य हैं, परन्तु

हैं। जो पदार्थ अपनी सत्ता के लिए अनुभव पर अवलम्बित रहते हैं उन्हें एपोस्टिओरि (अनुभवजन्य) कहते हैं और जो पदार्थ अपनी सत्ता के लिए अनुभव से स्वतन्त्र रहते हैं उन्हें ए प्राओरि (अनुभवाजन्य) कहते हैं। इनकी विशद व्याख्या इस दर्शन में की जाती है।

(३) लॉजिक (तर्कशास्त्र)—इसका उपयोग ज्ञान की व्यावहारिक प्रक्रिया के विवेचन में किया जाता है। किन्तु तर्क की सत्य तथा प्रामाणिक होने के लिए विशिष्ट नियमों का पालन करना नितान्त आवश्यक है। इन्हीं नियमों का यथार्थ तथा विशद वर्णन लॉजिक में किया जाता है। लॉजिक के दो विभाग हैं—डिडक्टिव (निगमन) सामान्य से विशेष का अनुसन्धान तथा (२) इन्डक्टिव (विशिष्ट दृष्टान्तों का अध्ययन कर सामान्य सिद्धान्त को खोज निकालना) पहले में केवल वैधिक सत्यता आवश्यक मानी जाती है, पर द्वितीय विभाग में वास्तविक भौतिक सत्यता विद्यमान रहती है। इन दोनों विभागों को सामान्यरूप से थिओरेटिकल फिलासफी (कल्पनात्मक दर्शन) कहते हैं।

(४) एथिक्स (आचारमार्मांसा या कर्तव्यशास्त्र) आचार या कर्तव्य की मर्मांसा इस दर्शन का प्रधान विषय है। मानवमात्र के सामने एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है कि वह अपने जीवन को क्यों कर उपयोगी बनावे। इस संसार के ऊपर दो प्रकार के दृष्टिकोणों से विचार किया जाता है। कतिपय विद्वानों की दृष्टि में मानव-जीवन की दशा निःसर्गः दुर्ग है। जिन कामनाओं की सृष्टि प्रकृति ने सुख की उपलब्धि के उद्देश्य से की है, वे वास्तव में दुःखोत्पादक ही हैं। अतः उनका कथमपि विश्वास नहीं किया जा सकता। इस जगत में दुःख ही एकमात्र वास्तविक सत्ता है। अतः इसमें निराशा की उत्पत्ति ही अन्त में होती है। ऐसे मत का नाम है—पेसिमिज्म (निराश्रयवाद)। परन्तु दूसरे दार्शनिकों की दृष्टि में मानव-जीवन स्वभावतः शोभन है।

दुःख आपाततः ही दिग्विनाश पड़ता है; विषाद मानव-जीवन को कतिपय क्षणके लिए ही कलुषित करने में समर्थ होता है, परन्तु अन्त में आनन्द की विजय होती है; दुःख का नाश अवश्यम्भावी है। इस मत का नाम है—ऑप्टिमिज्म—आशावाद। जीवन का ध्येय क्या है? सुख की प्राप्ति या कल्याण की उपलब्धि? 'कर्तव्य' किसे कहते हैं, तथा वह कितने प्रकार का होता है? कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय किस आधार पर किया जा सकता है? इन प्रश्नों का समुचित विवेचन एथिक्स में किया गया है।

(५) एस्थेटिक्स (सौन्दर्यमीमांसा) ग्रीस के प्राचीन दार्शनिकों ने इस विषय का स्वतन्त्ररूप से विवेचन नहीं किया है, परन्तु १८ वीं शताब्दी में यूरोप में इस दर्शन की विराट् छानवीन आरम्भ हुई जो इस समय विस्तृत रूप में दृष्टिगोचर होती है। जर्मन दार्शनिक वाउमगार्टेन ने 'एस्थेटिक्स' शब्द का सबसे प्रथम सौन्दर्य शास्त्र के अर्थ में प्रयोग किया। इस दर्शन को स्वतन्त्र विवेचन के भाजन बनाने का श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इसके प्रधानतया दो विभाग हैं—(१) सौन्दर्य निर्णय—किसी चीज को सुन्दर मानने का क्या कारण है? किसी वस्तु के अवलोकन से सुख या दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है? 'सुन्दरता' की तात्त्विक व्याख्या क्या है? इन प्रश्नों का उचित उत्तर इस विभाग में मिलता है। (२) व्यावहारिक सौन्दर्य—सौन्दर्य के कलारूप में परिवर्तित होने की व्याख्या है। कला का विवेचन इसका प्रतिपाद्य विषय है। चित्रणीय वस्तु तथा चित्र में कौन-सा सन्बन्ध होता है? कलाकार में प्रकृति, कल्पना, स्मृति आदि किन गुणों की सत्ता से सामान्य वस्तु कला के रूप में परिवर्तित हो जाती है? इन्हीं का उत्तर इस भाग में दिया जाता है।

(६) साइकोलॉजी (मनोविज्ञान)। मन की विविध प्रवृत्तियों का शास्त्रीय विवेचन। इस दर्शन ने आजकल इतनी उन्नति कर ली है कि इसे अधिकांश आलोचक 'विज्ञान' के अन्तर्गत मानने के पक्षपाती हैं।

आजकल प्रयोग शाला में प्रयोग द्वारा मानसिक दशाओं की शास्त्रीय तथा यथार्थ व्याख्या की जाती है। डाक्टर फ्रायड ने अपनी मौलिक गवेषणाओं के बल पर मनोविज्ञान के जिस नूतन अंग—साइको एनेलिसिस या मानसिक विश्लेषण—का प्रवर्तित किया है उसने दार्शनिक जगत के बाहर भी एक विशिष्ट क्रान्ति उत्पन्न कर दी है।

२—भारतीय दर्शन की कतिपय विशेषतायें

प्रकृति ने इस भाग्यभूमि का मानव जीवन की समग्र आवश्यक सामग्रियों से परिपूर्ण बनाकर इस देश के अधिवासियों को ऐहिक चिन्ता से निर्मुक्त करके पारलौकिक चिन्तन की ओर स्वतः स्वतन्त्र-स्थिति अग्रसर किया है। यह देश निमर्गत विचार प्रधान है। अन्य देशों में जीवन-संग्राम इतना भीषण है, दिन प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन की ही समस्यायें इतनी उलझी हुई हैं, कि उन्हीं के मुल-ज्ञान में वहाँ के निवासियों का समय व्यतीत हुआ करता है। जगत के महत्त्वपूर्ण तत्त्वों की छानबीन करना, यथार्थ रूप से विचार करना उनके जीवन की आकस्मिक घटनाएँ हैं; परन्तु भारत में ऐसी दशा नहीं है। मुण्डक उपनिषद् ने ब्रह्मविद्या को सर्वविद्याप्रतिष्ठा बतलाया है^१। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपनी व्यापक विभूतियों के वर्णन के अवसर पर समस्त विद्याओं में अध्यात्म विद्या (विचार शास्त्र या दर्शन शास्त्र) को अपना ही स्वरूप बतलाकर^२ उसकी महत्ता पर्याप्तरूपेण प्रदर्शित की है। अर्थशास्त्र के निर्माता कौटिल्य का कहना है^३ कि आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं के लिए

१. स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय ग्राह (१।१)।

२. अध्यात्मविद्या विद्याना वादः प्रवदतामहम्—गीता (१०।३२)।

३. प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ।—कौटिल्य अर्थशास्त्र (१।२)।

दीपक है, सब कर्मों के अनुष्ठान का साधन मार्ग है तथा सब धर्मों का आश्रय है। जो स्वतन्त्रता विचार शास्त्र को इस देश में प्राप्त है वैसी स्वतन्त्रता कहीं भी इसे प्राप्त नहीं हुई। ग्रीसदेश में अपनी उन्नति के समय में, प्लेटो और अरिस्टाटल के महत्त्वपूर्ण काल में भी, विचारशास्त्र राजनीति या आचारशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप में अध्ययन का विषय था; माध्यमिक काल में क्रिश्चियन धर्मशास्त्र के साथ तथा उर्जासर्वा शताब्दी में राजनीति, इतिहास तथा समाजशास्त्र के संग में इसके तत्वों का अन्वेषण किया गया है। परन्तु भारतवर्ष में दर्शनशास्त्र सदा अपने पैरों पर खड़ा रहा है, अध्ययन का स्वतन्त्र तथा महत्त्वपूर्ण विषय रहा है तथा सदा अन्य विद्याओं की प्रगति में सहायता देता आया है।

भारतवर्ष में दर्शन शास्त्र की लोक-प्रियता जितनी है उतनी किसी भी अन्य देश में नहीं। पाश्चात्य देशों में दर्शन शास्त्र विद्वज्जन के मनोविनोद का दर्शन और धर्म साधन मात्र है। जिस प्रकार अन्य विषयों के अध्ययन में वे मनमानी कल्पना किया करते हैं उसी प्रकार इस महत्त्वपूर्ण विषय की भी स्थिति है, परन्तु भारतवर्ष में दर्शन तथा धर्म का, तत्त्वज्ञान तथा भारतीय जीवन का, गहरा सम्बन्ध है। त्रिविध ताप से मन्तस जनता की ज्ञान्ति के लिए, क्लेशमय संसार से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति करने के लिए ही भारत में दर्शनशास्त्र का आविर्भाव हुआ है। विचार शास्त्र पण्डितजनों की कमनीय कल्पना का विजृम्भणमात्र नहीं है, अपितु उसका अधिगम्य इस व्यावहारिक जगतीतल पर है। अन्य देश में विचारशास्त्र तथा धर्म में पारस्परिक सम्बन्ध का अभाव ही लक्षित होता है, किन्तु भारत में दोनों का सम्बन्ध नितान्त घनिष्ट है। दर्शनशास्त्र के द्वारा सुचिन्तित आध्यात्मिक तथ्यों के ऊपर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिष्ठा है। जैसा विचार, वैसा आचार। बिना धार्मिक आचार के द्वारा कार्यान्वित हुए दर्शन की स्थिति निष्फल है और बिना दार्शनिक विचार के द्वारा परिपुष्ट हुए धर्म की सत्ता

अप्रतिष्ठित है। इन दोनों का सामञ्जस्य जितना इस भारतवर्ष में दृष्टिगोचर होता है, उतना अन्य किसी देश में नहीं। पश्चिमी विचारशास्त्र के अनेकांश में प्रतिष्ठाता यूनानी दार्शनिक अफलातून (प्लेटो) की यह नितान्त विख्यात उक्ति है कि दर्शन का उद्गम आश्चर्य से होता है (फिलासफी बिगिन्स इन वन्डर)। आश्चर्यजनक तथा कौतुकमय घटना की व्याख्या से विचार-शास्त्र की उत्पत्ति होती है, परन्तु भारत में तो इसकी उत्पत्ति दुःख की व्यावहारिक सत्ता की व्याख्या तथा उसके निराकरण करने के लिए साधन-मार्ग की विवेचना से होती है। भारतीय जीवन तथा धर्म के ऊपर इतना प्रकृष्ट प्रभाव उत्पन्न करने के कारण ही दर्शन की इतनी लोकप्रियता है।

भारतीय दर्शन की धारा सुदूर वैदिककाल से अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। इस धारा में विराम के दर्शन जो कभी नहीं हुए।

अविच्छिन्नता

अन्य देशों के दर्शनशास्त्र से तुलना करने पर इस विशेषता की महत्ता का पर्याप्तरूप में अनुभव किया जा सकता है। क्या किसी अन्य देश में विचार-धारा इतने प्राचीनकाल से प्रवाहित हो रही है? आधुनिक काल में महत्ता पानेवाला पाश्चात्य दर्शन क्या अपने जीवन में इतनी विपुल विकास पाने में समर्थ हो सका है? पाश्चात्यदर्शन की उत्पत्ति हुई विक्रमपूर्व सातवीं शताब्दी के आसपास प्राचीन यूनान में, परन्तु उसका प्रवाह चलते-चलते रुक गया; फिर किसी विशेष दार्शनिक का जन्म हुआ और उसके प्रभाव से वह विचारधारा कुछ और अग्रसर हुई। जब तक उसका प्रभाव बना रहता है तबतक इसका प्रभाव भी समीचीनरूप से बहता है, परन्तु उसके प्रभाव के न्यून होते ही यह प्रवाह फिर स्थगित हो जाता है। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शन की धारा उस नदी के समान है, जो कभी दृष्टिगत होती है और कभी दृष्टि से ओझल हो जाती है। परन्तु भारतीय दर्शन की धारा उस पुण्यसलिला गंगा के समान है जो अनेक क्षुद्र नद तथा विपुलकाय नदियों के जल से

परिपुष्ट होती हुई शुष्क स्थानों को जलाप्लावित तथा क्षेत्रा को शम्यसम्पन्न बनती हुई अपने निश्चित गन्तव्य स्थान की ओर समभाव से सदैव बहती चलती जाती है । इस दीर्घकाल के जीवन में विभिन्न सभ्यताभिमानों जातियों तथा धर्माभिमानों पुरुषों के साथ सम्पर्क होने पर भी भारतेंतर विचारा का प्रभाव इस दर्शन पर तनिक भी न पड़ सका । प्रत्युत अपनी विशालता तथा विशुद्धता के कारण इसी ने अन्य दर्शनों के ऊपर प्रकट प्रभाव जमाने में विशेष क्षमता प्राप्त की । प्रार्चान यूनान के विचार मर्यादित पाइगेथारस के रेखागणित, धर्म तथा दर्शन सम्बन्धी सिद्धान्तों पर—विशेषतः पुनर्जन्म, अहिंसा आदि के ऊपर—भारतीय दर्शन के प्रभाव पड़ने की घटना इतिहास के साक्ष्य पर प्रामाणिक मानी जाती है । मूर्फी लोगो के ऊपर वेदान्त तथा तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रभाव विशेषरूप से पड़ा था । दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कर उनके सिद्धान्तों को स्वधर्मावलम्बियों में फैलाने का स्तुत्य प्रयत्न किया । इन्हीं फारसी भाषा में अनूदित उपनिषदों का अनुवाद लैटिन भाषा में किया गया, जिसके कारण भारतीय विचार की श्रेष्ठता तथा सुन्दरता का परिचय पहले पहल यूरोप के दार्शनिकों को हुआ । इन्हीं अनुवादों को पढ़कर जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक ओपेनहावेर उपनिषदों के सूक्ष्म उन्नत विचारों पर इतने गंभीर गये थे कि उन्हें अनेक सिद्धान्तों की स्फूर्ति इन ग्रन्थों से हुई और उन्होंने यह उदार हृदयादृगार निकाला कि उपनिषद् मेरे जीवन में सन्तोष देनेवाले रहे हैं और मेरे मृत्यु में भी सन्तोष देनेवाले रहेंगे । आजकल भारतीय दर्शन के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के अनुवाद संसार की समस्त सभ्य भाषाओं में ही गये हैं या हो रहे हैं । और इन अनुवादों के द्वारा भारत के विचारशास्त्र का प्रभाव

१ कीथ—रिलिजन ऐण्ड फिलोसफी आफ वेद ।

Kieth: Religion and Philosophy of Veda. पृ० ६३ ४-६३७ ।

अलक्षितरूप से संसार के धर्मों तथा दर्शनों पर पड़ रहा है। इस प्रकार अन्य किसी विचारधारा से बिना प्रभावित हुए, अन्य दर्शनों पर प्रभाव डालने की विशेषता भारतीय दर्शनों की महत्ता सूचित कर रही है।

भारतीय तत्त्व ज्ञान भारतीय धर्म के समान उदार तथा व्यापक, विशाल तथा विवेचनात्मक रहा है। पारम्परिक जनश्रुति का बोझ कभी इसके उन्नति-मार्ग में व्याघातक नहीं रहा है। ऐहिक विवेचनात्मकता तथा पारलौकिक तत्त्वों के विश्लेषण कार्य में तार्किक बुद्धि का उपयोग करने में ही दर्शन की 'दर्शनता' है; यदि धार्मिक परम्परा इस नैसर्गिक कार्य में व्याघातक बनती है, तो विचारों का विकास स्वाभाविक रूप से अग्रसर नहीं हो सकता। यूरोप के माध्यमिक काल में ईसाई धर्म के सम्प्रदाय ने दर्शन का गला घोट डाला। वह उस धर्म के अस्वाभाविक, तर्कविरोधा सिद्धान्तों की पुष्टि करने में ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझने लगा। फलतः माध्यमिक काल में यूरोपीय तत्त्वज्ञान की बाढ़ रुक गई, वह धर्म के स्रोतहान जलाशय के ऊपर ही तैरता रह गया। परन्तु भारत के इस पुण्यमय देश में ऐसी विषम स्थिति कभी उपस्थित ही नहीं हुई। आरम्भ से ही भारतीय तत्त्वज्ञान सर्माक्षात्मक रहा है और तार्किक बुद्धि को कसौटी पर धर्म के माननीय सिद्धान्तों को भी कसने तथा परखने से वह कभी नहीं हिचकता। ईश्वर जैसे महत्त्वपूर्ण विषय के ऊपर भी वह अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करने में तनिक भी पीछे नहीं हटता। सांख्य ने ईश्वर की सत्ता के विषय में मौनावलम्बन करना ही श्रेयस्कर समझा, यद्यपि उमे निश्चय है कि वह तार्किक युक्तियों के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। योग एक निरतिशय ज्ञान-सम्पन्न परम पुरुष की कल्पना को स्वीकार करता है, परन्तु नैयायिकों के भाँति वह

१ ईश्वरामिद्धेः—सांख्यसूत्र १।९२।

२ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टपः पुरुषविशेष ईश्वरः—योगसूत्र १।२४।

उसे जगत् का कर्ता मानने के लिए उद्यत नहीं है। कर्म मीमांसा खण्डन करने के लिए पूर्व पक्ष के रूप में ईश्वर का उल्लेख अपने ग्रन्थों में करती है, क्योंकि जगत् के समस्त व्यवहार के लिए वह कर्म का ही सर्व-प्रधान स्थान देती है। प्राचीन बौद्धों (हानयान मतावलम्बियों) को तथा जैनो को इस संसार के कार्य-कलाप की व्याख्या के लिए ईश्वर के प्रति तनिक भी पक्षपात न था । भौतिकवादी चार्वाकों ने स्पष्ट शब्दों में ईश्वर का निराकरण किया है, वैदिक विधिविधानों की अस्वाभाविक तथा तर्कविरोधी होने के कारण खुले शब्दों में खिल्ला उड़ाई है, ब्राह्मण पुरोहितों पर गालियों का बौछार किया है, परन्तु भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में वेद-वाक्य चाचां उतना ही महत्त्व रखते हैं जितने वेदानुयायी नैयायिक; निर्गणेश्वरवादी सांख्य को उतना ही महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है जितना ब्रह्म-प्रतिपादक वेदान्त को। इस प्रकार भारत के तत्त्वज्ञान में जी व्यापकता, जो उदार-हृदयता, जो विवेचना शक्ति आलोचकों की दृष्टि को आनन्दित करती है, वह अन्य देश के तत्त्वज्ञान में अप्राप्य ही है।

सदा सन्धान्वेषण के प्रति नितान्त श्रद्धालुता इस विशाल-हृदयता की कुर्जा है। भारतीय दार्शनिकों में पारम्परिक दृष्टिकोण में कितना भी अन्तर हो, पर वे प्रतिपक्षी के मत का समुचित उत्तर दिये व्यापक दृष्टि बिना स्वमत के स्थान में उद्यत नहीं होते। सामान्य-रति में प्रतिपक्षी के मत का प्रतिपादन पहले किया जाता है; इसे कहते हैं पूर्वपक्ष। अनन्तर प्रबल युक्तियों का प्रयोग कर उसके निराकरण करने का प्रयत्न किया जाता है—खण्डन। इसके बाद इन युक्तियों के आधार पर अपने मत का प्रमाणपुरःसर उपपादन किया जाता है जिसे कहते हैं उत्तर

१ मानमेयोदय (अङ्गार संस्करण) पृ० १६६-१७१।

२ देखिए इसी ग्रन्थ में इन दर्शनों का वर्णन।

पक्ष (पिछला मत) अथवा सिद्धान्त । प्रतिपक्षी के प्रति इस श्रद्धालु भाव के कारण भारतीय दर्शन के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में चमत्कारिणी सर्वाङ्गीणता का दर्शन हमें होता है । वेदान्त के किसी प्रामाणिक ग्रन्थ को ले लीजिए । उसमें अन्य मतों—बौद्ध, जैन, न्याय, वैशेषिक, सांख्य—के सिद्धान्तों की चर्चा पूर्वपक्षत्वेन अवश्य की गई उपलब्ध होगी । किसी उच्चकोटि के जैन या बौद्ध ग्रन्थ में इसी प्रकार ब्राह्मणमतों की समीक्षा तत्तन दृष्टिकोण से अवश्य की गई होगी । पाश्चात्य दर्शनो में विवेचित सिद्धान्तों का भी विवेचन भारतीय दर्शन में कहीं-न-कहीं अवश्य किया गया मिलना है ।

भारतीय तत्त्वज्ञान की व्यापक दृष्टि को हम एक दूसरे प्रकार से प्रामाणित करना चाहते हैं । 'सत्' की व्याख्या करने में यहाँ के दार्शनिकों ने अनुभवगम्य विषय की ओर उतना ध्यान नहीं दिया
अनुभव की पूर्ण विस्तार
जितना अनुभव कता विषयी की ओर । तर्क-बुद्धि का
व्याख्या अनुसरण कर आत्मा को तुच्छ अनात्मा से पृथक्
करना दार्शनिकों का प्रधान कार्य था । इस प्रकार "आत्मानं विद्धि"—
आत्मा को जानो—भारतीय दार्शनिकों का मूलमन्त्र रहा है । किन्तु शुष्क तार्किक युक्तियों के सहारे आत्मा का ज्ञान परीक्ष न होकर अपरीक्ष होना चाहिए । इसके लिए भारतीय मनोविज्ञान ने मानस प्रक्रिया का यथार्थ निरूपण किया है । जिस प्रकार इस दृश्यमान विविधता के अन्तर्गत में विद्यमान एकता के परम्परे की शिक्षा देनेवाला वेदान्त सूक्ष्म तत्त्विक विवेचन की पराकाष्ठा को सूचित करता है, उसी प्रकार विभिन्न मानस-वृत्तियों का सर्वाङ्गीण निरूपण कर योग तत्त्वज्ञान की व्यावहारिक शिक्षा देता है । भारतीय दर्शन की आलोचना करने में दो सामान्य सिद्धान्त हमारे दृष्टिगत होते हैं—पहला है नानात्मक प्रपञ्चकी पारमार्थिक एकता । यह है तार्किक सिद्धान्त—वेदान्त । दूसरा है ध्यान-धारण-समाधि के द्वारा इस अनुस्यूत एकता के मूलतत्त्व आत्मा का साक्षात् अनुभव । यह है

व्यावहारिक सिद्धान्त (योग) । भिन्न २ दर्शनों में भी इन सिद्धान्तों का मान्यता आंशिकरूपेण या पूर्णरूपेण स्वीकृत की गई है । मनोवैज्ञानिक आधार के ऊपर ही तत्त्वज्ञान का विशाल दुर्ग खड़ा किया जाता है । मनो-विज्ञान बतलाता है कि अवस्थायें तीन होती हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तथा इन्हीं के आश्रय लेने से चैतन्य भी तीन प्रकार का होता है । पाश्चात्यदर्शन जाग्रत अवस्था के ही समझाने में व्यस्त है । जाग्रत् दशा की व्याख्या रहने से द्वैतवाद तथा बहुत्ववाद (प्लूरलीज़म) के समर्थक तत्त्वज्ञान का उदय होता है । स्वप्नदशा की व्याख्या विषयी-प्रधान दर्शन की जननी है और सुषुप्ति का मार्मिक निरूपण रहस्यवाद (मिस्टिसिज़म) का जनक होता है । पाश्चात्य दर्शन इस त्रिविध अनुभव के एक अंशमात्र की व्याख्या करने में सलग्न है, परन्तु भारतीय दर्शन ही इस अनुभव के प्रत्येक अंश का ग्रहण कर उसके यथार्थ निरूपण करने में समर्थ हुआ है । अतः इसकी व्यापकता, विविधरूपता, समन्वय-क्षमता तथा उदारहृदयता सर्वतोभावेन प्रमाण-प्रतिपन्न है । यह विशेषता इसके अन्य संकीर्ण सिद्धान्त-वाले दर्शनों से पार्थक्य दिग्गलाने में पर्याप्त है । इस प्रकार भारतीय दर्शन की प्रार्चानता तथा स्वतन्त्रता, व्यापकता तथा सर्वाङ्गीणता देखकर भारतीय सभ्यता तथा धर्म का अभिमानी कौन ऐसा पुरुष होगा ? जिसका हृदय आनन्द से गहृद न हो जायगा, जिसका मस्तक अभिमान से उन्नत न हो जायगा और जिसकी वाणी प्रशंसा से प्रवर्तित न हो जायगी ।

३—भारतीय दर्शन का लक्ष्य

आर्यावर्त के प्रार्चान तपोनिष्ठ महर्षियों ने इस विश्व की पहली को समझाने का जो प्रयत्न अपनी कुशाग्र बुद्धि के बल पर किया है वह विचार-शास्त्र के इतिहास में अत्यन्त गौरव की वस्तु है । इस अनेक-रूपामक, क्षण क्षण में विलक्षण रूप धारण करनेवाले, पदार्थों के अन्तस्तल में विद्य-

मान रहनेवाली एकरूपता, अनेकता के भीतर एकता की खोजकर निकालना प्राचीन वैदिक ऋषियों की दर्शनशास्त्र को बहुमूल्य, महत्त्वपूर्ण देन है। जिस प्रकार परिवर्तनशील ब्रह्माण्ड के भीतर एक अपरिवर्तनशील तत्त्व विद्यमान है, उसी प्रकार इस पिण्ड के भीतर भी एक अपरिवर्तनशील तत्त्व की सत्ता विद्यमान है। ब्रह्माण्ड की नियामक सत्ता का नाम है ब्रह्म तथा पिण्डाण्ड की नियामक सत्ता की संज्ञा है आत्मा। प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्माण्ड और पिण्डाण्ड का ऐस्य सर्वतोभावेन स्वीकार किया है और ब्रह्म तथा आत्मा की एकता प्रतिपादित की है। ब्रह्म कोई अलभ्य तथा अलौकिक और अद्वय पदार्थ नहीं है, प्रत्युत प्रत्येक प्राणी अपने भीतर नियामक (अन्तर्यामी) आत्मा के रूप में उसी की सत्ता का अनुभव किया करता है, इसीलिये ब्रह्म को साक्षात्कार करने तथा पहिचानने का सबसे बड़ा उपाय है आत्मा का पहिचानना और उसका साक्षात्कार करना। जगत् के समस्त प्रिय पदार्थों में श्रेष्ठ पदार्थ आत्मा ही है।

क्या आत्मा की प्रेष्ठता प्रमाणित करने की आवश्यकता है? जीवन के समस्त कार्य-कलापों के बीच इसीकी शक्ति काम करती हुई दीख पड़ती है। किसी जगह से शुरु कीजिए, अन्ततोगत्वा आत्मा आत्मा की प्रेष्ठता के ही ऊपर पर्यवसान होगा। शिक्षालयों के छात्र कितनी लगन से विद्याध्ययन में प्रवृत्त हैं? किस उद्देश्य से? ज्ञान प्राप्ति की कामना से। ज्ञानापलब्धि का फल है धन, धन से कौटुम्बिक सुख, कौटुम्बिक सुख से अन्तिम लाभ है आत्मसुख। इससे हम कहते हैं कि कहीं से देखा जाय प्रिय पदार्थों की गगना में आत्मा ही प्रियतम (प्रेष्ठ) रहता है। इस विशाल विश्ववृत्त के केन्द्र में स्थित होनेवाला है—यही आत्मा। प्रियतम होने के कारण ही पुत्रशल्मला करुणामयी माता की भाँति श्रुति उपदेश देती है कि आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करो—“आत्मा वा अरे दृष्टव्यः।” मुक्ति की कल्पना में पर्याप्त मतभेद होने पर भी विभिन्न दार्शनिक इस विषय में

नितान्त एकमत है—“आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिः मोक्षः ।” आत्मा का ज्ञान कराना, चाहे वह ब्रह्म में भिन्न हो, या अभिन्न हो, प्रत्येक दर्शन का लक्ष्य है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् (२।४) का यह आख्यान नितान्त सुप्रसिद्ध है कि बृहदावस्था आने पर दार्शनिक-शिरोमणि याज्ञवल्क्य ने अपनी सम्पत्ति का

विभाग अपनी दोनों पत्नियों—कात्यायनी तथा मैत्रेयी—
याज्ञवल्क्य का उपदेश के बीच में कर दिया । तब विदुषी मैत्रेयी न आस्थिर

लौकिक सम्पत्ति के ग्रहण करने में बड़ी अनास्था । इबलार्ड और पृष्ठा कि यदि यह सम्पूर्ण पृथ्वी सारे लिये धन से पूर्ण हो जाय तो क्या मैं उसमें अमरत्व को प्राप्त कर सकूँगी ? ‘बिल्कुल नहीं’ महर्षि ने उत्तर में कहा । “तुम्हारा जीवन उस आदमी के जीवन के समान होगा जिसे आनन्द की समस्त सामग्रियाँ प्राप्त हैं, परन्तु केवल धन प्राप्ति से अमरत्व की उपलब्धि होने की तनिक भी आशा नहीं है ।” “अमृतत्वम्प तु नाशाम्नि वित्तेन” । तब मैत्रेयी ने पुनः पृष्ठा कि जिसमें अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती उस धन को लेकर मैं क्या करूँगी ? मैं तो अमरत्व की भूखी हूँ । तब महर्षि ने उसमें सम्पत्ति से बढ़ कर प्रियतम वस्तुओं का नाम पृष्ठा । मैत्रेयी ने ऐसी अनेक वस्तुओं का नाम लिया । इस उत्तर को सुनकर याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी को जो आध्यात्मिक उपदेश दिया वह भारतीय धर्म तथा दर्शन के इतिहास में सदा अमर रहेगा । उन्होंने कहा, “पति के लिये पति प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिये । पत्नी के लिये पत्नी प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिये । पुत्र के लिये पुत्र प्यारा नहीं है बल्कि आत्मा के लिये । संसार की समस्त वस्तु अपने लिये प्यारी नहीं होती बल्कि आत्मा के लिये । अतः सब से प्रिय वस्तु है आत्मा । इसलिये हे मैत्रेयी ! इस आत्मा का प्रत्यक्ष करना चाहिये, श्रवण करना चाहिये, मनन करना चाहिये तथा निदिध्यासन (सतत ध्यान) करना

चाहिये । स्योक्ति आत्मा के दर्शन से, श्रवण से, मनन से तथा विज्ञान से सब कुछ जाना जा सकता है ।"

"आत्मा वा अरे दृष्टव्यः, श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यानिवन् ॥

आत्मनो वा अरे दर्शनेन, श्रवणेन, मत्वा, विज्ञानेनेन सर्वं विज्ञातं भवति" (बृह० उप० २।१०) ॥

महर्षि याज्ञवल्क्य का यह उपदेश भारतीय दर्शन तथा धर्म की मूल भित्ति है । मानव जीवन का चरम लक्ष्य है आत्मा का साक्षात्कार, आत्मा का साक्षात् अनुभव । इस अनुभव की प्राप्ति के लिये उपनिषद् त्रिविध साधन का उपदेश देता है—श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन । आत्म-तत्त्व श्रवण करना चाहिये श्रुति वाक्यों से, मनन करना चाहिये तार्किक युक्तियों से तथा निदिध्यासन करना चाहिये योग-प्रतिपादित उपायों के द्वारा—

"श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो, मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः ।

मत्वा तु मतनं ध्येयः, एते दर्शनहेतवः ॥"

श्रवण—आत्मा के सच्चे स्वरूप का ज्ञान उन्हीं ग्रन्थों से हमें प्राप्त करना चाहिये जिनमें आत्मनिष्ठ ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के साक्षात् अनुभव का

संकलन है । भारतीय साहित्य में ऐसे ग्रन्थ ग्व वेद आत्म साधना के विविध साधन हैं । साक्षात् १. अधर्मा मर्षियों के प्रतिभ चक्षु के द्वारा अपरोक्ष रूप से अनुभूत अध्यात्म तत्त्वों के राशि ही

का दूसरा नाम श्रुति है । इसीलिये भारतीय दर्शन में वेदों का इतनी महत्ता है । क्योंकि जिन ग्रन्थकारों ने स्वानुभूति के अभाव में परानुभूति के द्वारा उद्भावित आध्यात्मिक रहस्यों का वर्णन किया है; उनके वचन हमारे लिये सर्वतोभावेन मान्य नहीं हो सकते । इसीलिये महर्षियों के स्वानुभूति को प्रदर्शित करनेवाली श्रुति तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप के प्रकट करने में सब से

अधिक प्रमाण मानो जाती है^१। इसीलिये आत्म-तत्त्व-विचार के लिये भगवती श्रुति का शरण लेना परमावश्यक है।

मनन—आत्मानुभव का दूसरा साधन है मनन। मनन युक्तियों के सहारे किया जाता है। वेद में प्रतिपादित सिद्धान्त निःसंदिग्ध हैं, संशय के लिये उसमें कोई भी स्थान नहीं है, तथापि मनन अनावश्यक साधन नहीं है। किसी वस्तु-स्वरूप के विषय में वास्तविक संशय के समान काल्पनिक सन्देह के निराकरण में तर्क ही नितान्त समर्थ होता है। बिना तर्क के उपयोग किये किसी वस्तु का स्वरूप हृदयंगम नहीं किया जा सकता। परानुभूति को स्वानुभूति में परिणत करने का प्रधान उपाय होना चाहिये उसके विषय में निःसंदिग्ध ज्ञान। और इस ज्ञान के एकमात्र उपयोगी होने से मनन की अवहेलना किसी प्रकार नहीं की जा सकती। इसी मनन-रूपी द्वितीय साधन के परमोपयोगी होने से दर्शनों का वास्तविक मूल्य है। दर्शनों ने इसी प्रमेय सिद्धि को लक्ष्य में रखकर स्वमतानुसार प्रमाण तथा उसकी पद्धति का विवेचन बड़े शास्त्रीय ढंग से किया है। प्रमाणों का वास्तविक उपयोग प्रमेय सिद्धि ही में होता है। “प्रमेयसिद्धिः प्रमाणाद्धि” (सांख्यकारिका कारिका ४)। इसीलिये मननोपयोगी दर्शनों ने प्रमाण-मीमांसा को इतना अधिक महत्त्व दिया है।

निदिध्यासन—आत्म-साधना का तृतीय साधन है निदिध्यासन। योग दर्शन में यह साधन प्रधानतया वर्णित तथा विवेचित है। ‘अष्टाङ्ग-योग’ निदिध्यासन ही का उपाय है। ध्यान के द्वारा जब तक आत्मा का स्वानुभव नहीं होता तब तक परानुभूति के निरन्तर श्रवण तथा मनन का ही उपयोग क्या है? दिक्, काल से अनवच्छिन्न, शान्त, तेजःस्वरूप, परमात्मा की सत्ता का प्रधान मान है—स्वानुभूति, अपने आपका अनुभव। इसलिये

भर्तृहरि ने ब्रह्म को “स्वानुभूत्येकमान” बतलाया है^१। ध्यान ही इसके लिये प्रधान साधन है। विपश्चिन्नां के अनात्त्विक विचारों के सतत श्रवण करने से हमारे हृदय में आध्यात्मिक तथ्यों के विषय में आन्ति उत्पन्न होता रहता है। इनका निराकरण तभी किया जा सकता है जब मनन के द्वारा प्रतिष्ठित मिद्धान्तों का निगन्तर चिन्तन किया जाय। इन आन्तियों को अपने हृदय में बिना उन्मूलित किये सच्चे मिद्धान्तों की कल्पना बढमूल नहीं हो सकती। इसलिये निदिध्यासन आ म-साधना का अन्तिम उपाय बतलाया गया है।

आत्म-साधना के इन त्रिविध साधनों में केन्द्रभूत उपाय—मनन—का निरूपण भारतीय दर्शनों की सहायता से ही किया जा सकता है। इसलिये दर्शन के साथ भारतीय धर्म का नितान्त घनिष्ठ संबंध है। ये आपस में एक दूसरे के उपकारी हैं। धर्म के सहयोग से भारतीय विचार-शास्त्र की जीवन के ऊपर व्यापक दृष्टि आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है तथा दर्शन की आधार शिला पर प्रतिष्ठित होने के कारण भारतीय धर्म तर्काविरोधी मिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। इस प्रकार इस पुण्य भूमि भारतवर्ष में गंगा और यमुना के सम्मिलन के समान, धर्म तथा दर्शन का मधुर मिलन भारतीय संस्कृति के परम सामंजस्य का सूचक है। कतिपय मिद्धान्तों में पार्थक्य होने पर भी मननान्तर होने के कारण से उन दर्शनों का ऐक्यभाव सूक्ष्म दृष्टि रखनेवाले विचारकों के सामने परोक्ष नहीं है। इन समानताओं का वर्णन यथास्थान आगे किया जायगा।

१ दिक्कालाद्यनवच्छिन्नानन्तचिन्मात्रमृतये ।

स्वानुभूत्येकमानाय नमः शान्ताय तेजसे ॥

भर्तृहरि—नीतिशतक श्लो० १

४—भारतीय दर्शन पर मिथ्यारोप

हमारे देश की वर्तमान अवगत दशा पर चार आँसू बहाने वाले आलोचकों का सर्वमान्य निश्चय हो गया है कि भारतीय दर्शन के सार्वत्रिक प्रचार तथा लोक प्रिय होने के कारण ही भारत में अकर्मण्यता नैराश्यवाद का राज्य छाया हुआ है; भारत के अधिवासी मनुष्य स्वप्नों में ही इतने व्यस्त हैं कि ठोस जाग्रत जगत की वस्तुओं तथा जीवित घटनाओं के प्रति नितान्त उदासीन बने हुए हैं और भारत की विद्यमान हानावस्था इसी विचार-परम्पराजन्य अकर्मण्यता का उज्ज्वल परिणाम है। भारतीय दर्शन के ऊपर नैराश्यवाद (पेसिमिज़्म) के प्रचारक होने का लाल्छन लगाया जाता है। परन्तु दर्शन की तात्त्विक समीक्षा करने पर क्या यह आरोप क्षणमात्र के लिए भी टिक सकता है? नैराश्यवाद की धूमिल रेखा भारतीय दर्शन के प्राञ्जल नभोमण्डल को कलुषित करती हुई आपाततः अवश्य दृष्टिगात्र होती है; परन्तु वास्तव में वह रेखा कनिष्ठ क्षण के लिए ही विद्यमान रहती है। गगनमण्डल पर अच्छी तरह दृष्टिपात करने से निश्चय रूप से यहाँ प्रतीत होता है कि वह क्षणिक रेखा उसे अधिक प्रभा-भामुर बनाकर सदा के लिए विलुप्त हो जाती है। वर्तमान में असन्तोष हुए बिना मनोरम भविष्य की कल्पना ही मानव हृदय में कभी जाग्रत नहीं हो सकती। यदि वर्तमान में असन्तुष्ट होने से भारतीय दर्शन पर निराशावादी होने का मिथ्यारोप लगाया जाता है, तो दर्शनमात्र निराशावादी सिद्ध होने लगेगा। इस भवसागर में क्लेश की लहरों के थपड़ों को खाने वाला जीव पद-पद पर विपत्तियों के आक्रमण से विदलित होकर अपने जीवन को निराशामय ही पाता है और उसमें बचने के लिए तरह-तरह के उपाय सोचने लगता है। इसी दुःखत्रय विधात के कारण उत्पन्न जिज्ञासा भारतीय दर्शन की उद्गम भूमि है।^१ भारत का तत्त्वज्ञान इस

दुःख-बहुल वर्तमान जगत् के वास्तविक स्वरूप के समझने तथा इससे उद्धार पाने के उपायों के निरूपण में अपना सारी शक्तियों को खर्च कर देता है, जिससे निराशामय जगत् में आशा का संचार होने लगता है, क्लेश का स्रोत आनन्द के प्रवाह में परिवर्तित हो जाता है। भला ऐसे आदर्श को मानने वाले दर्शन को निराशावादी कैसे स्वीकार किया जा सकता है ?

अकर्मण्यता का दोषारोपण उसी प्रकार निःसार, भ्रान्त तथा अज्ञान-मूलक है। भारतीय-दर्शन कर्मवाद के सिद्धान्त को मानने वाला है।

प्राणियों के जीवन पर उनके किये गये कर्मों का प्रकृत अकर्मण्यता प्रभाव पड़ता है; शुभ कार्यों का फल शुभ परिणाम का दायक होता है तथा अशुभ कर्मों का पर्यवमान क्लेश तथा दुःख में होता है। ऐसी वस्तुस्थिति होने पर दुःखद वर्तमान को सुखमय भविष्य में परिवर्तन करने की आशा रखने वाला भारतीय तत्त्वज्ञान प्राणियों को अकर्मण्यता की कुशिक्षा क्यों कर देगा ? इसका कारण समझ में नहीं आता। साधारण जनता की कौन कहे, शिक्षित समाज में भी यह धारणा बद्धमूल-सी हो गई है कि मायावादी वेदान्त इस जगत् को मायिक तथा असत्य बतलाता है तथा इससे भाग खड़ा होने में ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य समझता है। परन्तु यह धारणा नितान्त भ्रान्तिमूलक है। श्रीशङ्कराचार्य ने जब उपनिषदों के महत्त्वपूर्ण उपदेशों को 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः' इस श्लोकांश में निर्दिष्ट कर जगत् के मिथ्यात्व की शिक्षा दी, तब उनका ध्यान इस सुशिक्षा की कुस्मित व्याख्या की ओर शायद ही गया होगा। त्रिकालाबाधित ब्रह्म के साथ तुलना करने पर ही जगत् की पारमार्थिक सत्यता में विरोध प्रतीत होता है। अतः पारमार्थिक दृष्टि से जगत् को मिथ्या मानने पर भी व्यावहारिक दशा में उसकी सत्यता प्रमाणप्रतिपन्न है। जिस जगत् में प्राणी जनमते हैं, प्रकृति के अनुसार भिन्न प्रकार के कर्मों को करते हैं और अन्त में मरते हैं, व्यवहार के लिए

नितान्त सत्यभूत उस ठोस संसार की सत्यता को कौन दार्शनिक स्वीकार नहीं कर सकता है? मायावादी शङ्कराचार्य का जीवन चरित ही इस आरोप के निराकरण करने के लिए पर्याप्त साधन है। वर्त्तास वर्ष के छोटे काल में इस परममेधार्वी दार्शनिक-शिरामणि ने वह कार्य कर दिग्वाया है जो उनसे चौगुनी आयु वाले विद्वानों की शक्ति के मान का नहीं है। सोलह वर्ष की उम्र में विचार-प्रधान अमर भाष्य ग्रन्थों की रचना करना, तथा उनकी सहायता से इस विशाल भारत के कोने-कोने में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के लिए मठों की स्थापना करना, धर्म को जाग्रत रखने के लिए निवृत्ति प्रधान संन्यासियों के सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा करना तथा वेदवाद्य बौद्धों को परास्त कर इस भूभाग से अनेकांश में निकाल बाहर कर देना—कोई हैर्मा खेल का काम नहीं है। इन्हें वही समुचित रीति से सम्पन्न कर सकता है जो नितान्त कर्मपारायण हो। अतः श्रीशङ्कराचार्य का यह कर्मठता, यह अलौकिक कार्यकुशलता उनकी शिक्षा के ऊपर भाष्यरूप है। मायावाद के प्रचारक होने पर भी शङ्कर जैसे कर्मठ विद्वान इस भारतभू पर विरले ही हुए हैं।

भारतीय तत्त्वज्ञान अपने सिद्धान्तों को श्रुति की कसौटी पर कस कर ही उन्हें विशुद्ध, सत्य तथा प्रामाणिक मानता है। तर्क-बुद्धि से विचारित तत्त्वों की प्रामाणिकता श्रुत्यविरोधी होने पर ही श्रुति और तर्क स्वीकार की जा सकती है। श्रुति के प्रति इस समधिक आदर बुद्धि से प्रतारित आलोचक भारतीय दर्शन शास्त्र को अन्धविश्वास², युक्तिनिरपेक्ष सिद्धान्तों का प्रतिपादक (डाग्मेटिक) बतला सकता है; पर यह कल्पना भी अन्य कल्पनाओं के समान सारहीन है। तर्क का कोई अन्त नहीं है। वह स्वयं अप्रतिष्ठित है। तर्क से निश्चित सिद्धान्तों का खण्डन अन्य प्रबलतर तर्कों के द्वारा किया जा सकता है। अतः केवल तर्क के

आश्रय पर किसी तत्त्व का निश्चय करना नितान्त असाम्यक है। साक्षात्कृत-धर्मा ऋषि जनों के प्रातिम चक्षु द्वारा अपरोक्ष दृष्ट तत्त्वों के राशि का ही दूसरा नाम श्रुति या वेद है। वेद के सामने परममधार्मी शंकर, रामानुज जैसे विचारकों के भी मन्तक नत हो जाते हैं। अतः वेद का आश्रय लेना भारतीय तत्त्वज्ञान के अन्धविश्वास का सूचक नहीं है, अपि तु ऋषियों के द्वारा अनुभूत अपरोक्ष ज्ञान का सहाय लेना है। इर्सालिण् वाक्यपदीयकार भर्तृहरि ने आगम का प्रकृष्ट प्रशंसा की है। उनका कहना है कि विभिन्न आगमदर्शनो की सहायता से प्रज्ञा विवेक को—सत, असत, सार तथा निःसार के विवेचन की शक्ति को—प्राप्त करती है। अपने ही तर्क के अनुसरण करने से किन तत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है? पुराण तथा आगम की सहायता के बिना जिस किसी तत्त्व का उपेक्षा करने वाले तथा वृद्धा के अनुपासक पुरुषों की विद्या कथमपि प्रसन्न कहा हो सकती। यदि वेद के आश्रय लेने से तर्क में किसी प्रकार की स्वावट होती, तो उसे हम असान्य बतलाते। परन्तु यहाँ तो बात दूसरी है। विशुद्ध तर्क-प्रणाली के सहारे निश्चित किये गये सिद्धान्तों की प्रामाणिकता जाँचने के लिए दार्शनिक लोग

१ यत्नेनानुमिनाप्ययः कुशलैर्गनुमातृभिः ।

अभियुक्तैरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ —वाक्यपदीय १।३४ ।

२ प्रत्येकानुमित्या वा यस्तूरायो न बुध्यते ।

एतद्वदन्ति वदन् तस्मात् वेदस्य वेदता ॥

—सायणाचार्य (तैत्ति० भाष्य भूमिका)

३ प्रज्ञा विवेक लभते भिन्नैरागमदर्शनैः ।

कियद्वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता ॥

तत्तद् उत्प्रेक्षमाणानां पुराणैरागमैर्विना ।

अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रवीदति ॥

—वाक्यपदीय १

श्रुति का ही आश्रय लिया करते हैं; क्योंकि जैसे ऊपर दिखलाया गया है श्रुति योग्य अनुभव के द्वारा उद्भाविन सिद्धान्तों का समर्पण योग्य है। अतः श्रुति के ऊपर दार्शनिकों का यह पक्षपात उन्हें अन्धविश्वासों नहीं बना सकता।

भारतीय दर्शन पर प्रगतिशील होने का आरोप भी उर्ध्व प्रकार भ्रान्ति—मूलक है। दार्शनिक विचारकों की सीमांसा के गहन विषय—आत्मा, जगत, ईश्वर आदि—प्राचीन भले हों, परन्तु दार्शनिकों ने भिन्न भिन्न दृष्टियों से उनके विवेचन करने में पर्याप्त मौलिकता दिखलाई है। ये परम-गहन विषय प्राचीन होते हुए भी नवीन हैं, क्योंकि इनकी गहनता सदा इन्हें नवीन बनाये हुए है। टीकाकारों ने व्याख्या लिखते समय अपने स्वतन्त्र अथवा प्रगल्भ विचारों को प्रकट करने में अपनी निर्भीकता तथा विचारस्वतन्त्रता प्रकट की है। अतः भारतीय दर्शन नितान्त प्रगतिशील है। उसने श्रुति के कारागार में अपने को बद्ध कर जीवन के नवीन विषयों की विवेचना करने में कभी अश्रमता नहीं दिखलाई है। अतः यह आरोप भी अनुपयुक्त ही सिद्ध होता है।

५—भारतीय दर्शन के श्रेणीविभाग तथा कालविभाग

हिन्दू ग्रन्थकारों ने भारतीय दर्शनों को दो विभागों में विभक्त किया है—आस्तिक तथा नास्तिक। इस प्रसङ्ग में व्यवहृत इन शब्दों की कल्पना एक विशिष्ट अर्थ में की गई है। (१) साधारण 'आस्तिक का अर्थ' बोलचाल की भाषा में 'आस्तिक' ईश्वर की सत्ता माननेवाले को तथा 'नास्तिक' उस सत्ता के निषेध करनेवाले को कहते हैं। परन्तु इस प्रचलित अर्थ में इन शब्दों का प्रयोग दर्शनों के साथ नहीं किया गया है। आस्तिक दर्शनों में अन्तर्भुक्त होने पर भी कर्म-सीमांसा कर्म की सहत्ता स्वीकार कर तथा फल के लिए

अपूर्व' की कल्पना को प्रमाणयुक्त मानकर ईश्वर का निषेध करना है तथा सांख्य प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक संयोग से सृष्टि कार्य की सुसम्पन्नता मानकर ईश्वर की आवश्यकता को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं है। बौद्ध, जैन तथा चार्वाक दर्शनों के लिए ईश्वर सत्ता के निषेधक होने के हेतु 'नास्तिक' शब्द प्रयोग उपयुक्त भले हो, पर मीमांसा तथा सांख्य का आस्तिक दर्शनों के भीतर अन्तर्भाव नितान्त अनुचित है। (२) पाणिनी ने इनकी शास्त्रीय व्याख्या अपनी अष्टाध्यायी में की है। 'अस्ति परलोक इति मतिर्यस्य स आस्तिकः' अर्थात् परलोक की सत्ता में विश्वास-शाल पुरुष। आस्तिक, नास्तिक तथा दैष्टिक शब्दों का व्युत्पत्ति 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (१।४।६०) इस सूत्रसे ठक प्रत्यय के द्वारा सिद्ध मानी गई है। इस व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ में व्यवहृत होने पर जैन तथा बौद्ध दर्शनों की भी गणना आस्तिकमतों में होने लगेगी, क्योंकि इन दर्शनों में भी अन्य दर्शनों के समान कर्म सिद्धान्त अंगीकृत है तथा परलोक की सत्ता में इन्हें पक्का विश्वास है। इस दृष्टि से चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन ठहरेगा। (३) पर यहाँ 'आस्तिक' का प्रयोग पूर्वोक्त दोनों अर्थों में न होकर एक तीसरे ही अर्थ में किया गया है। 'आस्तिक' वह है जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे तथा 'नास्तिक' वह है जो वेद की प्रामाणिकता का कायल न हो कर उसका निन्दक है। मनु ने ('नास्तिको वेदनिन्दकः' मनुस्मृति २।११) वेद निन्दक को नास्तिक माना है। इसी अर्थ में इसका प्रयोग यहाँ किया गया है। वेद की प्रामाणिकता मानने से न्याय, वैशेषिक, सांख्य यांग, मीमांसा तथा वेदान्त प्रधानतया आस्तिक दर्शन माने जाते हैं तथा वेद की प्रामाणिकता न मानने से चार्वाक, जैन तथा बौद्ध नास्तिक माने जाते हैं। इस दृष्टि से ईश्वर, वेद तथा परलोक को न माननेवाला चार्वाक पक्का नास्तिक है। चार्वाक की नास्तिकता चतुरस्र है।

परन्तु भारतीय दर्शनों का यह श्रेणी विभाग उतना युक्तियुक्त नहीं है। पाञ्चरात्र संहिता, शैव संहिता तथा शक्त संहिता में वैदिक तथा वेद वाद्य सिद्धान्तों का विचित्र सम्मिलन है। ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२) में बादरायण ने पाञ्चरात्र तथा शैव सिद्धान्तों को अवैदिक मानकर इनका सम्प्रमाण खण्डन किया है। पाञ्चरात्र के अंश को शङ्कराचार्य खण्डनात्मक मानते हैं, परन्तु रामानुजाचार्य के मन्तव्यानुसार सूत्रों में पाञ्चरात्र का मण्डन किया गया है। इतना तो निश्चित सा प्रतीत होता है कि पाशुपत तथा पाञ्चरात्र के सिद्धान्त नितान्त वेद-सम्मत स्वीकार नहीं किये जाते थे। शिवमहिम्नः स्तोत्र में 'त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति' पद्यांश में पाशुपत मत तथा वैष्णवमत की त्रयी में पृथक् गणना करने का तात्पर्य यही है। अतः तन्त्रमूलक दर्शनों का निर्वाह पूर्वोक्त वर्गीकरण के स्वाकृत होने पर कही न हो सकेगा। क्योंकि इनके सिद्धान्तों—(चतुर्व्यूह की कल्पना, आदि) को वेदानुकूल न मानने पर भी कर्म सिद्धान्त, पुनर्जन्म, दुःस्वान्त्यन्त-निवृत्ति आदि अनेक सिद्धान्तों की वेदानुकूलता स्पष्ट है। अतः इन आगम ग्रन्थों के आधार पर निर्मित दर्शनों की उपपत्ति के लिए पूर्वोक्त आस्तिक तथा नास्तिक दर्शनों का श्रेणी-विभाग नितान्त अनुपयुक्त है।

इस ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में श्रुति तथा गीता के आध्यात्मिक तत्त्वों का विवेचन है। द्वितीय खण्ड में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का वर्णन किया जायेगा जो सर्वसाधारण में 'नास्तिक' दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हैं। तृतीय खण्ड में उन षड्दर्शनों—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, कर्म-मीमांसा तथा वेदान्त—का विवेचन किया जायेगा जो श्रुतिमूलक होने से आस्तिक दर्शनों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इसके पश्चात् चतुर्थ खण्ड में भक्ति की भव्य कल्पना को महत्त्व देनेवाले तथा आगम की मूलभूत पर अवलम्बित होनेवाले पाञ्चरात्र, शैव तथा शक्त दर्शनों के सिद्धान्तों का वर्णन किया जायेगा। साधारणतया बौद्ध दर्शन

के चार सम्प्रदायों—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक—में विभक्त होने से नास्तिक दर्शन भी आस्तिक दर्शनों के समान ६ प्रकार का होता है और इन्हीं बारह दर्शनों का विवेचन प्रचलित दर्शन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। परन्तु आगममूलक दर्शनों का विवेचन न करना एक बड़ी भारी त्रुटि है। भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगमागम मूलक है, एक धारा है निगम मूलक और दूसरी है आगम मूलक। अतः उन द्विविध विचार-धाराओं में प्रभावित दर्शनों का निरूपण करना व्यापक दृष्टि में नितान्त उपयुक्त है।

काल-विभाग

भारतीय दर्शन के इतिहास को हम तीन निश्चित कालों में बाँट सकते हैं—(१) वैदिक काल—यह काल बड़े महत्त्व का है। इस काल में ऋग्वेदीय तथा अथर्ववेदीय संहिताओं में संकेतित तत्त्वों का विकास ब्राह्मण तथा आरण्यकों में होता हुआ उपनिषदों में पूर्ण रूपण सम्पन्न हुआ है। उपनिषदों में हम अनेक तत्त्वों की पर्यालोचना पाते हैं। इन तत्त्वों का विवेचन आत्म-स्फूर्ति या प्रातिभ ज्ञान के बल पर इतनी सुन्दर रीति से किया गया है कि वे हमारे अन्तस्तल को स्पर्श कर जाते हैं। उपनिषत्कालीन दार्शनिकों के विचारों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनके द्वारा चरम तत्त्व का माध्यास्य किया गया था; अन्यथा उनके वर्णनों में इतनी तलस्पर्शिता, रोचकता तथा सरलता नहीं होती।

(२) आदिम उत्तरवैदिक काल—यह काल वैदिक धर्म के विरोध का युग है। उपनिषत्काल में ही अनेक वेद-विरोधी मतों की दृढ़ अस्फुट वाणी हमें सुनाई पड़ती है, परन्तु इतनी अस्फुटता से, कि उनकी ओर हमारा ध्यान आकृष्ट नहीं होता। परन्तु उपनिषदों के महत्त्वशाली युग के बावजूद ही इन विरोधी दलों ने अपनी आवाज़ बुलन्द की; ये अपने मतों की

वापणा उच्च स्वर से करने लगे। इन विरोधी दलों में आजीवक तथा चार्वाक का प्रभाव थोड़े ही समय तक व्यापक था, परन्तु जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने अपना प्रभाव इतना जमा लिया कि अवान्तर काल में ब्राह्मण दार्शनिकों से वे सदा टकरा लेते रहे तथा साधारण जनता के प्रेम पात्र होने से अपनी वृद्धि करने में कृतकार्य हुए।

३) दर्शनकाल—इस काल को हम दो अवान्तर विभागों में बाँट सकते हैं—(क) सूत्रकाल तथा (ख) वृत्तिकाल। सूत्रकाल में न्याय तथा वैशेषिक, सांख्य तथा योग, मीमांसा तथा वेदान्त दर्शनों के सूत्रों की रचना हुई। उपनिषदों में पृथिन तथ्यों को प्रयोजक दार्शनिकों ने विभिन्न मतों की स्थापना इसी युग में की। सूत्रों की रचना का यह अभिप्राय नहीं है कि उसी समय से दर्शन का आरम्भ होता है, प्रत्युत ये सूत्र अनेक शताब्दियों की आध्यात्मिक गणपणा के परिनिष्ठित फल-स्वरूप हैं। सूत्रों में पारम्परिक निर्देश उपलब्ध होते हैं। वेदान्त सूत्रों (३।१।१८) में मीमांसा का उल्लेख है, न्यायसूत्र (अ० ३, आ० २) वैशेषिक सूत्रों में परिचित है। सांख्यसूत्र (पञ्चमाध्याय) अन्य दर्शनों के सिद्धान्त का निर्देश करता है। इन सूत्रों के रचनाकाल के विषय में विद्वान् लोगों के भिन्न-भिन्न मत हैं, परन्तु मोटे तौर से ४०० विक्रम पूर्व से २०० विक्रम पूर्व तक इनका निर्माण-काल स्वीकृत किया जा सकता है।

(ख) वृत्तिकाल—सूत्रों की शब्दावली इतनी स्वल्प तथा निगूढ़ है कि वृत्ति की सहायता के बिना इसका अर्थ बोधगम्य नहीं होता। अतः भाष्य, वार्तिक तथा टीका ग्रन्थों की रचना सूत्रों के रहस्य समझाने के लिए इस युग में की गई। शबर तथा वृमारिल, वात्स्यायन तथा प्रगल्भपाद, शङ्कर तथा रामानुज, वाचस्पति तथा उद्दलन—के आविर्भाव-काल होने का श्रेय इसी युग को प्राप्त है। टीकाकार होने से इनकी रचनाओं की मौलिकता कम नहीं है, प्रत्युत मूल लेखक के समान ही ये भी नितान्त प्रामाणिक हैं। इनकी

सहायता से प्रार्चान आचार्यों के मतों का रहस्योद्घाटन ही नहीं होता, प्रत्युत अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना कर ये तत्त्वदर्शनों के सिद्धान्तों को विकसित करनेवाले हैं। तार्किक युक्तियों के द्वारा प्रतिपक्षा के मत का खण्डन करना इस काल की विशेषता है। उपनिषद् के पृष्ठों में स्फुरित तत्त्वों की तर्क के द्वारा स्थापना करना इस युग के लिए एक गौरव की वस्तु है। यह काल ३०० विक्रमा से लेकर १५०० विक्रमा तक माना जा सकता है।

भारतीय दर्शन के काल विभाग की यही सामान्य रूप-रेखा है। परन्तु पूर्वोक्त काल-विभाग एकदम नियमित तथा सुव्यवस्थित नहीं है। हमने इस ग्रन्थ में इन तीनों युगों के दर्शनों का परिचय दिया है। दूसरे परिच्छेद में श्रौत दर्शन के वर्णन रूप में वैदिक कालीन तत्त्वज्ञान के सम्मान्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त निरूपण है। गीता, चार्वाकमत, जैन तथा बौद्ध दर्शनों का आविर्भाव दूसरे युग से सम्बन्ध रखता है जिन्हें भिन्न-भिन्न परिच्छेदों में वर्णन किया गया है। ग्रन्थ के तृतीय तथा चतुर्थ खण्ड में निरूपित दर्शनों का विवेचन तीसरे युग का विषय है। इस प्रकार इस लघुकाय ग्रन्थ में भारतीय दर्शन के विभिन्न युगों के विकास का संक्षिप्त परिचय उपस्थित किया गया है। भिन्न-भिन्न कालों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियों की चर्चा तत्तत् स्थानों पर उचित रीति से की गई है।

६—भारतीय दर्शनों का विकास

सत्यान्वेषण के प्रति भारतीय विद्वज्जनों का आग्रह अन्यन्त प्रार्चान काल से चला आता है। 'सत्' की उपलब्धि के विविध विभिन्न मार्गों

वैदिक युग में	को जिस सूक्ष्मता से तथा पुंखानुपुंखरूप से इन्होंने
द्विविध प्रवृत्तियाँ-	खोज निकाली है वह वास्तव में विचारशील पण्डित
प्रज्ञामूलक तथा	मण्डली के आदर का विषय है। ऋग्वेद के अन्यन्त
तकमूलक	प्रार्चान युग से ही भारतीय विचारों में द्विविध प्रवृत्ति
	तथा द्विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभामूलक या

प्रज्ञामूलक (इनस्यूशनिस्टिक) है जो प्रातिभचक्षु के द्वारा तत्त्वों के विवेचन में कृतकार्य होती है । दूसरी प्रवृत्ति तर्कमूलक (रैशनलिस्टिक) है जो तत्त्वों की समीक्षा के लिए तर्क या तार्किक बुद्धि के प्रयोग को नितान्त समर्थ मानती है । लक्ष्य भी दो प्रकार के है—धर्म का उपासना तथा ब्रह्म का साक्षात्कार । यदि ऋग्वेद के एक महर्षि प्रातिभ ज्ञान के बल पर जगत के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत तत्त्व के अन्वेषण करने में समर्थ होते हैं—आनीदवात भवधया तदेकम् (उस समय एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति में श्वास लेती थी, जाधित थी), तो दूसरे महर्षि की यह प्रोत्साहना तर्कमूलक प्रवृत्ति का उत्कृष्ट उदाहरण बतलाई जा सकती है—सगच्छध्व संवदध्व सं वो मनासि जानताम्^२ (आपस में मिलो, किसी विषय का विवेचन करो तथा एक दूसरे के मन को जानो) इन्हीं उभय प्रवृत्तियों का प्रभाव वैदिक युग में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । वैदिक कर्मकाण्ड का विवेचना के लिए तर्कमूलक प्रवृत्ति के उपयोग करने पर मीमांसा की उत्पत्ति हुई । वेद के यजयागादिकों में आपाततः उपलभ्यमान विरोधों के परिहार के लिए तार्किक बुद्धि के उपयोग करने से मीमांसा के मूलरूप का आविर्भाव हुआ । प्रज्ञामूलक तथा तर्कमूलक—उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मिलन से उपनिषद् के तत्त्व-ज्ञान का जन्म हुआ । औपनिषद्-तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को मिड मानने वाले प्रज्ञामूलक वेदान्त में हुआ । साथ ही साथ उपनिषद् काल में शुद्ध तर्कमूलक तत्त्वज्ञान का भी ऊहापोह होता था जिसमें प्रकृति-पुरुष के द्वैत को स्वीकृत करने वाले सांख्य, व्यावहारिक योग, बहुत्ववादी वैशेषिक तथा न्याय की उत्पत्ति

१ ऋग्वेद—१०।१७९।२ ।

२ ऋग्वेद—१०।१९।१।२ ।

कालान्तर में हुई। कुछ दार्शनिकों ने वेद में सम्बन्ध-विच्छेद का निरपेक्ष-भाव से अपनी स्वतन्त्र तार्किक बुद्धि से तत्त्वों की समीक्षा की, जिसका परिणाम हुआ जैनियों का स्याद्वाद, बौद्धों का शून्यवाद और विज्ञानवाद तथा चार्वाकों का भूतात्मवाद। अतः उपनिषदों में ही समग्र भारतीय दर्शनों का विकास सम्पन्न हुआ है।

उपनिषदों के अनन्तर भारतीय तत्त्वज्ञान के विविध सम्प्रदायों की उत्पत्ति की कथा बड़ी मनोरम है। औपनिषद-तत्त्वज्ञान का पर्यवसान पञ्चदर्शनों का विकास-क्रम 'तत्त्वमसि' मंत्र में था। इस मंत्र के द्वारा उपनिषद के ऋषि लोग उनके की चोट प्रतिपादित करते हैं कि त्व (जीव) तथा तत् (ब्रह्म) पदार्थों में नितान्त एकता हैं। परन्तु उपनिषद-पश्चात् युग की विषम समस्या थी कि इस तत्त्व का साक्षात्कार किस प्रकार किया जाय। कुछ दार्शनिक लोग कहने लगे कि विभिन्न गुणवाले पुरुष तथा प्रकृति—जीव तथा भौतिक जगत्—के परस्पर गुणों के ठीक-ठीक न जानने से ही (अनात्मख्याति) यह संसार है और प्रकृति तथा पुरुष के यथार्थ रूप को जान लेने पर तत्त्व की एकता सिद्ध होती है। इस ज्ञान का नाम हुआ सम्यक् ख्याति = सांख्य। परन्तु केवल बौद्धिक साक्षात्कार से काम नहीं चलता देख उसे व्यावहारिक रूप से प्रत्यक्ष करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति ध्यान धारणा की व्यवस्था करने वाले योग से हुई। इस प्रकार सांख्य-योग एक ही तत्त्वज्ञान के दो पक्ष हैं—बौद्धिक पक्ष का नाम है सांख्य तथा व्यवहार-पक्ष की संज्ञा है योग। अनन्तर जीव-जगत् के यथार्थ निर्धारण के लिए इनके गुणों (विशेषों) की छानबीन करना नितान्त आवश्यक हुआ। इस आत्मा तथा अनात्मा के गुण विवेचन के लिए वैशेषिक की उत्पत्ति हुई, परन्तु वस्तु रूप का विवेचन ज्ञान-प्राप्ति की परिष्कृत पद्धति के अभाव में सुसम्पन्न नहीं हो सकता। अतः इस ज्ञान की शास्त्रीय पद्धति के निरूपण के लिए न्याय

का जन्म हुआ। परन्तु न्याय के शुद्ध तर्क पर अवलम्बित होने से यह भावना बद्धमूल हो गई कि केवल शुष्क तर्क की सहायता से आत्म-तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार नहीं हो सकता। अतः विचारकों ने श्रुति की ओर अपनी दृष्टि फेरी। “वेद को लौट जावो”—इस मिथ्यान्त का प्रचार होने लगा। दार्शनिकों ने वेद के कर्मकाण्ड की विवेचना करना आरम्भ कर दिया और इस विवेचन का फल हुआ **मीमांसा** का उद्गम। परन्तु मानवों की आध्यात्मिक प्रवृत्तियाँ केवल कर्म की उपासना में तृप्त नहीं हो सकीं। अतः अगत्या ज्ञानकाण्ड को **मीमांसा** होने लगा जिसका पर्यवसान ‘वेदान्त’ में हुआ। इस प्रकार औपनिषद् ‘तत्त्वमसि’ महावाक्य की यथार्थ व्याख्या करने के लिए पूर्वोक्त क्रम से षड्दर्शनों की उत्पत्ति हुई।

अब जैनधर्म तथा बौद्धधर्म की ओर दृष्टिपात कीजिए। इन्हें औपनिषद् परम्परा से बहिर्मुक्त मानना नितान्त अनुचित है: ये उम परम्परा तथा विचारधारा रोकनेवाले स्वतन्त्र बौद्धदर्शन का उदय दर्शन या धर्म न थे, प्रत्युत परिस्थिति तथा परिवर्तन के वश उम परम्परा में उत्पन्न होने वाली बुराइयों तथा त्रुटियों को दूर करनेवाले सुधारक सम्प्रदाय थे। उपनिषद्-पश्चात् युग की समस्या—ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे किया जाय ? के उत्तर में गौतम बुद्ध का कहना था कि इस विषम संसार के आवागमन की जन्नी तृष्णा के उच्छेद करने से तथा अखिल स्वार्थ-परायणता तथा जनन-मरण के प्रधान कारणभूत आत्मा के अस्तित्व में विश्वास न करने से तथा सुन्दर सात्त्विक जीवन व्यतीत करने से। ‘ऋते जानान्मुक्तिः’—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती—यह सिद्धान्त बुद्ध को भी मान्य था, पर आचार को सहायता से शरीर को शुद्धि बिना किये मनुष्य ज्ञान की उपलब्धि का अधिकारी नहीं होता। अतः बुद्ध ने

आचार मार्ग पर ही विशेष जोर दिया है और जगत् के मौलिक तत्त्वों के अनुसन्धान को समय का दुरुपयोग बतलाया है।

जैनधर्म के आचारि तीर्थङ्करों के सामने भी वही आचार-विषयक व्यावहारिक समस्या थी जिसके मुलभाने के लिए उन्होंने अपने तत्त्वज्ञान का अन्वेषण कर निकाला। जैनदर्शन मत्स्य का जैनदर्शन की उत्पत्ति सापेक्षता का पक्षपाती है। उसका निश्चय है कि मत्स्य की खोज में लगनेवाले समग्र दर्शन 'आशिक मत्स्य' की ही प्राप्ति में कुनकार्य हुए हैं; अतः वे 'विकलादेश' हैं। केवल जैन दर्शन नय (वस्तु का एक दृष्टिकोण) तथा स्यादवाद (वस्तु सम्भवतः है या नहीं है या अव्यक्त है—आदि सिद्धान्त) के पक्षपाती होने से मत्स्य के समस्त स्वरूप का विवेचक है। अतः वह 'मकलादेश' है। इस प्रकार वस्तु तत्त्व के नानात्मक होने के इस सिद्धान्त को 'अनेकान्तवाद' के नाम से पुकारते हैं। इस अनेकान्तवाद के ऊपर जैनधर्म का समस्त आचार मार्ग अवलम्बित है।

इस प्रकार श्रुति में विभिन्न दर्शनों की उत्पत्ति हुई। ऊपर निर्दिष्ट विकासक्रम ऐतिहासिक न हो कर, तार्किक है। उपनिषदों से किन शताब्दियों में भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का दार्शनिक साहित्य विकास सम्पन्न हुआ, इसे हम ठीक ठीक नहीं बतला सकते। हम इतना ही कह सकते हैं कि इन सम्प्रदायों का विकास समानान्तर रूप में होता रहा। उपनिषदों के पश्चात् इन सिद्धान्तों का ऊहापोह विशेष मात्रा में होता रहा। अनन्तर इन्हें सूत्ररूप में एकत्र करके प्रत्येक दर्शन के मूलभूत ग्रन्थ की रचना की गई। इन सूत्रों में स्वमत प्रतिपादन के साथ साथ परमत का खण्डन भी सूक्ष्मरीति से किया गया मिलता है। न्याय सूत्रों की रचना महर्षि गौतम ने की, वैशेषिक सूत्रों की कणाद ने, सांख्य-सूत्रों की कपिल ने; योगसूत्रों की पतञ्जलि ने,

कर्मभीमामा सूत्रों की जैमिनि ने तथा वेदान्त सूत्रों का निर्माण किया
बादरायण व्यास ने। ये महर्षिगण तत्तत् दर्शनों के सिद्धान्तों के केवल
सूत्रकार हैं, मूल प्रवर्तक नहीं। क्योंकि इन दर्शन-सूत्रों की रचना के बहुत
पहिले ही इन दर्शनों के सिद्धान्त की उत्पत्ति हो चुकी थी। सूत्र अत्यन्त
सूक्ष्म रूप में लिखे गये हैं। आरम्भ में मौखिक व्याख्या की सहायता से
ये बोधगम्य होते थे। बिना व्याख्या के सहारे इनका समझना नितान्त
दुरूह व्यापार है। अतः कालान्तर में इनके ऊपर व्याख्यान-ग्रन्थों का
निर्माण हुआ जिन्हें 'भाष्य' कहते हैं। भाष्य के ऊपर 'वार्तिक' तथा
व्याख्या ग्रन्थों की परम्परा मूल सूत्रों को सुबोध बनाने तथा विपक्षियों के
द्वारा किये गये आक्षेपों के निराकरण के उद्देश्य से लिखी गई। इस प्रकार
दार्शनिक साहित्य की महती श्री-वृद्धि सम्पन्न हुई है।

कभी-कभी एक ही सूत्र ग्रन्थ पर आपस में विरोधी भाष्य ग्रन्थों का निर्माण हुआ है जिससे मूल सूत्रों का तात्पर्य समझना नितान्त कठिन कार्य हो जाता है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर ऐसे ही परस्पर विरोधी भाष्य ग्रन्थ निर्मित हुए हैं जिनमें शाङ्करभाष्य अद्वैत का, रामानुजभाष्य विशिष्टाद्वैत का, मध्वभाष्य द्वैत का, निम्बार्क भाष्य द्वैताद्वैत का तथा बल्लभभाष्य युक्ताद्वैत का प्रतिपादक है। इन विभिन्न भाष्यों पर भी कालान्तर में सिद्धान्तानुकूल वृत्ति ग्रन्थों की रचना होती गयी है जिसके कारण वेदान्त दर्शन का साहित्य भारतीय-दर्शन-साहित्य के इतिहास में सबसे बड़ा, विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है। वेदान्त के अनन्तर ग्रन्थ-संपत्ति के अनुरोध से न्याय का नम्बर आता है। इन दर्शनों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का वर्णन प्रत्येक संप्रदाय के सिद्धान्त-विवेचन के पहले सक्षेप रूप में किया जायगा।

ऊपर निर्दिष्ट षड्दर्शन के सिद्धान्तों में पार्थक्य होने पर भी कतिपय

अंशों में उनमें समानता दीख पड़ती है। हिन्दू दार्शनिक अधिकार-भेद पण्डितों का श्रेणी से दर्शन-भेद की चरितार्थता स्वीकृत करते हैं। मनुष्य का मानसिक विकास निमग्नतः भिन्न-भिन्न श्रेणी विभाग का है। सब मानवों की विचारधारा एक ही प्रवृत्ति को लेकर प्रवृत्त नहीं होती। दर्शन के व्यावहारिक होने में यह प्रत्यक्ष है कि मनुष्यों के बौद्धिक विकास के अनुरूप ही दर्शनों का निर्माण होना चाहिये। इसका ध्यान भारतीय दर्शन में सुन्दर ढंग से रखा गया है। दर्शन का विकास स्थूल से आरम्भ कर सूक्ष्म की ओर बढ़ने में है। सबसे स्थूल तथा प्रत्यक्षगम्य वस्तु है—यह जगत् तथा इसका अनुभव। अतः जगत् के अनुभव की व्याख्या उसके विश्लेषण करने में प्रवृत्त होने में न्याय-वैशेषिक की गणना सर्व-प्रथम की जाती है। अनन्तर सांख्य-योग की गणना है जो मानस अनुभव तथा मानसिक प्रक्रिया के वर्णन में विशेष रूप में व्युत्पन्न है। मीमांसा तथा वेदान्त का स्थान इन दोनों दर्शनों के अनन्तर है। गीर्वाण ने इसका तथा वेदान्त परमात्मतत्त्व का अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत करता है। इस प्रकार पण्डितों की तीन श्रेणियाँ माना जाती हैं

(१) न्याय तथा वैशेषिक; (२) सांख्य तथा योग (३) कर्ममीमांसा (मीमांसा) तथा ज्ञानमीमांसा (वेदान्त)। परस्पर विभिन्नता के सद्भाव में भी इनमें विशेष समानता है जिसका वर्णन किया जा रहा है।

७—भारतीय दर्शनों की पारस्परिक समानता

किसी देश का विचारशास्त्र उस देश का सभ्यता और संस्कृति का सब से मूल्यवान् पदार्थ होता है। उस देश के धार्मिक तथा सांस्कृतिक वातावरण का प्रभाव विचारशास्त्र की विभिन्न धाराओं पर निश्चित रूप से पड़ता है। अतः किसी देश में उत्पन्न होनेवाले विचारशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदाय आपस में मिश्रणों की पृथक्ता भले ही दिखलावे, परन्तु वातावरण में समानता होने के कारण से इन सम्प्रदायों के मतों में अनेक समानताएँ

दृष्टिगोचर होते हैं। इसी कारण भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के भी अनेक सिद्धान्तों में एकता दृष्टिगोचर होती है।

सब से बड़ी विशेषता भारतीय दर्शनों का यह है कि उनका उद्देश्य व्यावहारिक है। जनता की आर्थिक-व्यार्थिक-प्रपूर्ति विषय दैनिक जीवन व्यावहारिक उद्देश्य से हट कर वे किसी शान्त, नीरव, काल्पनिक जगत् में विचरण नहीं करते। विषयग्रस्त प्राणियों को विपत्ति से मुदा के लिये मुक्ति प्राप्त कर देना उनका प्रधान लक्ष्य है। उनका लक्ष्य मानसिक कौतूहल का निराकरण मात्र नहीं है, अपितु ऐसा जीवन व्यतीत करना मिथ्यलाना है जो राग द्वेष के तुमुल द्वन्द्व-युद्ध में बहिष्कृत होने के कारण नितान्त आदरणीय और स्मरणीय है।

इस व्यावहारिक उद्देश्य का कारण यह है कि भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन के आध्यात्मिक अस्मन्तोप के ऊपर अवलम्बित है। भारतीय दर्शन वर्तमान से अस्मन्तोप को नैराश्यवाद के लाञ्छन से बचाते हुए हमने ऊपर दिखलाया है कि यह नैराश्यवाद आरम्भिक है, आव-मानिक नहीं। वर्तमान से अस्मन्तोप, दिन-प्रति दिन की दुःखद घटनाओं से आध्यात्मिक नैराश्य, विचारशस्त्र का जनक होता है; इस सिद्धान्त का प्रतिपादन हम पहले ही कर चुके हैं। दुःखमय वर्तमान से अस्मन्तोप हुए बिना मुख्यमय भविष्य की कल्पना दुराशा-मात्र है। इसीलिये भारतीय दर्शन के सम्प्रदाय इस मौलिक प्रश्न को लेकर आगे बढ़ते हैं। बुद्ध ने निर्गतशय गाढ़ समाधि के बल पर जिन चार 'आर्य सत्यों' को खोज निकाला वे समग्र सम्प्रदाय में उसी प्रकार माननीय हैं। व्यास^१ तथा विश्वामित्र^२ का यह

१ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यहम्—रोगो रोगहेतुः आरोग्यं नैपज्यमिति । एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यहम् । तद् यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मात्रोपाय इति । व्यासभाष्य २।१५

२. सांख्यप्रवचन भाष्य पृ

कथन नितान्त सत्य है कि अध्यात्म शास्त्र चिकित्सा शास्त्र के समान चतुर्व्युह है। जिस प्रकार चिकित्सा शास्त्र रोग, रोग निदान, आरोग्य, तथा भैषज्य—इन चार तथ्यों के यथार्थ निरूपण में प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार अध्यात्म शास्त्र दुःख, दुःख-हेतु, निरोध, तथा मोक्ष—इन भिन्नान्-चतुष्टय को मूलभूत मानकर इनकी व्याख्या में यथाशक्ति प्रयत्नशील रहता है। इस जगत् के कार्य-कलाप पर दृष्टिपात करने पर धिक्का जन इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि यह समस्त नितान्त दुःखमय है तथा दुःख ही परम सत्य-भूत पदार्थ है^१। यह पहिला सत्य है। दूसरा सत्य इस दुःख का कारण द्रष्टा तथा दृश्य का संयोग है (यो. सू. २।१७)। तीसरा सत्य यह है कि इस दुःख का आत्यन्तिक निरोध (रोकना) है और अन्तिम सत्य इस निरोध के मार्ग का व्याख्या करने में है। इस प्रकार भारतीय दर्शन दुःख-सत्ता को इस जगत् की तल पर विद्यमान मान कर अवश्य प्रवृत्त होता है, परन्तु वह वही समान नहीं हो जाता। प्रत्युत आगे बढ़कर उसके आत्यन्तिक निवारण का मौलिक उपाय खोज निकालता है। सांख्य-कारिका के आरम्भ में विचार शास्त्र की प्रवृत्ति का यही कारण बतलाया है। इस प्रकार भारतीय दर्शन के प्रत्येक सम्प्रदाय में वर्तमान दशा में अमन्तोष प्रकट कर उसके सुधारने का प्रवृत्ति साधारण रूप में पाई जाती है। भारतीय संस्कृति में निराशावाद के अभाव का साहित्यिक प्रमाण भी है। संस्कृत-नाटकों में दुःखान्त नाटक (ट्रेजीडी) का अभाव है। संस्कृत नाटककार मनुष्यमात्र के हृदय में आशा संचार के उन्नत भावना में प्रेरित होकर दुःखमय अन्त दिखलाने की कभी कल्पना ही नहीं करता। नाटक के भीतर दुःखमयी घटनाओं का प्रदर्शन

१ दुःखमेव सर्वं विवेकितं । हेयं दुःखमनागतम् ।

—योग सूत्र २।१५, १६ ।

२ दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।

—सां० का०, का० १

कग्ने पर भी वह अन्त में इन्हीं घटनाओं को सुखमयी, आनन्द-वर्धिनी घटनाओं के रूप में परिवर्तित करने में तनिक भी नही हिचकता ।

मनुष्य स्वभाव में ही आशावादी है । निराशावाद की कालिमा उसके जीवन तथा विचार के नभो-मण्डल को क्षण भर के लिये भले ही दूषित नैतिक व्यवस्था में कर दे, परन्तु आशावाद की नैमर्गिक प्रवृत्ति इस कालिमा को बहुत शीघ्र धो डालने में समर्थ होती है ।
विश्वास

कान्तदर्शी कविजनों की तथा भिन्न पुरुषों की दृष्टि ने इस तत्त्व का प्रत्यक्षोक्षण बहुत ही पहिले कर लिया था कि इस विश्व में अल्पवस्था के लिये तनिक भा स्थान नहीं हैं । प्रत्युत सर्वत्र व्यवस्था ने अपना साम्राज्य जमा रखा है । यह जगत व्यवस्था-नर्तकी की मनोरम रङ्गशाला है जिसका छोटा में छोटी वस्तु भी यहच्छा में प्रवृत्त नहीं होती, प्रत्युत एक व्यापक नियम के वर्शाभूत होकर अपने जीवन का विस्तार करती है । दिन के अनन्तर रात का आगमन, नित्य प्रातःकाल सुवर्णमय रश्मियों को छिटकाने हुए पूर्व त्रितित पर भगवान् सविता का मंगलमय उदय, रात्रि के समय रजतरश्मियों को विस्तार करने वाले मुधाकर का आविर्भाव तथा क्रमशः वृद्धि और ह्राम आदि प्राकृतिक दृश्यों को निर्गन्तव्य करने वाले वैदिक ऋषियों के हृदय में यह विश्वास स्वाभाविक रीति में उत्पन्न हो गया कि इस जगत् के मूल में व्यवस्था का सिद्धान्त कार्य कर रहा है । ऋग्वेद के ऋषियों ने इस अपरिवर्तनीय नैतिक व्यवस्था को 'ऋत' की मजा दी है । इस जगत् में सबसे प्रथम उत्पन्न होने वाला यही 'ऋत' ही है । 'ऋतं च सत्यं चाभीदात्तपमोऽध्यजायत' (ऋ० वे० १०।१९०।१) ऋत की उत्पत्ति पहले हुई, तदनन्तर सत्य का आविर्भाव सम्पन्न हुआ । भारतीय दार्शनिकों ने इसी 'ऋत' के सिद्धान्त को भिन्न २ रूपों में अपनाया है । वैदिक कार्यकलाप अनुष्ठान किये जाने पर सर्वथा लुप्त नहीं हो जाते, प्रत्युत एक 'अपूर्व' की सृष्टि करने में वे समर्थ होते हैं । यही

अपूर्व फलोत्पत्ति का प्रधान कारण है। अतः मीमांसा ने ऋत को ही 'अपूर्य' के रूप में अंगीकार किया है। न्याय-वैशेषिक में 'अदृष्ट' की कल्पना का मूल आधार 'ऋत' को यही वैदिक कल्पना है।

जगत् की नैतिक मुख्यवस्था का मूल कारण है कर्म-सिद्धान्त, जिसे प्रत्येक दर्शन स्वीकार करता है, जो कुछ कार्य हम अपने प्रयत्न से करते हैं, उसका फल अनश्य उत्पन्न होता है, उसका नाश कथमपि नहीं होता (कृतप्रणाश) और जिस फल को हम इस समय भोग रहे हैं वह पूर्व जन्म में किये गए कर्म का ही परिणाम है—इन्हीं कारण उद्भूत होनेवाला नहीं है (कृताभ्युत्पन्न)। कर्मसिद्धान्त का यही तात्पर्य है। इस विश्व में यह चला के लिए कोई भी स्थान नहीं, सर्वत्र ऐक्य का साम्राज्य विराजमान है। कर्मसिद्धान्त के अंगीकार करने में मनुष्य के आन्तरिक शक्तियों के विकास के लिए उसे पर्याप्त अवसर मिलता है। कर्मसिद्धान्त की उत्पत्ति उपनिषद् काल में हुई थी^१ और वेदमूलक दर्शनों के समान जैन तथा बौद्ध दर्शनों ने इस सिद्धान्त को वही संग्रहण किया है।

ससार के जितने बन्धन हैं उनका एकमात्र कारण है अविद्या। अविद्या में ही इस जगत् में प्राणीमात्र का जन्म-मरण हुआ करता है तथा वह अपने को विपुल क्लेशों का भाजन बनाये हुए अविद्या में बन्धन है, इस सिद्धान्त को भारतीय दर्शन के समस्त सम्प्रदाय एक रूप में स्वीकार करते हैं। अविद्या के मुक्तिलाभ स्वरूप निरूपण में भी सर्वत्र ऐक्य है। योग सूत्रों

१ (क) पुण्यो वे पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेनेति ।

—शृङ्ग० उप० ३।२।१३

(ख) यानिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थानुमन्येऽनुसंयन्ति यथा-कर्म यथा-श्रुतम् ॥

—कठ उप० २।५।७.

के अनुसार अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मा को क्रमशः नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मा मान बैठना अविद्या कहलाता है (अनित्याशुचि-दुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यांतरविद्या यो० सू० २।३)। यह अविद्या ही अन्य समस्त अन्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश-क्लेशों की जननी है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अनिर्धारण अविद्या का सामान्य लक्षण है। समस्त दार्शनिक ज्ञान की महायता से इस अविद्या के निराकरण करने की युक्तियों को बतलाते हैं। ज्ञान ही मुक्ति का एकान्त उपाय है अतः जानान्न मुक्तिः—यह औपनिषद सिद्धान्त सबको समभाव से मान्य है।

तत्त्व ज्ञान के साधन से केवल मानसिक कौतूहल की निवृत्ति ध्येय नहीं है, अपितु उसका उपयोग व्यावहारिक जगत् के तापत्रय—आध्या-

त्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक सन्तापो—से मोक्ष

सदा के लिए प्राणीमात्र को छुटकारा प्राप्त कराने में है, इस सिद्धान्त का प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है। इसी कारण जैनधर्म के आचार्यों की मत्ता 'तीर्थङ्कर' है। इस शब्द का अर्थ है नदी के ऊपर उम पार जाने के लिए मार्ग का निर्माण-कर्ता। इस अभिधान की उपयुक्तता इस कारण से है कि साधन-मार्ग के उपदेशक आचार्यगण इस आधिव्याप्ति-प्रवृत्ति भवसागर से पार जाने के लिए साधनभूत तत्त्व ज्ञान का साधना की शोभन शिक्षा देते हैं। मनुष्यमात्र का जीवन त्रिन ध्येयों को आगे रखकर प्रवृत्त होता है, उन्हें शान्त्राय भाषा में पुरुषार्थ कहते हैं। हिन्दू धर्म के अनुसार पुरुषार्थ चार प्रकार के होते हैं—धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। इनमें मोक्ष सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। विचारशान्त्ररूपी कल्याण का मोक्ष ही अमृतफल है। मोक्ष के विषय में एक विचित्र धारणा फैली हुई है कि इसकी प्राप्ति का स्थान यह शरीर नहीं है। परन्तु वस्तु स्थिति ऐसी नहीं है। अधिकांश दर्शनों में इस जन्म में ही ताप-सन्ताप से आत्यन्तिक निवृत्ति प्राप्त कर लेना—जीवनन्मुक्ति—चरम

लक्ष्य स्थापित किया गया है। यह नितान्त दूरस्थ आदर्श अवश्य है, परन्तु ऐसा नहीं है कि इस जन्म में साध्य न हो सके। मानव जीवन का लक्ष्य काल्पनिक परलोक में दुःखनिवृत्ति न होकर जीते जी इसी देह में उस आदर्श की करने में है। जैन, बौद्ध तथा वेदान्त आदि पङ्क्ति दर्शन जीवन्मुक्ति को भी जीवन का लक्ष्य बतलाते हैं। विशिष्टाद्वैत^१ आदि वैष्णव दर्शनों में भी यद्यपि जीवन्मुक्ति का आदर्श माननीय नहीं है, तथापि तत्त्वज्ञान के साधन में आत्मा ऐसा उन्नत अवस्था में पहुँच जाती है जिसमें जीवन का उद्देश्य ही साधारण कोटि में बदल कर एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य प्राप्त कर लेता है। जीवन्मुक्ति का आदर्श उपनिषदों की बहुमूल्य देन है। कटापनिषद् (७।३।१४) ने स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है^२ कि जब हृदय में रहनेवाले समग्र कामनाओं का नाश हो जाता है, तब मनुष्य अमरत्व को प्राप्त कर लेता है और यही उसे ब्रह्म की उपलब्धि हो जाती है। मोक्ष के भ्येय के विषय में दार्शनिकों में मतैक्य होनेपर भी उसके स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतवैपश्य है। कुछ दार्शनिक (न्याय तथा वैशेषिक) मोक्ष की उन्नत अवस्था में केवल दुःख को निवृत्तिमात्र मानते हैं (अभावात्मक), परन्तु अन्य दार्शनिकों (मायामा, वेदान्त, जैन तथा महायान बौद्ध) के मत में उस समय आनन्द की उपलब्धि निश्चित रूपेण होती है (भावात्मक)।

मोक्ष की प्राप्ति के विभिन्न उपायों में तो अनेक दर्शनों ने बता रक्खा

१ द्रष्टव्य श्रीभाष्य ४।१।१३

२ यदा मदे विमुच्यन्ते कामा ह्यस्य हृदि स्थिताः ।

तदा मत्थोऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समनुते ॥

है, एक विचित्र एकता के भाव दृष्टि गोचर होते हैं। विचारशास्त्र सिद्धि के माक्ष मार्ग द्वार तक पहुँचाकर विरत हो जाता है। इस द्वार के भीतर प्रवेश करने के लिए साधना की नितान्त आवश्यकता है। हम लोग गाढ़ अन्धकार में परिपुष्टि इस समार में अपने गन्तव्य स्थानों को जाने के लिए अपने-अपने रास्ते टटोल रहे हैं। दर्शन शास्त्र उज्ज्वल प्रकाश की किरणों को दिखलाकर हमारे लिए मार्ग की सूचना देता है, परन्तु केवल शुष्क ज्ञान हमें लक्ष्य प्राप्ति में कथमारी सहायता नहीं दे सकता। सुविचारित औपध भा क्या नाममात्र में आतुर पुरुष को रोग में उन्मुक्त करने में समर्थ हो सकती है? उसके लिए चाहिए काल्पनिक तत्त्वज्ञान को व्यावहारिक रूप में परिवर्तन करना। इसका वर्णन योगमृत्तो में पूर्णरूपेण किया गया है। योगदर्शन में वर्णित प्रक्रियायें भारत के प्रत्येक दर्शन को सर्वथा मान्य हैं। बौद्धधर्म में भोक्षोपयोगी त्रिविध साधनों में समाधि विधिप्र साधन के रूप में स्वीकार की गई है^१। जैन धर्म 'मम्यक् चारित्र्य' के लिये यम, नियम तथा ध्यान को सबसे अधिक महत्त्व देता है^२। न्याय-दर्शन में भी यौगिक प्रक्रियायें आत्म साक्षात्कार के लिये अत्यावश्यक बतलाई गई है^३। सांख्य-दर्शन में इन प्रक्रियाओं की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। वेदान्त-दर्शन में भी ज्ञान के आन्तरिक साधन रूप में योगसम्मत यम, नियमादि का उपयोग स्वीकार किया गया है, यद्यपि उनकी कल्पनाओं में कुछ पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है^४। इन दर्शन के अनुयायियों का यह दृढ़ विश्वास है कि तर्क के द्वारा सिद्ध किया गया दार्शनिक सिद्धान्त तब तक हमारे अज्ञान को दूर करने में समर्थ नहीं हो सकता, जब तक उसे हम आत्म-

१ द्रष्टव्य — दाघ निकाय (हिन्दी अनुवाद) — पृ० २८-२९।

२ तत्त्वार्थमृत्त ९।३९-४६।

३. न्याय सूत्र - अध्याय ४, आह्निक २, सूत्र ३८-४८।

४. वेदान्तसार पृ० ४७-५०।

मात् न कर ले और इसके लिये इन तत्त्वों का निरन्तर अविच्छिन्न रूप में अभ्यास तथा मनन आवश्यक है। हमारे व्यावहारिक जीवन के ऊपर अविद्या, राग तथा द्वेष का तमोपटल इतना गाढ़ है कि ज्ञानतत्त्व के निरन्तर मनन तथा अभ्यास के बिना वह छिन्नभिन्न नहीं किया जा सकता। इसीलिये भारतीय दर्शन में तर्क मित्र तत्त्वों के ऊपर निरन्तर गाढ़ मनन तथा निदिध्यासन की बात स्वीकार की गयी है।

उपनिषद् का कहना है कि प्राणीमात्र के जीवन-यापन के हेतु दो मार्ग हैं^१—प्रेयोमार्ग तथा श्रेयोमार्ग। प्रेयोमार्ग में मनुष्य आपाततः रमणाय विषयो की ओर आकृष्ट होकर समुद्र में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति के मूल कारण हैं राग तथा द्वेष। मुख देनेवाले पदार्थों से राग-अनुगम तथा प्रेम उत्पन्न होता है (मुखानुशयी रागः) और दुःख पहुँचानेवाली चीजों से चित्त स्वतः धृणा करने लगता है (दुःखानुशयो द्वेषः)। इन्हीं राग-द्वेषों का प्रभाव हमारे चित्त तथा इन्द्रियों पर इतना अधिक होता है कि वे अवशयन श्रेयोमार्ग की अवहेलना कर प्रेयोमार्ग का ही अवलम्बन किया करता है। श्रेयोमार्ग वास्तव में परम मंगल साधन करने का रास्ता है। जब तक विषयोन्मुखी इन्द्रियों को बाह्य पदार्थों में बलात् खींचकर अन्तर्मुखी न बनाया जायगा, तब तक सच्चे कल्याण की साधना हो नहीं सकती। इस प्रकार मंगल मार्ग पर चलने के लिये आत्म मयम तथा शुद्ध की नितान्त आवश्यकता है। चित्त शुद्धि के लिये योग दर्शन ने अष्ट-योगाङ्गों की व्यवस्था बनवाई है—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि। इन उपायों को प्रत्येक दर्शन ने आवश्यक बतला कर स्वीकृत किया है।

१. श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतत्तां नपरीत्य विवनाक्त धार ।

श्रेया इह धीराऽऽम प्रेयसा वृणीते प्रेया मन्दा यागक्षेमाद् वृणोते ॥

इस प्रकार भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में महती एकता आलोचकों की दृष्टि को आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकती। भारतीय दर्शन एक ही परमात्मतत्त्व की विवेचना अनेक दृष्टियों से सिद्ध कर अग्नी सर्वाङ्गीणता का पर्याप्त परिचय देता है। परमार्थभूत पदार्थों की प्रमाण—मीमांसा, जेयमीमांसा, आचार-मीमांसा तथा मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से चतुस्त्र विवेचना भारत में की गई है। इसीलिए भारतीय दर्शन को यदि हम **संश्लेषणात्मक** (सिन्थेटिक) कहें, तो कथमपि अनुचित न होगा।



द्वितीय परिच्छेद

श्रौत दर्शन

वेद भारतीय धर्म तथा दर्शन के प्राण है। भारतीय धर्म में जो जीवनी शक्ति दृष्टिगोचर होती है उसका मूल कारण वेद ही है। वेद वेद का महत्त्व अथर्व विचारों का मानसरोवर है जहाँ से विचारधारा प्रवृत्त होकर भारतभूमि के मस्तिष्क को उर्वर बनाती हुई निरन्तर बहती है तथा अपनी सत्ता के लिए उभी उद्गमभूमि पर अवलम्बित रहता है। ये भारतीय साहित्य के ही सर्व-प्रथम ग्रन्थ नहीं हैं, प्रत्युत मानवमात्र के इतिहास में इनसे बढ़कर प्राचीन ग्रन्थ की अभी तक उपलब्धि नहीं हुई है। भारतीय धर्म तथा तत्त्वज्ञान की आकृति तथा प्रकृति, उद्गम तथा विकास के समुचित अनुमन्वान के लिए इन ग्रन्थमणियों का पर्यालोचन नितान्त आवश्यक है। पण्डित श्रुति-सम्मत दार्शनिक विचारों की रूपरेखा के विषय में पर्याप्त मतभेद है। वेदों का अध्ययन आजकल दो प्रकार से किया जाता है—प्राचीन पद्धति में तथा अर्वाचीन पाश्चात्य रीति से। पाश्चात्य पद्धति वेदार्थ-परिशीलन के लिए अन्य देशों के साहित्य की सहायता की अपेक्षा रखती है। प्राचीन पद्धति इतिहास पुराणों को वेदार्थ का उपवृहण मानती है^१ तथा वैदिक रहस्यों के यथार्थ ज्ञान के लिए उनकी सहायता को बहुमूल्य बतलाती है। इसी दृष्टिभेद

वेदं समुबृंहयेत् ।

विभेन्यन्पश्रुताद् वेदा मामयं प्रहरिष्यति ॥

—महाभारत (आदिपर्व १।२६८)

की मीमांसा उभयमत में भिन्न-भिन्न प्रकार से की गई है। पाश्चात्य वर्ग वेदों को अमम्य या अर्थमम्य आरम्भिक आर्यजनों के अनगढ़ गायनों से बढ़कर महत्त्व देना नहीं चाहते, परन्तु भारतीय कल्पना के अनुसार वेद नित्य हैं, निखिल ज्ञान के अमूल्य भाण्डागार हैं, धर्म को साक्षात्कार करनेवाले महर्षियों के द्वारा अनुभूत परमतत्त्व के परिचायक हैं। इष्ट प्राति तथा अनिष्ट परिहार के अनाकिक उपाय को बतलाने वाले ग्रन्थ वेद हो हैं^१। वेद की 'वेदता' इसी में है कि वे प्रत्यक्ष में अगम्य तथा अनुमान के द्वारा अनुद्भावित-अलौकिक उपाय को बोध कराते हैं^२। इसी भारतीय दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर श्रुति-प्रतिपादित आध्यात्मिक रहस्यों का मन्त्रित विवेचन इस परिच्छेद में प्रस्तुत किया गया है।

• 'मन्त्र ब्राह्मणात्मको वेदः' (आप० परि० ३१)। वेद के दो विभाग हैं—मन्त्र तथा ब्राह्मण। किसी देवता-विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होनेवाले अर्थ स्मारक वाक्य को 'मन्त्र' कहते हैं तथा यजानुष्ठान वेदविभाग-संहिता को विस्तार पूर्वक वर्णन करनेवाले ग्रन्थ को 'ब्राह्मण' कहते हैं। मन्त्रों के समुदाय को 'संहिता' कहते हैं; संहिताये चार हैं—ऋग् संहिता सामसंहिता, यजुः संहिता तथा अथर्व संहिता। पुराणों^३ का कहना है कि इस संहिता—चतुष्टय का सकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर किया। यजानुष्ठान के लिए चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—होता, उद्गाता, अध्वर्यु तथा ब्रह्मा। होता (पुकारनेवाला) देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों को उच्चारण कर तत्तत् देवता का आह्वान किया

१ द्रष्टव्य सायणकृत तैत्तिरीयसंहिताभाष्यभूमिका पृ० २

२ श्रुतिश्च नः प्रमाणमनन्दिदार्थविज्ञानोत्पत्तौ।

—शाङ्करभाष्य २।३।१.

३ द्रष्टव्य श्रीमदभागवत स्कन्ध १।४।१९-२२।

करता है। होत्र कार्य के लिए आवश्यक मन्त्रसमुदाय का सङ्कलन ऋग्वेदमें किया गया है। उद्गाता का कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर मधुर स्वर में उन्हें गाना होता है। इस कार्य के लिए सामवेद का सकलन किया गया है। याग के विविध अंग तथा उपागभूत अनुष्ठानों का विधिवत् सम्पादन करना अध्वर्यु का उत्तरदायी कर्तव्य है। इस आध्वर्यव कर्म के लिए यजुःसंहिता का उपयोग किया जाता है। ब्रह्मा का महत्त्वपूर्ण कार्य समग्र याग का निष्पादन होता है जिसमें किसी प्रकार की त्रुटि अनुष्ठान की पूर्णता तथा मिद्धि में कथमाप बाधा उपस्थित न होने दे। ब्रह्मा को समग्र वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। इनका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है। इस प्रकार याग-विधान के सुचारु निष्पादन के लिए भिन्नभिन्न ऋत्विजों के उपयोग के लिये भिन्न-भिन्न संहिताओं का सकलन किया गया है। वेद को 'त्रयी' के नाम से भी पुकारते हैं। इस नामकरण का भी एक रहस्य है। यह संज्ञाविधान मंत्रों की उपयोगिता की अपेक्षा मंत्रों के स्वरूप के ऊपर अवलम्बित है। पाद से युक्त छन्दोबद्ध मन्त्रों की 'ऋक्' संज्ञा है; इन ऋचाओं के गायन—गीति को 'साम' कहते हैं तथा इन दोनों से पृथक् गद्यात्मक वाक्यों को 'यजुः' के नाम से पुकारते हैं^१। वेद को ऋग्, यजुः तथा साम रूप से विभक्त होने के कारण 'त्रयी' कहते हैं। वेद प्रतिपाद्य धर्म को 'त्रयी धर्म' तथा इस धर्म के मर्मज्ञ विद्वज्जन को इसीलिए 'त्रैविद्य' कहते हैं^२।

वेद के तीन विभाग हैं—संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यक। संहिता मन्त्रों के समूह को कहते हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ यागादि के अनुष्ठान

१ तेषामृग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था। गीतिषु सामाख्या। शेषे यजुः शब्दः। जैमिनि सूत्र २।१।३५—३७।

२ द्रष्टव्य गीता १।२०-२१।

का मूल विस्तृत तथा परिनिष्ठित वर्णन किया गया है। “ब्राह्मण” नामकरण का कारण यह है कि इनका प्रधान विषय ब्रह्मन (बृह वर्धने; बढ़नेवाला अर्थात् वितान, यज्ञ) है। उपनिषद् आरण्यक का स्थान ब्राह्मणों के अनन्तर है। आरण्य में पठनीय होने से इन्हें आरण्यक कहते हैं। इन ग्रन्थों में वानप्रस्थ आश्रम के उपयोगी क्रियाकलापों का वर्णन है, विशेषतः यागविधान के आध्यात्मिक रहस्य की सीमा-मा इन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है। आरण्यकों के अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। उपनिषदों में आध्यात्मविषयक महत्त्वपूर्ण समस्याओं का विद्वत्तापूर्ण विवेचन किया गया है। उपनिषद् को ही ‘वेदान्त’ कहते हैं। इस नामकरण के दो कारण हैं—एक तो यह है कि इनका स्थान वेद के अन्त में आता है। उपनिषद् वेद के अन्तिम भाग है, अतः वे वेदान्त (वेद + अन्त) कहलाते हैं। दूसरा कारण यह है कि इनमें वेदों के निश्चित प्रतिपाद्य सिद्धान्त विवेचित हैं। इसी कारण उपनिषदों का अध्यात्म शास्त्र विषयक समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रकट महत्त्व है। प्रतिपादित विषय की दृष्टि से वेद के दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड। संहिता, ब्राह्मण तथा आरण्यकों में प्रधानतया कर्म की विवेचना होने के कारण इनका कर्मकाण्ड में अन्तर्भाव है। ज्ञान की विवेचना करने के कारण उपनिषद् ज्ञानकाण्ड कहलाते हैं। भारतीय दर्शन के मूल सिद्धान्त इन उपनिषदों में प्रतिपादित किये गये हैं, पर कर्मप्रधान होने पर भी संहितादि भागों में अध्यात्म के विपुल रहस्यों का उद्घाटन उपलब्ध होता है। अतः इस परिच्छेद में संहिता तथा आरण्यक में उपलब्ध दार्शनिक विचारों का विवेचन प्रथमतः किया जायगा। अनन्तर उपनिषदों के सिद्धान्तों का प्रतिपादन संक्षेप में उपस्थित किया जावेगा।

वैदिक साहित्य का जो अंश प्रकाशित हो चुका है वह भी मात्रा में अधिक है। अप्रकाशित अंश भी मात्रा में न्यून नहीं है। परन्तु खेद कि

विषय है कि हमारी अवहेलना से वेद की अनेक शाखायें लुप्त हो गईं । महाभाष्य (पस्पशाह्निक) के अनुसार ऋग्वेद को २१ शाखायें वैदिक साहित्य थीं, यजुर्वेद की १०० शाखायें, सामवेद की १३ जाग शाखायें तथा अथर्ववेद की केवल ९ शाखायें थीं । इस प्रकार कुल मिलाकर ११३० शाखायें जिनमें आजकल दस बारह शाखाओं से अधिक नहीं मिलतीं । विषय की दृष्टि से समस्त संहिताओं में ऋग्वेद संहिता महत्त्वपूर्ण तथा प्रथम मानी जाती है । ऋग्वेद के सूक्तों का संख्या सब मिलाकर १०२८ है । ऋग्वेद का विभाग दो प्रकार से उपलब्ध होता है—(१) मण्डल, अनुवाक तथा सूक्त, (२) अष्टक, अध्याय तथा सूक्त । समस्त ऋग्वेद १० मण्डलों में विभक्त है; प्रत्येक मण्डल में अवान्तर विभाग को अनुवाक कहते हैं तथा उनके विभाग को सूक्त । अष्टकों की संख्या ८ है, प्रत्येक अष्टक में ८ अध्याय होते हैं । इस प्रकार पूरे ऋग्वेद में ६४ अध्याय हैं । अध्यायों के भीतर सूक्त होते हैं । इन दोनों में प्रथम विभाग ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण माना जाता है । इन मण्डलों में से प्रथम तथा दशम मण्डल में भिन्न २ ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह है । नवम मण्डल में केवल 'सोम' विषयक मन्त्र हैं । परन्तु अन्य मण्डलों में एक ऋषि के मन्त्रों का संग्रह किया गया है । द्वितीय मण्डल में लेकर अष्टम मण्डल तक ऋषियों के नाम क्रमशः गृत्तममद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा कण्व हैं । ये ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा मात्र हैं, रचयिता नहीं । ऋग्वेद को आध्यात्मिक तत्त्व विवेचना ही हमारे लिए यहाँ आवश्यक है । अतः उसके ही अनुसन्धान में हम प्रवृत्त होते हैं ।

वेदों में देवतास्तुति ही प्रधान विषय है । निरुक्तकार यास्क ने स्थान विभाग की दृष्टि से देवताओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—

पृथ्वीस्थान, अन्तरिक्षस्थान, तथा व्युस्थान । पृथ्वी-
 देवता बहुत्व स्थान देवताओं में अग्नि का स्थान सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है, अन्तरिक्षस्थान देवताओं में इन्द्र का

नथा आकाशस्थान देवताओं में सर्प, सायता, विष्णु प्रादि सौर देवताओं का। अग्नि प्राणियों का सर्वम अधिक हितकारक देवता है। अग्नि प्राचीन तथा अर्धार्चीन ऋषियों के द्वारा स्तुति किया जाता है। उसकी ही कृपा से दिन प्रतिदिन प्राणी धन, अन्न, पुत्र, पोत्र तथा समृद्धि को प्राप्त करता है। वरुण का स्थान वैदिक देवताओं में नितान्त महत्त्वपूर्ण है। वह विश्वतश्चक्षुः (सर्वत्र दृष्टि रखनेवाला), धृतव्रत (नियमों को धारण करनेवाला), सुकृत (शोभन कर्मों का निष्पादन करनेवाला) तथा सम्राट् (सम्यक् रूप से प्रकाशित होनेवाला तथा शासन करनेवाला) कहा गया है^१। सर्वत्र वरुण प्राणीमात्र के शुभाशुभ कर्मों का द्रष्टा तथा तत्तत् फलों का दाता है। इन्द्र^२ वीर योद्धाओं को समग्रामाङ्गण में विजय प्रदान करनेवाले देवता है। वज्रबाहु (वज्र के समान बलशाली बाहुवाले) इन्द्र के हाथ में वज्र है, जिसकी सहायता से वह वृत्रादि अनेक दानवों को मार डालते हैं तथा गन्धुओं के किलाबन्द नगरों को छिन्नभिन्न कर डालते हैं (पुरन्दर)। इन्हीं के अनुग्रह से आर्यों ने काले रंगवाले दाम्युओं या दामों को पहाड़ियों में खदेड़ दिया है तथा वृत्र के हाग रोकी गई गायों को वे गुफा तोड़कर निकाल बाहर करते हैं। इन्द्र वृष्टि के देवता है। विष्णु आकाशगामी सन्तत क्रियाशील सूर्य के प्रतीक है। उन्होंने तीन डगों से इस विश्व को नाप डाला है^३। इस कारण वे उरुगाय तथा

१ ऋग्वेद—१ मण्डल २५ सूक्त।

२ ऋग्वेद—२ मण्डल १२ सूक्त।

३ यही कल्पना वामनावतार की कल्पना की जनना द। इसी कारण वामन 'त्रिविक्रम' कहे जाते हैं। पुराणों में 'उरुगाय' तथा 'उरुकम' शब्दों का हरि के लिए प्रयोग इसी तत्त्व की ध्यान में रखकर किया गया है।

उरुकम कहलाते हैं। तीसरे लोक में जहाँ उनका तृतीय पाद विन्यास गया है मधु का कृप है। उस लोक में शीघ्रगामिनी भृशिशृङ्गा गाये (किरणे) इधर से उधर सतत आया जाया करती हैं। (यत्र गावो भृशिशृङ्गा श्रयासः— ऋ० वे० १।१५।६)^१ सवितृ देव मुक्त प्राणियों में जीवन का संचार कर पुनः प्रवृत्त करते हैं। पूषा (ऋ० वे० ६।५३) भूले भटकों को राह लगाते हैं। उनका रथ बकरों के द्वारा खींचा जाता है तथा उनके हाथ में चाबुक रहता है। वह मृत प्राणियों को पितरों के पाम ले जाते हैं। मित्र मानव मात्र का कल्याण साधन करते हैं। देवों के साथ साथ देवियों की भी कमनीय कल्पना ऋग्वेद में पाई जाती है। सबसे सुन्दर देवी ऊषा है जो द्यौः (आकाश) की पुत्री हैं। वह तमोमयी रजनी की रमणीय रूपधारिणी भगिनी हैं। वह पुराणी युवति हैं—पुरानी होने पर भी सतत युवति हैं। वैदिक मन्त्रों में सबसे सुन्दर कमनीय कल्पना वाले मंत्र उषा की स्तुति में प्रयुक्ति किये गये हैं (ऋ० वे० ३।६१)। आगे चलकर देवताओं की संख्या में भी वृद्धि ह्रास होता रहा। वरुण की महिमा में ह्रास होने लगा, और मरुत्यु. श्रद्धा आदि नये २ देवताओं की सृष्टि होने लगी।

इन देवताओं के स्वरूप का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है। प्रकृति की विचित्र लीलायें मानवमात्र के दिन-प्रतिदिन के अनुभव के विषय हैं। इस पृथ्वीतल पर जन्म-ग्रहण के वैदिक देवता— समय में ही मनुष्य अपने को कौतुकावह प्राकृतिक पाश्चात्य मत दृश्यों में जागें ओग घिरा हुआ पाता है। प्रातःकाल प्राची-दिशा में कमनीय किरणों को छिटका कर भूतल को काञ्चन-रञ्जित

१. वेंणवों के गोलोक की कल्पना का आधार यही मंत्र है। भगवान् के परम पद का नाम 'गो लोक' है अर्थात् वह लोक जहाँ सूर्य की किरणों का निरवच्छिन्न तथा अनवरत प्रसार हो। द्रष्टव्य बृहद्ब्रह्मसंहिता ३।१

बनाने वाला अग्निपुञ्जमय सूर्यबिम्ब तथा सायकाल में रजत रश्मियों को विखेर कर जगत् मण्डल को शीतलता के समुद्र में गोता लगाने वाले सुधाकर का बिम्ब किम मनुष्य के हृदय में कौतुकमय विस्मय को उत्पन्न नहीं करते ? वर्षाकालीन नील गगनमण्डल में काँटे काले विचित्र ब्लाहको की दौड़, उनके पारस्परिक संघर्ष से उत्पन्न कौंधने वाली बिजुली की लपक तथा कर्ण कुहरो को बधिर बना देनेवाले गर्जन की गड़गड़ाहट आदि प्राकृतिक दृश्य मनुष्य मात्र के हृदय पर एक विचित्र प्रभाव जमाये बिना नहीं रह सकते ? वैदिक आर्यों ने इन प्राकृतिक लालाओं को सुगमतया समझाने के लिए भिन्न-भिन्न देवताओं को कल्पना की है। यह विश्व भिन्न-भिन्न देवताओं का क्रीडा-निकेतन है। वैदिक आर्यों का विश्वास है कि इन्हीं देवताओं के अनुग्रह में जगत् का समस्त कार्य संचालित होता है तथा भिन्न भिन्न प्राकृतिक घटनायें उनके ही कारण सम्पन्न होती हैं। पाश्चात्य वैदिक विद्वानों की वैदिक देवताओं के विषय में यही धारणा है कि वे भौतिक जगत् के—प्राकृतिक दृश्यों के अधिष्ठाता हैं। भौतिक घटनाओं की उपपत्ति के लिए उन्हें देवता मान लिया गया है। ऋग्वेद के आदिम काल में बहुत देवताओं की सत्ता मानी जाती थी जिसे वे पानीथीज्म (बहुदेववाद) की संज्ञा देते हैं। कालान्तर में जब वैदिक आर्यों का मानसिक विकास हुआ तब उन्होंने इन बहु देवताओं के अधिपति या प्रधान रूप में एक देवता विशेष की कल्पना की। इसी का नाम है—मनोथीज्म (एकेश्वर-वाद)^१। अतः बहुदेवतावाद के बहुत काल के पीछे एकदेववाद का जन्म हुआ और उसके भी अवान्तरकाल में सर्वेश्वरवाद (पैन्थीज्म) की कल्पना की गई। सर्वेश्वरवाद का सूचक पुरुषसूक्त दशम मण्डल का

१ मैकडोनल—हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर पृ० ११६-१३८।

६० वॉ सूक्त है जो पाश्चात्य गणना के हिसाब से दशतयी के मण्डलों में सब से अधिक अर्वाचीन है ।

पश्चिमी विद्वानों की सम्मति में वैदिक देवतावाद की उत्पत्ति तथा विकास का यही संक्षिप्त क्रम है, परन्तु हमारी यह दृढ़ धारणा है कि वैदिक धर्म का यह विक्रमक्रम नितान्त निराधार है, देवतात्व के न जानने का ही यह परिणाम है। वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन से हमें पता चलता है कि देवता की कल्पना इतनी भौतिक न थी जितनी वे लोग बतलाते हैं ।

यास्क ने निरुक्त के देवत-काण्ड (सप्तम अध्याय) में देवता के स्वरूप का विवेचन बड़े ही स्पष्ट शब्दों में किया है । इस जगत् के मूल में एक ही महत्त्वशालिनी शक्ति विद्यमान है जो निरगुण ऐश्वर्य-देवता तत्त्व शालिनी होने में ईश्वर कहलाती है । वह एक, अद्वितीय है । उसी एक देवता की बहुत रूपों से स्तुति की जाती है—

महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते ।

एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति ॥ (७।४।८, ९)

अतः यास्क की सम्मति में देवतागण एक ही देवता की भिन्न-भिन्न शक्तियों के प्रतीक हैं । बृहद्देवता निरुक्त के कथन का अनुमोदन करती है ।^१ परन्तु पिछले साहित्य के निरीक्षण की आवश्यकता नहीं, ऋग्वेद के अध्ययन से देवतातत्त्व का रहस्य हम भली भाँति समझ सकते हैं ।

सर्वव्यापी सर्वात्मक ब्रह्मसत्ता का निरूपण करना ही ऋग्वेद का प्रधान लक्ष्य है । यही 'कारणसत्ता' कार्यवर्गों में अनुप्रविष्ट होकर सर्वत्र भिन्न-भिन्न आकारों से परिलक्षित हो रही है । प्रकृति की कार्यावली के मूल में एक ही सत्ता है, एक ही नियन्ता है, एक ही देवता वर्तमान है; अन्य सकल देवता इसी मूलभूत सत्ता के विकासमात्र हैं । इस महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का प्रति

पादन भिन्न भिन्न प्रकारों से वैदिक ऋषियों ने किया है। ऐतरेय आरण्यक ने^१ स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि “एक ही महती सत्ता की उपासना ऋग्वेदी लोग ‘उक्थ’ में किया करते हैं। उमी को यजुर्वेदी लोग याज्ञिक अग्नि के रूप में उपासना किया करते हैं तथा सामवेदी लोग ‘महाव्रत’ नामक योग में उमी की उपासना किया करते हैं”। शंकराचार्य ने (१।१।२५ सूत्र के भाष्य में) इस मंत्र का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का प्रमाण इस विषय में नितान्त सुस्पष्ट है।

देवतागण को ऋग्वेद में ‘अमुर’ कहा गया है^२। ‘अमुर’ का अर्थ है असुविशिष्ट अथवा प्राणशक्ति-सम्पन्न। इन्द्र, वरुण, सविता, उपा, आदि देवता अमुर हैं। देवताओं को बल-स्वरूप कहा गया है। देवतागण अविनश्वर शक्ति मात्र हैं। वे आतस्थिवांसः (स्थिर रहनेवाले), अनन्तासः (अनन्त), अजिरामः, उरवः, विश्वतस्पग्नि (५।४७।२) कहे गये हैं। वे विश्व के समस्त प्राणियों को व्याप्त कर स्थित रहते हैं। उनके लिए ‘सत्य’, ‘ध्रुव’ ‘नित्य’ प्रभृति शब्दों का प्रयोग किया गया उपलब्ध होता है। इतना ही नहीं, एक समस्त सूक्त (ऋ० वे० तृतीय मण्डल ५५ वाँ सूक्त) में देवताओं का ‘अमुरत्व’ एक ही माना गया है। ‘अमुरत्व’ का अर्थ है बल या सामर्थ्य। देवताओं के भीतर विद्यमान सामर्थ्य एक ही है। भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र, नहीं है। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र के अन्त में यही पद बार-बार आता है—महद् देवानाममुरत्वमकम् = देवों का महत् सामर्थ्य एक ही

१. एतं ह्येव बहवृत्ता महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नाध्वर्यव एतं महाव्रते छन्दोगा — ऐतरेय आरण्यक — ३।२।३।१२

२ तद्देवस्य सवितुः असुरस्य प्रचेतसः (४।५३।१)

(पर्जन्यः) असुरः पिता नः (५।८३।६)

महद् विष्णोः (इन्द्रस्य) असुरस्य नामा (३।३८।४)

है। एक ही महामहिमशालिनी शक्ति के विकसित रूप होने से उनकी शक्ति स्वतन्त्र नहीं है, प्रत्युत उनके भीतर विद्यमान शक्ति एक ही है। “जीर्ण ओषधियों में, नवीन उत्पन्न होनेवाली ओषधियों में, पल्लव तथा पुष्प से सुशोभित ओषधियों में तथा गर्भ धारण करनेवाली ओषधियों में एक ही शक्ति विद्यमान रहती है। देवों का महत् सामर्थ्य वस्तुतः एक ही है” ।

ऋग्वेद में ‘ऋत’ की बड़ी मनोरम कल्पना है। ऋत का अर्थ है सत्य, अविनाशी सत्ता। इस जगत् में ‘ऋत’ के कारण ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। सृष्टि के आदि में ‘ऋत’ ही सर्व प्रथम ऋत उत्पन्न हुआ^२। विश्व में सुव्यवस्था, प्रतिष्ठा, नियमन का कारणभूत तत्त्व यही ‘ऋत’ ही है। इस ‘ऋत’ की सत्ता के कारण ही विषमता के स्थान पर समता का, अशान्ति की जगह शान्ति का, साम्राज्य विराजमान है। इस सुव्यवस्था का कारण क्या है ? ‘ऋत’ अर्थात् सत्य-भूत ब्रह्म। देवतागण भी ऋत के स्वरूप हैं या ऋत से उत्पन्न हुए हैं। सोम ऋत के द्वारा उत्पन्न (ऋतजात) तथा वर्धित होते हैं, वे स्वयं ऋत रूप हैं (ऋग्वेद ९।१०८।८)। सूर्य ऋत का ही विस्तार करते हैं तथा नदियाँ इसी ऋत को वहन करती हैं^३ (ऋ० वे० १।१०५।१५)। सकल देवताओं के भीतर सकल कार्यों के अन्तर में यही ऋत या कारण-सत्ता अनुप्रविष्ट है। इसी सत्ता का अवलम्बन कर कार्य-वर्ग अपनी स्थिति बनाये हुए हैं।

ऋग्वेद में देवताओं के द्विविध रूप का वर्णन मिलता है—एक तो

१. द्रष्टव्य ऋ० वे० ३।५५।५.

२. ऋतं च सत्यं चाभीद्धात् । तयोः अङ्गना । ऋ० वे० १०।१९.०।१।

३. ऋतमर्पन्ति सिन्धवः ।

स्थूल दृश्य रूप है और दूसरा सूक्ष्म अदृश्य गूढ़ रूप है। उनका जो रूप हमारे नेत्रों के सामने आता है वह है उनका स्थूल रूप (या आधिभौतिक रूप), परन्तु जो रूप हमारी इन्द्रियों से अतीत हैं, भौतिक इन्द्रियों में जिसे ग्रहण करने की शक्ति नहीं है वह है उनका गूढ़रूप (आधि-दैविक रूप)। इनसे अतिरिक्त एक तृतीय प्रकार—आध्यात्मिक रूप—का भी परिचय किन्हीं मन्त्रों में उपलब्ध होता है। उदाहरण के लिए विष्णु, सूर्य तथा अग्नि के द्विविध रूप को समीक्षा कीजिए। जिस रूप में विष्णु ने पार्थिव लोको का निर्माण किया, 'उत्तर मधस्थ' अन्तरिक्ष को स्थिर किया तथा तीन क्रमों से इस विश्व को माप डाला, वह उनका एक रूप है^१, परन्तु इससे अतिरिक्त उनका 'परम पद' है जहाँ विष्णु का सूक्ष्म रूप निवास करता है। उस लोक में विष्णु के भक्त लोग अमृत पान करते हुए आनन्दानुभव किया करते हैं। उसमें मधुचक्र है—अमृतकूप है^२। उस परमपद को ज्ञानसम्पन्न जागरणशील विप्रलोक-विद्वज्जन ही—जानते हैं^३। विष्णु के परमपद की प्राप्ति ब्रह्म की ही उपनधि है। इसी-लिए श्रुति विष्णु को हमारा सच्चा बन्धु बतलाती है।

इसी प्रकार सूर्य के त्रिविध रूपों का नितान्त स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है। ऋषि अन्धकार को दूर करनेवाले सूर्य के तीन रूपों का वर्णन करते हैं—उत्, उत् + तर = उत्तर, उत् + तम = उत्तम, जो क्रमशः माहात्म्य में बढ़कर हैं। सूर्य की उन ज्योति का नाम 'उत्' है जो इस भुवन के अन्धकार के अपनयन में समर्थ होती है। देवों

१. ऋ० वे० १।१५४।१

२. „ „ १५

३. तद् विप्रासो विपन्यवो जायवांसः समिन्धते।

विष्णोर्यत् परमं पदम् ॥

ऋ० वे० १।२२।२१।

के मध्य में जो देव-रूप से निवास करती है वह 'उत्तर' है, परन्तु इन दोनों में बढ़कर एक विशिष्ट ज्योति है, उसकी संज्ञा इस मन्त्र में 'उत्तम' है। अतः ये तीनों शब्द सूर्य के कार्यात्मक, कारणात्मक तथा कार्य-कारण में अतीत अवस्था के द्योतक हैं। अतः इस एक ही मन्त्र में सूर्य के आधिभौतिक, आधिदिविक तथा आध्यात्मिक स्वरूपों का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है^१। 'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' (जंगम तथा स्थावर समस्त विश्व का आत्मा सूर्य है) इस मन्त्र का लक्ष्य क्या आधिभौतिक सूर्य है ? 'आत्मा' शब्द स्पष्टतः सूर्य के परमात्म-तत्त्व को लक्ष्य कर प्रयुक्त किया गया है।

अग्नि के इसी प्रकार स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों की मनोरम कल्पना ऋग्वेद में मिलती है। ऐतरेय आरण्यक का कहना है कि अग्नि दो प्रकार का होता है—(१) तिरोहित अग्नि और (२) पुरोहित अग्नि। 'तिरोहित' शब्द अग्नि के अव्यक्त, गूढ़ तथा सूक्ष्म रूप का परिचायक है। अतः पुरोहित अग्नि व्यक्त, पार्थिव अग्नि का प्रतिपादक है। 'अग्निमीडे पुरोहितम्' मन्त्र में पुरोहित अर्थात् अभिव्यक्त, पार्थिव अग्नि की सत्ता का निर्देश किया गया है^२।

इन प्रमाणों के आधार पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि देवताओं का जो भौतिक दृश्यों के अधिष्ठाता या प्रतीक रूप में पाश्चात्य कल्पना है वह निर्मूलक है तथा उमी के साथ वैदिकधर्म के विकास का कल्पित क्रम भी उतना ही निःसार है। सच बात तो यह है कि ऋग्वेद इस विश्व के अनुपम शक्तिशाली

१ उद् वयं तमपसरि ज्यातिः पश्यन्त उत्तरम् ।

देव देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥

—कृ० वे० १।२०।१०.

२ देवतातत्त्व के विशद् विवेचन के लिये देखिए कोकिलेश्वर शास्त्री—
अद्वैतवाद (बंगला), पञ्चम अध्याय ।

एक नियन्ता से परिचित है तथा वह विभिन्न देवताओं को उसी की नाना शक्तियों का प्रतिनिधि बतलाता है। अतः वैदिक धर्म ही अद्वैत-तत्त्व के ऊपर अवलम्बित है। नाना के बीच में एकता की भावना, भिन्नता के बीच अभिन्नता की कल्पना दार्शनिक जगत् में एकदम मौलिक तत्त्व है और इस निगूढतम तत्त्व के अनुसन्धान करने का समस्त गौरव हमारे वैदिक-कालीन आर्षिचक्षुः-सम्पन्न महर्षियों को ही है।

इस एक देवता की विभिन्न संज्ञायें उपलब्ध होती हैं—प्रजापति, हिरण्यगर्भ, पुरुष आदि। ऋग्वेद के दशममण्डल का १२१ वाँ सूक्त हिरण्यगर्भ की स्तुति का प्रतिपादक है। यह सूक्त हिरण्यगर्भ गहरे आध्यात्मिक तत्त्वों से भरा हुआ है। उच्च दार्शनिक विचारों के कारण यह सूक्त ऋग्वेद के सूक्तों में महत्त्वपूर्ण समझा जाता है। आनन्द रूप होने से अथवा इदमित्थ रूप से अनिर्वचनीय होने के कारण ये ही प्रजापति 'कः', शब्द के द्वारा व्यवहृत किये गये हैं^१। “यही हिरण्यगर्भ सबके आगे उत्पन्न हुए, उत्पन्न होने पर ये समस्त प्राणियों के एक अद्वितीय अधिपति हुए। इस पृथ्वी, अन्तरिक्ष तथा आकाश को वे धारण करनेवाले हैं। यज्ञ-यागों में उन्हीं के प्रसादनार्थ हम लोग हविष्य का होम किया करते हैं^२।” वे समस्त

१ ‘कस्मै देवाय हविषा विधेम’ इस मन्त्र (१०।१२१।१) के ‘कस्मै’ पद के अर्थ-विषय में पर्याप्त मतभेद है। पश्चिमी वैदिक विद्वान् इसे प्रश्नवाचक सर्वनाम बतलाते हैं, परन्तु वैदिक परम्परा में इस शब्द का अर्थ ‘प्रजापति’ है। “अत्र किं शब्दोऽनिर्ज्ञातस्वरूपत्वात् प्रजापती वर्तते। यद्वा कं सुखम्। तद्रूपत्वात् प्रजापतिः कं इत्युच्यते”—सायणभाष्य।

२ हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

प्राणियों के प्राणदाता (आत्मदा) तथा बलदाता हैं । अमरता तथा मृत्यु छाया के समान उनके आधीन रहती है^१ । ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रजापति ही सर्वश्रेष्ठ देवता बतलाये गये हैं । शतपथब्राह्मण (५।१।२।१०) का कहना है कि देवताओं की संख्या तेतीस है, परन्तु प्रजापति चौतीसवे देवता हैं अर्थात् सर्वश्रेष्ठ देवता हैं ।

ब्रह्म के सर्वव्यापी होने की महत्त्वपूर्ण कल्पना का वर्णन अनेक सूक्तों में मिलता है । इसका सब से सुन्दर दृष्टान्त पुरुषसूक्त (१०।६०) तथा अदितिसूक्त (१।८९) में मिलता है । वह हजार मस्तक (सहस्र पुरुष शीर्षा), हजार आँखों तथा हजार पैरवाला 'पुरुष' चारों ओर से इस पृथ्वी को घेरकर परिमाण में दश अंगुल अधिक है । "जो कुछ इस समय वर्तमान है, जो कुछ उत्पन्न हुआ है (भूतकाल में) तथा — कुछ उत्पन्न होतेवाला है (भविष्यकाल में) वह सब पुरुष ही है"—

पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ।

इस सूक्त में सर्वेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन सुस्पष्ट है । इसी प्रकार अदिति के वर्णन के अवसर पर राहूगणपुत्र गौतम ऋषि का कहना कि अदिति ही आकाश है, अदिति अन्तरिक्ष है; अदिति माता है, अदिति ही पिता है तथा पुत्र है; अदिति समस्त देवता है, अदिति पञ्चजन (निषाद महित चतुर्वर्ण) हैं । जो कुछ उत्पन्न है तथा जो कुछ उत्पन्न होनेवाला है वह सब अदिति ही है —

अदितिर्यैरादितिरन्तरिक्ष-

मदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।

विश्व देवा अदितिः पञ्च जना

अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥

(ऋ० वे० १।८६।१०)

इस प्रकार पुरुष तथा अदिति की सर्वव्यापकता मानकर उनको विश्व से अभिन्नता स्वीकृत की गई है।

अथर्ववेद के स्कम्भ सूक्त (१० काण्ड, ७वाँ तथा ८वाँ सूक्त) तथा उच्छिष्ट सूक्त (११।९) की परीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत 'स्कम्भ' होता है कि ब्रह्म की व्यापकता तथा आत्मा से अभिन्नता के सिद्धान्त अथर्ववेद को सर्वथा मान्य हैं। ब्रह्म की ही अन्यतम सज्ञा स्कम्भ (आधार) है। जगत के समस्त पदार्थ उसी के आश्रय में निवास करते हैं तथा अपनी सत्ता बनाये रहते हैं। अतः उसकी स्कम्भ सज्ञा अन्वर्थक है। स्कम्भ विश्व का कारण है। ब्रह्म का भी वह कारण है। अतः उसे ज्येष्ठ ब्रह्म भी कहते हैं। "जिसमें भूमि, अन्तरिक्ष, आकाश समाहित हैं, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य तथा वायु जिनमें अर्पित होकर रहते हैं, वही स्कम्भ है" (१०।७।१२)। आधागृथयी, अन्तरिक्ष, प्रदेशों का धारण करनेवाला वही स्कम्भ है (१०।७।३५)। इतना ही नहीं, इह भूत, भव्य (भविष्य) तथा समस्त वर्तमान का अधीश्वर है (१०।८।१)। यह मन्त्र स्कम्भ की आत्मा के साथ एकता भी स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करता है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू
रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न विभाय मृत्यो-
रात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥

(१०।८।४४)

उच्छिष्ट सूक्त में उच्छिष्ट नाम के द्वारा ब्रह्म का ही प्रतिपादन है। 'उच्छिष्ट' का अर्थ है बचा हुआ शेष पदार्थ। दृश्य-प्रपञ्च के निषेध करने के अनन्तर जो अवशिष्ट रहता है वही उच्छिष्ट है अर्थात् बाध-
'उच्छिष्ट' रहित परब्रह्म। ब्रह्म के इसी स्वरूप की अभिव्यक्ति के

लिए बृहदारण्यक उपनिषद् ब्रह्म को 'नेति' 'नेति' पुकारता है ।^१ सूक्त भर में विश्व के समस्त पदार्थ उच्छिष्ट के ऊपर अवलम्बित बतलाये गये हैं । सूक्त के प्रथम मन्त्र^२ में प्रतिपादित 'उच्छिष्ट पर नाम-रूप अवलम्बित है' सिद्धान्त अद्वैत-वेदान्त की दृष्टि से कितना महत्त्वपूर्ण है ! 'नामरूप' का दृश्यमान जगत् के लिए प्रयोग कितना सागगर्भित है । समस्त वेद तथा पुराण की उत्पत्ति उच्छिष्ट से हुई है (२४); प्राण, अपान, चक्षुः तथा श्रोत्र, अक्षिति (स्थिति) तथा क्षिति (लय) — सब उच्छिष्ट से उत्पन्न हुए हैं (२५) । अतः 'उच्छिष्ट' की महिमा अवर्णनीय है । इन सूक्तों के अनुसन्धान से स्पष्ट है कि प्रजापति, पुरुष, हिरण्यगर्भ, स्कम्भ तथा उच्छिष्ट एक ही परमतत्त्व के वाचक हैं । उपनिषदों के ब्रह्मतत्त्व तथा ब्रह्मात्मैक्यवाद की यही पूर्वपीठिका है । इन्हीं सकेतों का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान लक्ष्य है । इस विवेचन को पढ़कर गीता (१५।१५ के 'वदंश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' तथा 'आदावन्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते' पुराण के इस वाक्य में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता ।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने इस जगत् के कर्ता तथा नियामक मूल तत्त्व को अपनी सूक्ष्म तात्त्विक दृष्टि से ढूँढ़ निकाला था । इस विषय में नासदीय सूक्त (ऋ० वे० १०।१२६) ऋषियों की आध्यात्मिक दृष्टि को पूर्णतया व्यक्त करने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । यह सूक्त ऋग्वेदीय अद्वैत-भावना को जिस रूप में अभिव्यक्त करता है उस

१ अथात आदेशा नेति नेति — बृह० उप० २।३।११ ।

नेह नानास्ति किञ्चन " ४।२।२१ ।

२ उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः ।

उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विद्वमन्तः समाहितम् ॥

रूप में अभिव्यक्त करनेवाले अन्य मूक्त का नितान्त अभाव है। नामदीय-
मूक्त के ऋषि के सामने इस विश्व की उत्पत्ति की विषम प्रहेलिका विद्यमान
थी। यह विश्व कहाँ से उत्पन्न हुआ ? इसके मूल में कौन सा तत्त्व

विद्यमान था ? किस वस्तु की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई ?

अद्वैत की भावना आदि प्रश्नों का समुचित उत्तर देना मगल काम

नहीं है, परन्तु इस मूक्त में इन्हीं प्रश्नों का उचित

उत्तर अन्तर्दृष्टि की सहायता से प्रस्तुत किया गया है। “सृष्टि के आदि-
काल में न तो असत् ही था और न सत् ही था। वहाँ न तो आकाश
था, न तो स्वर्ग ही विद्यमान था, जो उसमें परे है। किसने ढका था /
वह कहाँ था / और किस की रक्षा में था ? क्या उस समय गहन तथा
गभीर जल था (जिसमें वह पड़ा हुआ था) ? उस समय मृत्यु न था,
न तो अमरत्व ही था, उस समय दिन तथा रात का पार्थक्य न था” ।
इतने निपेधों के वर्णन के अनन्तर ऋषि सत्तात्मक वस्तु का वर्णन कर
रहा है कि उस समय बस एक ही था जो वायुरदित होकर भी अपने
सामर्थ्यसे ध्वास ले रहा था। उसके अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु थी ही नहीं—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं

नासीद् रजो नो व्योमा परो यत् ।

किमावगोवः ? कुह कस्य शर्मन ?

अम्मः किमासीद् गहनं गर्भारम् ॥

न मृत्युरासीदमृत न तर्हि

न रात्र्या अह्नः आसीत् प्रकेतः ।

आनीदवात स्यधया तदेकं -

तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनानाम् ॥

यह है नितान्त उदात्त एकत्वभावना। “तदेकम्”—वह एक। उसके
लिङ्ग निर्धारण में असमर्थ होकर वैदिक ऋषियों ने सर्वत्र उस परमतत्त्व
के लिए नपुंसक ‘तत्’ तथा ‘सत्’ शब्दों का प्रयोग किया है। वही इस जगत

का मूल कारण है। उसी से यावत् चेतन और अचेतन वस्तुओं की उत्पत्ति हुई है। वह एक है, अद्वितीय है; उसके साथ तथा समकक्ष रहनेवाली अन्य वस्तु का वास्तव अभाव है। अग्नि, मातरिश्वा, यम आदि देवता उसी के भिन्न-भिन्न रूप को धारण करनेवाले हैं। वह एक ही है, परन्तु कवि लोग उसे भिन्न भिन्न नाम से पुकारते हैं।^१ मनुष्यों को मधुर वाणी में वही बोलता है, पक्षियों के कलरव में वही चहकता है, विकसित पुष्पों के रूप में वही हँसता है, प्रचण्ड गर्जन तथा तूफान में वही क्रोध-भाव को प्रकट करता है, नभो-मण्डल में चन्द्र-सूर्य तथा ताराओं को वही तत्तत् स्थान पर स्थिर करता है^२। भिन्नता के स्तरों में अभिन्नता को यदि किसी ने पहचाना, तो वैदिक आर्यों ने। इस अभिन्नता का पल्लवीकरण उपनिषदों का प्रधान विषय है; पर इसका बीज ऋग्वेदीय-मंहिता में सुस्पष्ट रूप में निहित है, जिसमें सन्देह करने के लिए तनिक भी स्थान नहीं।

ब्राह्मण तथा आरण्यक की समीक्षा करने में हम उनके सिद्धान्तों का परिचय पाते हैं। यह काल संहिता तथा उपनिषद् काल का मध्यवर्ती ब्राह्मण तथा युग है। इसमें वर्णाश्रम धर्म की प्रतिष्ठा पर्याप्त रूपसे आरण्यक सम्पन्न की गई। तैत्तिरीय ब्राह्मण ने (३।१-१३) चारों वर्गों के साथ चारों आश्रमों के कर्तव्यों का वर्णन किया है। 'ब्राह्मणो' में कर्मकाण्ड का खूब विस्तार गया है। यज्ञ का महत्त्व इतना ही नहीं है कि वह किसी देवता-विशेष के उद्देश्य से द्रव्य का त्यागरूप हो, प्रत्युत वह इस विश्व के नियामक रूप में ग्रहण किया गया है। समस्त विश्व ही यज्ञ-रूप है। यज्ञ के कारण देवता लोग अपने-

१. इन्द्र मित्रं वर्णमग्निमाहुर्गन्धो दिव्यं स सुपर्णा गन्तमान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति अग्निं यम मातरिश्वानमाहुः।

अपने अधिकारों का निर्वाह करते हैं। यज्ञ की निष्पत्ति से समस्त विद्य का कल्याण-साधन होता है। यज्ञ विष्णु का रूप स्तव्यया गया है (विष्णुर्वै यज्ञः); आरण्यको में यज्ञ की दार्शनिक व्याख्या है तथा उसके रहस्यों की यथार्थ मीमांसा है। आरण्यकों में ब्रह्मा से उत्पन्न पल के प्रति अश्रद्धा का भाव दीर्घ पड़ता है। स्वर्ग के क्षय होने से कर्ममार्ग आत्यन्तिक सुख का सम्पादक नहीं माना जा सकता। अतः कर्म से लोगों की अभिरुचि हटने लगी और ज्ञान मार्ग की ओर उनका ध्यान आकृष्ट होने लगा। अतः ज्ञान-कर्म के समन्वय की जो बात उपनिषद् काल में प्रधानतया विद्यमान है उसका आरम्भ इसी युग में हो गया था।

उपनिषद्

वेद के अन्तिम भाग उपनिषद् है। इस ग्रन्थ-रत्नो में वैदिक ऋषियों ने आत्म विद्या के गूढ़तम रहस्यों का विशद विवेचन किया है।

भारतीय तत्त्व-ज्ञान का मूल स्रोत इन्हीं उपनिषदों में है।

महत्त्व।

उपनिषद् वास्तव में आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जिधमें भिन्न-भिन्न ज्ञान-सरितायें निकल कर इस पुण्य-भूमि आर्यावर्त में मानव मात्र के ऐहिक अभ्युदय तथा आध्यात्मिक कल्याण साधन के लिए प्रवाहित होती हैं। हिन्दू दर्शन में तीन प्रस्थान ग्रन्थ हैं जो वैदिक धर्मानुसार गन्तव्य मार्ग तथा उसके साधन के प्रतिपादक हैं। भारतीय विचार शास्त्र के लिए सर्वश्रेष्ठ उपजीव्य ग्रन्थ होने के कारण उपनिषद् प्रस्थान-त्रयी के अन्तर्गत प्रथम प्रस्थान के रूप में गृहीत किये गये हैं। द्वितीय प्रस्थान श्रीमद्भगवद्गीता है जो समस्त उपनिषद् रूपी धेनुओं का बलरूपी पार्थ के लिए भगवान् गोपाल कृष्ण के द्वारा दूहा गया सुधा-सहोदर सारभूत दूध है। तृतीय प्रस्थान बादरायण-व्यास-विरचित ब्रह्मसूत्र है जिसमें आपाततः विरोधी उपनिषद्-वाक्यों का समन्वय

तथा एवमात्र अभिप्राय ब्रह्म में दिखलाकर अन्य तार्किकों की युक्तियों का प्रचल स्वण्डन किया गया है। इसी प्रस्थान-त्रयी—उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र—पर भारतीय वैदिक-धर्म तथा दर्शन अवलम्बित है, परन्तु गीता तथा ब्रह्मसूत्र को उपनिषदों पर आश्रित होने के कारण उपनिषदों का महत्त्व सबसे अधिक है। इसीसे नवीन मत के संस्थापक आचार्यों ने अपने सिद्धान्तों की प्रामाणिकता तथा अश्रुणता प्रदर्शित करने के लिए इन्हीं तीनों ग्रन्थरत्नों पर स्वमतानुकूल भाष्य की रचना की है।

उपनिषद् शब्द उप तथा नि उपसर्गक मद् धातु से क्विप् प्रत्यय जोड़ने पर निष्पन्न हुआ है। मद् धातु के तीन अर्थ होते हैं—
विशरण = नाश होना, गति = प्राप्ति होना, अवसा-
दन = शिथिल करना। उपनिषद् का अर्थ है अध्यात्मविद्या। जिस विद्या के अध्ययन करने से दृष्टानुश्रविक विषयों से निवृत्त ममभुजनों की संसार वीजभूत विद्या नष्ट हो जाती है, जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है तथा जिसके परिशीलन में गर्भधा-
सादि दुःख-चुन्दों का सर्वथा शिथिलकरण हो जाता है, वही अध्यात्म-
विद्या उपनिषद् है^१। शङ्कराचार्य के इस व्याख्यान के अनुसार उप-
निषद् का मुख्य अर्थ है ब्रह्मविद्या तथा गौण अर्थ है^२—ब्रह्मविद्या-
प्रतिपादक ग्रन्थ विशेष। ब्रह्म के स्वरूप, उसमें उत्पन्न जीव तथा जगत् के साथ उसका वास्तविक सम्बन्ध, ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय आदि विषयों का विस्तृत तथा विशद वर्णन इन ग्रन्थों में किया गया है। अतः इनकी 'उपनिषद्' संज्ञा अन्वर्थक है।

१. दृष्टव्य कठोपनिषद् तथा तैत्तिरीय उपनिषद् के शाङ्करभाष्य का उपाख्यान।

२. तस्माद् विद्यायां मुख्यया वृत्त्या उपनिषद्वद्वत्ते वर्तते, ग्रन्थे तु भक्त्या—
कठभाष्य पृ. २।

प्राचीन काल में प्रत्येक वैदिक शाखा का अपना विंशष्ट उपनिषद् था। परन्तु आजकल उतने उपनिषदों की उपलब्धि नहीं होती। मुक्तिकोपनिषद् में उपलब्ध उपनिषदों की संख्या दी गई है^१।

संख्या

उसके अनुसार उपनिषद् १०८ हैं जिनमें १० उपनिषद् ऋग्वेद में सम्बद्ध हैं, १९ शुक्लयजुर्वेद में, ३२ कृष्णयजुर्वेद में, १६ सामवेद में तथा ३१ अथर्ववेद में। परन्तु मुक्तिकोपनिषद् के ही अध्ययन से पता चलता है कि उपनिषदों की संख्या कहीं अधिक थी। अष्टोत्तर शत उपनिषद् तो उपनिषत्साहित्य के सारभूत हैं^२। कतिपय वर्ष हुए अज्झार (मद्रास) की थिआसोफिकल सोसायटी ने अप्रकाशित उपनिषदों को प्रकाशित किया है, जो संख्या में लगभग साठ हैं और जिनमें कतिपय उपनिषदों का अनुवाद दागशिकोह (बादशाह शाहजहाँ के उपेक्षित पुत्र) ने फारसी भाषा में १७ वीं शताब्दी में किया था।

इन १०८ उपनिषदों में भी बारह तेरह उपनिषद् विषय-प्रतिपादन की विशदता तथा प्राचीनता के विचार में नितान्त प्रामाणिक माने जाते हैं। ऋग्वेदाय उपनिषदों में ऐतरेय तथा कौपीतिक साम-उपनिषदों में छान्दोग्य तथा केन, कृष्णयजुः उपनिषदों में तैत्तिरीय, महानारायण, कठ, श्वेताश्वतर तथा मैत्रायणी, शुक्लयजुर्वेद के ईशावास्य तथा बृहदारण्यक; अथर्वउपनिषदों में मुण्डक, माण्डूक्य तथा प्रश्न नितान्त प्रसिद्ध, प्राचीन तथा प्रामाणिक स्वीकार किये गये हैं। शङ्कराचार्य ने इन ११ उपनिषदों ही पर भाष्य लिखा है—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, बृहदारण्यक तथा नृसिंह पूर्वतापनी। इनके अतिरिक्त अपने भाष्यों में उन्होंने लगभग ६ अन्य उपनि-

१. मुक्तिकोपनिषद् प्रथम अध्याय (उपनिषत्संग्रह पृ० १०८-१०९)

२. सर्वोपनिषदों में अष्टोत्तर शतम्।

सकृच्छरणमात्रेण सर्वाधीनमिहानुनम् ॥

- मुक्तिकोपनिषद् (१४४)

पदों को प्रमाण के लिये उद्धृत किया है। इनमें शङ्कराचार्य के द्वारा व्याख्यात उपनिषद्-ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वशाली माने जाते हैं तथा लोकप्रिय होने से उनकी का पठनपाठन विशेषतया आजकल होता है। इनमें भी छान्दाग्य तथा बृहदारण्यक सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्राचीन स्वीकृत किये जाते हैं। कुछ उपनिषद् गद्यात्मक हैं, कुछ पद्यात्मक और कतिपय गद्यपद्यात्मक। उपनिषदों के रचनाकाल के विषय में आलोचकों में पर्याप्त मतभेद है। इतना तो निश्चित है कि प्रधान उपनिषदों की रचना बुद्ध के आविर्भाव से बहुत पहले हो चुकी थी, परन्तु समस्त उपनिषदों का निर्माण एक काल या विषय न होकर अनेक शताब्दियों के उद्योग का परिणाम है। विषय-वर्णन की दृष्टि से उपनिषदों का श्रेणी विभाग किया जा सकता है। कुछ उपनिषद् वेदान्त (आत्मा तथा ब्रह्म के स्वरूप तथा परस्पर सम्बन्ध) प्रतिपादक हैं, कुछ योग के स्वरूप विवेचन में निरत हैं, परन्तु उपनिषदों को महती संख्या विष्णु, शिव तथा शक्ति परक है।

उपनिषदों के प्रतिपाद्य सिद्धान्त को लेकर भारतीय दार्शनिकों ने बड़ी छानबीन की है। भारतीय टीकाकार उपनिषदों में एक ही प्रकार के मुख्य तान्पर्य सिद्धान्तों की सत्ता स्वीकार करते हैं। उपनिषदों में अद्वैत श्रुति, विशिष्टाद्वैत श्रुति तथा द्वैत श्रुतियों का सङ्भाव है, इसे कोई भी विद्वान् अस्वीकार नहीं कर सकता। ये सब श्रुतियाँ युक्ति-युक्त हैं। केवल दृष्टिकोण का ही भेद है। आचार्यों ने स्वसिद्धान्त प्रतिपादक श्रुतियों को प्रधानतः स्वीकृत किया है तथा अन्य श्रुतियों को गौण मानकर उनकी उपस्थिति दिखलाई है। श्रीशङ्कराचार्य ने उपनिषदों पर भाष्य लिख कर उनमें अद्वैत का ही प्रतिपादन किया है। रामानुज ने स्वयं उपनिषदों पर भाष्य की रचना तो नहीं की है, परन्तु अवान्तर-काल में उनके शिष्यों ने विशिष्टाद्वैतानुसार वृत्तियाँ लिखी हैं। रामानुज के व्याख्यानानुसार उपनिषद् विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं। श्रीमध्वाचार्य ने कतिपय प्रधान उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनकी दृष्टि में

इन ग्रन्थरत्नों का मुख्य तात्पर्य ब्रह्म तथा आत्मा की भिन्नता—द्वैत—प्रतिपादन में है। आधुनिक आलोचकों के मत से उपनिषदों में समस्त दर्शनों के बीज निहित हैं। इन्हीं सूक्ष्म सूचनाओं को ग्रहण कर पीछे के दार्शनिकों ने अपने २ सिद्धान्तों को पल्लवित किया है तथा उन्हें स्वतन्त्र-रूपेण प्रतिष्ठित किया है। आस्तिक दर्शनों की कथा कौन कहे ? जैन तथा बौद्ध जैसे नास्तिक दर्शनों के भी मूल सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होता है। सच्चा बात तो यह है कि उपनिषद् वैदिक कालीन ऋषियों के आध्यात्मिक विचारों के बहुमूल्य भाण्डागार हैं। इन विचारों में मुख्यतः दोनो पर भी कहीं २ विकीर्णता है। ऋषियों के आध्यात्मिक अनुभव सूत्ररूपेण इन ग्रन्थों में वर्णित हैं। अतः इन उपदेशों में सामञ्जस्य का अभाव होना नितान्त स्वाभाविक है। तथापि उपनिषदों की तारतम्य परीक्षा से उनके मूलभूत सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण किया जा सकता है।

(१) आत्मतत्त्व

उपनिषदों में आत्मा के स्वरूप का विवेचन बड़ी छान बीन के साथ किया गया है। आत्मा की सत्ता इसी जीवनकाल तक विद्यमान रहती है अथवा इस जीवनकी समाप्ति के पश्चात् भी उसका निवास बना रहता है ? इस समस्या की भीमासा कठोपनिषद् में बड़ी सुन्दर रीति से की गई। नचिकेता ने यमराज से इसी समस्या को सुलझाने के लिए आग्रह किया। मृत्यु सब रहस्यों का रहस्य है। उसका यथोचित विवेचन यमराज ने स्वयं किया है। आत्मा नित्य वस्तु है, न कभी वह मरता है, न कभी अवस्थादिकृत दोषों का प्राप्त होता है। वह विषयग्रहण करने वाली हमारी समस्त इन्द्रियाँ से, संकल्पविकल्पात्मक मन से, विवेचनात्मक बुद्धि से तथा हमारी सत्ता के कारण-भूत प्राणा से पृथक् है। एक रमणीय रूपक के द्वारा इस तत्त्व का वर्णन किया गया है—“यह शरीर

रथ है, बुद्धि सागृही है, मन प्रग्रह (लगाम) है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं जो विषयमार्ग मार्ग में चला करते हैं और आत्मा रथचाली है।^१ आत्मा को रथी बतलाकर यम ने आत्मा की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की है। रथस्वामी के कार्य के लिए ही रथादि यन्त्रों का व्यापार हुआ करता है, उसी प्रकार रथी-स्थानीय आत्मा के लिए ही शरीरादि विषयों का व्यापार होता है। ब्राह्म-विषयों से आरम्भ कर श्रेष्ठताक्रम से विचार करने पर आत्मा ही सब से श्रेष्ठ दृश्यता है।

‘आत्मन्’ की व्युत्पत्ति पर विचार करने से इसके स्वरूप का यथार्थ परिचय मिलता है। अनेक कारणों से यह नामकरण किया गया है। ऋद्धराचार्य ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत कर समस्त ‘आत्मन्’शब्द व्युत्पत्तियों को एक प्रदर्शित किया है। आत्मा जगत् के समस्त पदार्थों में व्याप्त रहता है (अप्नोति), समस्त यन्त्रों का अपने स्वरूप में ग्रहण कर लेता है (आदत्त), स्थितिकाल में वह विषयों में खाता है अर्थात् अनुभव करता है। (अनि) तथा इसकी सत्ता निरन्तर रहती है (सन्ततो भावः)। इन्हीं कारणों से आत्मा का आत्मत्व है^२। कल्पित वस्तु की सत्ता की सिद्धि के लिए अधिष्ठान की सत्ता अवश्य मानी जाती है। कल्पित सर्प की सत्ता के लिए तदधिष्ठानभूत रज्जु की सत्ता निरन्तर रहती है,

१. आत्मानं रथिनं विद्धि शरारं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु मार्गयं विद्धि मनं प्रग्रहमेव च ।
इन्द्रियाणि हयानां विषयान् ते तु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं तैर्वाहकं तदात्मनः ॥

—कठोपनिषद्, २। ३-४।

२. यदाप्नोति यदादत्ते यच्चार्त्ति विषयासिद्ध ।
यच्चान्य सन्ततो भावस्तरमादामेति कीर्त्यते ।

कठ उप० (२। १। १)—शङ्करभाष्य ।

द्रष्टव्य विद्यारथक-ऐतरेयब्राह्मणिका पृ० १३-१४

उसी प्रकार कल्पित जगत की सच्चा मानने के लिए आत्मा का निरन्तर भाव, सन्तत सच्चा (नित्यता) स्वीकृत ली गयी है। आत्मा की सच्चा के कारण प्राणीमात्र जीवन धारण करता है। "कोई भी मर्त्य न तो प्राण से जीवित रहता है और न अपान से जीवित रहता है प्रत्युत वह उम तत्त्व के सहारे जीवित रहता है जिसमें ये दोनों प्राण तथा अपान आश्रित रहते हैं" और वह तत्त्व कौन है ? **आत्मा** कठ उप० २।२।५।

आत्मा के स्वरूप का विवेचन उपनिषदों में बड़ी सुन्दर रीति से किया गया है। ऋषियों ने चेतना के चार स्तर बतलाये हैं। तीन निम्न कोटि के चैतन्य में आत्मा का निवास वहीं रहता, परन्तु शुद्ध आत्मा की चैतन्य-स्वरूपता सत्र मे उच्चकोटि के चैतन्य में आत्मस्वरूप की तात्त्विक उपलब्धि होती है। शरीर-चैतन्य, स्वान-चैतन्य तथा मुमुक्षु-चैतन्य से सर्वथा पृथक् होकर आत्मचैतन्य अपने शुद्ध आत्मश्रुत-रूप से विद्यमान रहता है। इस सिद्धान्त को प्रतिपादित करने के लिए छान्दोग्य उपनिषद् में (८।७) एक बड़ी रोचक आख्यायिका वर्णित की गई है। देवता तथा अमुरों ने आत्मतत्त्व की जिज्ञासा में प्रेरित होकर इन्द्र तथा विरोचन को प्रजापति के पास भेजा। प्रजापति ने बचीम वर्ष की कठोर तपस्या के अनन्तर आत्मतत्त्व को सिखलाया कि अँध में, जल में तथा आदर्श में जो पुरुष दीग्व पड़ता है वही आत्मा है। विरोचन को इस शिक्षा से सन्तोष हो गया, परन्तु इन्द्र के मनमें शङ्का का उदय हुआ कि सुन्दर अलङ्कारों में शरीर का भूषित करने पर आत्मा भूषित प्रत न होता है, परन्तु क्या शरीर ही आत्मा है ? यदि शरीर तथा आत्मा का तादात्म्य होता, तो शरीर में अन्धत्व, काण्ठ्य आदि दोषों के विद्यमान रहने पर आत्मा में भी इन दोषों का मानना पड़ेगा। इस शङ्का के निरास करने के लिए प्रजापति ने स्वान चैतन्य को आत्मा बतलाया, परन्तु दोष का निरास न हो सका ; क्योंकि स्वान में हम दुःख

का अनुभव करने हैं, आँखों से अश्रुधारा बहाते हैं, परन्तु आनन्द रूप आत्मा में क्या दुःख का संस्पर्श स्वीकार किया जा सकता है ? इन्द्र के पुनः आने पर प्रजापति ने सुषुप्ति काल में विद्यमान चैतन्य को आत्मा बतलाया । परन्तु विचार करने पर इन्द्र के मनमें शंका का पुनः उदय हुआ । सुषुप्ति काल में न तो अग्नी ही सत्ता का ज्ञान रहता है और न बाह्य वस्तुओं का । उस समय तो जीव हाट के कुन्द की तरह चैतन्य-हीन प्रतीत होता है । इतनी शंका करने पर अन्त में प्रजापति ने वास्तविक तत्त्व को समझाया कि इन तीनों चैतन्यों से पृथक्भूत जो उपाधिविरहित शुद्ध चैतन्य है आत्मा तद्रूप ही है । आत्मा स्वचैतन्य रूप है । भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न चैतन्य को ही आत्मा बतलाया है, परन्तु वास्तविक आत्मा इन सबसे भिन्न शुद्ध चैतन्य रूप है ।

माण्डूक्य उपनिषद् में भी शुद्ध आत्मा को 'तुरीय' बतलाया गया है । जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति उसी आत्मा की विभिन्न अवस्थायें हैं ।

जाग्रत दशा में आत्मा बाह्य वस्तुओं का अनुभव करता है, स्वप्नदशा में आभ्यन्तर मानस जगत् का अनुभव करता है, सुषुप्ति (घोर निद्रितावस्था) में

वह अपने केवल आनन्द-स्वरूप का अनुभव करता है । ये तीनों दशाएँ आत्मा की अपर अवस्थाओं को सूचित करती हैं और इनमें आत्मा को क्रमशः विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ कहते हैं । परन्तु इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा के अंशमात्र का परिचय प्राप्त होता है परन्तु पूर्ण आत्मा में उन सब गुणों का अभाव रहता है जो इन दशाओं में उपलब्ध होते हैं । "उस समय न तो बाह्य चेतना रहती है न अन्तः चेतना और न दोनों का संमिश्रण, न प्रज्ञा रहती है और न अप्रज्ञा । अदृष्ट, अप्राह्य, अव्यवहार्य, अलक्षण (लक्षण या चिह्न से विरहित), अचिन्तनीय, अव्यपदेश्य (नाम रहित), केवल आत्म-प्रत्ययभार (एक आत्मा की ही सत्ता का केवल भान होता है), प्रपञ्चोपशम (जहाँ समस्त बाह्य जगत् शान्त रहता

हैं), शान्त शिव, अद्वैत यह चतुर्थ कहा जाता है, यही आत्मा है, इसे ही जानना चाहिए" (माण्डूक्य उप० ७) । इस आत्मा को तुरीय (जाग्रतादि अवस्थात्रय से पृथक् होने के कारण चतुर्थ) कहते हैं । यह आत्मा कूटस्थ अविकारी है और इसी कूटस्थ आत्मा की एकता निर्गुण-ब्रह्म से सर्वतोभावेन भिन्न माना जाती है । ओंकार इसी आत्मा का द्वातक अक्षर है ।

(२) ब्रह्मतत्त्व

कहा गया है कि उपनिषद् के अध्यात्मवेत्ता ऋषियों ने इस नानात्मक सतत परिवर्तनशील अनित्य जगत् के मूल में विद्यमान शाश्वत सत्तात्मक पदार्थ का अन्वेषण तात्त्विक दृष्टि से कर निकाला है । इस अन्वेषण कार्य में उन्होंने तीन विभिन्न पद्धतियों का प्रयोग किया है—आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक । आधिभौतिक पद्धति इस भौतिक जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश के कारणों की छानबीन करती हुई पितृजन्म नित्य पदार्थ के निर्वचन में समर्थ होती है । आधिदैविक पद्धति नानारूप तथा स्वभावधारी विपुल देवताओं में शक्ति संचार करने वाले एक परमात्मतत्त्व को खोज निकालती है । आध्यात्मिक पद्धति में मानस-प्राक्रियाओं तथा शारीरिक कार्य-कलापों के अवलोकन करने से उनके मूलभूत आत्मतत्त्व का निरूपण किया जाता है । इन तीनों शैलियों के उपयोग करने से उपनिषद्-कालीन दार्शनिकों ने जिस परमतत्त्व परम सत्यभूत पदार्थ का ऊद्घाटन किया है, उसे ब्रह्म कहते हैं ।

उपनिषद् में ब्रह्म के दो स्वरूपों का विशद वर्णन किया है—
सर्वविशेष अथवा सगुण रूप, निर्विशेष अथवा निर्गुण रूप । इन दोनों भवों में भेदनिर्देश करने के अभिप्राय से निर्विशेष द्विविध ब्रह्म—
भाव को कहीं परब्रह्म कहा गया है और सर्वविशेष भाव सगुण तथा निर्गुण को कहीं अपर ब्रह्म तथा तृती शब्द-ब्रह्म कहा गया

हैं। निर्विशेष ब्रह्म वह है जिसे किसी विशेषण या लक्षण से लक्षित नहीं किया जा सकता; किसी चिह्न का परिचय नहीं दिया जा सकता, जिसके द्वारा उसे पहचानने में हम समर्थ हो सकते हैं, किसी गुण का उल्लेख नहीं किया जा सकता जिससे उसे धारण किया जा सके। इसीलिए इस निर्विशेष भाव को निर्गुण, निरुपाधि तथा निर्विकल्प आदि संज्ञाओं से अभिव्यक्त करते हैं। सविशेष भाव ठीक इसके विपरीत होता है। उसमें गुण, चिह्न, लक्षण तथा विशेषणों की सत्ता विद्यमान रहती है जिनके द्वारा उसका उक्तस्वरूप हृदयङ्गम किया जा सकता है। इन दोनों भावों को प्रदर्शित करने के लिए उपनिषद् ने दो प्रकार के वाक्यों का प्रयोग किया है। एक निर्विशेष-लिङ्ग, दूसरा सविशेष-लिङ्ग। सविशेष-लिङ्ग श्रुतियाँ सर्वकर्म, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः इत्यादि हैं। निर्विशेष-लिङ्ग श्रुतियाँ अमृतम्, अनन्तम्, अद्वयम्, अदीर्घम् आदि हैं। इन वाक्यों में एक विशेषता आर ध्यान देने योग्य है। सविशेष ब्रह्म के लिए पुल्लिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया गया है यथा सर्वकर्म सर्वरसः आदि; परन्तु निर्विशेष-ब्रह्म के लिए नपुंसक शब्दों का प्रयोग किया गया है। अमृतम्, अद्वयम् आदि नपुंसक शब्दों के द्वारा परब्रह्म का निदेश किया जाता है। यही कारण है कि परब्रह्म 'तत्' पद के द्वारा निर्दिष्ट किया जाता है, 'सः' पद के द्वारा नहीं। श्रुतिवाक्यों में इस प्रकार पार्थक्य होने पर भी तद्द्वारा प्रतिपाद्य पदार्थ में किसी प्रकार का वैषम्य नहीं है। निर्विशेष तथा सविशेष भाव-विभेद के सूचक हैं; इनमें वस्तुगत विभेद का सर्वथा अभाव है। सगुण तथा-निर्गुण, सांसाध्य तथा निरुपाधि आदि शब्द एक ही ब्रह्मतत्त्व के निदेशक हैं, क्योंकि ब्रह्मतत्त्व की प्रतिपादक श्रुतियाँ ने एक ही मन्त्र में उभयलिङ्ग शब्दों का प्रयोग किया। मुण्डक-उपनिषद् (१।१।६) में ब्रह्म का वर्णन इस प्रकार किया है—

१. सन्नि उभयलिङ्गाः पुनर्यात्र विपरीताः। सर्वकर्मव्याप्याः सविशेषलिङ्गाः, अमृत-मनसुः स्थैर्यमाश्रय निर्विशेषलिङ्गाः।
—शाङ्गभाष्य।

श्रोत दर्शन

यत् तद् ! अद्वै-यमग्राह्यम्, अगोचरम्, अवर्णम्, अचक्षुःश्रोत्रम्, तद् अपाणिपादम् (यहाँ निर्विशेष ब्रह्म की सूचना है), नित्यं विभुं सर्वगतं मुमुक्षुं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीमाः (इन पुनर्लिंग-प्रदा के विशेष ब्रह्म का निर्देश किया गया है) । इस प्रकार जब एक ही मन्त्र उभयविध पदों के द्वारा ब्रह्मत्व का प्रतिपादन कर रहा है तब निश्चय है कि उसमें किसी प्रकार का वस्तुगत पार्यक्य नहीं है । भाष्यकारों से इन उभयलिङ्ग वाक्यों को लेकर गहरा मत-भेद है । आचार्य शङ्कर श्रुति का निर्गुण ब्रह्म-प्रतिपादक ही मानते हैं, पर आचार्य रामानुज उसे सगुण ब्रह्म-प्रतिपादक स्वीकार करते हैं । परन्तु परम तत्त्व एक ही है, उसे सगुण कहा जाय या निर्गुण ।

(क) सगुण ब्रह्म

अपर या नगुण ब्रह्म का परिचय उपनिषद् में दोप्रकार से दिया गया है । किसी वस्तु के परिचय के लिए उसके लक्षण की आवश्यकता होती है । यह लक्षण दो प्रकार का होता है - तटस्थ लक्षण तथा स्वरूप लक्षण । जिसके द्वारा वस्तु के शुद्ध स्वरूप का परिचय प्राप्त किया जाता है, वस्तु के तात्त्विक रूप की उपलब्धि होती है, वह **स्वरूप लक्षण** कहा जाता है । **तटस्थ लक्षण** के द्वारा वस्तु के अस्थायी, परिवर्तनशील गुणों का-वर्णन किया जाता है । सगुण ब्रह्म के उभयविध लक्षण उपनिषद् में प्राप्त होते हैं ।

स्वरूप लक्षण के अनुसार ब्रह्म सत्य, ज्ञान तथा अनन्त रूप है (सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म-तेजि० उप० उप० २।१) तथा वह विज्ञान और ज्ञानन्दरूप है (विज्ञानमानन्दं ब्रह्म--बृह० उप० ३।१।२८) । उपनिषद् में ब्रह्म की तीन स्वाभाविक शक्तियों का उल्लेख किया जाता है-ज्ञानशक्ति, बलशक्ति तथा क्रियाशक्ति (परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च-श्वेता० उप० ६।८) ।

सगुण ब्रह्म का तटस्थ लक्षण छान्दोग्य-उपनिषद् में केवल एक शब्द में किया गया है। वह शब्द है—तज्जलान्^१। तज्ज, तन्त्र तथा तदन्-

इन तीन शब्दों का संक्षेप इस शब्द में किया गया। यह ^{ब्रह्म का तटस्थ लक्षण} जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होता है (तज्ज), उसी में लीन हो जाता है (तन्त्र) तथा उसीके कारण स्थितिकाल में

प्राण धारण करता है (तदन्)। इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय के कारणभूत परमतत्त्व को ब्रह्म कहते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन बड़े सुन्दर शब्दों किया गया है^२। ब्रह्मसूत्र के “जन्माद्यस्य यतः” (१।१।२) सूत्र में ब्रह्म का यही तटस्थ लक्षण उपस्थित किया है। “वह स्रक्ता अधिमति है, सर्वज्ञ तथा अन्तर्यामी है। वह स्रक्ता का कारण है; उसीमें स्रक्ता जीव उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं” (मांडूक्य उप०)। सगुण ब्रह्म इस संसार के शासक है वे इस जगत् के समस्त निवासियों के भाग्य के विधाता हैं। शुभ कार्य करने वाले जीवों का वह कल्याण साधन करते हैं और भुक्ति या मुक्ति का विधान करते हैं, परन्तु अशुभ-कर्म वाले जीवों को वे सर्वथा दण्ड देते हैं। ये ही ईश्वर, विष्णु या हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं। इस विश्व के समस्त प्राणी उन्हीं के शरीर हैं—सब पैरों में वह चलते हैं, सब हाथों से काम करते हैं, सब आँखों से देखते हैं, और सब कानों से सुनते हैं। ब्रह्म अखण्ड-शक्तियों के ऊपर-शामन करता है। उसी की शक्ति से देवताओं में शक्ति-संचार होता है। केनोपनिषद् (तृतीय खण्ड) में ब्रह्म की सर्व-शक्तिमत्ता के विषय में उमा हैमवती का रोचक आख्यान वर्णित है जिसका तात्पर्य यही है कि न तो अग्नि में स्वतः दाहिका-शक्ति है और न वायु में तृण को भी उड़ा देने का

१. तज्जलानिति शान्त उपार्जित (छ० उप० ३।१४।१)।

२. यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जानानि जीवन्ति, यः प्रयन्त्यभिनिश्चिन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म (तैत्ति० उप० ३।१।१)।

स्वतः सामर्थ्य हैं। यदि ये प्राकृतिक शक्तियाँ अपने प्रबल सामर्थ्य के ऊपर गर्व करें, तो यह नितान्त अनुचित है। ब्रह्म की शक्तिमत्ता के बल पर जगत् के पदार्थों में शक्ति का परिचय मिलता है। नम्रता ब्रह्म ज्ञान की महायिका है और अभिमान उस ज्ञान का नितान्त बाधक है। इन्द्र के नम्रता प्रदर्शित करने पर ही उमा हैमवती (ज्ञानदेवी) ब्रह्म के परिचय देने के लिए अभिभूत हुई थी जिसकी कृपा से इन्द्र देवताओं के अधिपति हुए।

(ख) निर्गुण ब्रह्म

पहले दिखलाया गया है कि ब्रह्म का जो निर्विशेष या निर्गुण भाव है उसे किसी विशेषण में विशेषित नहीं किया जा सकता, किसी चिह्न के के द्वारा चिह्नित नहीं किया जा सकता, किसी गुण से निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता। अर्थात् परब्रह्म निर्विकल्प तथा निरुपाधि है। वह अनिर्देश्य है— उसका किसी प्रकार निर्देश नहीं किया जा सकता। वस्तु का निर्देश किसी गुण के द्वारा ही हो सकता है। परन्तु जब ब्रह्म निर्गुण है, तो उसका निर्देश किया जाना नितान्त असम्भव है। इसी कारण वाष्कणि ऋषि के द्वारा ब्रह्म के विषय में बराबर पूछने जाने पर बाध्व ऋषि ने मोनावलम्बन धारण कर ही उनके प्रश्न का उत्तर दिया^१। गुणों के अत्यन्त अभाव के कारण ब्रह्म का भावात्मक वर्णन हो नहीं सकता। उसे हम निषेधमुखेन ही जान सकते हैं कि वह ऐसा नहीं है, इसीलिए श्रुति सदा नेति नेति (यह नहीं, यह नहीं,) कहकर उसका परिचय देती है। बृहदारण्यक श्रुति (४।४।२०) कहती है—स एष नेति नेति आत्मा।

१ वाकलिना च बाध्वः पृष्ठ. मन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—स होवाच अधीहि भो इति। स तूणो बभूव। त ह द्वितीयं वा तृतीयं वचन उवाच “ब्रूमः खलु त्वं तु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा”।

अथत आदेशो भवति, नेति नेति, नन्वेतस्मात् अन्यत् परम् अस्ति ।

इमलिये परब्रह्म के वर्णन में श्रुतिवाक्यों में 'न' अव्यय का इतना बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है । बृह० (३।६।६) के अनुसार वह अस्थूल अनणु, अद्वय तथा अदार्ढ्य है । कठ (१।३।१५) उसे अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्धवत्, अनादि तथा अनन्त धतलाती है ।

बृहदारण्यक उपनिषद् (३।१।८) में याज्ञवल्क्य गार्गी को उपदेश देते समय 'अक्षर' के स्वरूप का विवेचन करते हैं—“हे गार्गी, वह अक्षर ब्रह्म स्थूल नहीं है, न अणु है; ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, रक्त नहीं है न चिकना है, यह छाया से भिन्न है और अन्धकार से प्रथक् है, वायु तथा आकाश में अलग है, असंग है; रस तथा गन्ध से विहीन है, न चक्षु उमें ग्रहण कर सकती है न श्राव; मन तथा वाणी का वह विषय नहीं है, वह तेज से रहित है, प्राण तथा मुख से उसका सम्बन्ध नहीं है; वह परिमाण-रहित है, न अन्दर है न बाहर है; वह कुल नहीं ग्याता, न उमें कोई रखा सकता है । ”

केनोपनिषद् में निम्नप्रश्न ब्रह्म का बड़ा सजीव वर्णन है—

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते ।

तदेव ब्रह्म त्वत्वाद्धि नेद यदिदमुपासते ॥ (१।५)

जिसे वाणी कठ नहीं सकती, पर जिसकी शक्ति में वाणी बोलती है, उसे ही तुम ब्रह्म जानो । यह नहीं, जिसकी तुम उपासना करते हो ।

पर-ब्रह्म निरुपाधि है । देश, काल तथा निमित्त रूरी उपाधियों में वह नितान्त निरहित है । वह देशातीत, कालातीत, तथा निमित्तातीत है । प्रमाणातीत होने से वह निरा अप्रमेय है । चैतन्यात्मक होने से ब्रह्म स्वयं विषयी है । अतः वह किसी भी प्राणी के अन्तःकरण-वृत्ति ज्ञान का विषय कथमपि नहीं हो सकता । ब्रह्म का 'अरस' आदि कहने का तात्पर्य यही है कि वह शब्दस्पर्शादि के तुल्य विषय हो नहीं सकता । वह विपुलकाय अगाध-प्रशान्त समुद्र के समान कहा जा सकता है । इस

जगत् में समस्त प्रकाशका हेतुभूत यही ब्रह्म है। “वहां न तो सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा। न तारा, ये विजलिया नहीं चमकती; यह अग्नि कहाँ से चमक सकता है ! उमां के चमकने के पाले सभ चाजें चमकती हैं; उमाके प्रकाश से यह सब प्रकाशित होता है (कठ उप० ५।१५)।”

ब्रह्म ही इस सृष्टि का उपादान तथा निमित्त कारण है। मुण्डक उपनिषद् (१।१।७) का कहना है कि जिस प्रकार सड़का अपने शरीर से जाला तनता है तथा उसे अपने शरीर में फिर समेट लेता है, जिस प्रकार पृथिवी में ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं; जैसे पुरुष में केश लोम उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार उस नित्य-ब्रह्म (अक्षर) से यह समस्त विश्व उत्पन्न होता है^१। परमात्मा से पहले उत्पन्न हुआ आकाश; आकाश से वायु; वायु से अग्नि; अग्नि से जल; जलसे पृथिवी, पृथिवी से समस्त जावजन्तुमय जगत्। इस जगत् के लय होने का क्रम इससे ठीक विपरीत है।

(३) उपनिषदों का व्यवहार-पक्ष

उपनिषदों का व्यवहार पक्ष बड़ा ही सुन्दर है। हम पहले कह आये हैं कि दार्शनिक तत्त्वों को व्यवहार में लाकर उसमें मानव जीवनको प्रभावित करनेमें भारतीय विचार-शास्त्रकी विशेषता है। उपनिषदों का आचार-मीमांसा नितान्त उपयोगी तथा मनोरम है। उन्नत आध्यात्मिक पथ पर आरुढ़ होने के लिए अनेक सद्गुणों का सद्भाव आवश्यक है। बृहदारण्यक उपनिषद् (५।२।१-३) ने एक बड़ी रोचक आख्यायिका के द्वारा दम (आत्मसयम), दान तथा दया को मुनिशिक्षा दी है^२। छान्दोग्य

१ यथोर्णानभिः सृजते गृह्णते न यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।

यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवताह विश्वम्।

(मु० उप० १।१।७)

२ ण्पा देवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्थन दत्ता दयध्वमिति।

नदेतत् त्रयं शिक्षेत् दम दान दयामिति (बृह० उप० ५।२।३)।

(३।१७।४) ने तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा, सत्यवचन को आध्यात्मिक उन्नति में साधन बतलाया है। तैत्तिरीय (१।२।१-३) ने गुरुगृह से प्रत्यावर्तन के समय स्नातक को बड़ी सुन्दर शिक्षाएं दी हैं। इन शिक्षाओं में माता, पिता तथा गुरु की सेवा, स्वाध्यायचिन्तन तथा धर्माचरण का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु 'सत्य वद' को समस्त उपदेशों में विशिष्ट गौरव प्राप्त है। छान्दोग्य (४।४।१-५) ने सत्यकाम जात्राल का कथा में सत्य की शिक्षा पर खूब जोर दिया है। प्रश्नोपनिषद् में अवृतभाषण का निन्दा^१ तथा मुण्डक (३।१।६) में सत्य की प्रशंसा प्रशंसा है^२। सत्य के अनन्तर शम, दम, उपरति, तितिक्षा तथा समाधान की प्राप्ति भी उतनी ही आवश्यक है (बृह० उप० ४।४।२३)। परन्तु ज्ञान-साधन के मूलभूत गुण है—विवेक तथा वैराग्य। ब्रह्मप्राप्ति के लक्ष्य की ओर तब तक जीव अग्रसर नहीं होता, जब तक उसे विवेक—सत्यामत्य का विवेचन, श्रेय तथा प्रेय का वास्तव निर्धारण—तथा जगत् से आत्यन्तिक धैर्य उत्पन्न नहीं होता। मुण्डक (१।२।१२) ने इन गुणों को विशेष महत्त्व दिया है। “कर्म के द्वारा प्राप्त लोक विनश्यत है; इस बात को जानने से ही ब्राह्मण हृदय में निर्वेद—वैराग्य—का उदय होता है। विवेक ही उसे निश्चय करा देता है कि कृत (कर्म) के द्वारा अकृत (नित्य, ब्रह्म) की उपलब्धि ही नहीं सकती”।

कर्म करने में हम स्वतन्त्र हैं या नहीं? उपनिषद् स्पष्ट शब्दों में कहता है कि कर्म करने में आत्मा स्वतन्त्र है। बृहदारण्यक ने निःसन्देह शब्दों में संकल्प की स्वतन्त्रता प्रतिपादित की है।

कर्म स्वातंत्र्य “यह पुरुष काममय है; जैसी उसकी इच्छा होती है, वैसा ही उसका क्रतु (संकल्प) होता है तथा संकल्प के अनुसार ही वह

१. समूहों वा षष्ठ परिशुष्यन्ति योऽनृत वदन्ति (प्रश्न उप० ६।१)

२. सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। (मु० उप० ३।१।६)

कर्म करता है^१ । कौपीनिकि (३।९) ने मनुष्य की कर्म करने में स्वतन्त्रता का निषेध किया है, परन्तु छान्दोग्य में इस स्वतन्त्रता का सुन्दर वर्णन है । आत्मज्ञान हो जाने पर ही मनुष्य सब लोकों में विचरण कर सकता है (छा० उप० ८।१६); वह जिस चीज की कामना करता है वह उसके सकल्प-मात्र से उत्पन्न हो जाती है (छा० उप० ८।२।१०) । मुक्तिकोपनिषद् (२।५।६) में स्पष्टतः पुरुषार्थ पर जोर दिया गया है—

गुमागुमाभ्या मार्गभ्या वहन्ती वामना सति ।

पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया गुमे पथि ।

अगुमेपु समाविष्टं गुमेध्येवावताग्येत् ॥

“वामनाग्नी नदी दो मार्गों से प्रवाहित होती है—गुम मार्ग से तथा अगुम मार्ग से । मनुष्य को चाहिए कि प्रयत्न द्वारा अगुम में लगी वामना को गुम ही में ले जाय” । कर्म-निष्पादन में आत्म-स्वातन्त्र्य का उपपादन ही उपनिषद् की ममस्त शिक्षाओं का सार है ।

इस ब्रह्माण्ड के भीतर अनेक लोक हैं जिनमें सबसे उच्च लोक ब्रह्मलोक कहलाता है । उपनिषदों ने (छा० उप० ८।१५; बृह० ६।२; कौषा० १।२, ३) ब्रह्म विस्तार के साथ मृत्यु के अनन्तर प्रत्येक प्राणी के विभिन्न मार्गों का वर्णन किया है जिनके द्वारा वे अपने कर्मानुसार विभिन्न लोकों को जाते हैं । इस त्रिविधयान देवयान तथा पितृयान यात्रा के दो प्रधान मार्ग हैं—देवयान तथा पितृयान । ज्ञान-कर्मसमुच्चय के अनुष्ठाता, ज्ञान के साथ श्रद्धा तथा तपस्या आदि शोभन कार्य करनेवाले, पुरुष देवयान के द्वारा ब्रह्मलोक जाते हैं । ब्रह्म के आनन्दमय लोक प्राप्त कर लेने पर भी वे अपनों उपासना का अनुष्ठान करते रहते हैं और अन्न में परब्रह्म में लीन हो जाते हैं । इष्टापूर्त (श्रौत तथा स्मार्त कर्म) के अनुष्ठाता कर्म-मार्ग के अनुयायी

१. अथो खन्वाहुः काममय एवाथ पुरुष इति । स यथाकामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत् कर्म कुर्वते तदभिसंपद्यते । बृह० उप० (४ ४-५)

पुरुष पितृयान के द्वारा चन्द्रलोक जाते हैं, और कर्मानुसार मुख भोग कर वे पुनः इस लोक में आते हैं। यदि शोभन कार्य शेष रहता है तो वे धनी कुटुम्बों में जन्म ग्रहण करते हैं; यदि अशोभन का फल अवशिष्ट रहता है तो बुरे कुटुम्बों में जन्म लेते हैं। उपासना के विधिवत् अनुष्ठान से वे पुनः देवयान पन्था का आश्रय लेकर ब्रह्मलोक में जा सकते हैं इसे क्रममुक्ति कहते हैं। इन दोनों यानों के अतिरिक्त एक तीसरा मार्ग है जिसे 'यान' न कहकर 'गति' कहते हैं। इसकी पारिभाषिकी मजा 'जायस्व प्रियम्ब'—उत्पन्न होना तथा मरना है। पशुपक्षी के समान जो जीव कर्म के अनधिकारी है तथा अधिकारी होकर भी जो अशुभ कर्मों के सम्पादक है, उनकी यह तीसरी गति होती है (छा० उप० ५।१०।८) परन्तु कुछ ऐसे भी पुरुष हैं जिन्हें इस क्रममुक्ति से नितान्त असन्तोष होता है और जो मद्योमुक्ति (साक्षात् बिना विलम्ब मोक्ष) के इच्छुव होते हैं। उपनिषद् ने उनके लिए भी व्यवस्था की है। आत्म-ज्ञान न होना ही बन्धन का कारण है। 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (कठ० ४।११) वह पुरुष मृत्यु के बाद मृत्यु को प्राप्त करता जाता है जो इस जगत् में अनेकत्व को देखता है। अतः इस जगत् में व्याप्त एकता का अनुभव करनेवाला व्यक्ति अपने ज्ञान के बल पर मद्यो-मुक्ति को एक ही जीवन में प्राप्त कर सकता है। बृहदारण्यक श्रुति कहती है^१ कि जिस पुरुष के हृदयस्थित सत्र कामनाएं छूट जाती हैं, वह पुरुष मरणशील होने पर भी अमृत हो जाता है—अमरत्व को प्राप्त कर लेता है तथा इसी लोक में ब्रह्म को पा लेता है। उस समय उसके अंग, प्राण उसके शरीर से विमुक्त नहीं होते। ब्रह्म-रूप होकर वह पुरुष को प्राप्त कर लेता है^२। एकत्व ज्ञान का यह अमृत फल है। अतः

१. यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिता ।

अथ मृत्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ —४।४।७

२. न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्मायति । बृह० उप० ४।४।७

मनुष्य-मात्र का यह उच्च उद्देश्य होना चाहिए कि अपना बहुमूल्य जीवन साधारण वस्तुओं की प्राप्ति में न लगाकर आत्मोपलब्धि में लगावे क्योंकि “उसको जानकर ही मनुष्य मृत्यु-आवागमन को पार करता है; जाने के लिए आत्म-साक्षात्कार को छोड़कर अन्य मार्ग है ही नहीं^१” अतः तीव्र ज्ञान की प्राप्ति होने पर मयोमुक्ति हो जाती है। ज्ञानी को प्रारब्ध कर्म के भोग करने की भी आवश्यकता रहती ही नहीं। इसलिए गीता में मुमक्षि अग्नि के समान मुमक्षि ज्ञान सब कर्मों का (प्रारब्ध कर्मों का भी) नाश करनेवाला बतलाया गया है। निष्कर्ष यह है कि विशुद्ध ज्ञान से मयोमुक्ति, ज्ञान-कर्म समुच्चय में देवयान, केवल शोभन कर्म के आश्रय में पितृयान तथा अशोभन कर्मों के अनुष्ठान में तृताया गति की प्राप्ति होती है ,

(४) उपनिषदों का चरम लक्ष्य

उपनिषदों का चरम लक्ष्य क्या है ? कतिपय ग्रन्थों के अध्ययन से निष्पन्न आत्मन्तव्य विषयक ज्ञान उनका लक्ष्य नहीं है। उपनिषद् के सिद्धान्तों में मौलिभूत सिद्धान्त है—आत्मा की अपरोक्षानुभूति। परोक्ष अनुभूति में हमें अपना कौन-सा स्वार्थ सिद्ध हो सकता है ? जब तक हम अपने प्रयत्न में अपने को तात्त्विक रूप में न जाने या ‘स्वरूप का साक्षात् अनुभव न करें, तब तक शास्त्र का रोमन्थन—(चर्वित-चर्वण) व्यर्थ है। शंकराचार्य ने शुष्क ज्ञान की निन्दा करने में उपनिषत्तत्त्व का ही अनुसरण किया है^२। उपनिषदों ने इस अपरोक्षानुभूति के लिए आचार्य की महिमा का वर्णन सुन्दर शब्दों में किया है। ओंकार की

१. तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति । ना. पथा विद्यतेऽयनाय । श्रुता० उप० ३।८ ।

२. वाग्वैखरी शब्दसूरी शास्त्रविज्ञानकौशलम् ।

वैदुय विदुषां तत्त्वं भुङ्क्ते न तु मुक्तये ॥

अविद्याने परे तत्त्वं शास्त्रार्थातिस्तु निष्फला ।

विज्ञातेऽपि परे तत्त्वं शास्त्रार्थातिस्तु निष्फला ॥ —विवेक चूडामणि ६०।६१

उपासना इसका प्रधानतम साधन है। ओंकार के निरन्तर ध्यान करने से निगूढ़ देव का दर्शन किया जा सकता है (श्वेता० १।१४)। इसी प्रसंग में 'योग' की उपयोगिता का वर्णन श्वेताश्वतर में किया गया है (२।८-१०)। मुख्य दो प्रकार के होते हैं—छोटा मुख तथा बड़ा मुख। विषय-प्रपञ्च में मुखोपलब्धि अपकोटि की है। परन्तु वास्तव मुख तो उस 'भूमा'=आत्मा की उपलब्धि में है जो सर्वत्र विद्यमान है, ऊपर है तथा नीचे है; आगे है तथा पीछे है, दक्षिण की ओर है तथा उत्तर की ओर है। परम तत्त्व की ही सजा भूमा है। 'जहा पर न तो दूसरे को देखता है, न दूसरे को नता है, न दूसरे को जानता है वह है भूमा। भूमा ही अमृत है; जो अल्प है, वह मर्त्य है—अनित्य है"—यो वै भूमा तत् मुखं, नाप्ये मुखमस्ति। यत्र नान्यत् पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद् विजानाति स भूमा। यो वै भूमा तदमृत, अथ यदल्पं तन्मर्त्यम् (छा० ८।२२)।

इस आत्मा की साक्षात् उपलब्धि होने पर क्या होता है? वह 'स्वाराज्य' प्राप्त कर लेता है; वह अपने आत्मा से प्रेम करता है, (आत्मरतिः) अपने आत्मा से क्रीड़ा करता है। स्वाराज्य प्राप्ति (आत्मक्रीड़ाः), अपने आत्मा के संग का अनुभव करता है (आत्ममिश्रुनः) तथा अपने आत्मा में निरतिशय आनन्द को प्राप्त करता है (आत्मानन्दः)। आत्मा तो आनन्दरूप उदहरा। अतः मुखोपलब्धि का अर्थ यही है कि वह अपने आनन्दमय-रूप में विहार करता है। परन्तु उस आनन्द की मात्रा क्या लौकिक दृष्टान्तों से बतलाई जा सकती है? बृहदारण्यक (४।३।२१) ने एक लौकिक उदाहरण से उसका तनिक आभास सा दिया है। उसका कहना^१ है कि त्रिस

१ तत्र यथा प्रियथा स्त्रिया सर्वाङ्गवत्तो न बाह्य किञ्चन वेद, नांतरम् ;

१ वसेवाय पुरुषः प्राप्तेनात्मना सपरिवृत्तो न बाह्य किञ्चन वेद नान्तरम् । तद्वत् अर्थ

१ तदात्मकामम् आत्मकामम् अकाम रूपम् (बृह० ४।३।२१)

प्रकार प्रिया से आलिंगन किये जाने पर प्ररूप न तो किसी बाहरी चीज को जानता है न भीतरी चीज को, उसी प्रकार प्राज्ञ-आत्मा (परमात्मा) से आलिंगन किये जाने पर यह जीव न तो बाह्य को जानता है न अन्तर को । उस समय उसकी समस्त कामनायें पूर्ण हो जाती हैं, क्योंकि आत्मा का उपलब्धि से किसी भी इच्छा की पूर्ति अवशिष्ट नहीं रह जाती ।

पर क्या लौकिक भाषा में उस अचिन्त्य, सर्वकाम, सर्वगन्ध परमात्मतन्त्र की उपलब्धि समझाई जा सकती है ? ये समस्त उपाय व्यर्थ हैं । आत्मवेत्ता ही उसे जानता, समझता है पर उस अवस्था में पहुँचते ही उसका वाणी का व्यापार बन्द हो जाता है । वह मूक बन जाता है । कौन कहे और कौन 'ने' । उस समय वस "शिवः केवलोऽहम्" की अपूर्व उपलब्धि हो जात है । आत्मा निर्गतिशय आनन्द का अनुभव करने लगता है । यह स्थिति स्थानुभूत्येकगम्य है; अपना ही अनुभूति उसे बता सकता है । परानुभूति तो उसकी एक फीकी झलक है । यह अपरो-आनुभूति ही बौद्धक तन्त्रज्ञान का हृदय है । इसे हम उपनिषदों का 'रहस्यवाद' कह सकते हैं । उपनिषद् के अन्य सिद्धान्त इसके साधनमात्र हैं । यह रहस्यवाद श्रौत-दर्शन का सार है, रहस्यों का रहस्य है तथा उपनिषदों का उपनिषद् है । औपनिषद् तन्त्रज्ञान का यह चूड़ान्त कल्पना है ।



तृतीय परिच्छेद

गीता-दर्शन

(१) महाभारत-पूर्व काल

उपनिषद् युग के पीछे की शताब्दिया बड़ी विलक्षण थी। उपनिषत्काल में ही वैदिकधर्म से विरोध रखने वाले दार्शनिकों के सद्भाव का पता चलता है (कठ उप० १।१।२०)। परन्तु जो विरोधाग्नि अन्ततः मन्दरूप में जल रही थी, वह अब अपने प्रखररूप में धधकने लगी। भिन्न-भिन्न मतवालों ने विरोध का झण्डा ऊँचा किया। विरोधका विषय वैदिक धर्म तथा दर्शन था। इन लोगोंने धार्मिक तथा दार्शनिक श्रद्धा का मूलेच्छेद कर डाला। इन विरोधी मतवादों की सख्या भी अपनी अधिकतासे हमारा ध्यान आकृष्ट करती है। इस युगके इतिहास के साधन नितान्त स्वल्प है, परन्तु जो कुछ आज उपलब्ध है उसीसे इस युग में सक्रिय विरोध की तीव्रता का अनुमान किया जा सकता है। जैन-अगों, बौद्ध निकायो तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों में, पिछले उपनिषदों तथा महाभारतमें एतद्विषयक जो प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है वह एक दूसरे को पूरा करती है तथा उसकी प्रामाणिकता प्रदर्शित करती है। इनकी छानबीनसे जैन तथा बौद्ध-धर्मके सच्चे स्वरूपका का परिचय मिलता है। इन्होंने इन विरोधी दलों में सामंजस्य उत्पन्न करने का पूरा प्रयत्न किया। उस समय अक्रियावादका बोल-बाला था कि न तो कोई कर्म है, न तो कोई क्रिया, न तो कोई प्रयत्न (नत्थि कम्म, नत्थि किरियं, नत्थि विरियं)। इसके उत्तर में जैन-दर्शन ने इस मत का खण्डन करते हुए यह घोषणा की कि कर्म है, उत्थान (उद्योग) है, बल है, वीर्य है (अत्थि उत्थानेति

वा, कम्मेति वा, ब्रलेति वा, विरियेति वा, पुग्मिकारे परक्कमेति वा; भगवतो-सुत्र १।३।५) इस प्रकार के सिद्धान्त को बुद्धधर्मने भी स्वीकृत किया जिसके कारण उसे भी कर्मवाद या क्रियावादके नाम से पुकारते हैं। अतः अधिकतर सयुक्तिक होने के कारण जैन तथा बौद्ध-दर्शक जनता के प्रिय-पात्र हुए तथा अपनी सत्ता बनाये रखने में समर्थ हुए, परन्तु अन्य मत कुछ दिनों तक ही अपना प्रभाव जमाये रहे। अन्ततः तर्कहीन होने के कारण वे सदा के लिए लुप्त हो गए।

जैन ग्रन्थोंने क्रियावाद, अक्रियवाद, अज्ञानवाद तथा विनयवाद के अन्तर्गत ३६४ जैनतर मतों का उल्लेख किया है। इतने मतों के प्रचार को हम मन्देह की दृष्टिसे देखते हैं, परन्तु कतिपय मतों का प्रचलित होना अवश्य निःसंदिग्ध था। दीर्घनिकाय के 'ब्रह्मजाल मुत्त' में बुद्ध के आविर्भाव के समय प्रचलित ६२ मतवादों का वर्णन किया गया है^१। ब्राह्मण ग्रंथोंमें श्वेताश्वतर^२ तथा मैत्रायणी-उपनिषद् ने मूलकारण की सीमामा के विषयमें भिन्न भिन्न उल्लेख किया है जिसके अनुसार काल^३, स्वभाव, नियति (भाग्य), यद्च्छा, भूत आदि जगत् के मूलकारण माने जाते थे। अहिर्बुध्न्य संहिता (१२।२०-२३) ने प्राचीनतम साख्य ग्रंथ 'पण्डितन्त्र' के विषयों का संक्षेप वर्णन किया है; उनमें ब्रह्मतन्त्र, पुरुषतन्त्र, शक्तितन्त्र, नियतितन्त्र, कालतन्त्र, गुणतन्त्र, अक्षरतन्त्र, आदि ३२ तन्त्रोंका उल्लेख किया गया है। सम्भवतः इन तन्त्रों में कतिपय तन्त्र श्वेताश्वतरनिर्दिष्ट मत से सम्बन्ध रखते हैं। महाभारतमें भी इन मतवादों का वर्णन तथा

१ देविव दीर्घनिकाय (हिदा अनुवाद) पृ० ५-१५।

२ कालः स्वाभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।

मयोग एषां न त्वात्मभावात् आत्माप्यनाशः सुखदुःखहेतोः।

—श्वेता० उप० १।२.

३ कालवाद नितांत प्राचीन सिद्धांत है। अथर्ववेद के १८ वें काण्ड के ५३ वें सूक्तमें काल की महिमा का वर्णन है। काल को सृष्टिका मूल कारण वैदिक तत्त्व है। कालतत्त्व का वर्णन महाभारत में भी है। (आदिपर्व २४७-२५१)

खण्डन है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूर्व-महाभारतयुग में इन अवैदिक सिद्धान्तों की प्रचण्ड आर्षा ने वैदिक-धर्मको उखाड़ोड़ कर दिया था। सामान्य वाद के साथ-साथ त्रिशिष्ट दार्शनिकों का नामोल्लेख भी किया गया है। ऐसे आचार्यों में इतिरिक्तों के नाम आदर के साथ लिखे गये हैं तथा इनके मतका वर्णन विस्तार के साथ किया गया है^१।

पूर्ण कश्यप के मतवाद का नाम **अक्रियावाद** है। उनके अनुसार किसी भी क्रिया का, चाहे वह शुभ हो या अशुभ, फल कर्ता को भोगना नहीं पड़ता। उनका कहना है कि गाव लूटने से, चोरी करने से, चटमारी करने से, परम्प्रा गमन करने से, झूठ बोलने से न तो पाप किया जाता है और न पाप का आगम होता है। इसी प्रकार दान देने से, दान दिलाने से, यज्ञ करने से या कराने से न पुण्य होता है न पुण्य का आगम होता है।

इनका व्यक्तिगत नाम अजित था। 'केशकम्बल' उपाधि के समान जान पड़ता है जो इनके मतवादके कारण तिरस्कार प्रदर्शन के लिए दिया गया था। इनके मतका नाम था—**उच्छेदवाद** या **जड़वाद**। मृत्यु के अनन्तर कोई भी पदार्थ स्थायी नहीं रहता। शरीरस्थ सब पदार्थ अस्थायी हैं। मृत्यु के बाद पृथ्वी, जल, तेज, वायु अपने मूलरूप में लीन हो जाते हैं। शरीर के भस्म हो जानेपर कुछ अवशिष्ट नहीं रहता। आत्मा की सत्ता भी एक झूठी बात है।

इनके मतका नाम **शाश्वतवाद** है। इनका सम्मति में पृथ्वा, जल, तेज, वायु, मुख, दुःख तथा आत्मा—ये सातों पदार्थ अकृत तथा अनिर्मित, अतः कुटस्थ, स्तम्भवत् अचल हैं। सब पदार्थ शाश्वत हैं—नित्य हैं, न उनकी उत्पत्ति होता है न विनाश। कोई हन्ता है न घातयिता। जा तांश्च शस्त्र से शोश भी काटे, तो भी

प्रकथ का शायन

^१ सामान्य फलानुत्त—शोधनिकाय (पृ० १६-२०)।

किमी को प्राण से नहीं मारता क्योंकि उसका दधियार सात कार्योंसे अलग, विवर (खाली जगह) में गिरता है ।

यह दार्शनिक वेल्डि कुल से उत्पन्न मजय नामधारा था । यह बड़ा तर्क-कुशल प्रतीत होता है । इसके मत का नाम था—**अनिश्चिततावाद** ।

मजय वेल्डि पुत्र किमी भी वस्तुका रूप किमी भी प्रकार से निश्चित नहीं है । न तो उसके विषय में 'हाँ' कहा जा सकता है और न 'नहीं' । परलोक के विषय में पूछे जाने पर वह न तो उसकी सत्ता को स्वीकार करता है और न उसकी असत्ता का निषेध करता है । उसका मंत्र जोर वस्तु का अनिश्चितता के ऊपर है । बहुत सम्भव है 'स्याद्वाद' की उत्पत्ति ऐसा ही किमी कल्पना से हुई हो ।

यह अपने समय का एक विशिष्ट दार्शनिक था । मखलि का शुद्ध संस्कृत रूप मस्करि था जो या तो मस्कर (वास) के धारण करने से या कर्मनिषेध के उपदेश देनेके कारण इन्हे दिया गया था । महावीर के साथ यह बहुत दिनों तक रहता था, पर सिद्धान्त में भेद होने से उनसे पृथक् होकर 'आर्जावक' मत की स्थापना की । वह **नियतिवाद** का समर्थक था । प्राणियों के क्लेश का उदय बिना किमी हेतु या प्रत्यय के ही होता है और बिना किमी हेतु के ही वह स्वतः शांत हो जावेगा । अतः गोमालके उपदेशोका सार यही था—
नत्थि कम्म, नत्थि किरिय, नत्थि विरिय । न कर्म है और न वीर्य । भाग्य का सारा लेना चाहिये । जो कुछ होगा भाग्यसे । अतः शास्त्र-निर्दिष्ट यज्ञयाग, दान-पुण्य का सुखोदक पन्था निरर्थक है । पक्के भाग्यवादी के लिए कर्मों का आश्रय अभीष्ट नहीं है । इस सम्प्रदायका विस्तृत इतिहास है ।^१ पार्थिविके समय में भी 'मस्करि' परिव्राजक का कहानी अतीत की

१ अनुत्तर निकाय जिन १ पृ० २८६ ।

२ डाक्टर वेण्णमाधव वरुआ—आर्जावक (अ०)

चर्चा न थी^१, क्योंकि इस नाम का व्युत्पत्ति उन्होंने प्रदर्शित की है। महाभाष्यकार (द्वितीय शताब्दी विक्रमपूर्व) इनमें परिचित थे तथा इनके मतका उल्लेख नितान्त प्रामाणिक है—म। कृत कर्माणि, मा कृत कर्माणि; शान्तिर्वः श्रेयसी। षष्ठ-शताब्दी के महाकवि कुमारदाम 'भस्करि' के आकार-प्रकार में अभीष्ट प्रतीत होते हैं, क्योंकि उन्होंने रावण का जानकी के हरण के अवसर पर इस तापमन्त्र में वर्णन किया है^२। अतः 'आर्जी-वक' मतका प्रचार अन्य मतों की अपेक्षा समधिक व्यापक प्रतीत होता है। लोकायत मत की उत्पत्ति का काल यही युग है। चार्वाक-दर्शन का प्रार्चीनता दिग्गन्तव्य समय बृहस्पति को ऐतिहासिक व्यक्तिके रूपमें प्रदर्शित किया जावेगा। इस युगका आध्यात्मिक वायुमण्डल लोकायत-मतके उदय के लिए अन्यन्त उपयुक्त था। इस युगके कतिपय साधारण विचार तथा आचार पर भी ध्यान देना आवश्यक है। अब तक विचार-शास्त्र उच्च श्रेणी के विद्वानों की कल्पना की चीज थी, परन्तु इस युगमें इसका प्रचार साधारण जनतामें किया जाने लगा। स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अपने विचारों के प्रचार करनेकी प्रवृत्ति का उदय इसी समय में प्रथमतः उत्पन्न हुआ जिसका अनुकरण महावीर तथा बुद्ध में अवान्तर काल में किया। अपने आध्यात्मिक विचारोंको व्यावहारिक रूप देने की तथा अपने विचारोंके अनु-प जीवन यापन करने की प्रवृत्ति का विशेष लक्ष्य इस युग में दृश्य पड़ता है।

इन समस्त विरोधी मतों का खण्डन कर वैदिक-धर्मकी पुनः प्रतिष्ठा करने की जरूरत पड़ी। विरोधियोंके झंझावात में बचाकर वैदिक-धर्मकी नौका को सुरक्षित घाट पर लगाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इस आवश्यकता की पूर्ति महाभारत ने की। महाभारत ने इन अवैदिक

१. भस्करभस्करिणोर्वेणु परिव्राजकयो । ५।१।१५४ ।

२. दम्भात्राविकमुत्तुगजयामाटनमस्तकम् ।

कश्चिन् भस्करिणि सीता ददशाश्रममागतम् ॥ —जानकी हरण १०।७६ ।

मतों की अप्रामाणिता दिखला कर वैदिक मत की पुनः प्रतिष्ठा का पवित्र कार्य सम्पन्न किया। महाभारत के पंचम वेद होनेका यहाँ रहस्य है। भागवत (१।४।२५) ने ठीक ही कहा है कि स्त्री, शूद्र तथा पतित द्विजों को श्रुति के अनधिकारी होने के कारण कारुणिक कृष्ण द्वैपायन ने महाभारत की रचना की। 'महाभारत' नामकरण सरहस्य वेद-चतुष्टय में भी अधिक महत्त्व पूर्ण होने के कारण है (म० भा० आदि पर्व १।२७२)। महाभारत इस युग का प्रतिनिधि ग्रंथ है।

इस काल में आस्तिक विचारों की धारा रुकी नहीं, प्रत्युत परिवर्तित परिस्थितियों के अनुरूप वह भी प्रवाहित होती रही। इस काल में भक्ति के ऊपर विशेष जोर दिया जाने लगा तथा भिन्न-भिन्न देवताओं का रूप परिष्कृत होने लगा। शिव तथा विष्णु के एक-देवत्व की कल्पना इसी युगकी चीज है। 'एकान्त' नाम से जिस भक्तिप्रधान सम्प्रदाय का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् (७।१) में किया गया है, उस पांचरात्र मत का अभ्युदय तथा विपुल प्रचार इस काल में आकर निष्पन्न हुआ। यादववंशी क्षत्रियों में विशेष प्रचार होने के कारण इसे 'सांख्य' सत्ता भी प्राप्त हुई। आस्तिक दर्शनों के 'अकुर भी भार्गव की मस्तिष्क-भूमि में इसी काल में उगने लगे थे। इन दर्शनों में 'सांख्य' के आन्यात्मिक विचारों का प्रचार विशेषया लक्षित होता है। 'योग' की प्रक्रिया तो उपनिषत्काल से ही भार्गवीय दार्शनिकों के लक्षण श्रद्धा तथा आदर का विषय बन गई था। वेद से अपना नाता तोड़ने वाले मतवादियों ने भी 'योग' के व्यावहारिक बहुमूल्य उपदेश ग्रहण करने में आना-कानी नहीं की। व्यावहारिक जगत् में 'अविमा' की ओर जनता की रुचि स्वतः बढ़ रही थी और पशुयाग उसके लिए मीमांसा तथा सन्देह का विषय बन रहा था। ऐसे ही समय में महाभारत की रचना हुई जिसने विरोधवादियों को खण्डन करके औपनिषद्-ज्ञान के साथ नवीन आस्तिक धारा के सामंजस्य को उपस्थित किया। इस युग की दार्शनिक प्रवृत्तियों की जान-

काग के लिए, महत्त्वशाली आध्यात्मिक रहस्य शान्तिपर्व तथा अनुशासन पर्व में भी भरे पड़े हैं। परन्तु महाभारत के इस लक्ष्यलोकात्मक विपुल-काय ग्रंथ में, शतमाहर्षी महिता में, गीता ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथा मूल्यवान् मानी जाता है। अतः उसके विशेष अध्ययन की ओर अब हम प्रवृत्त होते हैं।

(२) गीता

महाभारत जैसे विशालकाय ग्रंथ का श्रीमद्भगवद्गीता सारतम अंश है। इसके मात-सौ श्लोको के भातर निःश्रेयस प्राप्ति के उपाय इतना सहस्रानुसङ्ग तथा सरल भाषा में अभिव्यक्त कर दिये गये हैं कि सर्व-साधारण उन्हे आमानी में समझ सकते हैं और बिना किसी झगड़ा-टटा के इस राजमार्ग का अनुसरण कर अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच सकते हैं। गीता दलदली के दलदल में कौसो दूर है। अध्यात्म-तत्त्व के निरूपणार्थ जितने भिन्न-भिन्न मतों की उद्भावना उस समय तक हो चुकी थी उन सबका उपयोग कर गीता एक परम रमणीय साधन-मार्ग की व्यवस्था करती है जो भिन्न-भिन्न आध्यात्मिक प्रवृत्ति वाले प्राणियों के लिए भी नितान्त सुविक्रम है। इसीलिए केवल मात-सौ श्लोको की लघुकाय गीता को कामधेनु तथा कल्प-वृक्ष से उपमा दी गई है। गीता के महत्त्व का कारण उसकी समन्वय दृष्टि है। गीता के समय में मानव-जीवन के लक्ष्य के विषय में अनेक सिद्धान्तों का प्रचार था। आत्मा की अपरोक्षानुभूति का प्रतिपादक था उपनिषद्; प्रकृति पुरुष की विवेक ख्याति से मोक्ष लक्ष्य का उपदेशक था सांख्य; समाज तथा धर्म के द्वारा प्रतिष्ठित विधिविधानों के अनुष्ठान से परम-सुखभूत स्वर्ग की शिक्षा देने वाली थी कर्म-मीमांसा; अष्टांग साधन के द्वारा प्रकृति के बन्धन से जीव को निर्मुक्त कर वैविक्य का प्रतिपादक था योग तथा रागात्मिका भक्ति के द्वारा अखिल कर्मों का परमात्मामें समर्पण सिद्धान्त को बतलाने वाला था पांचरात्र। इन समस्त दार्शनिक तत्त्वों का जैसा मनोरम सामं-

जस्य गीता में प्रदर्शित किया गया है वह परम रमणीय है, नितान्त उपादेय है। प्राञ्जल तथा गुर्वोध भाषा में यह आध्यात्मिक समन्वय उपस्थित करने के कारण गीता का इतना गौरव है। भारतीय दर्शनकारों ने गीता की गणना द्वितीय प्रस्थान में कर इसकी महिमा का पूरा आभास दिया है तथा अवान्तर कालके धार्मिक मतोंके स्थापक आचार्यों ने इसे भाष्य से सुशोभित कर इसके गूढतम तात्पर्य को अपनी दृष्टि से अभिव्यक्त करने का प्रयत्न किया है। भारत के बाहर भी गीता का प्रचार कम नहीं है। शायद ही ऐसी कोई सभ्य भाषा होगी जिसमें गीता का अनुवाद न मिलेगा। गीता के कितने ही सुन्दर अनुवाद हैं तथा कितने ही पाण्डित्यपूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ हैं। गीता की अभीष्ट सार्वजनिक है, सब देश तथा सब काल के लिए समान है।

जिस परिस्थितिमें गीताका उपदेश दिया गया था, वह विलक्षण थी। महाभारतका प्रलयकारी संग्राम होने जा रहा था जिसमें भाई के सामने भाई गीता का स्वरूप उसका खून पीने के लिए खड़ा था। ऐसी दशा में अर्जुन का विपादी होना नितान्त स्वाभाविक है। अर्जुन महाभारतकालीन योद्धाओं में परम प्रसिद्ध, नितान्त वीर्यशाली था। इस प्रकार सामागिक परिस्थितियों के बीच पड़ कर कर्म के विषय में संशयालु चिन्त मानवमात्र का प्रतिनिधित्व हमें अर्जुन में दृष्टिगोचर होता है। गीता ज्ञानके वक्ता स्वयं श्रीकृष्ण थे, जो उस युग के परममेधावी विद्वान् तथा कर्तव्यपरायण पुरुष थे। अर्जुन के सामने समस्या थी—बुद्ध करूँ या न करूँ? इस विकट प्रश्नके उत्तर की सीमांसा करने में ही गीता का उदय होता है। अतः अतः गीता के उपदेशों की दिशा सुस्पष्ट है। वह आचार-सीमांसा का प्रतिपादन करती है। इसलिए गीता 'योगशास्त्र' कहलाती है। योग के अनेक अर्थों में एक अर्थ है व्यवहार। 'सांख्य' का अर्थ है तत्त्वज्ञान तथा 'योग' का अर्थ है व्यवहार या कर्ममार्ग। प्रत्येक अध्याय की पुष्पिका में 'ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे' कहने से तात्पर्य यही है

कि गीता का मुख्य विषय ब्रह्मविद्या पर प्रतिष्ठित व्यवहार-प्रतिपादन है। तत्त्व-समीक्षाके आधार पर ही आचार-सामाना को सुन्दर प्रतिष्ठा होती है। अतः गीतार्थ के विवेचन के लिए इन उभय पक्षों का निरूपण नितान्त आवश्यक है।

(क) गीता का अध्यात्मपक्ष

अध्यात्मतत्त्व का विवेचन गीता में बड़ी ही साफ सुथरी भाषा में स्थान स्थान पर किया गया है, परन्तु इन सब का समन्वय कर एक निश्चित सिद्धान्त का स्थापित करना कुछ कठिन कार्य है। इसलिए आचार्य शंकर गीता को दुर्विज्ञेयार्थं वतलाते हैं (तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थसारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम्—गीताभाष्य का उपांशान्त)। चरमतत्त्व के निर्देश भिन्न भिन्न अध्यायों में किये गये हैं। परन्तु आठवें तथा तेरहवें अध्याय में इसका वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। गीता ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण उभय रूप से परिचित है। परन्तु यह जानती है के दोनों एक ही अभिन्न तत्त्व हैं। इस सुन्दर श्लोक में इस दोनों रूपों की एकता स्पष्टतः प्रतिपादित की गई है:—

सर्वेन्द्रियगुणाभास सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।

असक्त सर्वभूच्चैव निर्गुण गुणभोक्तृ च (१३।१४)

ब्रह्म समग्र इन्द्रिय-वृत्तियों के द्वारा विषयों की उपलब्धि में समर्प होता है—आन्तर तथा बाह्य इन्द्रियों के व्यापारों के द्वारा यह प्रतिभासित होता है। अथच वह स्वयं समस्त इन्द्रियों से हीन है। वह सब प्रकार के देहादिक सम्बन्ध से रहित है, परन्तु सब को धारण करता है। वह निर्गुण है तथापि गुणों का भोक्ता है—सत्त्वादि गुणों के परिणाम रूप शब्द स्पर्शादि विषयों का उपभोक्ता है। वह सत् है, असत् भी है तथा इन दोनों से परे भी है। (सदसत् तत्परं यत्—११।३७); अनादि-मान् परब्रह्म न तो सत्, न असत् कहा जाता है (न सन्नासदुच्यते—

१३।१२); ब्रह्म भूतो के भीतर तथा बाहर दोनों ओर है। वह अचर, चर, दूरस्थ तथा अन्तिकस्थ है (१३।१५); इन वर्णनों में विरोध की कल्पना न करना चाहिए, क्योंकि देश-काल-निमित्तादि उपायियों से विरहित परम तत्त्व समस्त विरोधों का पर्यवसान है, यह विचारशास्त्र का गूढ़ अथवा महत्वपूर्ण मान्य सिद्धान्त है। भगवान् जगत् का प्रभव (उत्पत्ति) तथा प्रलय (लयस्थान) है (७।६); वह समस्त प्राणियों में वाम करता है। जिस तरह डोंरे में मणियों का समूह पिरोया हुआ रहता है, उसी तरह भगवान् में समग्र जगत् ओत-प्रोत, अनुस्यूत, गूँथा हुआ है (७।७)। उसके हाथ पर चारों ओर हैं, अँख, मिर, कान तथा मुँह चारों तरफ हैं, वह इस पूरे विश्व को आवरण कर स्थित है (१३।१३)।

गीता भगवान् के दो प्रकार के भावों को सत्ता बतलाती है। भगवान् के दो भाव हैं—अपर भाव तथा पर भाव। ईश्वर एक ही अंश में ब्रह्म के दो भाव योगमाया में युक्त रहते हैं तथा उसी अंश से जगत् में अभिव्यक्त होते हैं। वह एक अंश से जगत् को प्राप्त कर स्थित होते हैं (विश्वभ्यार्मिदं कृस्नमेकाशेन स्थितो जगत्—१०।४२); इसका नाम है—अपर भाव या विश्वानुग रूप। परन्तु भगवान् केवल जगन्मात्र ही नहीं हैं, प्रत्युत वह इसे अतिक्रमण करनेवाले हैं। यह उनका वास्तव रूप है। इस अनुत्तम, अव्यय रूप का नाम है—पर भाव, विश्वातिग रूप; (परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्—७-२४)। गीता की यह कल्पना ठीक पुरुषसूक्त के अनुरूप है। 'पुरुष का यह जगत् केवल पादमात्र है; उसके अमृत तीन पाद आकाश में स्थित हैं।' ब्रह्म के उभय भाव भी इसी प्रकार हैं। भगवान् विश्व के घट घट में व्याप्त हो रहे हैं। ऐसा कौन पदार्थ है जिसमें उनका अंश न हो? फिर भी विभूतिमान्, शोभायुक्त तथा ऊर्जित पदार्थों में भगवच्छक्ति का

प्राकट्य समधिक दृष्टिगोचर होता है^१ । दशम अध्याय में भगवान् का विभूतियों का माङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है ।

यह स्थावर तथा जगम विश्व भगवदाकार ही है, इसमें मन्देह-लेश भी नहीं है । इसी लिए गाता भगवान् की दो प्रकृतियों का वर्णन

करता है । इस विषय में साख्य तथा गीता के तत्त्व-
दो प्रकृतियाँ विवेचन के पार्थक्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक

है । सांख्यशास्त्र में सृष्टि के मूल में अचेतन जड़ प्रकृति तथा अचेतन पुरुष को प्रतिपादित कर यह बतलाया गया है कि समस्त पदार्थ इन्हीं दोनों तत्त्वों से उत्पन्न होते हैं—इनसे पृथक् तीसरा तत्त्व नहीं है । परन्तु गीता इसमें सहमत नहीं है । उसकी दृष्टि में इन दोनों से परे भी एक सर्वव्यापक, अव्यक्त तथा अमृत तत्त्व है जिसमें चराचर सृष्टि का उदय होता है । साख्याभिमत प्रकृति-पुरुष उस व्यापक ब्रह्म के विभूतिमात्र हैं । परमेश्वर का प्रकृतियों दो प्रकार की हैं अपरा तथा परा (७।४।५) । अपरा प्रकृति का ही दूसरा नाम है क्षेत्र तथा श्वर पुरुष । परा प्रकृति का अन्य मज्ञ है क्षेत्रज्ञ तथा अक्षर पुरुष । परा उत्कृष्ट प्रकृति से तात्पर्य जीव से है (७-५) तथा अपरा, चैतन्य के अभाव में निकृष्ट, प्रकृति से अभिप्राय जीवितर समस्त पदार्थों से है । समस्त भौतिक पदार्थों का ग्रहण 'श्वर' पुरुष के रूप में किया गया है (श्वरः सर्वाणि भूतानि—१५-१६) जिसका विकास अष्टविधा अपरा प्रकृति तथा चतुर्विंशति प्रकार के क्षेत्रके रूप में अन्यत्र प्रदर्शित किया गया है । पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, मन, बुद्धि तथा अहंकार—यही अष्टधा भिन्ना अपरा प्रकृति है (७।४) तथा पञ्च महाभूत अहंकार बुद्धि अव्यक्त (प्रकृति), पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन तथा शब्दस्पर्शादि पञ्च इन्द्रिय-विषय—यही चौबीस प्रकार का क्षेत्र है (१३।५) । इस प्रकार साख्यो के २४ तत्त्वों का

१. यद्यपि विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।

तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽशसम्भवम् ॥ १०।४१ ॥

अन्तर्भाव गीतानुसार क्षेत्र, अपरा प्रकृति अथवा क्षर पुरुष में किया गया है। एक विषय और ध्यान देने योग्य है। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख सवान (देह तथा इन्द्रियो का समूह), चेतना (प्राण शक्ति) तथा धृति—इन्हे गीता क्षेत्र का विकार मानता है (१३।६)। इनमें से इच्छा द्वेषादिकों का वैशेषिक दर्शन आत्मा (क्षेत्रज्ञ) का गुण मानता है, परन्तु गीता का सम्मति में इनका सम्बन्ध क्षेत्रज्ञ से न होकर क्षेत्र में ही है।

चेतन्यात्यक होने में जीव परमेश्वर की परा प्रकृति अर्थात् उत्कृष्ट विभूति है। वही 'क्षेत्रज्ञ' कहा गया है। कृतकर्मों के फल धारण करने

२ जीवन्त्व

कारण या भोगायतन होने के हेतु शरीर की ही क्षेत्र (स्वत) मजा है। क्षेत्र के जाता को 'क्षेत्रज्ञ' कहते हैं। आत्मा चरण से लेकर मस्तक-पर्यन्त समग्र शरीर को स्वाभाविक अथवा उपदेश द्वारा प्राप्त अनुभव से विभागपूर्वक स्पष्टतः जानता है, अतः उसे क्षेत्रज्ञ कहना उचित है। आत्मा का वर्णन भिन्न भिन्न अध्यायों में किया गया है, विशेषतः द्वितीय अध्याय में। आत्मा पदार्थकारों से गठित है। न तो वह जनमता है, न मरता है, वह सत्ता का अनुभव कर कभी अभाव को प्राप्त नहीं होता (भूत्वा न अभविता), वह अजन्मा, नित्य, शाश्वत, पुराण अर्थात् प्राचीन होने पर भी नवान ही है। हन्यमान शरीर में कभी उसका हनन नहीं किया जा सकता। (२।२०); अतः जो व्यक्ति उसे मारनेवाला, या मारे जानेवाला समझता है, वे दोनों उसके तत्त्व से अरिचिंत हैं, क्योंकि वह न तो मारता है न मारा जाता है (२।१९)। जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्रों का परित्याग कर नवीन वस्त्रों का ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीव प्रारब्ध-भोग द्वारा जीर्ण (श्रीणकर्म) शरीरों को छोड़कर नये शरीरों को पाता है (२।२०)। वह स्वयं अविकार है; वह अच्छेय, अदाह्य, अक्लेय तथा अशोष्य है; वह नित्य सर्वव्यापी, स्थिर अचल तथा सनातन है (२।२४)।

यह जीव नाना न होकर एक ही है। गीता में इस विषय में एक उपमा की अवतारणा का गर्द है। जैसे एक सूर्य सारे जगत् को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सव क्षेत्र को—शरीर को—प्रकाशित करता है (१३।३३); इस श्लोक में क्षेत्रों का उपमा सूर्य से देकर उसकी एकत्व-भावना का सुस्पष्ट समर्थन है। जीव परमेश्वर का सनातन अंश है (समैवाशो जीवलोकं जावभूतः सनातनः—१५।७) भगवान् अर्शी है तथा जीव अंश है। ब्रह्मसूत्र (२।३।४३-५३) का भी यही तात्पर्य है जिसमें यही गातावाक्य स्मृति कहकर प्रमाणरूप में उल्लिखित किया गया है। यह अंशाशांगत्व गीता के अनुसार किस प्रकार है? इसका स्पष्ट पता नहीं चलता। परवर्ती अद्वैती टीकाकारों ने प्रतिविम्बवाद तथा अवच्छेदवाद का आश्रय लेकर इस कल्पना की उपपत्ति दिखलाई है, परन्तु ये सब कल्पनाएँ पाँछे की जान पड़ती हैं।

जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय भगवान् के कारण है। गीता के शब्दों में भगवान् सव भूतों का सनातन—अविनाशी बीज है (सनातन बीजम् ७।१०) या अव्यय बीज है (अव्ययम् १५।१८) बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है तथा अन्त में फिर बीज में लीन हो जाता है, उसी प्रकार यह जगत् भगवान् से उत्पन्न होता है तथा फिर उन्हीं में लीन हो जाता है। जगत् के अवान्तर आविर्भाव काल को पौराणिक कल्पनानुसार ब्रह्मा का दिन कहते हैं तथा अवान्तर तिरोभाव काल को ब्रह्मा की रात्रि कहते हैं (८।१८, १९)। गीता में सांख्यों की 'प्रकृति' श्लोकों की गई है। गीता में प्रकृति को कहीं 'अव्यक्त' (८।१८; ८।२०) तथा कहीं 'मद् ब्रह्म' (१४।३) का सजा दी गई है। सांख्य 'प्रकृति' में ही जगत् की उत्पत्ति मानता है, परन्तु गीता इस सिद्धान्त से सहमत नहीं है। उसके मतानुसार प्रकृति का अध्यक्ष ईश्वर है। उसी की अव्यवस्था में प्रकृति जगत् को पैदा करती है, नहीं तो अचेतन जड़ात्मिका प्रकृति में इतना सामर्थ्य कहाँ से आता ?

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सृजते मचगचरम् ।

हेतुनानेन कौन्तेय जगत् विपरिवर्तते ॥ (९-१०)

मय पशु-पक्षी आदि योनियों में उत्पन्न होने वाली मूर्तियों की योनि उत्पत्ति स्थान) महद् ब्रह्म है तथा ईश्वर बीज रचनेवाला है (१४।४); अतः स्पष्ट है कि प्रकृति विश्व की मातृस्थानीया है तथा ईश्वर पितृस्थानीय है । इस प्रकार प्रकृति का स्थान ईश्वर में न्यून है । गीता 'नामतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः' का प्रतिपादन करती है । यह सत्काय-वाद है । अतः गीता की दृष्टि में जगत् मायिक तथा कान्पनिक न होकर सर्वथा सत्य तथा वास्तविक है ।

पुरुषोत्तम तत्त्व भगवद्गीता का परम रहस्य तथा महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्व माना जाता है । साध्य की आलोचना के अनुसार जगत् की कारणभूता अजन्मा प्रकृति ही सबसे 'अव्यक्त' (४) पुरुषोत्तम है । अतः साध्य-ग्रन्थों में उसी के लिए 'अव्यक्त' का प्रयोग पाया जाता है । परन्तु गीतानुशौलन के अवसर पर याद रखना चाहिए कि अव्यक्त तथा अक्षर का प्रयोग व्यक्तव्यक्त से परे प्रकृति-पुरुष के ऊपर एक विशिष्ट तत्त्व के लिए भी किया गया है । वह तत्त्व है अक्षर ब्रह्म, परब्रह्म जिसको प्राप्ति (अव्यक्त) निकट विभूति है । गीता में अचला प्रकृति को अक्षर तथा कूटस्थ अविकारी पुरुष को अक्षर कहा गया है, परन्तु वह परमतत्त्व जो प्रकृति को अतिक्रमण करने वाला है तथा अक्षर से उत्तम है 'पुरुषोत्तम' कहा गया है ।

यस्मान् क्षरमर्ताऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥ (१५।१८)

अक्षर ब्रह्म तथा पुरुषोत्तम का पार्थक्य जान लेना अत्यन्त आवश्यक है । जड़ जगत् में भिन्न चेतन ब्रह्म को या अव्यक्त प्रकृति से भी परे विद्यमान रहने वाले सचेतन तत्त्व को 'अक्षर ब्रह्म' कहते हैं (८।२०-२१);

परन्तु जो ईश्वर इस विश्वको व्याप्त करता हुआ भी इसमें परे है, जगत् के समस्त पदार्थों में स्थित है अथ च उनमें पृथक् भी है — जो विश्वानुग होकर विश्वातीत है वही ईश्वर 'पुरुषोत्तम' पद-वान्य है। पूर्वोक्त श्लोकमें पुरुषोत्तम श्वरको अतिक्रमण करने वाले तथा अश्वरमें उत्तम बतलाये गये हैं। 'अतीतः' उनके विश्वातिक्रमणकारी स्वरूप का परिचायक है तथा 'उत्तम' शब्द 'अश्वर' से उनका उत्तमता का द्योतक है। इसा पुरुषोत्तम को सर्वकर्मसमर्पण कर देने की शिक्षा गीता देता है। इस प्रकार गीता में औपनिषद् ब्रह्मवाद, साख्य-सम्मत प्रकृति-पुरुषवाद तथा भगवतधर्माभिमत ईश्वरवाद का हृद्य समन्वय उपस्थित किया गया है।

(ग्व) गीता का व्यवहारपक्ष

गीता का अध्यात्मपक्ष जितना युक्तियुक्त तथा समन्वयात्मक है उसका व्यवहारपक्ष भी उतना ही मनोरम तथा आदरणीय है। गीता के विभिन्न मार्गों का जन्मकाल की परिस्थितियों के अध्ययन से हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि गीता का प्रधान उद्देश्य व्यावहारिक शिक्षा प्रदान करना था। परन्तु गीता के इस चरम लक्ष्य के विषय में विद्वानों में गहरा मतभेद है। श्रीशंकराचार्य के मत में गीता का मुख्य प्रयोजन निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन है तथा ज्ञान ही उसका केवल उपाय है। श्रीरामानुजाचार्य भगवत्प्राप्तिरूप लक्ष्य के लिए भक्ति को ही सव श्रेष्ठ गीताभिमत उपाय बतलाते हैं। उनके मत में गीता का सागश ज्ञान-दृष्टि से विशिष्टाद्वैत तथा आचार-दृष्टि से बामुदेव-भक्ति ही है। वे भी कर्मसंन्यास के ही समर्थक माने जा सकते हैं, क्योंकि कर्माचरण से चित्तशुद्धि के सम्पन्न हो जाने पर प्रेमपूर्वक वार-देवभक्ति में तत्पर रहने से सामाजिक कर्मका निष्पादन सिद्ध नहीं होता। इधर लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने 'गीतारहस्य' की रचना कर प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तों में अरुचि दिखलाकर भगवतधर्माभिमत

प्रवृत्तिमार्ग को^१ गीता का लक्ष्य तथा कर्मयोगको तत्साधन बतलाया है । ग्रन्थकार ने अपने मिद्धान्त की पुष्टि में बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण, व्यापक तथा प्राञ्जल युक्तियों पेश की हैं । इन विद्वान् भाष्यकारों की युक्तियों अपने दृष्टिकोण से नितान्त सारगर्भित हैं, इसे कोई भी आलोचक मानने से नहीं हिचक सकता । परन्तु पूर्वोक्त मतों में गीता के उपदेशों की समग्रता तथा व्यापकता पर पूर्णतः ध्यान नहीं दिया गया है । शास्त्रों ने मानवी प्रकृति की भिन्नता का ख्याल कर चरमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए त्रिविध उपायोंकी व्यवस्था की है । चिन्तनका प्रेमी साधक ज्ञानमार्गसे, सामागिक विषयों की अभिरुचि वाला पुरुष कर्ममार्ग से तथा अनुगणादि मानसिक वृत्तियोंका विशेष विकाश वाला व्यक्ति भक्तिकी सहायतासे अपने उद्देश्य पर पहुँच सकता है । इन भिन्न भिन्न मार्गों के अनुयायी साधक अपने ही मार्ग की विशिष्टता तथा उपादेयता पर जोर देते थे तथा अन्य मार्गों को नितान्त हेय बतलाते थे । गीता के अध्ययन से ही पता चलता है कि उस समय भारतवर्ष में चार प्रकार के पृथक् पृथक् मार्ग प्रचलित थे (१३।२४-२५) । इन चारों के नाम हैं—कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, ध्यानमार्ग तथा भक्तिमार्ग । जो जिस मार्ग का पार्थिव था वह उसे ही सबसे बढ़िया मानता था; उसकी दृष्टि में मुक्ति का दूसरा मार्ग था ही नही । परन्तु भगवान् ने इस गीता का प्रचार कर इन विविध साधनों का अपूर्व समन्वय कर दिया है जिसका फल यह है कि जिस प्रकार प्रयाग में गंगा, यमुना तथा सरस्वती की धारायें भारतभूमि को पवित्र करती हुई त्रिवेणी के रूप में बह रही हैं, उसी प्रकार कर्म, ज्ञान, ध्यान तथा भक्ति की धारायें मिलकर तत्त्वजिज्ञासुओं की ज्ञान-पिपासा मिटाती हुई भगवान् की ओर अग्रसर हो रही हैं । यह समन्वय गीता की अपनी विशिष्टता

Specialty of Gita

१. नागायगपरो धर्म पुनरावृत्तिदुर्लभ ।

प्रवृत्तिरक्षणश्चैव धर्मो नागायगत्मकः ॥ —महाभारत (शान्तिपर्व ३४७।८०)

है। इस समन्वय को अच्छी तरह न समझने से गीतार्थ का महत्त्व ध्यान में नहीं आ सकता।

गीता से बहुत पहले मीमांसा कर्म के महत्त्व को स्वीकार करती है। मीमांसा के मत से वेद का कर्मकाण्ड ही गार्थक है, ज्ञानकाण्ड निरर्थक है। जैमिनि ने स्पष्ट शब्दों में कहा^१ है कि आम्नाय (१) गीतानया कर्मयोग (वेद) का मुख्य प्रयोजन कर्म का प्रतिपादन है, अतः अतर्दर्थक—ज्ञानप्रतिपादक—वाक्य निरर्थक है। कर्म से अभिप्राय यज्ञ से है और यह यज्ञ है क्या? देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागः अर्थात् किसी देवता विशेष के लिए, हविष्यादि द्रव्य का समर्पण करना। गीता कर्मकाण्ड की निरर्थकता में न सहमत है और न यज्ञ का यह संकुचित अर्थ ही उसे पसन्द है। वह 'यज्ञ-चक्र' की उपादेयता को मानती है (३।१०-१६) क्योंकि इस चक्र में अन्न से लेकर ब्रह्म तक सब पदार्थ एक साथ अनुस्यूत हैं। परन्तु गीता ने 'यज्ञ' का प्रयोग एक विस्तृत अर्थ में किया है। निःस्वार्थ बुद्धि में किये गए, परमात्मा की ओर ले जाने वाले समस्त कर्मों की सामान्य संज्ञा 'यज्ञ' है। यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं—द्रव्य-यज्ञ, तपोयज्ञ, ज्ञान-यज्ञ, आदि (४।१५-३२)। परन्तु गीता का कहना है कि फलाकांक्षा की दृष्टि से न किये गये कर्म कभी बन्धन उत्पन्न नहीं कर सकते। कर्मचक्र से भला कभी कोई भाग सकता है? इस जीवन-यात्रा का प्रधान आधार कर्म ही है। एक क्षण के लिए भी कोई आदमं विना कर्म किये नहीं रह सकता। प्रकृति के तीनों गुण ही बलात्कार से उस प्राणी से कर्म कराते ही हैं (३।५)।

परन्तु कर्म के बीच एक दुर्गुण का निवास है जो कर्ता को बन्धन में डालने के लिए तैयार रहता है। इसका नाम है वामना—फलाकांक्षा या आसक्ति। इस विषदन्त को तोड़ना आवश्यक है। जिस कामना में कर्म का निष्पादन किया जाता है, उस फल को तो भोगना

ही पड़ेगा, उससे किसी प्रकार कर्ता को छुटकारा नहीं मिल सकता; परन्तु फलस्वरूप बन्धन से मुक्ति भी पाई जा सकती है। कार्य का इस प्रकार कुशलता से सन्यासन करना कि वे बन्धन न उत्पन्न करें 'योग' कहलाता है (योगः कर्मसु कौशलम्) कर्मसन्यास से बढ़कर कर्मयोग है (गी० ५।२) परन्तु साधारण कर्मवाद को कर्मयोग में प्रवर्तित करने के लिए तीन साधनों की आवश्यकता है—(१) फलाकांक्षा वर्जन, (२) कर्तृत्वाभिमान-परित्याग; (३) ईश्वरार्पण। गीता का उपदेश है कि मानव का अधिकार कर्म करने में है, फल में कभी नहीं है; फल की आकांक्षा से कभी कर्म मत करो तथा अकर्म में—कर्म के न करने में—कभी तृप्तागी इच्छा न होनी चाहिए—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥ (गी० २।४७)

कर्मयोग का यही महामंत्र है। इस श्लोक के चारों पदों को हम कर्मयोग की 'चतुःसूत्री' कह सकते हैं। अतः अमक्ति को परित्याग कर कर्म करने में किसी प्रकार की बुगई का तनिक भी डर नहीं है। अतः गीता का मान्य सिद्धान्त है कि प्राणी को **कर्म का** त्याग न करना चाहिये, प्रत्युत **कर्म के फल** का त्याग करना आवश्यक है। इसीलिए कुछ पण्डित लोग काम्य कर्म के त्याग को सन्यास कहते हैं, परन्तु चतुर पण्डितों की सम्मति में सर्वकर्मों के फलका त्याग ही वास्तव सन्यास है—

काम्यानां कर्मणा न्यास सन्यास कथ्यो विदुः ।

सर्वकर्मफलत्याग प्राहुस्त्याग विचक्षणाः ॥ (१८।२)

कर्ता को कर्म करने में कर्तृत्वाभिमान को भी छोड़ना चाहिए, क्योंकि समस्त जीव त्रिगुणात्मिक प्रकृति के गुणों का दास हैं, जो बलात्कार से प्राणियों से अनिच्छया भी कार्य कराया करते हैं। तब कर्तृत्वका अभिमान कहाँ? तीसरा साधन यह है कि समस्त कार्यों की निष्पत्ति भगवदर्पण बुद्धि से करनी चाहिए। कर्मों के फल को भगवान् को सम-

र्पण करना चाहिए। गीता (१।२७) में श्रीकृष्ण की स्पष्ट उक्ति है कि ' जीव जो कुछ करे, खावे, आहुति दे, दान करे या तपस्या करे, उन सबको भगवान् के समर्पण कर दे, इसका फल यह होगा कि वह कर्म-बन्धन अभाग्युभ फलों से मुक्त हो जावेगा ।" इस प्रकार कर्मयोग को निष्पत्ति होती है। अज तथा परिणित के कर्म करने में यही तो स्पष्ट अन्तर है। अज आसक्ति में कर्मों का आचरण करता है, परन्तु ज्ञान-सम्पन्न पुरुष आसक्ति से रहित होकर कार्यो का आचरण कर्तव्य-बुद्धिसे ' लोक-संग्रह' के निमित्त करता है (३।२५) 'लोक संग्रह' गीता का एक विशिष्ट सांग्गर्हित शब्द है। इस शब्द से अभिप्राय लोककार्यो का यथावत रूप से निर्वाह है।

संक्षेप में कर्म तथा फल के विषय में चार सिद्धान्त हो सकते हैं:—
 (१) आलस्यवश फलाकांक्षा न रखना और न उसके लिए कर्म सम्पाद करना—यह प्राकृत जन-सम्मत मार्ग निकृष्ट, निन्द्य तथा हेय है।
 (२) फल की आकांक्षा रखना तथा तदुचित कर्मों का निष्पादन करना—यह 'सकाम' मार्ग है जिसमें कर्म बन्धन उत्पन्न करते हैं। (३) फल की अनावश्यकता के कारण आकांक्षा न रखना तथा कर्मों का सम्पादन न करना—यह निष्काम-मार्ग है, परन्तु इसमें लोक-यात्रा का निर्वाह भली भौति नहीं हो सकता। (४) फल की आकांक्षा न रखना, तथापि कर्मों का सम्पादन करना—यही गीता-सम्मत कर्मयोग है। इसमें द्वितीय तथा तृतीय मतोंका समन्वय है। 'फल का आकांक्षाभाव' तृतीय मार्ग से गृहीत है तथा 'कर्म निष्पत्ति' द्वितीय मार्ग से। इस उभय-विलक्षण मार्ग की सुचारु योजना उपस्थित करने में गीता की विशिष्टता है।

पक्के कर्मयोगी होने के लिए ज्ञान तथा भक्ति के पुट की नितान्त आवश्यकता है। कर्म से कर्तृत्वाभिमान का परिहार शर्मा पुरुष ही कर सकता है तथा ईश्वर में कर्मोंका समर्पण भक्तिप्रवण चित्त से ही किया जा सकता है। गीता ज्ञानमार्ग के महत्त्व को स्वीकार करती

है, परन्तु उसका ज्ञानयोग अन्य ज्ञानमार्ग से विलक्षण है। ज्ञानवादी (जैसा साख्य) जिसे मोक्ष-प्राप्ति का साधन बतलाते हैं वह चित्-अचित्, प्रकृति-पुरुष का विवेकज्ञान है, परन्तु गीतासम्मत ज्ञान आत्मैक्य का सम्पूर्ण अनुभव है। इस ज्ञान को दो दिशाये हैं

(२) गीता तथा
ज्ञानयोग

(६।२९) - सर्वभूतों में आत्मा का दर्शन (सर्वभूतस्थ-मात्मान) एक दिशा है, जिसमें सर्वभूत आधार तथा

आत्मा आधेय है; परन्तु इतना ही ज्ञान आत्मैक्य की उन्नत भावना के लिए पर्याप्त नहीं है। इसकी दूसरी दिशा भी है—आत्मा में सब भूतों को देखना (सर्वभूतानि चात्मनि) इसमें आधारभूत आत्मा में आधेयभूत सर्वभूतों का अनुभव करना है। गीताज्ञान की ये दोनों दिशाये परस्पर पूरक हैं। ऐसा पुरुष 'समदर्शन' कहलाता है। 'सर्वभूतस्थमात्मान' का दृष्टान्त जगत में सर्वत्र उपलब्ध होता है, परन्तु 'सर्वभूतानि चात्मनि' के दृष्टान्त का भगवान् ने अर्जुन को अपने देवदुर्लभ विराट् रूप में दिखलाया है। एक विराट् आत्मा के भीतर एक जगद् पर अनेकधा विभक्त कृत्स्न जगत को अर्जुन ने दिव्य चक्षु से देखा। विराट् दर्शन का रहस्य 'एकस्थ कृत्स्न जगत्' के प्रत्यक्ष दिखलाने में है। तब अर्जुन का आत्मैक्य ज्ञान यथार्थ हुआ। परन्तु ऐसा सच्चा ज्ञानी महात्मा होना विल्कुल दुर्लभ बात है जो सब किमी को वाग्देव समझे, स्थूल से लेकर सूक्ष्म तक प्राणियों में एक ही अन्तर्यामी पुरुष का साक्षात्कार करे (वाग्देवः सर्व-मिति स महात्मा सुदुर्लभः—१०।१९)। ऐसे समष्टि पुरुष को विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण में, बैल में, हार्थी में, कुत्ते में तथा चाण्डाल में समर्पण गृह्णीते है (५।१८)। 'समदर्शिनः' शब्द का प्रयोग कर गीता समस्त प्राणियों से एक प्रकार के व्यवहार करने का, समवर्ती बनने का निषेध करती है। इसे भूलना न चाहिए।

गीता ने ध्यानयोग को भी अपनाया है। अनेक भाग्य में ध्यानयोग का विशद वर्णन उपनिषद्-पद्धति के अनुसार है। इस वर्णन में श्वेता-

ध्वतर (२।८-१५) की झलक साफ तौर से दीख पड़ती है । चञ्चल मन को एकाग्र करने के लिए आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारदि समस्त योग-साधनों का उपदेश गीता देती है (६।११-१८), परन्तु ध्यान के द्वारा एकसंस्थ चित्त का उपयोग क्या है ? अग्नित्यादि गीता तथा ध्यानयोग धार भगवान् से उसका अर्पण करना । विषयपंक में अगुद्ध, कलुषित चित्त को भगवान् को क्यों कर मनुष्य अर्पण कर सकता है ? परन्तु प्राणायामादि से परिष्कृत शुद्ध चित्त को ही भगवान् के आश्रय में लगाना चाहिए । गीता (६।३१) कहती है कि योगी एकन्वर्त्त का भावना कर सर्वभूतों में निवास करने वाले भगवान् को भजता है, वह जिस किसी अवस्था में रहनेपर भी भगवान् के ही साथ रहता है । अतः गीता शुष्क ध्यान का पक्षपात नहीं रखती है । उसके अनुसार तो ध्यानयोग का उपयोग एकाग्र चित्त में सर्वत्र वर्तमान घटघट में व्यापक भगवान् के भजन करने में है (६।२८) । भगवान् ने (६।४६) योगी का दर्जा तस्मा, ज्ञानी तथा कर्मा—इन तीनों से बढ़कर बतलाया है तथा योगी होने का उपदेश दिया है । योगी भी गीता के अनुसार दो प्रकार का होता है—युक्त तथा युक्ततम । ज्ञान विज्ञान से तृप्त अन्तःकरण वाला मिट्टी, पत्थर तथा मोने को एक समान समझने वाला, जितेन्द्रिय विकारग्रहित योगी युक्त' कहलाता है (६।८), परन्तु इन 'युक्त' योगियों में भी बड़ी सर्वश्रेष्ठ - युक्ततम है, जो अपने अन्तरात्मा को भगवान् में लगाकर पूर्ण श्रद्धा रखता हुआ भगवान् का निरन्तर भजन करता है :—

योगिनामपि सर्वेषां मद्भक्तेनान्तर्गता ।

श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ (६।४७)

ध्यानयोग का यही निष्कर्ष है । बिना भगवान् के श्रद्धापूर्वक अन्तर्निविष्ट हृदय में भजन किये ध्यानयोग केवल शारीरिक व्यायाम मात्र है,

काया को कष्ट पहुँचाना है। अतः गीता को ध्यान तथा भक्ति का सामञ्जस्य अभीष्ट है।

भक्तियोग गीता-ज्ञान का अमृत फल है। यह सब विद्याओं का राजा है (राजविद्या) तथा समस्त गृहस्थों का गृहस्थ (राजगृह्य - ९।२)

(४) गीता तथा
भक्तियोग

है। गीता का हृदय भक्ति है। विविध साधनों की आलोचना से हम इसी तत्त्व पर पहुँचते हैं कि बिना भक्ति से सम्पुष्टि हुए उनका आचरण अध्रग है, अपूर्ण है। विराट् रूप दर्शन के अन्त में इस रूप के दर्शन की साधना चलते समय श्रीकृष्ण ने स्वयं प्रतिपादित किया है कि यह देव-दुर्लभ रूप न धेद, न तपस्या, न दान, न इत्यादि के द्वारा साक्षात्कार किया जा सकता है (११।५३)। इसका एकमात्र साधन है—अनन्या भक्ति। इसी के द्वारा जीव भगवान् को प्रत्यक्ष देख सकता है तत्त्वतः जान सकता है तथा प्रवेश कर सकता है—भगवान् के साथ ऐक्य भाव को प्राप्त हो सकता है (८।२२, ११।५४)। पर अनन्या भक्ति किसे कहते हैं ? गीता ने इस तत्त्व को इस श्लोक में समझाया है :-

मत्कर्मकृत् मत्परमो मद्भक्तः मगवर्जितः ।

निर्वैरः सर्वभूतेषु यः समासी पाण्डव ॥ (११।५५)

यज्ञ दान तप आदि सम्पूर्ण कर्तव्य कर्मों को भगवान् का ही समझ कर करने वाला भगवान् को परम आश्रय मानकर उनकी प्राप्ति के लिए सतत उद्योगशील (मत्परमः), भगवान् की सच्ची भक्ति करने वाला आसक्ति रहित, सम्पूर्ण प्राणियों में वैरभाव से रहित पुरुष अनन्य भक्त कहलाता है। ऐसे भक्ति का फल भगवत्-प्राप्ति ही है। गीता सकाम (९।२०, २१) तथा निष्काम उपासना (९।२२) के भेद को मानकर

१ उपासना के तात्पर्य को शङ्कराचार्य ने बड़े सुबोध शब्दों में समझाया है—उपासनं नाम यथाशास्त्र उपास्यस्य अर्थस्य विषयाकण्ठेन सामाख्यमुपगम्य तैलवागव । यमानप्रत्ययपत्राद्देयं दायकालं यद् उपासनं तद् उपासनमाचक्षते अथोत् उपास्य वस्तुको

अन्तिम को श्रेष्ठ वतलाती है (१।२६. २७); वह निराकार उपासना का नितान्त क्लेशकर वतलाकर (१।२।५) सगुण उपासना का उपदेश देती है (१।२।६-८) । गीता के भक्तियोग में अन्य साधनों से भी अधिरोध है । आर्त, जिज्ञासु तथा अर्थार्थी भक्तों से कहीं बढ़कर ज्ञानी भक्त का दर्जा है । ज्ञानी भक्त तो भगवान् का आत्म-स्वरूप है (ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्—७।१८) अतः सर्वश्रेष्ठ है (तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते—७।१७) ।

इस प्रकार गाता भिन्न भिन्न मार्गों में समन्वय प्रदर्शित कर साधन-मार्ग को सुगम तथा सुलभ बना देता है । गीता का सम्मति में कर्म,

५ समन्वय मार्ग ज्ञान, ध्यान तथा भक्तियोग भिन्न भिन्न स्वतन्त्र साधन-मरणी न होकर एकही रास्ते के विभिन्न टिकान हैं जिन्हें आध्यात्मिक पथिक को पार करना आवश्यक होता है । अष्टा-रहवे अध्याय में इन मार्गों का परस्पर सामञ्जस्य सञ्चय में दिखलाया गया है । गाता के साधन-मार्ग का आरम्भ निष्काम-कर्म से तथा पर्यवसान शरणागति से है । निष्काम-कर्म करने से तथा नियमपूर्वक ध्यानयोग के अभ्यास से साधक ब्रह्मभाव को प्राप्त कर लेता है जिस दशा में वह प्रसन्न-चित्त होकर समस्त प्राणियों में समता का भाव रखता है (१८।५१ ५३) । इस ब्राह्मीस्थिति के उदय होने पर साधक पराभक्ति—परमेश्वर में उत्कृष्ट भक्ति को प्राप्त करता है (१८।५४) तथा भक्ति के उदय होने में वह 'पर ज्ञान' का अधिकारी होता है जिसके द्वारा वह भगवान् के स्वभाव तथा स्वरूप (यच्चास्मि), विभूति तथा गुण को (यावान्) यथार्थ रूपेण जानता है । इसका फल भगवत् प्रवेश—ईश्वरोपलब्धि है (१८।५५); परन्तु इस अन्तिम फल के लिए प्रपत्ति की नितान्त उप-

शास्त्रोक्त विधि में बद्धि का विषय बनाकर उसके समीप पहुँचकर तैलधार की तरह समानावृत्तियों के प्रवाह से जो दीर्घकाल तक उसमें स्थित रहने का उपासना कहते हैं द्रष्टव्य गी० १२।३ पर शाङ्कर भाष्य ।

योगिता है। गीता का 'सर्वगुह्यतम' ज्ञान यही है कि हृदयस्थित अन्त-
र्यामी ईश्वर के शरण में जाकर सब धर्मों का परित्याग कर दे। स्वरूपतः
परित्याग न कर, अर्थात् ईश्वर को समर्पण-बुद्धि में उनका निष्पादन
कर (१८।६६) प्रपत्ति-मार्ग अन्य मार्गों का एक नैसर्गिक पर्यवसान है।
गीता का गुह्यतम ज्ञान यही है :—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।

मामेकग्रन्थमि युक्तैवमात्मानं मत्परायणः ॥ (१।३४)

गीता के साधन-मार्ग की जानकारी के लिए यह श्लोक अत्यन्त
महत्वपूर्ण है। किञ्चित् पाठ-भेद से श्लोक गीता में दो बार आया है
(१।३४; १८।६५)। एक प्रकार से यह गीता का सार है। इसका तात्पर्य
यह है कि जितने विभिन्न साधन विद्यमान हैं, ईश्वर उनके केन्द्र में स्थित
रहने वाला है। उसी को लक्ष्य में रखने से विभिन्न साधनों का अपूर्व
सामंजस्य निष्पन्न होता है। श्लोक का तात्पर्य यह है कि मन लगान
चाहिए भगवान्‌में (ज्ञानयोग), भक्ति करना चाहिए भगवान्‌ की [भक्ति
योग], यज्ञ करना चाहिए भगवान्‌ के निमित्त [कर्मयोग] तथा आश्रय
देना चाहिए भगवान्‌ का हा [शरणागति]—इस प्रकार इन विविध मार्गों
का अवरोध भगवन्निष्ठ होने में ही होता है। गीताकार "मत्परायणः"
शब्द को श्लोकान्त में रख कर तथा इसे 'सर्वगुह्यतमं वचनं' कह कर
[१८।६४] शरणागति की श्रेष्ठता स्पष्टतः प्रतिपादित करते हैं।

इन साधनों के फल का भी वर्णन गीता ने विस्तार के साथ किया
है। आत्माको जाननेवाले, परमात्मा के साथ ऐक्य स्थापित करने वाले

(६) मिश्रावस्था ज्ञानी को भिन्न-भिन्न नामोंसे पुकारता है। वह स्थित
प्रज्ञ है [२।५२], भक्त है [१२।१३], त्रिगुणातीत

[१४।२२-२७], ब्रह्मभूत है [१८।४५]। ऐसे ब्रह्मभूत की स्थिति ब्राह्म
स्थिति [२।७२] कहलाती है। साधनाओं का चरमलक्ष्य है चरमतत्त्व व
अपरोक्ष ज्ञान। यह ज्ञानमार्गसे, भक्तिमार्ग से, साख्य से समभावेन प्रा

हैं। इसी लिए गीता में मित्र पुरुष के लिए मित्र-मित्र मज्ञाओं का व्यवहार किया गया है। पर तत्त्व है एक ही। मित्र पुरुष सब प्राणियों का अद्वेष्य, सबका निःस्वार्थ प्रेमी, दयालु, ममता तथा अहंकारसे रहित, सुख तथा दुःख की प्राप्ति में सम, शान्तचित्त तथा क्षमावान् होता है [१२।१३]। वह अपने मनोगत समस्त कामनाओं का परित्याग कर देता है, आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट रहता है, दुःखों के बावजूद वह उद्वेग-रहित रहता है तथा सुखों प्राप्ति होने पर वह स्पृहा नहीं रखता, सर्वत्र आत्मस्वरूप को देखने कारण राग, भय तथा क्रोध के भावों में वह सर्वदा उन्मुक्त रहता है। ऐसे पुरुष की ही संज्ञा है—स्थितप्रज्ञ, स्थितधी तथा प्रतिष्ठितप्रज्ञ [२।५५-५८]। गीता के अनुसार मानवजीवन के लिए यही आदर्श है। सफल जीवन के परखने की यही बुर्जा है। 'जीवन्मुक्ति' के औपनिषद् आदर्श का क्या इसमें सुन्दर सरल रोचक वर्णन मिल सकता है ?

भगवान् को स्मरण करते हुए इस संसार-युद्धमें प्रवृत्त होने तथा अपने समस्त धार्मिक तथा सामाजिक कर्तव्यों का यथावत् पालन करते रहने—मामनुस्मर युःय च—का गीता-शिक्षा आज भी उसी प्रकार उपयोगी तथा उपादेय है जिस प्रकार वह महाभारतकाल में था। भारतीय धर्म तथा दर्शनका यह इतना प्रामाणिक तथा प्राञ्जल, सरल तथा सरस सारांश है कि शास्त्र इसी के अध्ययन करने का उपदेश देते हैं। शास्त्र-विस्तार से लाभ क्या ? 'गीता' को ही 'सुगीता' करना चाहिए। [गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः—गीतामाहात्म्य]। गीता का ज्ञान पुण्यसन्धि गंगाके जल के समान पावन पवित्र तथा कलिकल्मषनाशन है जिसमें स्नान कर कौन मनुष्य विधूत नहीं हो जाता। 'गीताकल्प-द्रुम की शांतल छाया के आश्रय लेने पर किसी मनोवाक्या सफल नहीं होती ?

द्वितीय खण्ड

चतुर्थ परिच्छेद

चार्वाक दर्शन

सन्देहवाद बड़ी अजीब चीज है। इसके बीज यदि किसी दर्शन-भूमि में लग जाते हैं, तो उन्हें दूर करने के सतत प्रयत्न करने पर भी वे सर्वथा निर्मूल नहीं होते। वृक्षरूप में वे बढ़कर तैयार हो ही जाते हैं। उन्हें कितना भी काटा जाय, घेर के पेड़ के समान वे आप से आप पुनः उत्पन्न हो जाया करते हैं। विचार-प्रमञ्जन कतिपय क्षण के लिए ही सन्देह के बादलों को इतस्ततः विक्षिप्त करने में समर्थ हो सकता है, परन्तु ज्यों ही उसका वेग कम होता है, वे फिर गगन मण्डल में आ धमकते हैं और गाढ़-तिमिर-घटल से ज्ञान-सूर्य को भी निगल जाने के लिए तैयार रहते हैं।

भारतीय तत्त्वज्ञान के इस युग के इतिहास पर दृष्टि डालने से इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जाती है। हमने गत परिच्छेद में देखा है कि उपनिषद् के पीछे की शताब्दियों ने अनेक अवैदिक मतवादों को

जन्म दिया। अक्रियावाद, यश्छावाद, नियतिवाद आदि समस्तवादों के मूल में यही मन्देहवाद क्रियाशील था। इन मतवादों को भारत भूमि में निकाल कर वैदिक धर्म का पुनः प्रतिष्ठा के लिए पञ्चम वेद—महाभारत का निर्माण किया गया। गीता ने मन्देहवादियों के आपाततः रमणीय युक्तियों को निःसारता से दिखलाई। आसुरी सम्पद के वर्णन के अवसर पर मोलहवे अध्याय में गीता उन लोगों की प्रवृत्तियों का उल्लेख करती है जो जगत् को आश्रय रहित, नितान्त असत्य, अनीश्वर, अपने आप स्त्री पुरुष के संयोग में उत्पन्न होने वाला [अपरस्परमभूत] तथा केवल भोगवृत्ति को चरितार्थ करने वाला [कामहेतुक] बतलाते हैं [१६।८], जो काम को परम पुरुषार्थ [कामोपभोगपरमा] मानकर मरणपर्यन्त अनन्त चिन्ताओं के शिकार बने रहते हैं [१६।११] तथा जो नाममात्र के यज्ञों का पागण्ड में अविधिपूर्वक सम्पादन करनेवाले हैं [१६।१७] परन्तु गीता के अनन्तर चार्वाकों की प्रगति रुकी नहीं प्रत्युत अनुकूल स्थिति में वे और भी पनपे। इन लोगों ने वैदिक धर्म के अध्यात्म-पक्ष तथा व्यवहार-पक्ष दोनों की आमूलतः उपेक्षा कर भूतात्मवाद का प्रचार किया। ये उस युग के सच्चे विज्ञानवादी प्रतीत होते हैं। परन्तु इनका मतवाद समाज तथा धर्म के लिए इतना विद्रोही था कि इनके सिद्धान्तों का विशेष प्रचार न हो सका। कोई भी व्यवस्थित समाज चार्वाक दर्शन का अनुयायी बन अपना वास्तव कल्याण-साधन नहीं कर सकता। अतः ये जनता को कल्पना को अपनी ओर आकृष्ट न कर सके।

इस युग में पनपनेवाले अन्य धर्मों की दशा इससे भिन्न थी। जैन धर्म तथा बौद्धधर्म ने जनता के पीड़ित हृदय को पहचाना, उसमें महानुभूति दिखलाई, भवराग के औषध दूँद निकाले और सामाजिक व्यवस्था के पक्षपाती होने के हेतु जनता के प्रेमभाजन बने। इस जरा-मरण के क्लेश से मुक्ति प्राप्त करना प्राचीन उपनिषत्-कालीन ऋषियों

का भी लक्ष्य था तथा उनकी बतलाई पगडंडी पर चलने वाले महावीर और बुद्ध का भी। महावीर और बुद्ध ने उपनिषद्-प्रतिपादित विचार-पद्धति का ही अवलम्बन किया है, परन्तु अपने सिद्धान्तों में विशिष्टता लाने के लिए उन्होंने श्रुतिमल का निरुत्कार किया है। पर आगे दिखलाया जावेगा कि महावीर तथा बुद्ध उपनिषद्-परम्परा के बहिर्भूत नहीं हैं। एक ही विशालकाय प्रच्छाद्यशोतल भारतीय धर्मरूपी महाद्रुम की जिस प्रकार वैदिक धर्म एक शाखा माना जाता है, उसी प्रकार जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म भी शाखाएँ हैं। आरम्भ-काल में दोनों का अन्तर भेद नगण्य था, पर परवर्ती शताब्दियों ने इतने भेदभाव की कल्पना कर दी कि दोनों एक दूसरे से नितान्त विभिन्न प्रतीत होने लगे। पर सच्ची बात ऐसी नहीं है। श्रुति-प्रमाण के निषेध करने के कारण ये तीनों 'अवैदिक' कहे जाते हैं। इन्हीं अवैदिक सम्प्रदायों का वर्णन इस खण्डका विषय है।

अवैदिक दर्शनों में चार्वाक दर्शन ही प्राचीनता की दृष्टि से सर्व-प्रथम माना जाता है। यही लोक आत्मा का कोड़ास्थल है; इसके बाद परलोक नामक कोई वस्तु नहीं है; यह शरीर ही आत्मा है, आरम्भ मरण ही मुक्ति है। अतएव जब तक इस शरीरमें प्राण है, तब तक सुखप्राप्ति की ही चिन्ता करनी चाहिए। धर्म कोई पुरुषार्थ नहीं है। मानव जीवन के लिए 'काम' ही पुरुषार्थ है—आदि चार्वाक सिद्धान्तोंका प्रचार इस देश में सुदूर प्राचीन काल से चला आता है। उपनिषत्काल में भी चार्वाकों के समान सिद्धान्त का प्रचार जहाँ-तहाँ इस देश में था। उस समय में भी मृत्यु के अनन्तर आत्मा की स्थिति के विषय में लोगों में सन्देह का भाव बना हुआ था [कठ उप० १।१।२०] कुछ लोग आत्मा की सत्ता मरणानन्तर स्वीकार करते थे, पर अन्य जन स्पष्ट शब्दों में उसके अभाव का प्रतिपादन करते थे। कुछ लोगों की मम्मति में 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' [बृह० उप० ४।५।१३] यह वाक्य 'मरण के

अनन्तर 'चैतन्य नहीं रहता' इस अर्थ में चार्वाकों की प्राचीन स्थितिकी सूचना दे रहा है। गत परिच्छेद में सप्रमाण दिखलाया गया है कि बौद्ध ग्रंथों में चार्वाक सिद्धान्तों का निर्देश अनेक स्थलों पर मिलता है। उच्छेदवाद के प्रतिपादक अजित केशकम्बल का सिद्धांत लोकायतिक मत के अनुरूप ही है। जैन ग्रंथों में भी इस मत का निर्देश पाया जाता है। इस प्रकार चार्वाकमत की प्राचीनता का अनुमान इन पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया जा सकता है। श्रुति-काल में यज्ञानुष्ठान तथा तपस्याचरण पर विशेषरूप से जोर दिया जाता था; ऐहिकता की अपेक्षा पारलौकिकता की चिन्ता प्राणियों को विशेष थी। चार्वाक दर्शन में इन सिद्धांतों की प्रतिक्रिया दीख पड़ती है। परलोक की चर्चा मुनते २ लोग इतने ऊँच गये थे कि उन्होंने परलोक को ही उड़ा डाला तथा परलोक के साधनभूत धर्म की सत्ता को ही चट कर डाला। उस लोकमें जानेवाले नित्य आत्मा के ही अस्तित्व को लोप कर डाला। इन्द्रिय-गम्य जगत् ही सद्रस्तु है, इसी सिद्धान्त पर डट गये। इस प्रकार श्रौतकालीन समधिक धर्मानुष्ठान के प्रतिक्रियारूप में इस दर्शन के उदय मानने में कोई विपरिपत्ति नहीं दीख पड़ती।

इस दर्शन का सबसे प्राचीन नाम 'लोकायत' है। इसके मानने वाले लोग शुद्ध बुद्धिवाद पर आस्था रखते थे तथा परपक्ष का खण्डन करना [वितण्डा] ही उनका प्रधान ध्येय था। स्वपक्ष की स्थापना में उनका ध्यान न था, प्रत्युत इन लोगों का लक्ष्य वैदिकमार्गानुयायी लोगों के पक्ष का केवल शुष्क तर्क से खण्डन करना ही था। इस तरह लोकायतिक प्राचीन काल के वैतण्डिक थे^१। सिवाय

१ बुद्धघोष ने 'लोकायत' का 'वितण्ड-मत्य' अर्थ किया है। न्याय मंजरी में भी इसी की पुष्टि मिलती है—

नहि लोकायते किञ्चित् कर्तव्यमुपदिश्यते।

वैतण्डिककथैवागमो न पुनः कश्चिदागमः ॥

अपने तर्कों के ये लोग किसी भी शास्त्रका प्रमाण नहीं मानते थे । ये वेद के विद्रूपक तो थे ही; साथ ही साथ बुद्ध तथा जैन आगमों के भी निन्दक थे । इसलिए आपस में सिद्धान्तगत मतभेद होने पर भी ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन धर्माचार्य इनके प्रति बड़ी घृणा का भाव रखते थे । रामायण में रामचन्द्र ने भरत से इन लोकायतिकों की निन्दा की है^१ । विनय पिटक में बुद्धभगवान् ने भिक्षुओंको लोकायत शास्त्र सीखने या सिखाने का स्पष्ट निषेध किया है । सद्धर्मपुण्डरीक में [१३ परिच्छेद] बोधिसत्त्व को इस शास्त्र के पढ़ने तथा पढ़ाने का स्पष्ट निषेध मिलता है । जैन ग्रन्थ इसे 'मिच्छादिद्वि' [मिथ्यादृष्टि] का एक प्रकार मानता है । इस प्रकार तीनों विविध धर्मों का लोकायतमत की निन्दा के विषय में ऐकमत्य था । निर्विचार सामान्य लोगों की तरह आचरण करने के कारण इन लोगों को 'लोकायत या लोकायतिक' मझा पड़ी थी । आगे चलकर इन्हें 'चार्वाक' कहने लगे । कुछ लोग वृहस्पति के शिष्य चार्वाक के द्वारा प्रचारित होने के कारण इन्हें इस नाम से पुकारते हैं^२ । खाओ, [चर्व=भोजन करना], पीओ, मौज उड़ाओ - इस सिद्धान्त के कारण चार्वाक मझा भी मानी जाते हैं । पुण्य पापादिक परीक्षे वस्तुजात के चर्वण कर जाने से [चट कर जाने से] इन दार्शनिकोंका नाम 'चार्वाक'

कचिन्न लोकायतिकान् ब्राह्मणांस्तान् मेवमे ।

अनर्थकशला ह्येते बालाः पण्डितमानिनः ॥

धर्मशास्त्रेषु मुख्येषु विद्यमानेषु दुर्बुधाः ।

बुद्धिमान्वात्रिका प्राप्य निर्गमं प्रवदन्ति ते ॥

—गमायग अथोध्याकाण्ड (१००, ३८-३९)

चार्वाक मत के 'चार्वी' नामक आचार्य का उल्लेख काशिका वृत्ति में मिलता है—
नयते चार्वी लोकायते चार्वी बुद्धिः, तन्मन्वन्धादानायोऽपि चार्वी । स लोकायते
शास्त्रे पदार्थान् नयते (१।३।३६ सूत्र) ।

पड़ा; यह गुणरत्न का कहना है^१। यह भी सम्भव है कि बहुत से लोग इन मुखप्राप्ति के उपदेशक दार्शनिकों के 'चारु वाक्' को सुनकर इन्हें 'चार्वाक' कहने लगे थे। जो कुछ भी सच्चा कारण हो, पर इस नाम का खूब प्रचार हुआ। आज कल किसी प्रकार की नास्तिकता के सिद्धान्त को मानने वाला चार्वाक नाम से पुकारा जाता है। इस दर्शन का तीसरा नाम 'वार्हस्पत्य दर्शन' है। भारतीय दर्शन के इतिहास में वृहस्पति चार्वाक मत के संस्थापक माने जाते हैं। इसी कारण इस मत को वार्हस्पत्य मत तथा उनके अनुयायी को वार्हस्पत्य कहते हैं।

नास्तिकमत के संस्थापक कोई वृहस्पति नामक आचार्य थे, यह सिद्धान्त काल्पनिक नहीं है प्रत्युत इसके लिए ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध हुए हैं जो वृहस्पति की ऐतिहासिकता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त माने जा सकते हैं। वृहस्पति-रचित सूत्रों का उल्लेख अनेक प्राचीन दर्शन-ग्रन्थों में मिलता है। "एक आत्मनः शरीरे भावात्" (ब्र० सू० ३।३।५३) के भास्कर-भाष्य में तथा शाकर-भाष्य में, गीता (१६।११) की नीलकण्ठी, श्रीधरी तथा मधुसूदनी में और अद्वैत ब्रह्मसिद्धि में निम्नलिखित सूत्र उद्धृत किये गये हैं

- (१) पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि ।
- (२) तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयमंशा ।
- (३) तेभ्यश्चैतन्यम् ।
- (४) किष्वादिभ्यो मदशक्तिवत् विज्ञानम् ।
- (५) मदशक्तिवद् विज्ञानम् ।
- (६) चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः ।
- (७) काम एवैकः पुरुषार्थः ।
- (८) मरणमेवापवर्गः ।

ये सूत्र बृहस्पति की ऐतिहासिक सत्ता के लिए पर्याप्त साधन हैं । इसके अतिरिक्त राजनीति-शास्त्र के इतिहास में बृहस्पति का मत उल्लिखित किया गया है । भास न प्रतिमा नाटक में बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का तथा कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में (१।२) बृहस्पति के मत का निर्देश किया है । उनकी दृष्टि में ऐहिक सुख के साधनभूत वार्ता तथा दण्डनीति ही प्रधान विद्यायें हैं (वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः) । कहा नहीं जा सकता कि ये दोनों बृहस्पति—चार्वाकमत संस्थापक तथा अर्थशास्त्रप्रणेता—अभिन्न व्यक्ति हैं या भिन्न । मतों की समानता दोनों का अभिन्नता मानने के लिए हमें प्रलोभित करनी नहीं प्रणीत होती है ।

ये ही इने गिने बार्हस्पत्य-सूत्र चार्वाक दर्शन के सर्वस्व हैं । जान पड़ता है कि प्राचीन काल में चार्वाक दर्शन के मूल ग्रन्थ भी विद्यमान थे, परन्तु इन सिद्धान्तों के प्रति अवहेलना के कारण इन ग्रन्थों का लोप हो गया । पतञ्जलि के समय में (वि० पू० द्वितीय शतक) 'भागुरी' नामक टीका ग्रन्थ विद्यमान था^१ । भट्ट जयराशि विरचित 'तत्त्वोपप्लवमिह' में भी चार्वाक के तथ्यों का ही प्रतिपादन है^२ । यह तर्क-बहुल ग्रन्थ १० वीं शताब्दी के आसपास लिखा गया था । इस मत के सिद्धान्तों का परिचय हमें सब दर्शनो के संग्रहात्मक ग्रन्थों से तथा न्याय-वैशेषिक-वेदान्त आदि दर्शनो के ग्रन्थों से मिलता है जिनमें ये पूर्वपक्ष के रूप में बहुलतया निविष्ट किये गये हैं । ब्रह्मसूत्र के ३।३।५३-५४ सूत्रों के भाष्य, न्यायमञ्जरी, विवरणप्रमेय-

१ द्रष्टव्य—महाभाष्य (७।३।४५) वर्णिका भागुरी लोकायतस्य । 'वर्णिका व्याख्यात्री भागुरी टीकाविशेषः'—कैयट । काशिका में भी यही प्रत्युदाहरण दिया गया है ।

२ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज बडोदा से प्रकाशित ।

संग्रह, सर्वमिद्धान्त-संग्रह, सर्वमत-संग्रह, पडदर्शन-समुच्चय तथा इसकी गुणरत्नकृत टीका, सर्वदर्शन-संग्रह, कमलशीलकृत तत्त्वसंग्रह की पञ्जिका, नैषध-काव्य का १७वाँ सर्ग, कृष्णप्रतिमिश्रकृत प्रबोध-चन्द्रोदय नाटक (द्वितीय अंक)—के अध्ययन करने से इसका मूलभूत तत्त्वों का पता पर्याप्तरूप से चलता है। सर्वदर्शन संग्रह के आरम्भिक अध्याय में माधवाचार्य ने चार्वाकमत का प्रतिपादन कुछ विस्तार के साथ किया है।

अब इस परिच्छेद में चार्वाको के सिद्धान्त तीन मीमासाओ—ज्ञान-मीमासा, तत्त्व-मीमासा, आचार-मीमासा—के अन्तर्गत दिखलाये जायेंगे।

(१) चार्वाक ज्ञान-मीमांसा

चार्वाकमत में प्रत्यक्ष ही केवल प्रमाण है। अनुमान, शब्द आदि प्रमाणों की सत्ता निराधार मानी जाती है। विषय तथा इन्द्रिय के सम्पर्क से होने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। प्रमेय की प्रत्यक्ष का प्रामाणिकता सिद्धि प्रत्यक्ष प्रमाण से ही हो सकती है। हमारे इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्षीकृत जगत् ही सत् है, उसमें अन्य पदार्थ नितरा असत् हैं। वे केवल कल्पना के विषय हैं, वास्तविकता के नहीं। स्पर्श-इन्द्रिय के द्वारा मृदु, कठोर, शीत, उष्णादि भावों का ग्रहण होता है, गन्ध-इन्द्रिय से कटु, कषाय, अम्ल, मधुरादि रसों का ग्रहण होता है; घ्राण-इन्द्रिय से मृगमद, मलयचन्दन, कपूर आदि सुगन्धि पदार्थों से परिचय प्राप्त होता है; चक्षुरिन्द्रिय से भू, भूधर, घट, पट, पशु, मनुष्यादि स्थावर-जंगम पदार्थों का ज्ञान हमें प्राप्त होता है। श्रोत्रेन्द्रिय से शब्द का ज्ञान हमें होता है। इन्हीं पाँच प्रकार के प्रत्यक्षों के द्वारा अनुभूत वस्तु प्रमाणभूत मानी जाती है। अस्पृष्ट, अनास्वादित, अनाघ्रात, अदृष्ट तथा अश्रुत पदार्थों की सत्ता किसी प्रकार भी स्वीकृत नहीं की जा सकती।

बौद्ध जैन आदि अवैदिक दर्शन तथा न्याय वैशेषिकादि वैदिक दर्शनों की अनुमान की प्रामाणिकता मानने में ऐक्य है। प्रत्यक्ष के द्वारा समस्त प्रमेय पदार्थों की सत्ता सिद्ध नहीं की जा सकती और न समस्त लोक-व्यवहार की उपपत्ति सिद्ध हो सकती है। अतः अगत्या इन दर्शनों को अनुमान प्रमाण मानना ही पड़ता है; पर चार्वाक दर्शन अनुमान को प्रमाण कोटि में स्वीकार नहीं करता। इस विषय में इसकी तर्क-प्रणाली बड़ी ही पैनी तथा मर्मस्पर्शिणी है।

लिंग (हेतु) को देखकर साध्य की सिद्धि करना अनुमान कहा जाता है (तल्लिङ्ग-लिंगि-पूर्वकम्—सां० का० ५)। उदाहरण के लिए ज्वालामुखी पर्वत को ले लीजिए। इसमें पर्वत के शिखर से सतत निकलनेवाली धूमरेखा को देखकर अनुमान किया जाता है कि इसमें अग्नि का सन्दाव होगा। यहाँ दृष्ट धूम से अदृष्ट वह्नि के ज्ञान की कल्पना की जाती है। पर दृष्ट वस्तु से अदृष्ट की कल्पना करने में हमारे पास क्या कोई साधन है? अनुमानवादी इसके उत्तर में धूम तथा वह्नि के सतत विद्यमान साहचर्य नियम को ध्यान साधन बतलाते हैं। पाकशाला आदि के निरीक्षण करने से हमारी यह धारणा बद्धमूल हो गई है कि जहाँ-जहाँ धूम का सद्भाव होगा, वहाँ-वहाँ अग्नि की स्थिति अवश्यम्भावी है। इसी अनुपाधिक साहचर्य नियम को 'व्याप्ति' के नाम से पुकारते हैं। अनुमान का प्रकार इस प्रकार होगा—जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ-वहाँ अग्नि अवश्य विद्यमान है; इस पर्वत में धूम विद्यमान है; अतएव इसमें अग्नि भी अवश्य विद्यमान होगा। व्याप्ति ज्ञान के ऊपर ही अनुमान की सत्यता अवलम्बित है।

इस पर चार्वाको की आपत्ति है कि इस अनुमान की सत्यता को हम स्वयं स्वीकार करते, यदि व्याप्ति-सूचक वाक्य की सत्यता प्रमाण सिद्ध होती; पर क्या यह सम्भव है कि जिन-जिन स्थानों में धूम तथा अग्नि

विद्यमान हो, उन सब का निरीक्षण किया जा सके ? प्रत्यक्ष के सीमित होने से वर्तमान काल के ही धूम-वह्नि-विशिष्ट स्थलो का निरीक्षण सिद्ध नहीं हो सकता, भूत तथा भविष्य के स्थलो के परीक्षण की बात ही न्यारी है। ऐसी दशा में व्याप्ति-वाक्य की सत्यता कैसे मानो जाय ? प्रत्यक्ष के द्वारा हमें सम्बन्ध ज्ञान होता है केवल व्यक्ति विषयो का। प्रत्यक्ष की मदायता से हमें इतना ही ज्ञान होता है कि एक क का संबंध एक ख के साथ विद्यमान है, पर इसी सीमित ज्ञान के आधार पर सब क का सम्बन्ध सब ख के साथ बतला कर व्याप्ति की निष्पत्ति करना कितने बड़े दुःसाहस का काम है ! पाकशाला में एक विशिष्ट धूम का सम्बन्ध एक विशिष्ट वह्नि के साथ देखकर समग्र धूम का सम्बन्ध समग्र वह्नि के साथ होगा ही, ऐसे नियम बनाने के क्या हम अधिकारी हैं ? यदि नहीं, तो व्याप्ति सत्य नहीं मानी जा सकती और व्याप्ति की असत्यता सिद्ध होते ही अनुमान का क्लिया बाजू की भीत के समान भूमिसात् हो जायगा।

यदि यह माना जाय कि व्याप्ति विशेष में नहीं होती, प्रत्युत सामान्य (जाति) में होती है, तो भी दोष बने ही रहते हैं। सब मनुष्य मरणशील हैं, इस वाक्य में यदि व्याप्ति 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' के साहचर्य पर अवलम्बित मान ली जाय, तो नये अनुमान की गुञ्जाइश हो ही नहीं सकती। क्योंकि 'मनुष्यता' तथा 'मरणशीलता' को धारण करने वाले समग्र पदार्थों का ज्ञान हमें व्याप्ति-सूचक वाक्य में प्रथमतः निष्पन्न हो चुका है; ऐसी दशा में देवदत्त में मनुष्यता हेतु से मरणशीलता के अनुमान करने की क्या आवश्यकता है ? वह तो व्याप्ति-वाक्य में ही गतार्थ हो चुका है। इसे कहते हैं सिद्धसाधन दोष—सिद्ध वस्तु को साधन करने की गलती^१। सामान्यगत व्याप्ति मानने से चार्वाको का कहना है

१ विशेषेऽनुगमाभावः सामान्ये सिद्धसाध्यता।

अनुमापङ्कभरोऽस्मिन् निमग्ना वादिदन्तिनः॥

—शास्त्रदीपिका (पृ० ६३) में उद्धृत

कि कोई अनुमान हो ही नहीं सकता । एक विशिष्ट मरणशील के अनुमान के लिए एक विशिष्ट मनुष्य को जानना नितान्त आवश्यक है, पर आपको होता है केवल मरणशीलता तथा मनुष्यता का सम्बन्ध-ज्ञान । ऐसी दशामे अनुमान के लिए कोई अवकाश ही नहीं । इस प्रकार सामान्य ज्ञान में विशेष का अनुमान न्याय सगत नहीं है । इस अवस्था में भी अनुमान में दोषों का निराकरण नहीं हो सकता ।

अनुमान लोकव्यवहार का साधक माना जाता है; पर चार्वाक का कहना है कि लोक-व्यवहार के लिए निश्चय का आवश्यकता नहीं, आवश्यकता है सम्भावना की । सम्भावना के आधार पर जगत् का समस्त व्यवहार चलता है । दृग् पर कठोरे में रखी गई सफेद रंग की चीज दूध-सी है; तथा उसके लिए बालक की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है । यह प्रवृत्ति सम्भावना-मूलक है, निश्चय-मूलक नहीं । बालक उस वस्तु के ग्रहण करने के लिए जत्र प्रवृत्त होता है, तत्र वह इर्मालिए नहीं आगे बढ़ता कि वहाँ उसे दूध मिल ही जायगा, प्रत्युत सम्भव है दूध मिल जाय, यही ज्ञान उसकी प्रवृत्ति के लिए पर्याप्त कारण है । ऐसी दशा में अनुमानजन्य निश्चय को कोई आवश्यकता नहीं । अतः सम्भावनामात्र को उत्पन्न कर देने से ही अनुमान की लोकव्यवहार के लिए चरितार्थता मिद्ध है । प्रत्यक्ष के द्वारा अनुमान की सत्यता का परिन्चय हमें अवश्य मिलता है; पर यह नियम कादाचित्क ही है, सार्वत्रिक नहीं ।

अनुमानवादी यदि धूम-वह्नि के कार्य-कारण भाव को मानकर उनके साहचर्य को न्यायसंगत स्वीकार करें तो भी चार्वाक व्याप्ति मानने के लिए तैयार नहीं है । उसकी दृष्टि में जगत् में कार्य-कारण भाव के लिए कोई स्थान नहीं है । संसार की विचित्रता कार्य-कारण-भाव की विचित्रता से नहीं है, बल्कि स्वभाव के कारण । सुखी मनुष्य को देखकर धर्म की कल्पना तथा दुःखी मनुष्य को देखकर अधर्म

की कल्पना न्यायमंगत नहीं प्रतीत होती। मुख का कारण न तो धर्म है और न दुःख का अधर्म। मनुष्य स्वभाव से सुखी अथवा दुःखी हुआ करता है। इसके लिए दूसरा कोई कारण नहीं। अग्नि जलाने वाला है तथा जल स्पर्श में शीतल होता है; इसके लिए किसी कारण को मानना नितान्त अमंगत है। यहाँ तो वस्तु-स्वभाव ही कारण है। मयूरों को इतना रंग-विरंगा किसने पैदा किया? कोंकिल की वाणी किसने इतनी मीठी बनाई? इसका कारण स्वभाव के अतिरिक्त और क्या हो सकता है^१? चार्वाक का सिद्धान्त स्वभाववाद के नाम से दार्शनिक जगत् में विख्यात है। वे जगत की उत्पत्ति तथा विनाश का मूल कारण स्वभाव ही मानते हैं। वस्तु-स्वभाव जगत् की विचित्रता का कारण है, अन्य कुछ भी नहीं^२।

कार्य-कारण का याथातथ्य ज्ञान भी सिद्ध नहीं हो सकता। कार्य की उत्पत्ति के समय अनेक साधक उपाधियों की सत्ता विद्यमान रहती है जिनमें बहुत से व्यक्त रहते हैं और बहुत से छिपे रहते हैं। इन समग्र व्यक्त तथा अव्यक्त उपाधियों के परिपूर्ण ज्ञान हुए बिना कार्य-कारण भाव की इदमित्थं कल्पना हो ही नहीं सकती। यही कारण है कि चार्वाक लोग कार्य-कारण भाव को मानने लिए तैयार नहीं है, प्रत्युत बिना हेतु के ही वस्तु के सदाभाव—अकस्मात् भूति—को अंगीकार करते हैं^३।

१ जिखिनश्चित्रयेत् को वा कोकिलान् क प्रकृजयेत्।

स्वभावव्यतिरेकेण विद्यते नात्र कारणम्॥ म० मि० स० २।५।

२ अग्रे लोकायतिका स्वभाव जगत्, कारणमाहुः। स्वभावादेव जगद् विचित्र-मुपपत्ते, स्वभावतो विलय याति। भट्टोत्पल—बृहत्संहिता (१।७) का टीका

३ चार्वाक की इन युक्तियों का मार्मिक खण्डन उदयनाचार्य ने न्याय कुसुमाञ्जलि में किया है। 'अकस्मात् भवति' वाक्य में पाँच विभिन्न विकल्पों का सम्भावना मानी जा सकती है और प्रत्येक सम्भावना का खण्डन उदयन ने १५ कारिकाओं में संक्षेप रीति में किया है—

इन्हीं सब कारणों से वाध्य होकर चार्वाक लोग अनुमान को प्रमाण नहीं मानते ।

शब्दप्रमाण की सत्यता पर विभिन्न दर्शनों का पूर्ण विश्वास है । जैन तथा बौद्ध दर्शनों में वेद-प्रामाण्य के न माननेपर भी शब्द-प्रामाण्य का तिरस्कार नहीं किया गया है । जैनागमों तथा बुद्ध-वचनों की पर्याप्त प्रामाणिकता सिद्ध मानी जाती है पर चार्वाक 'शब्द' को प्रमाण नहीं मानता । उसका कहना है कि किसी आप्त पुरुष के वाक्य के सुनने से जो अर्थबोध होता है वह तो प्रत्यक्ष प्रमाण से ही सिद्ध होता है, उसके लिए एक स्वतन्त्र प्रमाण की कल्पना नितरां व्यर्थ है । किसी पुरुष के आप्त, प्रामाणिक, सत्यवचन तथा हितेच्छु होने के कारण से उसके वचनों में आस्था रखना अनुमान ही है और अनुमान की प्रामाणिकता का खण्डन अभी प्रबल युक्तियों से किया जा चुका है । अतः आप्त पुरुषों के वाक्यों की सत्यता में विश्वास करना एकदम निःसार है । यदि वे जगद्विषयक प्रत्यक्ष पदार्थों का वर्णन करें, तो विश्वास गया भी जाय, पर अदृष्ट लोक के अश्रुतपूर्व पदार्थों का वर्णन मनोरञ्जन कहानी से पढ़कर सत्यता नहीं रखता । इसी कारण वे वेदों की प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करते । पारस्परिक विरोध होने से, अनर्थक शब्दों के प्रयोग करने से तथा अप्रत्यक्ष पदार्थों की कल्पना करने से वेद प्रमाण-वाह्य हैं । अश्वमेध में घृणित कार्य-कलाप के वर्णन करने से, जर्भरी, तुफरी, पर्फरीका, जेमना, मदेरू आदि अनर्थक

हेतुभूतिनिषेधो न स्वानुपाख्यविधिर्न च

स्वभाववर्णना

नैवमवधेर्नियतत्वतः ॥—न्या० कु० १।५

कार्य की स्थिति नियतकाल तक ही रहने वाली है । अतः अवधि की नियतता के कारण कार्य कादाचित्क ही माना जाता है । ऐसी दशा में उसके कारण की कल्पना न करना तर्क विरुद्ध है ।

शब्दों के प्रयोग से^१ तथा यज्ञों में सामभक्षण के विधान करने से यही प्रतीत होता है कि वेद के बनानेवाले भण्ड थे, धूर्त थे तथा निशाचर थे^२ । वेदों का जितना खण्डन चार्वाकों ने किया है, उतना शायद ही किसी ने किया हो । उन्होंने वैदिक ऋषियों को तथा तद्वर्णित श्रौत विधियों का पानी पी पी कर कोसा है क्योंकि प्रत्यक्ष के ही प्रमाण मानने से अनुमान तथा शब्द की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती ।

(२) चार्वाक तत्त्वमीमांसा

चार्वाकों की तत्त्वमीमांसा भी अपने ढंग की एक निगली चीज है । पृथिवी, जल, तेज तथा वायु ये ही चार जगत् में तत्त्व हैं । बौद्धों के समान ही चार्वाकों का मत था कि आवर्णाभाव होने (१) जगत् में आकाश शून्य ही है; कोई सत्तात्मक पदार्थ नहीं ।

ये ही पृथिव्यादि भूतचतुष्टय अपनी आणविक अवस्था में जगत के मूल-कारण हैं । बाह्य जगत, विषयग्राहिणी इन्द्रियाँ तथा भौतिक शरीर इन्हीं चार मूल भूतों से उत्पन्न होते हैं । पर इनकी उत्पत्ति होती है कैसे ? इस प्रश्न के उत्तर देने में चार्वाक लोग सदा विरत थे । उन्होंने इस सम्बन्ध को समझाया ही नहीं । दृष्ट तथा अदृष्ट कारणों के साक्षात् निषेध करने से तथा इस जगत के किसी चेतन अन्तर्यामी की सत्ता न मानने से यह विश्व, चार्वाकों की दृष्टि में, अकस्मात् सम्मिलित होनेवाले भूतचतुष्टय का एक निश्चयमात्र है । इसकी उत्पत्ति के रहस्य का पता अभी तक मानवबुद्धि को लगा ही नहीं है । अतः इसे ठीक-ठीक समझाने की चेष्टा विडम्बनामात्र है ।

१ सुषेव जर्भर्ग तुर्फर्ग तु नंतोशेव तुर्फर्ग पर्फर्गका ।

उदन्येव जेमना मदेरु ता मे जगत्त्वजर मगयु ॥

(ऋ० १० १०।१०६।६)

२ त्रयो ऽदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः ।

जर्भर्गुर्फर्गव्यादि पण्डितानां वचः स्मृतम् ॥ म० द० सं०, पृ० ४ ।

पृथिवी आदि भूतचतुष्टय के सम्मिश्रण से शरीर की सृष्टि होती है और इस शरीर के अतिरिक्त आत्मा नामक अन्य कोई पदार्थ है ही

(२) जाव नहीं । चैतन्य आत्मा का धर्म है: पर इस चैतन्य का सम्बंध शरीर से होने के कारण शरीर को ही आत्मा

मानने के लिए बाध्य होना पड़ता है । चैतन्य तथा शरीर का सम्बन्ध तीन प्रकार से पुष्ट किया जा सकता है:—

(क) नैयायिक अन्वयव्यतिरेक पद्धति से—शरीर रहने पर ही चैतन्य का आविर्भाव होता है और शरीर के नाश हो जाने पर चैतन्य का भी तिरोभाव मिट्ट हो जाता है । अन्नपान के उपयोग से शरीर में प्रकृष्ट चेतना का उदय होता है तथा उसके न होने से चेतना का ह्रास हो जाता है । चैतन्य के धारण करने के लिए शरीर आवश्यक साधन है । अतः शरीर का ही चैतन्य मिट्ट होता है ।

(ख) सार्वत्रिक अनुभव से—‘मैं स्थूल हूँ’, ‘मैं कृश हूँ’, ‘मैं श्रांत हूँ’, ‘मैं प्रसन्न हूँ’ आदि अनुभवोंका ज्ञान हमें जगत् में पद-पद पर प्राप्त होता है । यहाँ पर स्थूलता, कृशता, श्रान्ति तथा प्रसन्नता का सम्बन्ध चैतन्य के साथ शरीर में निष्पन्न होता है । अतः उक्त सम्बंध की यथार्थता अनुभववेद्य है ।

(ग) वैद्यकशास्त्र के प्रमाण से—चैतन्य का भौतिक पदार्थ के साथ सम्बंध सत्य प्रतीत होता है^१ । ब्राह्मीघृत के उपयोग से संस्कृत कुमार-शरीर में प्रज्ञा की पटुता उत्पन्न होती है । इतना ही नहीं, वर्षाकाल में दही में बहुत ही जल्द छोंटे-छोंटे कीड़े रेंगते हुए दिखलाई पड़ते हैं । इन सब दर्शनों के आधार पर शरीर में चैतन्य मानना क्या तर्कसंगत नहीं है ? अतः “चैतन्यविशिष्टः कायः पुरुषः” यह बृहस्पतिका सूत्र युक्ति युक्त है । यही है चार्वाको का सुप्रसिद्ध ‘भूतचैतन्यवाद’ ।

पर भूतो में चैतन्य की उत्पत्ति कैसे हुई ? इसका भी उचार चार्वाक लोग लोकसिद्ध अनुभव के आधारपर देते हैं । मदिरा के साधक द्रव्यों में मादकशक्ति नाममात्र का नहीं है, पर मदिरा में मादकता का अविर्भाव अनुभवसिद्ध है । इसमें पता चलता है कि किन्हीं पदार्थों को एक विशेष प्रकार या मात्रा में सम्मिलित करने से अवस्थाविशेष में अदृष्टपूर्व धर्म का उदय आप में आप हो जाता है^१ । भूतन्त्रुय की एक विशेष ढङ्ग या परिमाण में सम्मिश्रित होने पर चैतन्य की उत्पत्ति स्वयं सिद्ध हो जाती है । इसके लिए एक दूसरा उदाहरण भी दिया जाता है । पान, खैर, चूना तथा सुपारों में अलग-अलग ललाई दीख नहीं पड़ती, पर एक विशिष्टमात्रा में इनके संयोग होने से पान खानेवाले के मुँह में ललाई की उत्पत्ति हो ही जाती है । इसी प्रकार चैतन्य के उदय की घटना भी अनुभव की आधारशिला पर समझाई जा सकती है^२ । अतः चैतन्य के आविर्भावतिरोभाव के साधन तथा आधार होनेके कारण इस शरीर को ही चार्वाक लोग आत्मा मानते हैं ।

चार्वाकों में आत्मतत्त्व के विवेक के विषय में अनेक मत थे । सदानंद ने इतने मतों का उल्लेख किया है । कुछ चार्वाक लोग एकदेशीय श्रुति तथा अनुभव के आधार पर इन्द्रियों को, कुछ लोग प्राणों को और अन्य लोग मन को आत्मा मानते थे^३ ।

१ द्रष्टव्य 'किण्वान्द्रव्यो मदशक्तिवद् विज्ञानम्' (वृ० सू०) । 'किण्व' एक प्रकार का बीज होता था जिसका प्रयोग शराब बनाने में किया जाता था ।

२ जडभूतविकारेषु चैतन्य यन्तु दृश्यते

तान्मूलप्रचूर्णानां योगाद् राग द्वोत्थितम् स० मि० स० २।७.

३ द्रष्टव्य वेदान्तसार पृ० २६-२७ । इन मतों के खण्डन के लिये देखिये 'वायमजरी' (द्वितीयभाग) पृ० १३-१४ तथा न्यायकृष्णभाष्य (१ । १५)-

नान्यदृष्टं स्मृत्यन्तो नैक भूतमपक्रमात् ।

वामनासंक्रमो नास्ति न च गत्यन्तरं स्थिरे ॥

ईश्वर की सत्ता शब्द प्रमाण तथा अनुमान प्रमाणों से मिद्ध मानी जाती है। श्रुति एक स्वर से पुकार कर कह रही है कि प्रह्व इस संसार के जनन, म्रियति तथा नाश का कारणभूत है। पर श्रुति के प्रामाण्य को न मानने से चार्वाक ईश्वर की सत्ता शब्द के आधारपर मानने के लिए उत्पन्न नहीं हैं। नैयायिक लोग ईश्वरका सम्भाव अनुमानके आधारपर मानते हैं^१। वे लौकिक दृष्टान्तोंको सहायता से ईश्वर को स्वीकार करते हैं। यदि बड़ा कोई कार्य पदार्थ है, तो उसका कर्ता कुलाल अवश्य ही विद्यमान है। यह दृश्यमान जगत् भी कार्यभूत है। अतः इसका भी कर्ता कोई अवश्यमेव विद्यमान होगा। पर चार्वाक अनुमान की प्रामाणिकता नहीं मानता। अतः उसके मत में शब्द तथा अनुमान का अमल्यता मिद्ध होने से ईश्वर की स्वतः अस्तिद्धि है। रहा जगत् की उत्पत्ति का प्रश्न। इसके लिए वे वस्तु-स्वभाव को कारण मानते ही हैं। स्वभाव से ही जगत् की विचित्रता की सृष्टि तथा स्वभाव से ही जगत् के लय की समस्या हल कर देने से चार्वाकों के लिए ईश्वर नामक पदार्थ को कल्पना के लिए अवकाश ही नहीं रह जाता।

(३) चार्वाक आचार मीमांसा

चार्वाकों की ज्ञान तथा तत्त्व-मीमांसा के अध्ययन करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे इस दृश्यमान जगत् के अतिरिक्त किमा भी पदार्थ की कल्पना अंगीकार नहीं करते। इन्हीं मीमांसाओं के आधार पर वे मानव जीवन के कर्तव्याकर्तव्य की भी विशद समाप्ता करते हैं। दार्शनिक लोग मानवमात्र के लिए धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष इन चार पदार्थों को उपादेय बतलाते हैं तथा पुरुषमात्र के लिए अर्थनीय होने के हेतु इन्हें पुरुषार्थ नाम से पुकारते हैं। पर चार्वाक दार्शनिक आदिम तथा अन्तिम पुरुषार्थों के अस्तित्व में विश्वास नहीं करते।

१ द्रष्टव्य न्याय मुद्राणां—पञ्चम स्तवक।

मीमांसकगण वेदविहित विधिविधानों के अनुष्ठान को धर्म के नाम से अभिहित करते हैं। मानवमात्र का कर्तव्य है कि वह वेदप्रतिपाद्य यज्ञयागादिकों का अनुष्ठान कर। मरने के बाद स्वर्ग-धर्म की अस्वीकृति मुख्य का उपभोग करे। पर इस लोक के ही अस्तित्व को मानने वाले चार्वाक लोग स्वर्ग की कल्पना को स्वीकार नहीं करते। जब स्वर्ग नामक मुख्यप्रधान लोक ही अमिद्ध है, तब उसके लिए शरीर को तरह-तरह के क्लेश देकर तपस्या करना तथा समधिक द्रव्य का व्यय उठा कर यज्ञानुष्ठान करना एकदम व्यर्थ है। इस प्रसंग में चार्वाकों ने वैदिक धर्म की बड़ी कड़ी आलोचना की है तथा उसकी शिक्षा देनेवालों को बड़ी खरी-खोटी सुनाई है। उनका कहना है कि किसी कपोलकल्पित पारलौकिक मुख्य की प्राप्ति के लिए जीवविशेष की हत्या कर यागसाधन करना पगले दर्जों की मूर्खता है। “ज्यान्तिष्ठेम यज्ञे मे मारा गया पद्य यदि वास्तव में स्वर्ग पहुँचाने में समर्थ होता, तो यजमान अपने ही पिता को क्यों नहीं मारता ?” कौन कहता है कि श्राद्ध करने से फल की प्राप्ति होती है ? “यदि श्राद्ध के करने से मरे हुए भी जन्तुओं की तृप्ति होती, तो तेल डालने में बुझे हुए दीपक की भी शिखा बढ़ती ?” पर जगत में क्या ऐसी अघटित घटना देखी गई है ? दीपक के बुझ जाने पर कितना भी तेल डाला जाय, उसकी शिखा कभी नहीं बढ़ सकती। इन दृष्ट उदाहरणों के आधार पर मृतक की तृप्ति के लिए श्राद्ध करने की कल्पना नितान्त निराधार है। क्या यहाँ दान देने से स्वर्गस्थित पुरुषों की तृप्ति कभी सिद्ध हो सकती है ? यदि ऐसी बात सम्भव मानें, तो महल के ऊपर रहनेवाले पुरुष के लिए निचले खण्ड में ही चीजें दी जातीं। इन उदाहरणों से श्राद्ध की अयुक्तिमत्ता स्वयं सिद्ध होती है। चार्वाक लोग वेद-विधानों की कपोलकल्पना सिद्ध करने के लिए बड़े बड़े लौकिक दृष्टांत

१ पट्टदर्शन समुच्चय में वृक्षपत्र का उदाहरण देकर असत्य बात को परम्परागत सत्य मानने की घटना की पुष्टि की गई है :—

उपस्थित करते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में धर्म तथा अधर्म की मूल कल्पना में न तो विश्वास करते हैं, न तथा पाप-पुण्य के फल का अंगीकार करते हैं।

मोक्ष की कल्पना भी चार्वाको की विलक्षण है। सब दार्शनिकों के एकमत्य का अंगीकार करते हुए चार्वाक ने भी आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति को मुक्ति माना है। प्रत्येक क्लेश का निकेतन यही भागायतन शरीर है। जब तक शरीर है, तब तक जीव नाना प्रकार के संकटों का झेलता हुआ जीवन-यापन में प्रवृत्त रहता है। अतः इस देह के पतन के साथ ही दुःखों का आत्यन्तिक निवृत्ति मिट्ट हो जाता है। अतः 'मरणमेवावर्गः' (वृ० सू०) मरण को अपवर्ग मानना युक्तियुक्त है।

इस मोक्ष की कल्पना में प्रवृत्त तर्क-प्रणाली नितान्त दृढ़ है। परन्तु वैसत्य का वाज यह है कि मोक्षस्थिति में आत्मा की स्वरूपस्थिति का सिद्धांत सर्वमान्य है (आत्मनः स्वरूपेणावस्थितिः मोक्षः), परन्तु चार्वाक मत में इसकी उपपत्ति नहीं होती। देह ही आत्मा ठहरा। तब देह-पात हो जाने पर, अभिमत आत्मा के अभाव में, कौन अपने स्वरूप-स्थितिमें विद्यमान रहेगा? मरण के साथ-साथ आत्मा भी जब नष्ट हो गया, तब 'स्वरूपेणावस्थिति' किम पदार्थ को मानो जाय? अतः देहपात के अनन्तर किसी स्थायी नित्य पदार्थ की सत्ता न मानने के कारण ही चार्वाको की मुक्ति आकाशपुष्प की तरह नितांत अलीक है।

तब जीवन के लिए लक्ष्य क्या है? अर्थ और काम। काम ही प्रधान पुरुषार्थ है और तन् सहायक होने से अर्थ में भी पुरुषार्थता आती है। प्राणीमात्र के लिए जीवन का उद्देश्य होना चाहिए ऐहिक सुख

भद्रे वृक्षपद पश्य यः वदन्त्यवहुश्रुताः ॥ ८१ ॥

इसका विशद व्याख्या के लिए गुणरत्न का टाका देखनी चाहिए, जिसमें एक पाचात्र साम्प्रदायिक आख्यायिका का रोचक वर्णन किया गया है।

की प्राप्ति। लौकिक सुख जीवन का चरम-लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति अर्थ के द्वारा हो सकती है, अतः अर्थ काम दो ही पुरुषार्थ हैं। चार्वाको तथिभौतिक का यह कथन सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जयतक जीए, सुखपूर्वक सुखवाज जोए। अपने पास द्रव्य के अभाव होने पर ऋण लेकर घृत पीए—आनन्द में मालप्रभा चाभे। ऋण के लौटाने की व्यर्थ चिन्ता के बाज में अपने को दबाये न रहे, क्योंकि शरीर के भस्म हो जाने पर मला जीव का पुनरागमन होता है ?

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत् ।

भस्माभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥

अतः 'ग्वाओं, पीओं, मौज उड़ाओं'—यही जीवन का आत्यन्तिक लक्ष्य है। दुःख में मिश्रित होने से क्या सुख त्याग्य है ? विपुल सुखकी सत्ता जगत में नहीं है, तो क्या मिश्रित सुख की चाह हमें न करना चाहिए ? जिस प्रकार मत्स्यार्थी कण्टकयुक्त मछलियों को ग्रहण कर ग्राह्याश को ले लेता है और अन्य अंश को छोड़ देता है, जैसे धान्य को चाहनेवाला पुरुष पलाल में युक्त धान्य को ग्रहण कर उपादेय अंश को ले लेता है, उसी प्रकार सुखार्थी दुःख से सम्मिश्रित सुख को ग्रहण करता है और उपादेय भाग को लेकर ही तृप्ति-लब्ध करता है। यह तो मूर्खता की पराकाष्ठा ही ठहरी कि दुःख के भय से अनुकूल वेदनीय सुख का सर्वथा त्याग किया जाय। जगत में मृग हैं, तो उनके डर में क्या धान नहीं रोये जाते ? माँगनेवाटे भिक्षुओंकी सत्ता चनी हुई है, तो क्या भोजन बनानेके लिए आगपर पात्र न चढ़ाया जाय ? विषयके संगमसे उत्पन्न सुख दुःखके साथ मिश्रित होनेसे त्याग्य है, यह मूर्खोंका विचार है। क्या कोई हितेच्छु सफेद, सुंदर कणोंमें युक्त धानको इसी कारण छोड़ देता है कि उनके

१ नहि भिक्षुः सन्नानि स्थाल्यो नार्धाश्रायन्ते । नहि मृगाः सन्नानि शाल्यो नोप्यन्ते (का० सू० १।२।४८) ।

ऊपर भूमीका हलका छिलका लगा रहता है^१। मागश यही है कि जीवन अंगनालग्नादि सुख की प्राप्ति में धिताना चाहिए। स्वर्ग नरक तो इसी भौतिक जगत् में विद्यमान हैं। सुख की प्राप्ति स्वर्ग है तथा दुःख का मिलना नरक है। अतः ऐहिक सुखवाद चार्वाकों के अनुसार प्राणीमात्र का प्रधान लक्ष्य है।

दार्शनिक जगत् में प्रकृतिवाद के सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन काल से विद्यमान हैं। भारतीय दर्शन शास्त्र के इतिहास में जिस प्रकार ब्रह्मसूत्र तथा चार्वाक भौतिकवाद के समर्थक हैं, उसी प्रकार पाश्चात्य दर्शन तथा प्राचीन ग्रीस दर्शन के इतिहास में डिमाक्रियस (४६० ई० पू०) एपिक्युरिअस (३४२ ई० पू०) तथा लूक्रेशियस (९५ ई० पू०) भौतिकवाद के सम्स्थापक तथा प्रचारक हैं^२। इस मत के अनुसार द्वाय-पौत्र के समान आत्मा भी मनुष्य के शरीर का अंशमात्र है। वह चतुर्विध परमाणुओं के समुच्चय का फल है। अतः शरीरपात के साथ आत्मा के उच्छेद होने के कारण आत्मा का अमरत्व नितान्त अमिद्ध है। इस जगत् की रचना में न तो कोई उद्देश्य है और न इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर इसका कोई रचयिता ही है। साधारण जन देवताओं पर इस विश्व के निर्माण का उद्गदयित्व रखते हैं, पर यह सिद्धान्त भी प्रमाणाभाव में निःसार है। अनन्त परमाणुओं में से किन्हीं परमाणुओं के अहेतुक यादृच्छिक संघात की ही व्यावहारिक संज्ञा 'जगत्' है। जगद्रचयिता के अभाव में उपवास, व्रत, प्रार्थना आदि

१ त्याज्यं सुखं विषयमहमात्म पुमां

दुःखोपमृष्टमिति सूर्यवि-राणोषा ।

ब्राह्मन् जिहासति मिनोत्तमत डुलाढ्याम् ।

को नाम भोस्तृपकणोपहितान् हितार्थी ॥ [स० द० स० पृ० ४)

२ द्रष्टव्यं मेटैरिअलिज्म (Materialism) तथा लूक्रेशियस (Lucretius)
शीर्षक लेख—डन्माइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स भा० ८ ।

उपचारों से उसे सन्तुष्ट करने के विधान बतलाने वाला धर्म नितान्त अमिद्व है। एपिक्युरस ने जीवन का उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति बतलाया है। परन्तु कैसा आनन्द ? इन्द्रिय वृत्तियों का चरितार्थ करने वाला भौतिक मुख नहीं, प्रत्युत समानशीलव्यसन वाले मित्रों की मण्डली में अनुभूयमान मानसिक आनन्द, जिसे मानते हुए सादगी का जीवन बिताना ही इस मानव जीवन का उद्देश्य है। ल्युक्रेशियस ने इस विषय में अपने गुरु का अनुसरण किया है। वे शान्ति, सान्त्विक जीवन, सत्य पालन, कर्तव्यनिर्वाह के पवित्र उद्देश्य को जीवन का लक्ष्य मानते हैं। इस प्रकार एपिक्युरस के हेडोनिज्म (मुखवाद) तथा चार्वाक के सिद्धान्त में आश्चर्यजनक सादृश्य है। हेडोनिज्म के सिद्धान्त को जनसाधारण ने जिस प्रकार पीछे के समय में अत्यन्त निकृष्टरूप में परिवर्तित कर दिया, चार्वाकमत में भी इसी प्रकार का परिवर्तन दीख पड़ता है। स्टोइक दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त का विशेष रूप से खण्डन कर ईश्वर की सत्ता, जीव की अमरता, जगत् की उद्देश्य-सम्पन्नता आदि सिद्धान्तों को पुनः स्थापना की है। उन्नामर्वा गेताब्दी में पॉजिटिविज्म आदि अनेक दार्शनिक मतों^१ पर चार्वाकता की छाप स्पष्टरूप से दीख पड़ती है। परन्तु चार्वाकमत की तुलना एपिक्यूरिअनिज्म के साथ ही समुचित रीति से की जा सकती है।

(४) समीक्षा

ब्राह्मण, बौद्ध तथा जैन दार्शनिक चार्वाकमत के खण्डन करने के लिए सतत खड्गग्रस्त थे क्योंकि व्यवहार की उपपत्ति केवल प्रत्यक्ष के अंगीकार करने से सर्वतोभावेन सिद्ध नहीं हो सकती। यदि प्रत्यक्ष ही केवलमात्र प्रमाण हो; तो पात के विदेश चले जाने पर उसके प्रत्यक्षाभाव

१ इन मतों का विशेष जानकारी के लिए देखिए हार्किंग, टाइम्स आफ फिलासफी पृ० ७४-८०

में, उसका नितान्त अभाव मानकर, क्या पत्नी अपने को विधवा मान लेती है ? यदि लोक व्यवहार इसका निपेधात्मक उत्तर देता है तो प्रत्यक्ष की पंगुता माननी ही पंगी । भूतचिद्वाद भी इसी प्रकार प्रबल युक्तियों के आधार पर टिक नहीं सकता । चार्वाक-सम्मत आचारशास्त्रीय तत्त्वों से समाज के विशेष अस्तव्यस्त होने की सम्भावना है । अतः इस सिद्धान्त का खण्डन ब्रह्म मार्मिक ढंग से किया गया है । इस प्रसंग में यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि उपलब्ध बार्हस्पत्य सूत्रों में उच्छृङ्खल जावन का—ऋण लेकर घृतपान का—कहीं भी विधान नहीं मिलता । बृहस्पति विश्व की पहेली को समझाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति के अवलम्बन करनेवाले विद्वान् थे । उनकी व्याख्या वैज्ञानिक व्याख्या के अनुरूप है । अवान्तरकालीन दार्शनिकों ने इन लोकप्रिय उपदेशों को चार्वाक के मल्ल में मढ़कर उन्हें स्वार्थी भौतिकसुखवादी बतलाया है, परन्तु वास्तव बात कुछ दूसरी ही थी । अतः उच्छृङ्खलता को प्रश्रय देनेवाले प्रचलित सिद्धान्त चार्वाक के न होकर पाले किर्मा के द्वारा उनके ऊपर मढ़ दिये गये हैं ।

चार्वाको की निन्दा दार्शनिकों ने जी खोलकर शतमुख में की है । इस निन्दा के यथार्थ होने में सन्देह नहीं । पर इसका मूल आधार उनकी आचारमीमांसा ही है । जिस दर्शन में धर्म के लिए स्थान नहीं, पाप-पुण्य का अस्तित्व नहीं, स्थूल भौतिक सुखवाद ही प्राणिमात्र के लिए परम पुरुषार्थ है वह मानव-जीवन की गुत्थियों को सुलझा कर उनके लिए एक आदर्श मार्ग की सृष्टि करेगा; यह आशा दुर्गशामात्र है । अतः चार्वाकमत में त्रुटियों का होना अनिवार्य है, पर फिर भी उसकी विशेषताओं की ओर ध्यान न देना भी उसके साथ अन्याय करना है ।

चार्वाक ज्ञानमीमांसा की प्रधान विशिष्टता है—आप्तवचनों में अन्धश्रद्धा या विश्वास का न रखना । श्रद्धा किसी भी सत् सिद्धान्त की जननी नहीं है; सिद्धान्त की सृष्टि तो तर्कसे होती है । सच्चा अविश्वास

अन्धविश्वास को अपेक्षा दार्शनिक तत्वों की समीक्षा के लिए अधिक मूल्य रखता है। आप्त वाक्यों के व्यामोह से अपना उद्धार बिना किए वाक्य ज्ञानमार्गों तथा अपना तर्क-प्रधान बुद्धि के सहारा बिना किए का विशेषताये दर्शन का अभ्युदय हो नहीं सकता। शुद्ध तर्क की उपयोगिता दिखलाकर चार्वाको ने भारतीय विचारकों के लिए एक मनोरम मार्ग की सृष्टि की है।

अनुमान की अप्रामाणिकता दिखलाने समय इन लोगों ने 'व्याप्ति' के जिन दोषों का उद्घाटन किया है उन्हें आधुनिक पश्चिमी तर्क के पण्डितों ने भी 'इन्डक्शन' (आगमन) की परीक्षा करते समय अनेक अंशों में स्वीकृत कर लिया है। जान स्टुअर्ट मिल ने बड़ी सुन्दर युक्तियों के आधार पर आगमन (इन्डक्शन) का सम्भावनामात्र बतलाया है। आगमन के निष्पत्ति के लिए यूनियवर्सल मेजर प्रेमिस (व्याप्ति वाक्य) की सत्यता नितान्त अश्विगत है, परन्तु 'सब मनुष्य मरणशील हैं' इस वाक्य की सत्यता क्या कभी प्रमाणित की जा सकती है? समस्त मानवों में मरणशीलता की सत्ता को व्यापक बतलाना केवल अन्दाजा ही है। अतः उस सन्दिग्ध वाक्य के आधार पर आगमन का किया खड़ा करना तर्कानुकूल नहीं है। मिल की इस तर्कप्रणाली के चार्वाकियों से साम्य रखने में आश्चर्य न होना चाहिए, क्योंकि मिल भी दार्शनिक अभिरुचि में मेटार्गैअलिस्ट (भौतिकवादी) ही थे।

इसके अतिरिक्त चार्वाको ने ऐहिक मृगमय जीवन के साधनभूत कला-कौशल की सृष्टि की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। आचार्य बृहस्पति ने अर्थाशास्त्र लिखकर मनुष्यमित्र के लिए चााक समाजव्यवस्था उच्छृङ्खलता का त्याग कर नियमपूर्वक जीवन बिताने की पद्धति पर अप्रहृष्ट दिखलाया। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य के जीवन की उन्नति समाज की उन्नति को छोड़कर कभी नहीं

हो सकती । अतः मनुष्य को चाहिए कि वह अपने जीवन को समाज के अनुकूल बनाये । समाज का नियमानुकूल चलना समाज के कल्याण के लिए नितान्त आवश्यक है । चार्वाक लोग इसी कारण मनुष्यों के निग्रह तथा अनुग्रह—दण्ड तथा दया—करनेवाले राजा को ही ईश्वर मानते थे (निग्रहानुग्रहकर्ता राजा ईश्वरः) । वे जानते थे कि दण्ड का भय न होने पर मनुष्य को पशु रूप में परिवर्तित होने में विलम्ब न लगेगा । इसी कारण चार्वाक उच्छृंखल जीवन के पक्षपाती न थे, प्रत्युत नियमबद्ध सामाजिक जीवन को ही आदर्श मानते थे । अतः आधिभौतिक सुखवाद के प्रचार होने पर भी चार्वाकों ने मानव-जीवन को विशृंखल होने से बचाया और पारलौकिक सुख का मृगतृष्णा से अपने बहुमूल्य शरीर को व्यर्थ गलानेवाले अधिकांश लोगों के सामने इस जीवन को सुखमय बनाने का ठोस उपदेश दिया । उनकी इस सेवा की ओर ध्यान देना हमारे लिए न्यायसंगत ही है ।



पञ्चम परिच्छेद

जैन-दर्शन

(१) जैनधर्म का उदय तथा विस्तार

जैनधर्म का उदय बुद्धधर्म से पहले की घटना है। दीघनिकाय (पृ० १८) में जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर वर्धमान महावीर का तत्कालीन विख्याततम ६ तीर्थंकरों में 'निगण्ठ नाटपुत्र' के नाम से उल्लेख ही नहीं मिलता, बल्कि उनके 'चतुर्थीम संवर' के सिद्धान्त तथा उनकी मृत्यु का वर्णन भी उपलब्ध होता है। इस धर्म का प्राचीन नाम 'निगण्ठ' था जो 'निग्रन्थ' शब्द का पाली रूपान्तर है। भवग्रन्थन की ग्रन्थियों के खुल जाने के कारण महावीर का यह उपाधि दी गई थी। इस धर्म में सर्वज्ञ, रागद्वेष के विजया, त्रैलोक्यपूजित, यथास्थितार्थवादी तथा सामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुषों की सजा अर्हत् है^१। अतः तद्द्वारा प्रचारित होने से यह धर्म 'अर्हन्त' कहलाता है। (वर्धमान की रागद्वेष-रूपी शत्रुओं पर विजय पाने के कारण 'जित्' उपाधि था। अतः उनके द्वारा प्रचारित धर्म 'जैन' कहलाता है) इन नामकरणों के मूल में इस धर्म की प्राचीन आचार-प्रधानता ही कारण है। जैन लोग अपने धर्म के प्रचारक सिद्धों को 'तीर्थंकर' कहते हैं जिनमें आद्य तीर्थंकर ऋषभदेव^२ थे। इनकी ऐतिहासिकता के विषय में, पुराणों के आधार पर, संशय नहीं किया जा सकता। इनका पवित्र चरित्र पुराणों में प्राचीन वशों के वर्णन प्रसंग में विस्तार के साथ उपस्थित

१ सर्वज्ञो जितरागादिदोषभ्रंशोऽभ्युज्जितः ।

यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥---स० द० १० पृ० ६

किया गया है। श्रीमद्भागवत के कई अध्याय (स्क० ५, अ० ४—६) ऋषभनाथ के वर्णन में लगाये गये हैं। ये मनुवंशी महीपति नाभि तथा महागजी मरुदेवी के पुत्र थे। इनकी विजय-वैजयन्ती अखिल महीमण्डल के ऊपर फहराती थी। इनके सौ पुत्रों में से सबसे ज्येष्ठ थे महागज भरत, जो जड़भरत के नाम से अपनी अलौकिक आध्यात्मिकताके कारण प्रसिद्ध थे और जिनके नाम से प्रथम अर्धाश्वर होने के हेतु यह हमारा देश 'भारत' वर्ष के नाम से विख्यात हुआ है। ऋषभनाथ को जैन लोग ही आद्य तीर्थंकर होने से आदर नहीं करते; प्रत्युत ब्राह्मण-धर्म में भी विष्णु के चौबीस अवतारों में इनकी गणना की गई है। इनके पीछे होनेवाले २१ तीर्थंकरों का विस्तृत विवरण जैन ग्रंथों में उपलब्ध है^१, पर इनकी ऐतिहासिकता मान्य आलोचकों के लिए आज भी संशय का विषय बनी हुई है। अन्तिम दो तीर्थंकर — पार्श्वनाथ तथा महावीर निःसन्देह ऐतिहासिक पुरुष थे।

विवेचक विद्वान् **पार्श्वनाथ** को ही इस धर्म का आद्य प्रवर्तक स्वीकार करते हैं। इन्होंने चाहे कालक्रम से विलुप्त तथा शिथिलप्राय धर्म को नवीन जीवन प्रदान कर पुनरुज्जावित किया, चाहे स्वयं पार्श्वनाथ जैनधर्म को प्रवर्तित किया, इतना तो निश्चित है कि ये ऐतिहासिक व्यक्ति थे और महावीर से ढाई सौ वर्ष पहले इस देश को इन्होंने अपने जन्म से अलंकृत किया था। इनके पिता काशी के राजा अश्वसेन थे तथा माता थी महागनी वामादेवी। काशी नगरी में ८१७ ईस्वी पूर्व में इनका जन्म हुआ था। इनके जन्म से पहले इनकी माता ने एक कृष्णवर्ण सर्प को अपने बगल में रेंगते हुए देखा था। इसी कारण इनका नाम पार्श्वनाथ पड़ा। तीस वर्षों तक इन्होंने सांसारिक वैभव के बीच गार्हस्थ्य जीवन को बिताया। बाद इन्होंने अगणित

सम्पत्ति को लत मारकर मिथु जीवन को स्वीकार किया तथा घोर तपस्या कर कैवल्यज्ञान का सम्पादन किया। इन्होंने ७० वर्ष तक जैन धर्म का अपने सदुपदेशों से प्रचार किया। अनन्तर 'समेत शिखर' पर निर्वाण प्राप्त किया।

जैन ग्रन्थों में उपलब्ध इनकी आचार-शिक्षा तथा महावीरकी शिक्षा में कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। पार्ष्णनाथ ने चार महाव्रतों, अहिंसा, सत्य, अस्मेत तथा अपरिग्रह—के विधान पर जोर दिया है पर महावीर ने ब्रह्मचर्य को भी उतना ही आवश्यक तथा उपादेय बतलाता कर इसकी भी गणना महाव्रतों में की है। पार्ष्णनाथ वस्त्र धारण करने के पक्षपाती थे, पर महावीर ने नितान्त वैराग्य की साधना के लिए यतियोंके लिए वस्त्रपरिधान का बहिष्कार कर नग्नत्व को ही आदर्श आचार बतलाया है। आजकल के श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदायों का विभेद इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से चला आता है।

जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर का नाम था - **वर्धमान**। ये वैशाली (आजकल का बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में बसाह नामक ग्राम) में पार्ष्णनाथ के ढाई सौ वर्ष बाद ५९९ ई० में पैदा हुये ^{वर्धमान महापात्र} थे। वैशाली में उस समय कई श्रत्रिय सरदार मिलकर राज्य किया करते थे। ऐसे ही 'जातृक' नामक श्रत्रिय-वंशमें इनका जन्म हुआ था। पिता का नाम था मिद्धार्थ तथा माता का विशला। इनकी प्रजनीय जननी राजकन्या थी। अपने कुल के नाम पर ही पालीग्रंथों में इन्हे नातपुत्र (जातृ-पुत्र) के नाम से निर्देश किया गया है। इनका शुभ विवाह यशोदादेवी के साथ सम्पन्न होना श्वेताम्बर लोग बतलाते हैं। इन्होंने गान-गिताके अनन्तर अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन की अनुमति लेकर घर-घर से नाता तोड़ा। हृदय में सच्चे वैराग्य के बीज पहले से विद्यान थे, अवसर पाकर वे अंकुरित हो उठे। तीस वर्ष की अवस्था में (लगभग ५७० ई० पू०) इन्होंने यतिधर्म को ग्रहण किया—बड़ी कठोर

तपस्या का साधन किया तथा अन्त में तेरह वर्षों के लगातार अभ्यास के अनन्त इन्हें 'कैवल्य' ज्ञान प्राप्त हुआ। इन्होंने पहले-पच पञ्च महाव्रतों की शिक्षा अपने प्रथम शिष्य गौतम इन्द्रभृति को दी। इनके अनन्तर उन्होंने अग, मगध, कौशाभी आदि राज्यों के अधिपतियों को अपने धर्म का मधुर उपदेश दिया जिसके फलस्वरूप वे इनके धर्म में दीक्षित हो गये, पर इनका प्रधान स्थान मगधकी तत्कालीन राजधानी 'राजगिर' था। उत्तर भारत में 'अर्धमागधी' भाषा के द्वारा अपने प्रभावशाली व्याख्यानों से जैनधर्म का प्रचुर विस्तार सम्पादन कर पावापुरी में ७२ वर्ष की आयु में बुद्ध के निर्वाण से पचास वर्ष पहले महावीर ने निर्वाण प्राप्त किया। रागद्वेष रूपी शत्रुओंपर विजय प्राप्त कर लेने के उपलक्ष्यसे इन्हें 'जिन' तथा 'महावीर' की उपाधि प्राप्त हुई। जैन सम्प्रदाय के अनुसार इनका जन्म ५९९ ई० पू० तथा मृत्यु ५२७ ई० पू० में बतलाई जाती है।

इनकी मृत्युके अनन्तर इस धर्मको विशेष राजाश्रय प्राप्त हो गया। मगध के नन्दवंशी नरेश तथा कलिंग के अधिपति सम्राट् ग्यारहवें इसी धर्म में दीक्षित हुये तथा उन लोगों ने इसकी श्रीवृद्धि करनेमें यथेष्ट परिश्रम किया। इतिहास साक्षी है कि मौर्यवंशके संस्थापक आर्यावर्तके एकलव्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भी जैन-धर्मानुयायी थे। मगध में अकाल के प्रचंड ताड़व के कारण यतिवर भद्रबाहु सम्राट् चन्द्रगुप्त तथा अन्यान्य अनुयायियों के साथ दक्षिण की ओर चले गये। चन्द्रगुप्त ने महीशूर प्रदेश के ध्रुवणवेल गोल के पास तपस्या में निरत रह अपनी ऐहिक लीला समाप्त की पर भद्रबाहु अकाल के शान्त होने पर उत्तरीय भारत में आये और जैन यतियोंमें आचार-सम्बन्धी परिवर्तनों को देखकर वे नितान्त दुःखित हुए। मधुभद्र इस समय के जैनसंघ के प्रधान नेता थे। इन्होंने समय की गति के कारण उग्र तपस्या के शुद्धभाव को भुलाकर जैनाचार में अनेक सशो-

धन कर डाला था। प्राचीन संघमें नग्नता के आदर्श का ही बोल-चाला था, पर अब मागध संघ ने ज्वेताम्बर (सफेद कपड़ा) को धारण करना न्यायानुमोदित बतलाया। इस प्रकार ईस्वी-पूर्व द्वितीय शतक से ज्वेताम्बर तथा दिगम्बर इन दो अवान्तर भेदोंका उदय जैनधर्ममें उत्पन्न हुआ। ज्वेताम्बर सम्प्रदायके अनुसार दिगम्बरों की उत्पत्ति चार निर्वाण के ६०९ वर्ष बाद (अर्थात् वि० स० १३९=८२ ई०) हुई है। तन्त्रज्ञान के विषय में इन दोनों में कोई भी मतभेद नहीं है, पर अनेक विषयों में आचार-गत पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में धार्मिक नियमों की उग्रता स्पष्ट दृश्य पड़ती पर ज्वेताम्बरों ने मानव कमजोरियों का खयाल कर कई अंशों में कठोर नियमों में शिथिलता ला दी है। दिगम्बरों का कहना है कि केवली (केवलज्ञानसम्पन्न पुरुष) भोजन नहीं करता, न स्त्रियों को मोक्ष प्राप्त हो सकता है। स्त्रियों को पुरुष जन्म के ग्रहण के अनन्तर ही मोक्षप्राप्ति का विधान है।

भुक्ते न केवली न स्त्री मोक्षमेति दिगम्बरः।

प्राहुर्गमामय भेदो महान् ज्वेताम्बरैः सह ॥

—सर्वदर्शन सग्रह में जिनदश सूरी का श्लोक।

इन प्रसिद्ध सम्प्रदायोंके अतिरिक्त यापनोय या 'गोप्य' संघ प्राचीन काल में कभी बड़ा ही प्रसिद्ध था। दर्शनसार के कर्ता देवसेन गृहिके कथनानुसार वि० सं० २०५ से इसका पता चलता ही है। इसकी भी उत्पत्ति उन दोनों सम्प्रदायों के समय में ही हुई। इनके कतिपय सिद्धान्त दिगम्बरियों से तथा अन्य ज्वेताम्बरियों से मिलते हैं। इस संघ के मुनि नग्न रहते थे, मोर की पिच्छि रखते थे, पाणितल भोजी थे, नग्न मूर्तियाँ पूजते थे और वन्दना करनेवाले श्रावकों को 'धर्मलाभ' देते थे। इन बातों में वे दिगम्बरियों के समान थे, परन्तु साथ ही साथ वे मानते थे कि स्त्रियों

का इसी जन्म में मोक्ष हो सकता है और केवली भोजन करते हैं (जिसे ज्वेता० लोग मानते हैं) । इनका विपुल साहित्य नष्ट प्रायः-सा है^१ ।

२—जैन प्रमाण-साहित्य

जैनदर्शन के दार्शनिक ग्रंथों की बहुलता है । पर आचारसम्बन्धी ग्रंथों की मख्या प्रमाणसम्बन्धी ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक है । ऐतिहासिक दृष्टि से हम इन दर्शनग्रंथों को चार कालविभागों में विभक्त कर सकते हैं:—

(१) **आगम ग्रन्थ**—जैनधर्म के मूल आगम ग्रंथों की रचना के विषय में दोनों सम्प्रदायों में पर्याप्त मतभेद है । दिगम्बरो का कहना है कि 'पूर्व' सज्ञक मूल आगम विलुप्त हो गये हैं, आजकल समुपलब्ध आगम ज्वेताम्बर सम्प्रदाय में ही संरक्षित हुआ है । इसकी आदिम रचना के काल का पता हमें नहीं चलता, पर अन्तिम संशोधन छठी शताब्दी में वलभी की समिति में आचार्य **देवर्धिगणि** के द्वारा किया गया था । ऐसा ज्वेताम्बरो का सम्प्रदाय है कि भद्रबाहु के कर्नाटक चले जाने पर स्थूलभद्र की अध्यक्षता में पाटलिपुत्र में जैन यतियों की समिति ने जैन-गमों का स्थिरीकरण किया था । ११ अंगों का रूप-विनिश्चय उसी समय हुआ था, तथा विलुप्त १४ पुत्रों के अवशिष्ट अंशों को १२ वे (दिट्ठवाय नामक) अंग में संकलन किया गया था, पर दिगम्बर सम्प्रदाय इस पर आस्था नहीं रखता । उसका कहना है कि पूर्व तथा अंग दोनों सदा के लिए विस्मृति के गर्भ में विलुप्त हो गये हैं ।

जैन सिद्धान्तों की मख्या ४५ है^२ जिनमें ११ अंग, १२ उपांग, १० प्रकीर्ण, ६ छेदमूत्र, ४ मूलग्रन्थ तथा २ स्वतन्त्र ग्रन्थ (नन्दीसूत्र तथा

१ द्रष्टव्य 'जैन-साहित्य और इतिहास' पृ० ४१-६० ।

२ इन ४५ ग्रन्थों के विषयविभेदन के लिए द्रष्टव्य विन्टरनिस्—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग २ पृ० ४२८-४७४ ।

अनुयोग द्वार) माने जाते हैं । अंगों की महत्ता के कारण उनके नाम यहाँ दिये जाते हैं:—(१) आचारंग (आचारंग सूत्र), (२) ग्यगडंग (सूत्रकृतांग), (३) थाणग (स्थानांग), (४) समवायाग, (५) भगवतीसूत्र, (६) नायाधम्म कथाओ (ज्ञानाधर्म कथा:) (७) उपामगदमाओ (उपामकदशा:), (८) अतगडदमाओ (अन्तकृद्दशा:), (९) अणुत्तरोववाइयदमाओ (अनुत्तरोपपादिकदशा:), (१०) पण्हा-वागरणिआइं (प्रश्न व्याकरणानि), (११) विवाग मुणं (विपाकश्रुतम्), (१२) दिट्ठिवाय (दृष्टिवाद — जो अबना उपलब्ध नहीं होता) । इन आगमों की रचना अर्धमागधों भाषा में की गई है । अनेकान्तवाद, जीव तथा पुद्गल आदि दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन इन आगमग्रन्थों में मिलता है ।

(२) **आरम्भकाल**—जैनदर्शन की मुख्यस्था विक्रम का प्रथम शताब्दी में आरम्भ हुई । इस काल में तीन विद्वान् तथा महामान्य ग्रन्थकारों ने इसकी दार्शनिक नींव को मजबूत बनाने का उद्योग किया । इनमें एक का नाम था **उमास्वाति**, दूसरे का **कुन्दकुन्दाचार्य** और तीसरे का **समन्तभद्र** ।

उमास्वाति—इन्हें दोनों सम्प्रदाय के लोग बड़े आदर तथा श्रद्धा के भाव से देखते हैं तथा इन्हें अपने सम्प्रदाय का अनुयायी मानते हैं । दिगम्बर लोग इन्हें **उमास्वामी** के नाम से पुकारते हैं । ये मगध के निवासी थे तथा विक्रम के आरम्भकाल में कुसुमपुर में इन्होंने अपना प्रख्याततम ग्रन्थ तत्त्वार्थसूत्र या तत्त्वार्थाधिगम सूत्र की रचना की । इस ग्रन्थ की महत्ता इसी बात से समझी जा सकती है कि इसकी वृत्ति, भाष्य तथा टीकायें मान्य जैनाचार्यों ने समय-समय पर कीं । न्यायसूत्र के समान निगूढार्थ यह तत्त्वार्थसूत्र जैनदर्शन के माननाय मन्तव्यों का प्रकाण्ड भाण्डागार समझा जाता है । उमास्वाति ने स्वयं इस पर अपना भाष्य बनाया । पूज्यपाद देवनन्दि का 'सर्वार्थसिद्धि', दिगम्बरों के सम्प्र-

दायानुसार **समन्तभद्र** का तथा श्वेताम्बर के मतानुसार **सिद्धसेन दिवाकर** का तथा ऐतिहासिक आलोचना के अनुसार **सिद्धसेन गणि** (विक्रम ७ शतक--९ शतक के बीच उत्पन्न होनेवाले) का 'गन्धर्वस्मि-गण्य', भट्ट अकलक का 'गजवार्तिक' तथा विद्यानन्दि का 'श्लोकवार्तिक--कतिपय इस ग्रन्थ के प्रामाणिक तथा प्रधान भाष्य तथा वृत्तियाँ हैं^१ ।

कुन्दकुन्दाचार्य - द्रविड़ देश के विख्यात दिगम्बर जेनाचार्य थे । काल के विषय में बड़ा मतभेद है, पर मान्य ऐतिहासिक इन्डे विक्रम की प्रथम शताब्दी में विद्यमान बतलाते हैं^२ । इस प्रकार ये उमास्त्राति के समवामयिक प्रतात होते हैं । ये जैनदर्शन के प्रकाण्ड आचार्य माने जाते हैं तथा इनके ग्रंथ इस सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के विवकाप का काम करते हैं । इनका द्राविडी नाम 'कोण्डकुण्ड' था जिसका संस्कृत रूपान्तर 'कुदकुद' के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध हुआ । इनके लिखे अनेक ग्रंथ प्रसिद्ध हैं जिनमें ८४ पाण्डो (या प्राभृत—एक विशिष्ट विषय पर लिखे गये ग्रंथ) का नाम बतलाया जाता है । इनके अतिरिक्त इनके चार ग्रंथ जैनागम के सर्वस्व माने जाते हैं:—(१) नियमसार, (२) पञ्चा-मिकायसार, (३) समयसार, (४) प्रवचनसार । विद्वत्ता को दृष्टि से तथा विषय-प्रतिपादन की शैली से ये प्रामाणिक तथा विद्वत्तामूचक माने जाते हैं । अन्तिम तीन ग्रंथों की, जै । सम्प्रदाय में, नाटकग्रन्थों की सजा है । जिस प्रकार ब्राह्मणदर्शन में प्रस्थानग्रन्थ—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा गीता - का समधिक आदर है, उसी प्रकार जैन तत्त्व-ज्ञान में नाटकग्रन्थों को महत्त्व तथा आदर प्राप्त है ।

समन्तभद्र—जैन दर्शन के सर्वमान्य आचार्य हैं । इसके समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है परन्तु इनके ग्रंथों की अन्तः

१ उमास्त्राति के जीवन-चरित तथा ग्रन्थ के लिए देखिए पा टन मुखलालजी—तत्त्वार्थसूत्र का विस्तृत भूमिका पृ० १-३६

२ द्रष्टव्य प्रोफेसर उपाध्ये—प्रवचनसार का भूमिका पृ० २२ ।

पराक्षा से इनका समय तृतीय या चतुर्थ शतक विक्रमी में पड़ता है। देवनन्दा (अपरनाम-पूज्यपाद) के ग्रंथों में समन्तभद्र का उल्लेख मिलता है। पूज्यपाद ने अपने जैनैन्द्र व्याकरण में समन्तभद्र के मत का उल्लेख किया है (चतुष्टय समन्तभद्रस्य ५।८।१६८)। पूज्यपाद ने आचार्य उमास्माति के तत्त्वार्थसूत्र पर जो 'सर्वार्थ सिद्धि' नामक टीका लिखी है, उसपर समन्तभद्रके सिद्धान्तों का प्रचुर प्रभाव पड़ा है^१। ऐसी दशा में इनका समय पूज्यपाद (वि० षष्ठ शतक) से प्राचीन मानना ही न्यायमगत है। ये दिडनाग से भी प्राचीन प्रतीत होते हैं^२।

समन्तभद्रके ग्रंथ

१—आप्तमामामा (या देवागम स्तोत्र—११८ कारिका में)—जिस पर दो प्रसिद्ध टीकाएँ हैं।

(क) अष्टशर्ता भट्ट अकलंक रचित।

(ख) अष्टमहस्त्री विद्यानन्द लिखित।

२—युक्त्यानुमान (६४ पद्य—स्वमत तथा परमतों के गुण दोषों का मूत्ररूप से विवेचन—टीका-विद्यानन्द की (मणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में प्रकाशित))।

३—स्वयम्भूस्तोत्र (समन्तभद्र स्तोत्र—पद्यसंख्या १४३—तीर्थकणों की स्तुति, पौराणिक तथा ऐतिहासिक उल्लेखोंके साथ जैनमतका विवेचन।)

४—जिनस्तुतिशतक (अपरनाम—स्तुतिविद्या, जिनशतक जिनशतालंकार)—चित्रकाव्य का उत्कर्ष, भक्तिभाव पूर्ण (११६ पद्य) ।

५—रत्नकरण्ड श्रावकाचार—श्रावकाचार का सत्र से प्राचीन, प्रसिद्ध ग्रंथ।

६—जीवसिद्धि } निर्देश है, पर उपलब्धि नहीं हुई।
७—तत्त्वानुसन्धान }

१ अनेकान्त, वर्ष ५, किण्व १० पृ० ३४५-३५२।

२ वही, वर्ष ५, किण्व १२, पृ० ३८३-३८७।

८—गन्धर्वमिभाष्य—उमान्वाति के तत्त्वार्थ सूत्रपर अनेक ग्रन्थों में उल्लिखित, परन्तु एकत्र भी उपलब्ध नहीं है। यह नितान्त प्रौढ ग्रन्थ माना जाता है^१।

(३) मध्ययुग—(६वीं शताब्दी से लेकर ९म शताब्दी तक) यह युग जैन दर्शन के इतिहास में सुवर्ण-युग समझा जाता है। इस काल को अनेक मौलिक विद्वद्गावर्धन मारगर्भित रचनाओं के निर्माण करने का गौरव प्राप्त है। इस काल का आरम्भ गुप्तकाल के भीतर पड़ता है। कतिपय माननीय आचार्यों का मश्रिप्त वर्णन किया जाता है:—

सिद्धसेन दिवाकर—(पंचम शताब्दी) अपने समयके सत्रमे वंश पण्डित थे। उज्जैन के किसी विक्रमादित्य के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। इनके गुरु का नाम 'बृद्धवादो' था। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—
(१) न्यायावतार (सिद्धार्थि ने १० वें शतक में टीका लिखी) (२) मन्मतितर्क (विशद व्याख्याकार अभयदेवमृति), (३) तत्त्वार्थ टीका, (४) कल्याण मन्दिर स्तोत्र तथा अनेक द्वात्रिंशिकायें। न्यायावतार की रचना कर इन्होंने जैन-न्याय को जन्म दिया है। मन्मतितर्क नितान्त प्रमेय-बहुल ग्रन्थ है^२।

हर्गिभद्र (८ शतक विक्रमी)—जैन धर्म तथा दर्शन पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के रचयिता होने के अतिरिक्त इन्होंने लोकप्रिय 'पद्दर्शन समुच्चय' तथा 'अनेकान्त जयपताका' की रचना की है।

भट्ट अकलङ्क (८ श०)—दिगम्बर मतानुयायी थे। अष्टम शताब्दी के उत्तरार्ध में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने तत्त्वार्थसूत्रपर महत्त्वपूर्ण 'राजवार्तिक' तथा आप्तमीमांसा के व्याख्यारूप में 'अष्टशती' की रचना

१ ग्रन्थकेविशेष विवरणोंकेलिए द्रष्टव्य जुगलकिशोर मुन्वा—स्वामी समन्तभद्र।

२ इनके जीवनचरित तथा ग्रन्थों के विशेष वर्णन के लिए देखिए—मन्मतितर्क की प० नुगलालजी कृत भूमिका (अ) पृ० १-५५

का है। अभी हाल में इनके जिन तीन छोटे छोटे दार्शनिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है उनके नाम लघ्वीयम्त्रय न्यायविनिश्चय तथा प्रमाण संग्रह हैं। इन सब ग्रन्थों का विषय जैन न्याय है।

विद्यानन्द—(नवम शताब्दी) इन्होंने अष्टशती पर अष्टसंख्या तथा तत्त्वार्थ सूत्र पर 'श्लोकवार्तिक' लिखकर मीमांसकमूर्धन्य कुमारिल भट्ट की शैली का अनुकरण किया है।

अकलंक और विद्यानन्द जैनदर्शन को प्रतिष्ठित तथा सर्वमान्य बनानेवाले विद्वान् हैं। इन दोनों की कृतियाँ प्रौढ़, विद्वत्पूर्ण तथा माननीय हैं। विद्यानन्द के 'तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक' में जितना और जैसा मीमांसा का सबल खण्डन है वैसा तत्त्वार्थ की किसी टीका में उपलब्ध नहीं। भट्ट अकलंक के 'गजवार्तिक' में दार्शनिक अभ्यास की शिक्षालता है, तो 'श्लोकवार्तिक' में इसके साथ सम्भारता भी विशेषरूप से है। भट्ट अकलंक ने न्याय प्रमाणशास्त्र का जैनपरम्परा में जो प्राथमिक निर्माण किया, परिभाषाये निर्दिष्ट की, लक्षण और परालक्षण किया वही सर्वमान्य हुआ। इन्होंने सर्वज्ञत्व, जीवत्व आदि की सिद्धि के द्वारा धर्मकीर्ति को झुंझोड़ उबार दिया था। विद्यानन्द ने शान्तगन्धित के परीक्षणों की जैनपरम्परा में समाक्षा का गृहपात किया। ये दोनों विद्वान् जैनोत्तर दर्शनो के भी प्रकाण्ड पण्डित थे, यह सशयहीन तथ्य है।

वादिगजसूरि (नवम शतक विक्रमी)—दिगम्बर सम्प्रदाय के एक बड़े तार्किक माने जाते हैं। ये द्राविड़ संघ के अनुयायी थे। पट्टर्क-पण्डित, स्याद्वाद विद्यापति आदि उपाधियों से इनकी विद्वत्ता का स्पष्ट पता चलता है। एकाग्रभाव स्तोत्र के अनुसार इनके समान कोई भी अन्य शाब्दिक, तार्किक तथा कवि न था^१। दक्षिण के मालंकी वंश के विख्यात

१ वादिगजसूरि शाब्दिकदोषो वादिगजसूरि तार्किक मिहः ।

वादिगजसूरि काव्यकृतस्तै वादिगजसूरि भव्यमहायः ॥

राजा जयसिंह (प्रथम) (राज्यकाल ९३८ श० म०-९६४ श० म०) के ये समकालीन थे । काव्यग्रन्थ में पार्श्वनाथचरित की पर्याप्त ख्याति है । 'न्याय विनिश्चय निर्णय' इनका न्यायविषयक सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है जिसमें भट्ट अकलकदेव के 'न्यायविनिश्चय' का भाग्य है ।

(३) **अश्वानरयण** के दार्शनिक जैन ग्रंथों की सख्या अत्यधिक है । इनमें से समधिक प्रसिद्ध कतिपय ग्रंथकारों का ही देना परिचय पर्याप्त होगा^१ ।

देवसूरि (१२वीं शताब्दी) इन्होंने 'प्रमाणनयनवालोकात्मक' तथा इसकी टीका 'स्याद्वादरत्नाकर' की रचना की है । ये ग्रन्थ जैन न्याय के महत्वपूर्ण प्रमाणभूत ग्रन्थ माने जाते हैं ।

हेमचंद्र (१०८८-११७२ ई०)—ये देवसूरि के समकालीन थे । ये अपने समय के उद्भट विद्वान् तथा विख्यात जैनोपाचार्य माने जाते थे । ब्राह्मणों के द्वारा निर्मित काव्य व्याकरण तथा अलंकार ग्रन्थों के स्थान पर इन्होंने स्वयं जैनियों के उपकारार्थ अनेक काव्यादिकों का रचना की । इसके अतिरिक्त इन्होंने जैन न्याय के विषय में 'प्रमाण-मामासा' नामक विद्वत्तापूर्ण तथा प्रमेयप्रबुल ग्रन्थरत्न का भी निर्माण किया है । निर्विच्छेदशास्त्र-निष्ठा तथा बहुज्ञता के कारण इन्हें 'कर्णिकान्तसर्ज' की उपाधि प्राप्त थी ।

मल्लिषेणसूरि - (१२९२ ई०) इनकी सबसे महत्वपूर्ण रचना स्याद्वादमंजरी है जो हेमचन्द्र का 'अन्ययोगव्यवच्छेद-द्वार्त्रिशिका' की विस्तृत तथा विद्वत्तापूर्ण टीका है । इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसमें ब्राह्मण, बौद्ध तथा चार्वाक दर्शनो की मार्मिक समालोचना है तथा जैन सिद्धान्तों का प्रमाणपुरःसर विमर्शन है ।

१ विस्तार के लिए द्रष्टव्य डॉ० मनाशचन्द्र मिश्रमृपा—विज्ञान आकाश विजयन लाजिक (पृ० १८८—२२०) ।

गुणरत्न—(१४०९ ई०)—इन्होंने हरिभद्र के पङ्कदर्शन-समुच्चय की बड़ी सुन्दर तथा विमृत्त व्याख्या लिखी है जिसमें सब दर्शनों के सिद्धान्तों की मार्मिक विवेचना की गई है तथा उनके विषय में अनेक विशिष्ट साम्प्रदायिक बातों का उल्लेख किया है ।

यशोविजय—(१७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध)—इन्होंने संस्कृत, प्राकृत, गुजराती तथा हिन्दी में खण्डनात्मक, प्रतिपादनात्मक तथा समन्वयात्मक अनेक ग्रन्थों की रचना की है । इनका 'जैन तर्कभाषा' मगल, मश्रिप्त तथा अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ है ।

✓ ३) जैन ज्ञानमीमांसा

जैन मतानुसार जीव चैतन्यमय है । ज्ञान उसका साक्षात् लक्षण है । वह निमर्गतः अनन्तज्ञान-विशिष्ट है, पर कर्मों के आवरण के कारण उसका शुद्ध चैतन्य रूप हमारी दृष्टि से मदा ओझल रहा करता है, पर सम्यक् चारित्र्य के सेवन करने से जाव अपने शुद्ध रूप को फिर से पा सकता है; वह केवल्य तथा सर्वज्ञता से मण्डित हो सकता है ।

यह ज्ञान दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष तथा परोक्ष । इन दोनों शब्दों का व्याख्या में जैन दर्शन जैनतर दर्शनों से नितान्त पृथक् है । यहाँ आत्म-सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष तथा आत्मेतर इन्द्रिय-मनःसापेक्ष-ज्ञान को परोक्ष कहते हैं (जिस ज्ञान की उपलब्धि में आत्मा स्वयं कारणभूत है, अन्य किसी की सहायताके लिए परतन्त्र नहीं है, उसे जैन दर्शन 'प्रत्यक्ष' के नाम से पुकारता है; पर त्रिम ज्ञान की प्राप्ति इन्द्रिय तथा मन के द्वारा होती है, उसे 'परोक्ष' का नाम दिया जाता है ।)

परोक्ष ज्ञान, उमास्वाति के विवेचन के अनुसार दो प्रकार का होता है:—(१) मति तथा (२) श्रुत । ये दोनों इन्द्रिय तथा मन की सहायता

से उत्पन्न होते हैं । (१) अवधि, (२) मनःपर्याय

तथा (३) केवल—ये तीनों प्रत्यक्ष के भेद माने जाते हैं; क्योंकि ये इन्द्रिय तथा मन की सहायता के बिना ही केवल

आत्मा की योग्यता के बल से उत्पन्न होते हैं। इन्द्रिय तथा मन के सम्पर्क में समुद्भूत विषय ज्ञान को 'मतिज्ञान' कहते हैं। स्मृति, सजा, चिन्ता, अभिनिबोध—ये चारों मतिज्ञान के पर्याय हैं^१। मति सामान्यतः दो प्रकार का बतलाया जाता है:— (१) **इन्द्रियजन्य**—बाह्येन्द्रियों के द्वारा जन्य ज्ञान को इन्द्रियजन्य कहते हैं। (२) **अनिन्द्रियजन्य**—मानस ज्ञान।

शब्द से उत्पन्न ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं। श्रुतज्ञान मतिपूर्वक होता है। मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है और श्रुतज्ञान अतीत, विद्यमान तथा भविष्य इन त्रैकालिक विषयों में प्रवृत्त होता है। इस विषयकृत भेद के अतिरिक्त दोनों में यह भी अन्तर है कि मतिज्ञान में शब्दोन्मुख नहीं होता, श्रुतज्ञान में शब्दोन्मुख रहता है। जैनागम के द्वादश अंगों के ज्ञान को अगप्रविष्ट श्रुत ज्ञान गणधरों के पञ्चात् मुद्ग बुद्धिवाले आचार्यों के द्वारा विरचित शास्त्रों का ज्ञान अगवाह्य श्रुतज्ञान कहलाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान के तीन प्रकारों का निर्देश ऊपर किया गया है। इनमें दृग्स्थित व्यवधानयुक्त पदार्थों का ज्ञान 'अवधि ज्ञान' कहलाता है। जब जीव विशिष्ट सात्विक साधनों की सहायता से आवरणीय कर्मों का आशिक क्षय करने लगता है, तब उसे दृग्स्थित पदार्थों का भी ज्ञान स्वयं आत्मा की योग्यता के कारण सम्पन्न हो जाता है, यही अवधि ज्ञान है। जो अवधि ज्ञान जन्म लेते ही प्रकट हो जाता है उसे **भवप्रत्यय** कहते हैं और जिस ज्ञान के लिए व्रत, नियम आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा बनी रहती है उसे **गुणप्रत्यय** की सजा है (त० सू० १।२१-२३)। आगे चलकर जब जीव द्रोह, ईर्ष्या

^१ अवग्रह, ईहा, श्राय तथा बाह्या ये मानज्ञान के चार भेद माने जाते हैं।
दृष्टय—त० सू० १।१५।

आदि परकीय मनकी प्रवृत्तियों के निरोधक कर्मों को श्रय कर लेता है तब उसे दूसरों के मन के विचारों को जानने की योग्यता आ जा जाती है। यही 'मनः पर्याय' ज्ञान कहलाता है। पर जब ज्ञान के समस्त आवरणीय कर्मों का नितान्त श्रय कर दिया जाता है; तब आत्मा अपने पृष्ठ सर्वज्ञ रूप को प्राप्त कर लेता है। उस समय उसमें सर्वज्ञता आदि कर्मों का उदय स्वतः हो जाता है। यही प्रत्यक्ष का पारमार्थिक रूप है जिसे 'केवल ज्ञान' कहते हैं। इसके अधिकारी सम्यक् चारित्र्य के अनुष्ठान करने वाले सिद्ध पुरुष ही होते हैं।

यह विवेचन तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर किया गया है, पर पीछे के जैनाचार्य प्रत्यक्ष तथा परीक्ष का विभाग एक दूसरे ही प्रकार से करते हैं।

हेमचन्द्र—
प्रमाण विभाग

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रमाण मामामा में तथा गुणगन्त ने पृष्ठदर्शन समुच्चय की टीका (पृ० २०४) ने प्रत्यक्ष के साध्यवहारिक तथा पारमार्थिक दो भेद माने हैं। अस्मत्-प्रत्यक्ष जिसमें इन्द्रिय तथा मन की सहायता नितान्त आवश्यक है 'साध्यवहारिक' प्रत्यक्ष कहलाता है। आवरण विलय हो जाने पर चेतन जाग्र का स्वस्वाविर्भाव होना केवल ज्ञान या 'पारमार्थिक' प्रत्यक्ष कहलाता है (तत् सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वस्वाविर्भावो मुख्यं केवलम्—प्रमाणमामामा—अन्याय १ सूत्र १५)। परीक्ष ज्ञान के ५ प्रकार स्वीकृत किये गये हैं (१) स्मृति=वामना के उद्बोध के कारण जाग्रमान अतीत का यथार्थ स्मरण; (२) प्रत्या-ज्ञान='यह वस्तु वही है' इत्यादि ज्ञान; (३) तर्क=उपलब्ध तथा अनुपलब्ध-निमित्त व्याप्ति का ज्ञान; (४) अनुमान=हेतु से साध्य का अनुमान; (५) आगम=आप्त पुरुषों तथा आगमों के वाक्यों से समुत्पन्न प्रामाणिक ज्ञान।

सामान्य रीति से कहा जा सकता है कि जैन न्याय प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम—इन तीन प्रमाणों को ही स्वीकार करता है। प्रत्यक्ष की सन्ता सर्वमान्य है। अनुमान चार्वाक को अस्वीकृत है, पर जैनाचार्यों ने

बड़ी प्रचल युक्तियों के आधार पर लोकव्यवहार के लिए अनुमान को प्रामाणिकता मानी है (म० द० म० १० १८-१९)। जैन आगम में प्रतिपादित सत्य जैन दर्शन की मूलभूमि है, पर जैन लोग ब्राह्मण शास्त्र-श्रुति तथा स्मृति - की प्रामाणिकता अनेक दोषों के विद्यमान होने से मानने के लिए तैयार नहीं है।

✓ स्याद्वाद

जैन दर्शन का यह प्रधान सिद्धान्त है कि प्रत्येक वस्तु अनन्त धर्मात्मक हुआ करती है। इन समस्त वस्तु-धर्मों का यथार्थ ज्ञान उसी पुरुष को हो सकता है जिसने कैवल्यज्ञान को प्राप्त कर लिया है। पर अस्मादृश भ्रान्ति-बहुल मानवों में इतनी सामर्थ्य कहाँ है कि वे प्रत्येक वस्तु के समस्त धर्मा का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सकें। वह तो वस्तु के केवल एक धर्ममात्र को जान सकता है। अतः उसका ज्ञान सदा आंशिक हुआ करता है। जैनदर्शन वस्तु के अनन्त धर्मों में से एक धर्म के ज्ञान को 'व्य' के नाम से पुकारता है^१। वस्तु-स्थिति पर विचार करने में प्रत्येक ज्ञान का आंशिक या सांक्षेप होना ही न्यायप्रसंग है। परन्तु वास्तविक ज्ञान हमसे भिन्न पदार्थ है (साधारणतया ज्ञान तीन प्रकार का हो सकती है— (१) दुर्लभ, (२) नय, (३) प्रमाण^२। यदि विद्यमान होनेवाला जिस वस्तु को हम **विद्यमान ही** (सदेव) बतलावे, तो उसके अन्य प्रकारों के निषेध किये जाने के कारण यह ज्ञान 'दुर्लभ' (दुष्ट नय) के नाम से पुकारा जायगा। अन्य प्रकारों का बिना निषेध किये हुये वस्तु को **सद्**

१। कदेर्वादिष्टोऽयं नयस्य विषयो मतः। न्यायवाक्यश्लोक २९। नय शब्द का निर्गत या ह---नायने परिच्छिद्यते। कदेर्वादिष्टोऽर्थः अनेकानां नयः। (स्या-स्वाध-मज्जी पृ० १५९।)

२ सदेव भवत्यस्यैतन्नि विधातो मायेन दुर्लभिनयप्रमाणः।

यथार्थदर्शो तु नयप्रमाणपथेन दुर्लभित्वं त्वमास्यः॥

न्यायवाद मज्जी श्लोक २८.

चतलाना आशिक-ज्ञान-संवलित होने के कारण 'नय' कहलायेगा। पर प्रमाण इन दानों में भिन्न होता है। विद्यमान वस्तु के विषय में सभ-वतः 'यह सद् है' (स्यात् सत्) यहाँ ज्ञान वस्तु के ज्ञात तथा अज्ञात समस्त धर्मों के संकलन होने के कारण प्रमाणकोटि में आता है।

'नय' सिद्धान्त जैनदर्शन का एक मुख्य विषय माना जाता है। किसी विषय का सापेक्ष निरूपण नयवाद के नाम से पुकारा जाता है।

नयवाद इस नयवाद का विवेचन जैनग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से किया गया उपलब्ध होता है (त० मृ० १।३४-३५) वस्तु के अनन्तधर्मात्मक होने से उसके प्रत्येक विशेष के निरूपण करने में नयों की सख्या भी अनन्त है। परन्तु विवेक दृष्टि से उसके सामान्यतः दो भेद स्वीकृत किये जाते हैं:—(१) **द्रव्यार्थिक** नय तथा (२) **पर्यायार्थिक** नय। किसी वस्तु के दो धर्म हो सकते हैं—एक तो वह जिसके कारण वस्तु की विविध परिणामों के बीच एकता बनी रहती है। इसे ही द्रव्यार्थिक नय की मज्ञा है। दूसरे वे धर्म जो देश तथा काल के कारण किसी वस्तु में उत्पन्न हुआ करते हैं। इन विशेषों के सापेक्ष निरूपण को पर्यायार्थिक मज्ञा दी जाती है। प्रथम नय तीन प्रकार का तथा अन्तिम चार प्रकार का, दोनों मिलकर सात प्रकार के होते हैं—नैगम नय, संग्रह नय, व्यवहार नय ऋजु नय, शब्दनय, समधिष्ठ नय तथा एवंभूत नय। इनके नामों में समानता होने पर भी भिन्न भिन्न ग्रन्थों में इनके स्वरूप के विषय में विशेष मतभेद दीख पड़ता है।

इस आशिक ज्ञान के कारण ही जगत् में पारस्परिक कलह दिग्बलाई पड़ रहा है। प्रत्येक दर्शन इस विचित्र नानात्मक विश्व के ही विवेचन करने में व्यस्त है पर वह किसी एक अंश को ही लेकर ऊहापोह में लगा रहता है। दर्शनो में पारस्परिक कलह का बीज यही है कि वे अपने ही विवेचन को

दार्शनिक विरोध का कारण

यथार्थ मानकर अन्य दर्शनों के विवेचनो को अयथार्थ ठहराते हैं। इस विषय में दार्शनिकों का पारस्परिक विरोध हार्थिक स्वरूप निर्णय के विषय में झगड़ा करनेवाले अन्धों के कलह के समान हो है। पर जैनदर्शन का कहना है कि दर्शन नानारूपिणा सत्ता के अशमात्र के विवेचन करने से अपना महत्व रखते हैं। उनमें आपस में किसी प्रकार के मतभेद के लिए स्थान नहीं है। इस उदार चिन्तवृत्ति तथा विशालहृदयताके कारण जैन तत्त्वज्ञान का किसी भी दर्शन से विरोध नहीं है। जैनदर्शन न केवल आचार के लिए अहिंसाका पक्षपाती है, प्रत्युत तात्त्विक समीक्षा के विषय में वह 'बौद्धिक अहिंसा' को मानता है।

जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक परामर्श के पहले उसे सीमित तथा सापेक्ष बनाने के विचार से 'स्यात्' विशेषण का जोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। 'स्यात्' (शायद, सम्भव) शब्द अस् धातु के ^{स्याद्वाद् का अर्थ} विधिलिङ् के रूप का तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय माना जाता है। घट के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति=सम्भवतः यह विद्यमान है' इसी रूपमें होना चाहिए। वर्तमान काल तथा देश के विचार करने से हम घट को सत्ता का अनुभव करते हैं, परन्तु यह सत्ता त्रैकालिक सत्य नहीं है, अपि तु सापेक्षिक सत्य है क्योंकि प्रत्येक देश में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक दशा में तथा एतादृश अन्य प्रकारों में घट की सत्ता का अनुभव हमें नहीं हो सकता। अतः घट के विषय में हमारा परामर्श 'स्यादस्ति' का ही रूप धारण कर सकता है। इसी कारण जैन दर्शन प्रत्येक परामर्श वाक्य के साथ 'स्यात्' पद के योग करने के लिए आग्रह करता है। यही है मुरमिद्ध **स्याद्वाद** या **अनेकान्तवाद** जो जैन दर्शन की प्रमाणमीमांसा के इतिहास को एक अपूर्ण महत्वपूर्ण देन माना जाता है।

'स्याद्वाद' की उत्पत्ति भी बड़ी रोचक है। बुद्धकालमें अनेकान्तवाद मानने वाले दार्शनिकों की कमा न थी और ये ब्राह्मण तथा परिव्राजकोंमें

की सजा दी गई है। आगे चलकर इन्हीं मूलभूतों के पारस्परिक मिश्रण से 'सत्तभर्गा' का कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ^१।

सत्तभर्गा नय

साधारणतया न्यायशास्त्र में परामर्श के दो ही प्रकार के रूप हो सकते हैं (१) अन्वया, जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी वेष्य का विधान किया जाय अथवा (२) व्यतिरेकी, जिसमें किसी उद्देश्य के विषय में किसी विषेय का निषेध किया जाय। परन्तु जैन न्याय में सत्ता के साधक रूप को स्वीकार करने के कारण परामर्श का रूप सात प्रकार का माना जाता है जिसे 'सत्तभर्गा नय' के नाम से पुकारते हैं। वे रूप नीचे दिये जाते हैं:—

- (१) स्यादस्मि (सम्भवतः क ख है);
- (२) स्यान्नास्मि (सम्भवतः क ख नहीं है);
- (३) स्यादस्मि च नास्मि च (सम्भवतः क ख है और सम्भवतः क ख नहीं है);
- (४) स्याद् अवक्तव्यम् (सम्भवतः क अवक्तव्य=वर्णनातीत है);
- (५) स्यादस्मि च अवक्तव्य च (सम्भवतः क ख है और अवक्तव्य भी है);
- (६) स्यान्नास्मि च अवक्तव्यं च (सम्भवतः क ख नहीं है और अवक्तव्य भी है);
- (७) स्यादस्मि च नास्मि च अवक्तव्यं च (सम्भवतः क ख है क ख नहीं भी है तथा अवक्तव्य भी है);

इनके स्वरूप को जानने के लिए थोड़ा सा विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। पहले वाक्य का अर्थ है कि सम्भवतः कोई पदार्थ किसी धर्म

^१ अनेकान्तवाद के विषय में द्रष्टव्य प्रमाण समुच्चय का पृ० मुखलाल ने कृ. प्रस्तावना पृ० १८-२८; सम्माननार्क की अग्रणी भूमिका पृ० १३२-१४०, उपाध्यक्ष प्रवचनसार का अग्रणी भूमिका ८६-९१।

विशेष के साथ सम्बद्ध है। जैसे सम्भवतः बड़ा है अर्थात् 'इस समय में एक विशेष प्रकार के स्थान में (घर में) एक विशेष रूप को रखने वाला बड़ा विद्यमान है' इस वाक्य का यही अर्थ समझा जाना चाहिए। दूसरे वाक्य का प्रयोग पदार्थ-विशेष का धर्म-विशेष के साथ सम्बन्ध-प्रतिबंध के अवसर पर किया जाता है -- जैसे 'सम्भवतः इस घर के बाहर बड़ा नहीं है'। इसका यह अर्थ है कि किसी विशेष प्रकार का बड़ा विशिष्ट समय में एक विशिष्ट गृह के बाहर अमला धारण किये हुए है। किसी वस्तु के सत्तात्मक तथा निषात्मात्मक उभयविध स्वरूप के संचलित-रूप से ज्ञान के लिए पूर्व वाले दोनों परामर्शों का एकत्र करने से तीसरे प्रकार के परामर्श का उदय होता है जैसे स्यात् गृहे अस्मि घटः, गृहाद वह्निर्नास्ति घटः (सम्भवतः घर के भीतर घट विद्यमान है तथा गृह के बाहर वह अविद्यमान है)। इसका निर्देश तृतीय वाक्य में किया गया है। कच्चा होने पर घड़ा काला है, पर पक जाने पर वही लाल बन जाता है, तब घट का यथार्थ रूप क्या है? इस प्रश्न का निष्कपट उत्तर यही हो सकता है कि परिस्थितियों की विपुलता के कारण, एकत्र विरोधात्मक नाना धर्मों की सत्ता होने के कारण, घट का वास्तविक रूप अवक्तव्य, अनिर्वचनीय है। जैन न्याय के अनुसार चतुर्थ परामर्श इसा सिद्धान्त को प्रतिपादित करता है। अन्तिम तीन परामर्शों की उत्पत्ति पूर्वनिर्दिष्ट चारों विचार-बिन्दुओं के सम्मिश्रण से होती है। जैन न्याय के अनुसार किसी भी पदार्थ के विषय में इतने ही वैकल्पिक ज्ञानों का उदय हो सकता है। अतः सात प्रकारों को धारण करने के कारण इसे 'सत्त-भगो नय' की संज्ञा प्रदान की गई है।

(४) जैन तत्त्वसमीक्षा

वस्तु अनन्तधर्मात्मक होती है (अनन्तधर्मात्मकमेव तत्त्वम्)। किसी मनुष्य के स्वरूपज्ञान के लिए, उसके देश, काल, जाति, जन्म, धर्म वर्ण,

वस्तु समाज आदि का जानना तो अत्यन्त आवश्यक है। इन सत्तात्मक धर्मों का नाम 'स्वपर्याय' है; ये अन्य ही हुआ करते हैं; पर वस्तु के निषेधात्मक धर्म अनन्त होते हैं जो उसे अन्य तत्सदृश वस्तुओं से प्रथक् किया करते हैं। 'देवदत्त' के विषय में इतना ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है कि वह भारतवर्षवासी, श्यामवर्ण, हिन्दू, आर्य-धर्मानुयायी, ब्राह्मणकुलोत्पन्न है, यह तो सत्तात्मक गुण हुए। निषेधात्मक गुणों को जानकारी भी उतना ही जरूरी है। यह भी जानना पड़ेगा कि वह न तो युरोपियन है न चीनिदेशीय, न श्वेतवर्ण का है न पीतवर्ण का है आदि आदि। इन इत्यन्तार्थीन निषेधात्मक धर्मों को 'परपर्याय' के नाम से पुकारते हैं। इस प्रकार जैनदर्शन की कल्पना में प्रत्येक वस्तु 'स्वपर्याय' तथा 'परपर्याय' का समुच्चयमात्र है।

द्रव्य

सत् के स्वरूप विषय में दर्शनो में पर्याप्त मतभेद है। वेदान्तदर्शन केवल ब्रह्म को सत् मानता है; बौद्धदर्शन सत् पदार्थ को निरन्वय-क्षणिक (अर्थात् उत्पादविनाशशील) मानता है। सांख्यदर्शन 'सत्' की व्याख्या चेतन तत्त्वरूप सत् पदार्थ (पुरुष) को कूटस्थ नित्य मानता है, पर अचेतन तत्त्वरूप सत् पदार्थ (प्रकृति) को परिणामिनित्य अर्थात् नित्यानित्य मानता है। परन्तु जैनदर्शन के अनुसार 'सत्' का विवेचन एक विभिन्न ही प्रकार से किया जाता है।

प्रत्येक पदार्थ के दो अंश हुआ करते हैं—शाश्वत अंश और अशाश्वत अंश। शाश्वत अंश के कारण प्रत्येक वस्तु ध्रुव्यात्मक अर्थात् नित्य है और अशाश्वत अंश के कारण हर एक वस्तु उत्पाद-व्ययात्मक (उत्पत्ति विनाशशाली अर्थात् अनित्य है)। यदि केवल एक अंश पर दृष्टिपात करते हैं तो वस्तु स्थिर प्रतीत होती है तथा दूसरे अंश पर दृष्टि डालने से तो वह अस्थिर प्रतीत होती है। पर एकांश पर दृष्टि डालना एकांगी

सत्य हो सकता है। सर्वांगीण सत्यता उभयांगों के निरीक्षण पर अवलंबित है। अतः इन दोनों दृष्टियों का अनुसरण कर जैनशास्त्र प्रत्येक वस्तु को उपादव्यय-ध्रौव्य युक्त बतलाना है। अर्थात् पदार्थ उत्पन्न होने तथा नाश होनेवाला होता है, साथ ही साथ वह स्थिर होनेवाला भी होता है^१। अर्थात् वह नित्यानित्य होता है। यहाँ पर शंका का उदय होना स्वाभाविक है कि जो पदार्थ नित्य है वह उस क्षणमें अनित्य कैसे हो सकता है? क्या एक ही पदार्थ में नित्यता तथा अनित्यता का एककालिक सम्बन्ध मानना विरुद्ध नहीं माना जा सकता? इसका उत्तर जैनदर्शन में ब्रह्म-मुन्दर ढंग में दिया गया है। बिना किसी प्रकार के परिवर्तन हुए समान भावमें रहनेवाला वस्तु को वह नित्य नहीं माना जाता। उसका दृष्टि में 'अवना जाति से च्युत न होना' ही 'नित्यत्व' का लक्षण है। वस्तु में परिणाम होने पर भी जातिगत एकता विवर्धित नहीं होता। अतः उसे नित्य मानने में किसी प्रकार का विप्रतिपत्ति न होनी चाहिए। अनुभव इस परिणामनित्यता के सिद्धान्त की प्रामाणिकता सिद्ध करता है। 'वर्ग' में कुडलत्व, अंगुलायत्व आदि धर्म के उत्पन्न होने पर भी वह गुणवत्ता जाति से च्युत नहीं होता। 'परिणामनित्यता' के सिद्धान्त में भेदान्तियों के कूटस्थनित्यता तथा सौगता के 'परिणामवाद' का हृद्य समन्वय है। प्रत्यक्ष के नानात्व के भीतर विद्यमान एकत्व को जैनदर्शन अंगीकार करता है। वह कहता है कि जगत् का नानात्व भावाम्बविक है, तथा एकत्व भी सत्य है।

सतत विद्यमान रहनेवाले तथा वस्तुमत्ता के लक्षण नितास्त आवश्यक धर्मों को 'गुण' कहते हैं तथा देशकालजन्य परिणामशाली धर्म का 'पर्याय' कहते हैं। गुण तथा पर्यायविशिष्ट वस्तु को जैन न्याय के अनुसार 'द्रव्य' कहते हैं (गुणपर्यायवद् द्रव्यम् -त० म० ५-३७)।

द्रव्य का सबसे बड़ा विभाग दो प्रकार का होता है:—(१) एक-देशव्यापी द्रव्य तथा (२) बहुप्रदेश-व्यापी द्रव्य । काल एक ही पदार्थ है जो एकप्रदेश-व्यापी माना जाता है । जगत् के अन्य समस्त पदार्थों

में विस्तार उपलब्ध होता है । अतः वे बहुप्रदेश-व्यापी माने जाते हैं । जैनदर्शन में विस्तार धारण करनेवाले द्रव्य 'अस्ति-काय' कहे जाते हैं । सत्ताधारण करने के कारण वे 'अस्ति' तथा शरीर की भाँति विस्तार से समन्वित होने के हेतु वे 'काय' कहे जाते हैं^१ । ऐसे ५ द्रव्यों की सत्ता स्वीकृत की गई है—(१) जीवास्तिकाय, (२) पुद्गलास्तिकाय, (३) आकाशास्तिकाय, (४) धर्मास्तिकाय तथा (५) अधर्मास्तिकाय ।

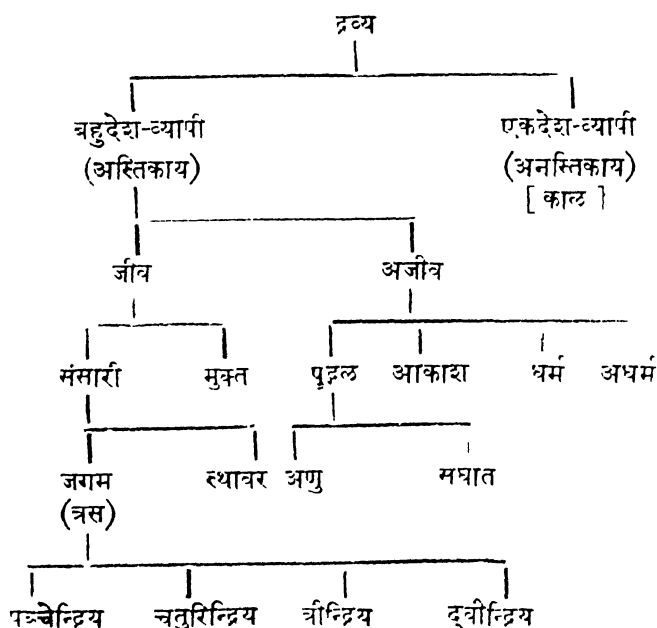
देशव्यापक (अस्तिकाय) द्रव्यों के दो प्रधान भेद हैं—जीव और अजीव । इनमें जीव आत्मा का वाचक है । जीव सामान्यतः दो प्रकार के होते हैं—बद्ध, संसारी तथा बन्धन से निर्मुक्त, मुक्त । इनमें संसारी जीवों के अनेक भेद स्वीकार किये गये हैं । वे जीव जो उद्देश्यपूर्वक किसी स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की शक्ति रखते हैं **जस** कहलाते हैं और जो जीव ऐसी शक्ति से विहीन रहते हैं उन्हें **स्थावर** कहते हैं । संसारी जीव के अन्य चार प्रकारों का वर्णन तत्त्वार्थाधिगम सूत्र (२।३२-३६) में दिया गया है:—(१) नारक—विविध नरकों में निवास करनेवाले जीव (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च—पशु-पक्षी आदि लघुकाय जीव, (४) देव - ऊर्ध्वलोक में निवास करनेवाले जीव । स्थावर जीव सबसे निकृष्ट माने जाते हैं, क्योंकि इसमें केवल स्पर्शेन्द्रिय की ही सत्ता मानी जाती है । जंगम जीवों में कुछ दो इन्द्रिय सम्पन्न, कुछ तीन इन्द्रिय से युक्त, कुछ चतुरिन्द्रिय-युक्त होते हैं, परन्तु मनुष्य, पशु-

१. सति जदो तेणेदे अस्थानि भगति जिणवग जम्हा ।

काया इव बहुदेमा तम्हा काया य अत्थिकाया य ॥

पक्षी आदि उन्नत जीवों में पँचो इन्द्रियों पाई जाती हैं। यह तो जीव का सामान्य निरूपण हुआ। अजीव चार प्रकार के होते हैं पृथ्वी, आकाश, धर्म तथा अधर्म।

द्रव्य-विभाग का संक्षिप्त वर्णन



जीव

चेतन द्रव्य जो जीव कहते हैं। चैतन्य जीव का सामान्य लक्षण है। संसार के समस्त जीवों में, चाहे वे किसी प्रकार के क्यों न हों, चैतन्य

उपलब्ध होता ही है। प्रत्येक जीव नैसर्गिकरूप से अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सामर्थ्य आदि गुणों से सम्पन्न माना गया है, परन्तु आवरणीय कर्मों के कारण इन स्वाभाविक धर्मों का उदय जीवों में नहीं हुआ करता। अपने ही शुभाशुभ कर्मों के प्रभाव से जीव के स्वाभाविक गुणों पर एक प्रकार का आवरण पड़ा रहता है। शुभ कार्यों के अनुष्ठान से इस आवरण के निरोधान होने से इन गुणों का साक्षात्कार जीव को हुआ करता है। दर्शन, ज्ञानादि गुणों के विप्लव तारतम्य के कारण जीवों के अनन्त भेद हैं। जीव शुभाशुभ कर्मों का कर्ता है तथा कर्मफलों का भोक्ता भी वह स्वयं है। जगत् के प्रत्येक भाग में जीवों की सत्ता मानी है।

जीव ही वस्तुओं को जानता है, कर्मों का सम्पादन करता है, मुख का भोक्ता है दुःख को सहता है; अपने को स्वयं प्रकाशित करता है तथा अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। नित्य होने पर भी जीव परिणामशील है। यह शरीर से भिन्न है और उसकी सत्ता का सबसे प्रबल प्रमाण चैतन्य की उपलब्धि है। जैनदर्शन जीव को मध्यम परिमाण-विशिष्ट मानता है। इस ध्रुप में भी यह आत्मा को विभु मानने वाले अद्वैत वेदान्तियों तथा अणु मानने वाले वैष्णवों के उभय अन्तो को छोड़कर मध्यममार्ग को माननेवाला है। जीव शरीरावच्छिन्न होता है, वह अपने निवासभूत शरीर के परिमाण को धारण करता है। वह दीपक की भाँति अपने निवासभूत शरीर को प्रकाशित करता है। वह स्वयं अमूर्त है पर दीपक के प्रकाश की तरह आधारभूत शरीर के रूप तथा परिमाण को धारण करता है। इस प्रकार हस्ती के विशालकाय में रहने वाला जीव विपुल परिमाण-विशिष्ट होता है, पर चींटी जैसे अल्पकाय में रहनेवाला जीव परिमाण में नितान्त स्वल्प होता है। प्रदोष की तरह जीव भी संकोचविकाशशाली होता है^१। तात्त्विक दृष्टि से अरूपी होने

के कारण उसका ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा हो नहीं सकता, पर स्वसंवेदन प्रत्यक्ष तथा अनुमान के बल पर उसका ज्ञान किया जा सकता है^१ ।

अतीत

जैनदर्शन में 'पुद्गल' शब्द का अर्थ कुछ विलक्षण माना जाता है । यह भूत-सामान्य के लिए व्यवहृत किया जाता है । 'पुद्गलास्तिकाय'

(१) पुद्गल यह संज्ञा जैनशास्त्र में ही प्रसिद्ध है; अन्य दर्शनों में पुद्गलस्थानीय तत्त्व को प्रधान, प्रकृति, परमाणु आदि शब्दों से पुकारते हैं । सर्वदर्शन संग्रह (पृ० ८) में 'पुद्गल' शब्द की निरुक्ति बतलाई गई है—पूरयन्ति गलन्ति च (जो पूर्ण हो जाय तथा गल जाय) । अर्थात् पुद्गल उन द्रव्यों की संज्ञा है जो प्रचयरूप से शरीर के निष्पादन करनेवाले होते हैं तथा प्रचय के विनाश होनेपर जो छिन्न-भिन्न हो जाते हैं । पुद्गल के दो रूप उपलब्ध होते हैं—अणु तथा संघात । पुद्गल के सूक्ष्मतम निरवयव अंश जिनका और सूक्ष्म रूप में विभाजन नहीं किया जा सकता 'अणु' कहलाता है । दो या दो से अधिक इन सूक्ष्म अंशों के परस्पर एकत्र होने से 'संघात' बनता है । इन्हीं संघातों के द्वारा हमारे शरीर तथा उसके भिन्न भिन्न अंग, मन, प्राण आदि की सृष्टि होती है । पौद्गलिक पदार्थों में चार गुण पाये जाते हैं^२—स्पर्श, रस, गन्ध तथा वर्ण । ये गुण उसके द्विविधरूपों में विद्यमान रहते हैं । अणु या संघात—दोनों प्रकार में ये चारों गुण पाये जाते हैं । अन्य दार्शनिक शब्दों का भी भूतों का गुण विज्ञापन स्वीकार करते हैं; पर जैन दार्शनिक शब्दों का मूलभूत गुण नहीं

१ ज्ञानो ज्वयोगमओ अमुत्ति कत्ता मदेहपरिमाणो ।

भावा ममारथो सिद्धो मो विस्मसोद्दगई ॥

—द्रव्यसंग्रह गाथा २

२ स्पर्शरसगन्धवर्णवन्तः पुद्गलाः—त० मृ० ५।२६

मानते, प्रत्युत् सूक्ष्मत्व, स्थूलत्व, अन्धकार, छाया आदि के समान उत्पन्न होनेवाला अवान्तर परिणाम बतलाते हैं^१ ।

जीवादि अस्तिकाय द्रव्योंको अवकाश देनेवाले पदार्थ की 'आकाश' संज्ञा है । आकाश की सत्ता प्रत्यक्ष ज्ञान के ऊपर अवलम्बित न होकर

(२) आकाश अनुमान के आधार पर अंगीकृत की जाती है । जीव, पुद्गल, धर्म तथा अधर्म पदार्थ बहुप्रदेश-व्यापी हैं ।

अतः उनके विस्तार की सिद्धि के लिए प्रदेश पर्यायवाले आकाश-द्रव्य की सत्ता मानना न्याय-संगत है । आकाश दो प्रकार का माना जाता है — (१) जीव, पुद्गल आदि द्रव्यों की स्थिति जिस भाग में होती है उसे लोकाकाश की संज्ञा है; (२) तथा लोक से उपरितन आकाश की 'अलोकाकाश' संज्ञा है ।

काल की कल्पना अनुमान के आधार पर मानी जाती है । जगत् के समस्त पदार्थ परिणामशील होते हैं । इस परिणाम के साधारण कारण के

(३) काल रूपमें कालकी संज्ञा मानी जाती है । वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्व तथा अपरत्व ये पाँचों कालके 'उपकार'

माने जाते हैं^२ । काल के बिना पदार्थों की स्थिति की कल्पना नहीं की जा सकती । स्थिति का अर्थ हुआ पदार्थका अनेक-क्षणव्यापी अवस्थान । काल के अवयवों को बिना माने स्थिति की कल्पना निराधार ही है । किसी वस्तु का परिणाम काल की सत्ता पर ही अवलम्बित है । कच्चे आम का पक जाना कालजन्य ही है । पूर्वापरक्षण-व्यापिनी क्रिया काल के ही कारण सम्भव है । ज्येष्ठता तथा कनिष्ठता की कल्पना काल की सिद्धि को प्रमाणभूत बतला रही है । काल का विस्तार नहीं माना जाता, अतः

१ शब्दबन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य-संस्थानभेदतमदृष्टायनापोद्घोतवन्तश्च ।

त० सू० ५।२४ ।

२ वर्तना परिणामः क्रिया परत्वापरत्वे च कालस्य—त० सू० ५।२२ ।

अस्तिकाय द्रव्यों में इस विषय में वह भिन्न ही है। लोकाकाश के एक एक प्रदेश में अणुरूप काल की सजा रत्नों की गणि के समान मानी जाती है। रत्नों के ढेर होने पर भी जिस प्रकार प्रत्येक रत्न पृथक् रूप से विद्यान रहता है, उसी प्रकार लोकाकाश में काल अणुरूप में पृथक्-पृथक् स्थित रहता है (द्र० स० का० २३)। द्रव्य संग्रह में काल के दो भेद माने गये हैं^१।—

(१) **व्यावहारिक काल** — द्रव्यों के परिणाम से अनुमित दण्ड, घड़ी पल आदि अवयव-सम्पन्न काल को व्यावहारिक काल कहते हैं।

(२) **पारमार्थिक काल** यह काल नित्य, निरवयव माना जाता है। वर्तना — पदार्थ की स्थिति—इसका सामान्य लक्षण है। व्यावहारिक-कालके ही अंगों की कल्पना है। अतः वह सादि तथा सान्त है, पर पारमार्थिका काल एक अनवच्छिन्नरूप से सतत विद्यमान रहता है।

धर्म तथा अधर्म द्रव्यों की जैन कल्पना अन्य दर्शनो में स्वीकृत कल्पना से नितान्त भिन्न ठहरती है। गतिशील जीव तथा पदगल के

सहकारी कारण द्रव्य विशेष को धर्म की सजा दी गई है।

(४) धर्म जल में चलनेवाली मछली के लिए जिस प्रकार जल सहकारी कारण माना जाता है, उसी प्रकार जीव तथा पदगल द्रव्यों की गति के लिए धर्मास्तिकाय की कल्पना की गई है। धर्म स्वयं जीव को गति की प्रेरणा में असमर्थ है, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र प्रदान करता है। जल मछली को चलने के लिए प्रेरणा नहीं कर सकता, पर उसकी गति के लिए सहायतामात्र देने का कार्य करता है।

अधर्मकी कल्पना धर्म के ठीक विरुद्ध है। स्थितिशील जीव तथा

१ द्रव्यपरिवृत्तद्रव्यो जो सो कालो ह्येव व्यवहारो ।

परिणाम शीलकसो बह्वलकसो यः प्रयत्नो ॥ द्रव्यसंग्रह, गाथा २२

पुद्गल की स्थिति के सहकारी कारण द्रव्यविशेष को 'अधर्म' की संज्ञा
 (५) अधर्म जैनदर्शन में दी गई है । जिस प्रकार श्रान्त पथिक के
 उठरने के लिए वृक्षा की छाया सहायक होती है, उसी
 प्रकार जीव की स्थिति के वास्ते अवर्मास्तिकाय की कल्पना स्वीकृत की
 गई है । छाया पथिक के टिकने के लिए कारण नहीं हो सकती, न उसे
 टिकने के लिए प्रेरणा कर सकती है, केवल सामान्यव्यपेण कारण बन
 सकती है । जीव तथा पुद्गल की स्थिति के लिए अधर्म की कल्पना भी
 इसीलिए मानी गई है ।

(५) जैन आचार मीमांसा

जैनदर्शन में मोक्ष के साधन तीन हैं—(१) सम्यक् दर्शन,
 (२) सम्यक् ज्ञान तथा (३) सम्यक् चारित्र । 'दर्शन' शब्द का अर्थ
 है श्रद्धा अतः मोक्षमार्ग में जाने के लिए साधक के
 रत्नत्रय पास प्रथम साधन होना चाहिए सम्यक्श्रद्धा^१ ।
 तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित शास्त्रसिद्धान्तों में अदृष्ट तथा गहरी श्रद्धा
 रखना नितान्त आवश्यक है । अध्यात्ममार्ग के पथिक के लिए सबसे
 अधिक उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण पाथेय सम्यक्श्रद्धा है । सम्यक् ज्ञान
 दूसरा साधन है । शास्त्र के द्वारा प्रतिपादित निखिल सिद्धान्तों तथा तत्त्वों
 का यथार्थ तथा गम्भीर अनुभव प्राप्त करना भी श्रद्धा के समान ही
 आवश्यक तथा उपादेय है । सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् ज्ञान की चरितार्थता
 सम्यक् चारित्र में ही सम्पन्न होती है । इन्हीं मोक्षोपयोगी तीनों
 साधनों—सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र—को जैन
 दर्शन में 'रत्नत्रय' की संज्ञा दी गई है ।

जीव निसर्गतः मुक्त है, पर वासनाजन्य कर्म उसके शुद्ध स्वरूप पर

१ सम्यक्-दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः

—त० मू० १।१

२ तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्

—त० मू० १।२

आवरण डाले रहते हैं। इस कर्म के स्वरूप को जैनदर्शन अन्य दर्शनो से नितान्त भिन्न मानता है। कर्म पौद्गलिक होते हैं। पृथिवी, जल आदि के समान कर्म भी भौतिक माना जाता है। वह जीव को सर्वाश व्याप्त कर इस दुःखमय प्रपञ्च में डाले हुए है। कर्म के साथ सम्बद्ध जीव ही बद्धपुरुष के रूप में दीख पड़ता है। कर्म के आठ मुख्य प्रकारों का वर्णन जैन ग्रन्थों में बड़े विस्तार के साथ किया गया मिलता है। कुछ कर्म ज्ञान को ढके हुए रहते हैं; कुछ दर्शन को आच्छादित किये रहते हैं तथा कुछ मोह उत्पन्न करने के साधन बने रहते हैं। इस प्रकार ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, वेदनीय आधुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय इन आठ कर्मों के १४४ भेदों का वर्णन जैन ग्रन्थों में दिया गया है (त० सू० ८।५-१६)।

जीवन के साथ कर्म का सम्बन्ध तथा विच्छेद दिखलाने के लिए जैन दर्शन-सम्मत सप्त पदार्थों का वर्णन करना यहाँ उचित प्रतीत होता है। इन पदार्थों के नाम हैं—(१) आत्मव, (२) सप्तपदार्थ, बन्ध, (३) मवर, (४) निर्जरा, (५) मोक्ष, जो पूर्ववर्णित, (६) जीव तथा (७) अजीव के साथ मिल कर सात पदार्थ माने जाते हैं (त० सू० १।४)। भोगात्मक जगत् तथा भोगायतन शरीर के साथ जीव के सम्बन्ध कगने का प्रधान कारण कर्म ही है। उसी के साथ सम्बन्ध होने से जीव का बन्धन तथा उसके प्रभाव से उन्मुक्त होने पर जीव का मोक्ष निर्भर रहता है। अपने व्यापार के लिए अपरतन्त्र कर्मों का जीव के साथ सम्बन्ध होना 'आसूव' कहलाता है। तत्त्वार्थसूत्र (६।१-२) में शरीर, वचन तथा मन की क्रिया को योग का नाम दिया गया है और यही योग ही 'आसूव' कहलाता है। जिस प्रकार जलाशय में जल के प्रवेश कराने वाले नाले का मुख आसूव कहलाता है, उसी प्रकार कर्म के प्रवेश कराने का मार्ग होने के कारण योग को 'आसूव' की संज्ञा दी गई है। इस

तरह चरम तत्त्वों के अज्ञान तथा वासनादि के कारण कर्मों का जीव के प्रति जो संयुक्त होनेकी क्रिया हुआ करती है उसे ही जैन दर्शन 'आस्रव' कहता है। आस्रव दो प्रकारका होता है—भावस्रव (कर्मोत्पादक रागादिभाव) तथा द्रव्यस्रव (पुद्गलकर्मों का आना—द्र० म० गाथा ३०)।

उसके अनन्तर कर्मों के द्वारा जीवों का साक्षात् व्याप्त कर लेना बन्ध कहलाता है। दूसरे शब्दों में जब जीव कपाययुक्त होने से कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, तब इसे 'बन्ध' की संज्ञा प्रदान की जाती है^१। उमास्थाती (त० सू० ८।१) बन्धन के पाँच कारण मानते हैं—(१) मिथ्यात्व (अतत्त्व में तात्त्विक दृष्टि रखना); (२) अक्षिति (दोषों से विरत न होकर सदा उनमें लगा रहना), (३) प्रमाद (कर्तव्य तथा अकर्तव्य कार्यों में अविवेक के कारण सावधान न होना) (४) कपाय (समभाव की मर्यादा का तोड़ना), (५) योग (मानसिक, कायिक तथा वाचिक प्रवृत्ति)। इन्हीं कारणों से जीव कर्म के द्वारा बन्धन को प्राप्त करता है।

अब इन कर्मों का सम्बन्ध-विच्छेद भी दो भिन्न-भिन्न क्रमों से निष्पन्न हो सकता है। आगे आनेवाले कर्मों के मार्ग को सर्वथा बन्द कर देने को 'संवर' कहते हैं (त० सू० ९।१)। यह 'आस्रव' से विपरीत क्रिया है। संवर का ग्रहण करना अग्रिम कर्मों के मार्ग को निरुद्ध कर जीव को अत्यधिक बन्धन में पड़ने से बचाता है तथा उसे मुक्ति की ओर उन्मुख करता है। संवर दो प्रकार का होता है—भावसंवर तथा द्रव्यसंवर। 'भावसंवर' मुमुक्षु के उन मानसिक उद्योगों तथा नैतिक प्रयत्नों के लिए प्रयुक्त होता है जिनके द्वारा वह कर्म के मार्ग का निरोध कर देता है। 'द्रव्यसंवर' नवीन पुद्गलकर्म के सम्बन्ध के वास्तविक निरोध की संज्ञा है। वास्तव क्रिया के प्रथम ही मानस व्यापार का होना अनिवार्य है। अतः संवर दो प्रकार का माना जाता है।

१ सकषायत्वात् जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादस्ते । स बन्धः ॥

इसके अनन्तर दूसरी सीढ़ी 'निर्जरा' की होती है जिसके द्वारा सम्पादित कार्यों को निर्वीर्य बनाकर फलाभाव के लिए उन्हें जीर्ण कर देना होता है। इनका फलस्वरूप मोक्ष कहलाता है। इसकी स्थिति कर्म के आत्यन्तिक क्षय के बिना सम्भव नहीं हो सकती; इसलिए उमास्वाति ने समग्र कर्मों के क्षय को मोक्ष नाम से अभिहित किया है^१। मोक्ष प्राप्त करने ही जीव अपने नैसर्गिक शुद्धस्वरूप को पा लेता है और उसमें इस 'अनन्त-चतुष्टय' की उत्पत्ति सद्यः हो जाती है—अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य, अनन्त श्रद्धा तथा अनन्त शान्ति। केवल्य प्राप्त कर लेने पर जीव इस भूतल पर निवास करता हुआ समाज के परम समलके सम्पादन करने में लग रहा होता है। वह अपने आदर्श चरित्र से मनुष्य-मात्र के हृदय में दुःख-निवृत्तिके लिए आशा का संचार करता रहता है।

सिद्धावस्था तक पहुँचने के लिए मुमुक्षु का आध्यात्मिक विकास एक दम नहीं हो जाता, प्रत्युत उसे इस मार्ग में अपनी नैतिक उन्नति के अनुसार क्रमशः आगे बढ़ना पड़ता है। मोक्षमार्ग के गुणस्थान इन सोपानों को जैनदर्शन में "गुणस्थान" कहते हैं^२। प्रत्येक धर्म इस कल्पना की युक्तिमत्ता स्वीकृत करता है। जैनदर्शन के अनुसार गुणस्थानों की संख्या १४ है जिनमें मिथ्यात्व से लेकर क्रमशः सिद्धि की अन्तिम श्रेणी तक पहुँचना लक्ष्य माना जाता है। गुणस्थान की कल्पना मनोवैज्ञानिक आधारपर प्रतिष्ठित है। इन गुणस्थानों के नाम क्रमशः ये हैं:—(१) मिथ्यात्व (विवेक-हीनता की दशा), (२) प्रथिभेद (सत् असत् के विवेक का उदय), (३) निर्विषयता (विषय-निवृत्ति की दशा), (४) अविरत सम्यग्दृष्टि (मशय नाश होने पर सम्यक् श्रद्धा की अवस्था) (५) देशविरति

१ उमास्वाति-निर्जराध्याय। कृत्स्नकर्मश्रयो मोक्षः। त० सू० १०।२-३

२ दृष्टव्य नाहर और घोषाल—पैन एपिटोम, आफ जैनज्म। Nahar & Ghoshal—An Epitome of Jainism पृ० ६२०-६४६।

(पापों का आशिक त्याग), (६) प्रमत्त, (७) अप्रमत्त, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिकरण, (१०) मृदुम साम्पराय, (११) उपशान्तमोह, (१२) क्षाणमोह (मोक्ष को आश्रय करनेवाले भिन्न २ कर्मों के नाश से उत्पन्न दशाएँ) (१३) सयोग-केवल (इस गुणस्थानमें साधक अनन्तज्ञान तथा अनन्तदुःख से दर्दार्प्यमान हो उठता है । वह तीर्थंकर कहलाता है और उपदेश देने तथा धार्मिक सम्प्रदाय स्थापन की योग्यता उसमें हो जाती है; इस दशा में शुक्लध्यान की सहायता से जीव मुक्ति को प्राप्त कर लेता है); (१४) अयोग केवल-यही अन्तिम दशा है । यह अवस्था उत्पन्न होते ही साधक ऊपर उठने लगता है । लोकाकाश-आलोकाकाश के बीच में एक नितान्त पवित्र स्थान है, यही इन सिद्धों की निवास भूमि है । इस स्थान को 'सिद्धशिला' कहते हैं । वह अनन्तचतुष्टय को प्राप्ति कर चरमशान्ति का अनुभव करता है । साधकों के लिए यही चरम मुक्तावस्था है ।

सम्यक् चारित्र्य की सिद्धि के लिए इन सार्वभौम पाँच महाव्रतों का पालन नितान्त आवश्यक है । (१) अहिंसा (शरीर से, वचन से या मन से किसी भीति किसी प्राणी को हानि न पहुँचाना) (२) सत्य (जो वस्तु जिस रूपमें विद्यमान हो उसे उसी रूप में कहना), (३) अस्तेय (दूसरे किसी की वस्तु को उसकी आज्ञा के बिना कभी ग्रहण न करना), (४) ब्रह्मचर्य (वार्य रक्षा करते हुए नैष्ठिक जीवन व्यतीत करना) (५) अपरिग्रह (किसी भी पदार्थ में आसक्ति परित्याग कर उसे ग्रहण न करना अर्थात् संसार के समस्त विषयों से महा वैराग्य) । इन व्रतों में सासारिक गृहस्थों के लिए कभी कभी वस्तुस्थिति के विचार से शिथिलता भी दिखलाई गई है । यतियों के लिए अपरिग्रह के कठोर नियम का विधान है, पर गृहस्थों के लिए उसके स्थान पर सन्तोष का ही । जैन धर्म में आचार के नियमों के पालन में बड़ी कठोरता तथा व्यवस्था दीख पड़ती है ।

(६) समीक्षा

जैन दर्शन इस जगत् के मूल में अनेक तत्वों की सत्ता स्वीकार करता है। अतः वह दार्शनिक बहुत्ववाद के समर्थक रूप में हमारे सामने आता है। वह आग्म से ही वास्तववाद (रीअलिज्म) का अनुयायी है। वह हमारी बाह्येन्द्रिय तथा अन्तरिन्द्रिय के द्वारा अनुभूत जगत् की सत्ता को वास्तव मानता है। कुछ दार्शनिक लोग जगत् की सत्ता में प्रधान साधन बाह्य इन्द्रिय-जन्य ज्ञान को ही मानते हैं। उनकी सम्मति में चक्षुरादि बाहरी इन्द्रियाँ जिन पदार्थों का स्वयं अनुभव जिस रूप में करती हैं वे पदार्थ उसी रूप में सत्य हैं। विपरीत इसके, कुछ दार्शनिक लोग अन्तरिन्द्रिय—मन बुद्धि के—द्वारा ग्राह्य विषय को ही सत्य अंगीकार करते हैं; परन्तु जैन दर्शन इस विषय में दोनों के समन्वय का इच्छुक है। उसके अनुसार बाह्य जगत् को सत्यता प्रमाणित करने के लिए मन के साथ साथ बाह्य इन्द्रियों की सहायता किसी प्रकार भी न्यून नहीं है। इस प्रकार जैन दर्शन का दृष्टिबिन्दु निःसन्देह बहुत्वसंवलित वास्तववाद (प्ल्युरलिस्टिक रीअलिज्म) है। इस दृष्टि के अनुयायी होने से पाश्चात्य दार्शनिक लाइबनिस् के समान ही जैन दार्शनिक इस जगत् के समस्त प्रदेशों में जीवों की सत्ता स्वीकार करता है^१। इस विश्व में उस प्रदेश का सर्वथा अभाव है जिसे जीव अपनी उपस्थिति से सजीव नहीं बनाते। वह विविध विचित्रतामय विपुलप्रदेश-संवलित विश्व के कण कण में जीवों की सत्ता को स्वीकार करता है तथा किसी प्रकार की इन्हें हानि न पहुँचाने के उदात्त उद्देश्य से प्रेरित होकर वह अहिंसा को परम धर्म मानता है।

अनेकान्तवाद जैनदर्शन का माननीय तथा बहुमूल्य देन माना जाता है। समस्त पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध पर बिना ध्यान दिये सत्य ज्ञान

का उदय नहीं हो सकता । शुगरत्न ने एक प्राचीन श्लोक का उद्धरण देकर इस सिद्धान्त की पर्याप्त पुष्टि की है^१ । 'जिसने एक वस्तु का सर्वथा ज्ञान सम्पादन कर लिया, उसने समग्र वस्तुओं के सर्वथा ज्ञान को प्राप्त कर लिया तथा समस्त वस्तुओं का सर्वथा अनुभव कर्ता एक वस्तु का सर्वथा अनुभव करनेवाला है' । नानात्मक सत्ता की तात्त्विक आलोचना 'स्याद्वाद' के सिद्धान्त को मानकर ही की जा सकती है । यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है । परन्तु अनेकान्तवाद का दार्शनिक विवेचन अनेक अंश में त्रुटिपूर्ण प्रतीत हो रहा है । जैन-दर्शन ने वस्तु-विशेष के विषय में होने वाली विविध लौकिक कल्पनाओं के एकीकरण का श्लाघ्य प्रयत्न किया है, परन्तु उसका उसी स्थान पर ठहर जाना दार्शनिक दृष्टि से दोष ही माना जायगा । यह निश्चित ही है कि इसी समन्वय-दृष्टि से वह पदार्थों के विभिन्न रूपों का समीकरण करता जाता, तो समग्र विश्व में अनुस्यूत परमतत्त्व तक अवश्य ही पहुँच जाता । इसी दृष्टि को ध्यान में रखकर शंकराचार्य ने इस 'स्याद्वाद' का मार्मिक खण्डन अपने शारीरिक भाष्य (२ । २ । ३३) में प्रबल युक्तियों के सहारे किया है । यह जैन सिद्धान्त दार्शनिक विवेचन के लिए आपाततः उपादेय तथा मनोरञ्जक प्रतीत होता है, पर वह मूल-भूत तत्त्व के स्वरूप समझाने में नितान्त असमर्थ है । इसी कारण यह व्यवहार तथा परमार्थ के बीचों बीच तत्त्वविचार को कतिपय क्षण के लिए विमूर्ध्म तथा विराम देनेवाले विश्राम-गृह से बढ़कर अधिक महत्त्व नहीं रखता ।

आचार मीमांसा जैन दर्शन का बड़ा महत्त्वपूर्ण अंग है । जैन मत आरम्भ में धर्म के रूप में उद्भूत हुआ था; क्रमवद्ध दर्शन का रूप उसे

१ एको भावः सर्वथा येन दृष्टः, सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः ।

सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्ट्वा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः ॥ ।

अवान्तर शतकों में प्राप्त हुआ। अतः विद्वज्जन आस्रव तथा सवर के मोक्षोपयोगी तत्त्वों का प्रतिपादन ही जैन दर्शन का प्रधान विषय बतलाते हैं^१; अन्य बातें सब उसी के प्रपञ्च भूत हैं। जैनधर्म की एक बड़ी त्रुटि दीख पड़ती है कर्मफल के दाता ईश्वर की सत्ता न मानने में। वह ईश्वर-विषयक युक्तियों का तर्क से खण्डन करता है तथा वह ईश्वर के निषेध करने में मविशेष जागरूक बना हुआ है। कर्म की स्वतन्त्रता ईश्वर की अध्यक्षता के अभाव में भी तत्तत् फल देने में स्वयं कारण मानी जा सकती है। इस विषय में जैनदर्शन मीमांसकमत के साथ समता रखता है, पर जहाँ मीमांसा धर्मकर्म के अन्तिम निर्णय के लिए भगवती श्रुति का आश्रय लेती है वहाँ जैनधर्म उस आश्रय से भी वञ्चित रहता है। मानव हृदय अपनी श्रद्धा तथा भक्ति की विशेष उन्नति के लिए किसी साकार वस्तु को चाहता है। सिद्धों को ईश्वर के स्थान पर प्रतिष्ठित कर जैनधर्म ने इस कमी की पूर्ति कर दी है। 'अर्हत्' की देवत्व कल्पना मनुष्यों के आर्त हृदय को आश्वासन देने के लिए मंजीवनी ओपधि का काम करती है। पर इसमें भी बढ़कर है उसका जीव के नैसर्गिक अनन्त सामर्थ्य तथा अनन्त सौख्य में गम्भीर विश्वास। वह मनुष्यमात्र के लिए आशा का सन्देश तथा स्वावलम्बन की श्लाघनीय शिक्षा देता है। इस विषय में यह धर्म उपनिषत्-प्रतिपादित आध्यात्मिक परम्परा के अधिकारी होने से ही इतना प्रभावशाली बन पाया है, यह कहना ऐतिहासिक तथा तात्त्विक दोनों दृष्टियों से अयुक्त न होगा।



१ आश्रवो मयहेनुः स्थान सवरो मोक्षकारणम् ।

ईशायमार्हतां दृष्टिग्न्यदस्याः प्रपन्नम् ॥ म० ८० स० पृ० ३१

षष्ठ परिच्छेद

बौद्ध दर्शन

ऐतिहासिक गवेषणा के अनुसार बुद्ध धर्म का उदय जैन धर्म के अनन्तर हुआ। बौद्ध 'निकायो' में अन्तिम जैन तीर्थंकर नाटपुत्त के नाम, सिद्धान्त तथा मृत्यु के उल्लेख अनेक स्थलों पर पाये जाते हैं, परन्तु जैन 'अंगो' में बुद्ध धर्म विषयक उल्लेखों का अभाव ही दृष्टि-गोचर होता है। बुद्धधर्म के दो रूप हमें इतिहास के पृष्ठों में मिलते हैं—पहला शुद्ध धार्मिक रूप है जिसमें आध्यात्मिक तत्त्वों के रहस्योद्घाटन को अनावश्यक मान कर आचारमार्ग का ही जनता के कल्याण के लिए सरल प्रतिपादन किया गया है। दूसरा दार्शनिक रूप है जिसमें बौद्ध तत्त्वविवेचकों ने बुद्ध की आचार शिक्षा के तह में रहनेवाले सूक्ष्म सिद्धान्तों का तर्क-निष्णात बुद्धि से गहरा अनुशीलन किया तथा बुद्धधर्म की धुंधली दार्शनिक रूपरेखा को स्पष्ट कर दिखलाया। इन दोनों रूपों का सश्रित्त विवेचन इस परिच्छेद का विषय है।

इस धर्म के संस्थापक गौतमबुद्ध का चरित नितान्त प्रख्यात है। ४४८ ई० पू० (५०५ विक्रम पूर्व) के वैशाखी पूर्णिमा को शाक्यगणा-

गौतम बुद्ध

धिप शुद्धोदन की भार्या मायादेवी के गर्भ से गौतम का जन्म हुआ। १९ वें वर्ष में उन्होंने पत्नी के प्रेम-मय आलिंगन, नवजात शिशु के मन्द मुमुकान तथा राजपाट के विशाल वैभव को लात मारकर महाभिनिष्क्रमण किया। सांख्योपदेशक आराड कालाम के उपदेशों को उन्होंने सुना, पर सन्तोष न हुआ। अन्ततोगत्वा पच्चीस साल की अवस्था में अपनी प्रज्ञा के प्रकर्ष से गौतम ने उरुवेल में चार आर्यसत्त्यों की प्रत्यक्ष अनुभूति कर ४७१ वि० पू० के वैशाखी पूर्णिमा को 'बुद्धत्व' प्राप्त किया। मिगदाव (सारनाथ) में कौडिन्य

आदि पञ्चवर्गीय पञ्च भिक्षुओं के सामने अपना प्रथम उपदेश देकर इन्होंने 'धर्मचक्रप्रवर्तन' किया। गणराज्य के आदर्श पर बुद्ध ने भिक्षुओं के 'संघ' की स्थापना की तथा मानव क्लेशों से उद्धार पाने के लिए 'विनय' तथा 'धर्म' की शिक्षा जनसाधारण को 'मागधी भाषा' में दी। ४२६ वि० पू० वैशाख पूर्णिमा को ८० वर्ष की आयु में मल्लगणतन्त्र को राजधानी कुशीनगर (कसया, जिला गोरखपुर) में निर्वाण प्राप्त किया। जन्म, बोधिप्राप्ति तथा निर्वाणप्राप्ति की घटनाएँ एक ही तिथि वैशाख पूर्णिमा को घटित हुई थी। अतः बुद्ध धर्म के लिए यह तिथि नितान्त पवित्र मानी जाती है।

बुद्ध के उपदेश मागधी भाषा में मौखिक ही होते थे। अतः उन्हें विस्मृतिगर्भ से बचाने के लिए बुद्ध के निर्वाणकाल में महाकश्यप के समुपनिषत् में बौद्ध भिक्षुओं की प्रथम सगीति त्रिपिटक (सम्मेलन) राजगृह में सम्पन्न हुई जिसमें बुद्ध के पट्टशिष्य आनन्द के सहयोग से 'मुत्तपिटक' तथा नापितकुलोद्भूत उपासिक के सहयोग से 'विनयपिटक' का संकलन किया गया। मुत्तपिटक के अन्तर्गत 'मातिका' (मात्रिका=दार्शनिक अंश) के पल्लवीकरण से अवान्तर काल में 'अभिधम्म पिटक' का निर्माण किया गया। बुद्ध धर्म के ये ही तीन पिटक सर्वस्व हैं—मुत्तपिटक (बुद्ध के उपदेश), विनय पिटक (आचार सम्बन्धी ग्रंथ), अभिधम्म पिटक (दार्शनिक विषयों का विवेचनात्मक ग्रन्थ)। इन पिटकों (पेटारियों) के भीतर अनेक छोटे मोटे ग्रन्थ हैं^१। मुत्तपिटक में पाँच निकाय (मुत्त समूह) हैं—(१) दीघ निकाय (३४ मुत्त), (२) मज्झिम निकाय

१ इन ग्रन्थों के विषय-विवेचन के लिए देखिए डा० विमलचरण ला—हिस्ट्री आफ पार्ली लिटरेचर (दो भाग) तथा डा० विन्तर्गिन्स—हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर, भाग दूसरा।

(१५२ सुत्त), (३) संयुक्त निकाय (५६ संयुक्त), (४) अंगुत्तर निकाय (११ निपात), (५) खुद्दक निकाय (१५ छोटे-मोटे ग्रन्थ जिनमें बुद्ध की ४२३ उपदेशात्मक गाथाओं का संग्रहात्मक धम्मपद तथा बुद्ध के पूर्व जन्म से सम्बद्ध ५५० कथाओं का संग्रहरूप जातक नितान्त विख्यात है । इनके अतिरिक्त खुद्दक पाठ, उदान, इतिवृत्तक, मुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थैरगाथा, थैरीगाथा, निर्देस, पटिमम्मिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस तथा चरियापिटक हैं । विनयपिटक के तीन अंग हैं— (१) मुत्तविभग या पातिमोक्ख, भिक्खु पातिमोक्ख तथा भिक्खुनी पातिमोक्ख (२) खन्धक—(क) महावग्ग तथा (ग्व) चूलवग्ग तथा (३) परिवार । अभिधम्मपिटक के अन्तर्गत मात ग्रन्थ है—पुग्गलपञ्चति, धातुकथा, धम्मसंगणि, विभग, पट्टान पकरण, कथावत्थु तथा यमक । नाग सेनकृत 'मल्लिदपञ्जो' त्रिपिटक के समान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है ।

(१) बुद्ध की आचार शिक्षा

बुद्ध की शिक्षाओं के रहस्य समझने के लिए पहले यह जानना आवश्यक है कि अध्यात्मशास्त्र की गुत्थियों को तर्क की सहायता से नृलाना बुद्ध का लक्ष्य न था प्रत्युत इस क्लेश-बहुल प्रपञ्च से उद्धार पाने के लिए सरल आचार मार्ग का निर्देश करना ही उनका प्रधान ध्येय था । शिष्यों के द्वारा अध्यात्मविषयक प्रश्नों को मृनकर बुद्ध के रूप हो जाने का यही रहस्य है । ऐसे प्रसंग निकायों में अनेक बार आते हैं कि बुद्ध ने स्पष्ट शब्दों में 'अतिप्रश्नों' के पूछनेसे अपने शिष्यों को रोका । श्रावस्ती के जेतवन में विहार के अवसर पर 'मालुङ्क्यपुत्त' ने बुद्ध से लोक के शाश्वत, अशाश्वत, अन्तवान् अनन्त होने के तथा जीव और शरीर की भिन्नता, अभिन्नता आदि के विषय में दस मेण्डक प्रश्नों को पूछा, परन्तु भगवान् ने आचारमार्गके लिए वैराग्य, उपशम, अभिजा (लोकोत्तरज्ञान),

१ द्रष्टव्य नूलमालुङ्क्यमुत्तं (६३वां सुत्त), मज्झिम निकाय (पृ० २५१-५३)

संशोधि (परमज्ञान) तथा निर्वाण (आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति) उत्पन्न करनेमें साधक न होनेसे उन्हें अव्याकृत (व्याकरण — कथन के अयोग्य) बतलाया^१ । इस विषय में उन्होंने एक बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया । यदि कोई व्यक्ति विषदिग्ध बाण से विद्ध होकर कराहता हो, और बंधु-बान्धव चिकित्सा के लिए किसी विषवैद्य को बुलाने के लिए उद्यत हो, तो क्या उस रोगी के लिए वैद्य के नाम, गोत्र, रूप, रंग आदि की जानकारी के लिए आग्रह करना परले दर्जे की मूर्खता नहीं है ? भवराग के रोगी प्राणियों की दशा भी ठाँक एसी ही है । उन्हें अध्यात्म को लेकर क्या करना है ? उन्हें तो कर्तव्यमार्ग की रूपरेखा का जानना जरूरी है ।

कर्तव्य-शास्त्र के विषय में बुद्ध ने इन चार आर्य-सत्त्वों का अपनी सूक्ष्म विवेक बुद्धि से रहस्योद्घाटन किया है—(१) इस संसार में जीवन दुःखोंमें परिपूर्ण है (दुःखम्); (२) इन दुःखों का कारण विद्यमान है (दुःख-समुदयः); (३) इन दुःखों से वास्तविक मुक्ति मिल सकती है (दुःखनिरोधः) तथा (४) इन निरोध-प्राप्ति के लिए उचित उपाय या मार्ग है (दुःख निरोधगामिनी प्रतिपद्) । सत्त्वों की संख्या अनन्त है; परन्तु अत्यधिक महत्त्व रखने से ये ही सत्य-चतुष्टय सर्वश्रेष्ठ हैं । चन्द्रकीर्तिके कथनानुसार इस सत्त्वोंका 'आर्य' कहनेका अभिप्राय यह है कि आर्य (विद्वज्जन) लोग ही इन सत्त्वोंके तह तक पहुँचते हैं । पामरजन जीते हैं, मरते हैं तथा दुःखमय जगत्का अनुभव प्रतिक्षण करनेपर भी इन सत्त्वों तक नहीं पहुँच पाते^२ । हमने पहले बतलाया है चिकित्सा-शास्त्रके ढंगपर मोक्ष

१ द्रष्टव्योऽप्युपादमुत्तं दाध निकाय (१।९)

२ ऊर्णापक्षम यथैव हि कान्तलमस्थ न विद्यते पुभिः ।

अश्लिगन्तं तु तदेव हि जनयत्यर्गन्ति च पाठां च ॥

कान्तलमदृशो बालो न वेत्ति सस्कादुःखतापक्षम् ।

अश्लिग-दृशस्तु विद्वान् तेनैवोद्ध्वजते गाढम् ॥

—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ४७६ ।

शास्त्र को चतुर्व्यूह मानना भारत में एकमान्य सिद्धान्त है। वैद्यकशास्त्र की इस समता के कारण बुद्ध की महाभिषक् (वैद्यराज) संज्ञा है तथा बौद्ध दार्शनिक साहित्य में 'भैषज्य' नामधारी ग्रन्थ भी मिलते हैं (जैसे भैषज्यगुरु--दैर्घ्यप्रभराज सूत्र जो चीन और जापान में बौद्धसिद्धान्तों के लिए नितान्त मान्य है)।

प्रथम आर्यसत्य दुःख है। लौकिक अनुभव कहता है कि इस जगती-तल पर दुःख की सत्ता इतनी ठोस तथा स्थूल है कि उसका कथमपि अपलाप नहीं किया जा सकता। द्वितीय आर्यसत्य आर्यमन्य दुःखसमुदय है--दुःखों के कारण। इस विषम दुःखों के उदय के लिए केवल एक ही कारण नहीं है, प्रत्युत कारणों की एक लम्बी शृंखला है। इस कारण-परम्परा की लोकप्रिय संज्ञा है द्वादश निदान^२--(१) जरामरण; (२) जाति, (३) भव, (४) उपादान; (५) तृष्णा, (६) वेदना, (७) स्पर्श, (८) पञ्चायतन, (९) नामरूप (१०) विज्ञान, (११) संस्कार, (१२) अविद्या। पूर्व के प्रति पर-निर्दिष्ट कारण हैं। जरामरण का कारण है जाति, जन्म लेना। जाति का कारण है भव अर्थात् प्राणिमात्र के पुनर्भव या पुनर्जन्म उत्पन्न करनेवाले कर्म। वसुधन्व ने 'भव' का यही अर्थ किया है (यद् भविष्यद्-भवफलं कुरुते कर्म तद्भवः--अभिधर्म कोश ३।२४)। भव उत्पन्न होता है उपादान--आसक्ति से। उपादान अनेक प्रकार के होते हैं। कामोपादान (स्त्री में आसक्ति), शोलोपादान (वृत्तों में आसक्ति) से कहीं बढ़ कर है आत्मोपादान (आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)।

१ संस्कृतमूल भा हाल में प्रकाशित हुआ है। द्रष्टव्य Dr N. Dutta : Gilgit MSS Vol. I

२ द्रष्टव्य दीर्घ निकाय का १५ वाँ महानिदान-मुत्ता, मज्झिम निकाय का ३८ वाँ महानिदान-सख्य (महानृष्णासख्य) सुत्ता तथा अभिधर्म कोश, तृतीय कोशस्थान १९-२३ श्लोक।

ग्व—वर्तमान जीवन से सम्बद्ध निदान

- ३ विज्ञान,
- ४ नामरूप,
- ५ पडायतन
- ६ स्वर्ग,
- ७ वेदना,
- ८ तृष्णा,
- ९ उपादान,
- १० भव.

ग—भविष्य जीवन से सम्बद्ध निदान

- ११ जाति.
- १२ जरामरण^१,

तृतीय आर्यसत्य दुःख-निरोध या **निर्वाण** है। कारण की सत्ता ही पर कार्य की सत्ता अवलम्बित रहती है। यदि कारण-परम्परा का निरोध कर दिया जाय, तो आप से आप चलनेवाली मशीन की तरह कार्य का निरोध स्वतः सम्पन्न हो जायगा। मूल कारण अविद्या का विद्या के द्वारा निरोध कर देने पर दुःख-निरोध अवश्य हो जाता है।

चतुर्थ आर्यसत्य दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद् अर्थात् **निर्वाण मार्ग** है। बुद्ध ने मुख-समृद्धि में जीवन यापन करनेवाले मुखमागियों तथा घोर व्रताचरण में इस काञ्चन काया को मुखाकर काँटा बना देनेवाले तापसों के जीवन को निर्वाण के लिए सहायक न मानकर इन उभय मुख तथा दुःख के छोरो को छोड़ कर 'मध्यम प्रतिपदा' को खोज निकाला। इस प्रतिपदा को आर्य **अष्टांगिक मार्ग**^२ भी कहते हैं। आठ अंगों का संक्षिप्त वर्णन यों है—(१) सम्यक् (आर्यसत्त्यों का तत्त्वज्ञान); (२) सम्यक्

१ स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डकः।

पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूर्णाः ॥—अभि० को० ३।२०

२ द्रष्टव्य दीर्घ निकाय का २० वां 'महासतिपट्ठान-सुत्त' पृ० १९७-१९८

संकल्प (दृढ़ निश्चय); (३) सम्यक् वचन (सत्यवचन); (४) सम्यक्-कर्मन्त (हिंसा, द्रोह, दुराचरण-रहित कर्म); (५) सम्यक्-आजीव (न्यायपूर्ण जीविका); (५) सम्यक् व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने देना तथा भलाई के वास्ते सतत उद्योग करना), (७) सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना, आदि के अशुचि अनित्य रूप की उपलब्धि और लोभादिचिन्मत्ताय से अलग रहना); (८) सम्यक् समाधि (रागद्वेषादि द्वन्द्वविनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता) । इस अष्टांगिक मार्ग के यथार्थ सेवन से प्रज्ञा का उदय होता है और निर्वाण की सद्यः प्राप्ति हो जाती है ।

आर्यसत्त्वों की समीक्षा करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि बुद्ध का मार्ग उपनिषत्प्रतिपादित मार्ग में एकान्त भिन्न नहीं है । उपनिषदों का चिन्तन 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था । परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती, जब तक उसके धारण करने का सामर्थ्य शरीर में नहीं होता । ज्ञानोत्पत्ति के लिए शरीर-शुद्धि नितान्त आवश्यक है । बुद्ध ने भी शील के द्वारा शारीरिक शोधन पर विशेष जोर दिया है । बुद्धदर्शन में तीन रत्न हैं शील, समाधि तथा प्रज्ञा । **शील** से समग्र सात्त्विक कर्मों का तात्पर्य है । भिक्षु तथा गृहस्थ दोनों के कतिपय साधारण शील हैं, जिनका पालन करना प्रत्येक बौद्ध का कर्तव्य है (दी० नि० पृ० २४-२८) । अहिंसा, अस्तेय, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य तथा नशा का सेवन न करना—ये 'पञ्चशील' कहे जाते हैं । इनकी व्यवस्था दोनों के लिए समान है, परन्तु भिक्षुओं के लिए अन्य पांच शीलों का (दश शीलों) उपदेश है—अपराह्ण भोजन, मालाधारण, संगीत, सुवर्ण-रत्न तथा महार्घ शय्या का त्याग । दीर्घ निकाय के ३१ वें सूत्र 'सिगालोवाद सूत्र' में गृहस्थाचार का विस्तृत-प्रमाणिक वर्णन मिलता है । त्रिपिटक में यान द्वय का विधान है—समथयान तथा विपस्सना-यान । निर्वाण के लिए

समाधि को स्वतन्त्र साधन रूप से अभ्यासी साधक 'समथयानी' कहलाता है। समाधि के अभ्यास करने का अन्तिम फल चित्त-वृत्तियों का अन्तिम फल चित्त वृत्तियों का प्रत्यक्षानुभव है जिसे प्राप्त करनेवाले व्यक्ति को मज्ञा 'कामसक्की' है। **समाधि** से तीन प्रकार की विज्ञायें उत्पन्न होती हैं—पूर्व जन्म की स्मृति, जीव की उत्पत्ति और विनाश का ज्ञान तथा चित्त के बाधक विषयों की जानकारी। सामञ्जसलमुत्त (दी० नि० पृ० २८-२९) में चार प्रकार की समाधि का दृष्टान्त सहित सुन्दर वर्णन दिया गया है तथा विमुद्धिमग्ग का मुख्य विषय यही समाधि तथा उसके अवान्तर विभेद हैं। समाधि के विषय में बौद्धों का कथन उपनिषद् मूलक होने पर भी स्थल-स्थल पर अनेक नवीन महत्त्वपूर्ण सूचनाओं से परिपूर्ण है। **प्रज्ञा** तीन प्रकार की है^१—श्रुतमयी (आप्त प्रमाण-जन्य निश्चय), चिन्तामयी (युक्ति से उत्पन्न निश्चय) तथा भावनामयी (समाधिजन्य निश्चय)। शीलसम्पन्न श्रुत-चिन्ता-प्रज्ञा से युक्त पुरुष भावना (ध्यान) का अधिकारी होता है। राजा अजातशत्रु की श्रामण्य-फलों की चर्चा करते समय बुद्ध ने प्रज्ञा के फलों का विशद वर्णन किया है। प्रज्ञा के अनुष्ठान से ज्ञान दर्शन, मनोमय शरीर का निर्माण, ऋद्धियों, दिव्य श्रोत्र, परचित्तज्ञान, पूर्वजन्मस्मरण, दिव्यचक्षु की उपलब्धि होने के अनन्तर दुःख-क्षय का ज्ञान हो जाता है। चित्त कामाश्रय (भोगने की इच्छा), भवाश्रय (जन्मने की इच्छा) तथा अविद्यामय (अज्ञानमल) से सदा के लिए निर्मुक्त हो जाता है^२। साधक निर्वाण प्राप्त कर लेता है। अतः बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील, समाधि तथा प्रज्ञा इन तीन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। धम्मपद ने बुद्ध शासन के रहस्य को पापाकरण, पुण्य-संचय, चित्तपरिशुद्धि—इन तीन शब्दों में अभिव्यक्त किया है।

१ द्रष्टव्य अभिधर्म कोश ६।५

२ द्रष्टव्य सामञ्जसल-मुत्त, दीघनिकाय पृ० ३०-३२

सब्रपापस्स अकरण कुसलस्स उपसम्पदा ।

सच्चित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सामनं ॥

(धम्मपद १४।५)

(२) दार्शनिक सिद्धान्त

बुद्ध धर्म की आचार-प्रधान शिक्षाओं के मूल में दो दार्शनिक सिद्धान्त प्रधानतया दृष्टिगोचर होते हैं:--(१) सघातवाद और (२)

नैरात्म्यवाद
मनानवाद । बुद्ध के समान उपनिषत्-प्रतिपादित
आत्मा के रहस्य को समझाना प्रधान विषय था ।

सकल दुष्कर्मों तथा दुष्प्रवृत्तियों के मूल में उर्मा आत्मवाद का कारण मानकर बुद्ध ने आत्मा जैसे एक, पृथक् पदार्थ की सत्ता को ही अस्वीकार किया है (दी० नि० पृ० ११३-११५) । वे मानसिक अनुभव तथा विभिन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार करते हैं, परन्तु आत्मा को उनके संघात (समूह) से भिन्न पदार्थ नहीं मानते । आत्मा प्रत्यक्षगोचर मानस प्रवृत्तियों का पुंजमात्र है, इन प्रवृत्तियों के समूह के अतिरिक्त अन्यत्र उसका सत्ता क्या कभी प्रत्यक्षरूप से दीग्य पड़ती है ? उनका सिद्धान्त आजकल के मनोवैज्ञानिकों के सिद्धान्त के समकक्ष है जो मानस दशाओं को मानकर ही तदेर्कीकरणात्मक आत्म-पदार्थ को मानने के लिए तैयार नहीं हैं ।

यह आत्मा नामरूपात्मक है । इन्द्रियों के द्वारा अनुभव किये जाने के लिए जो अपने स्वरूप का निरूपण करते हैं उन पदार्थोंकी संज्ञा रूप है (अनुभवार्थमात्मानं रूपयतीति) । वह वस्तु जिसमें भारीपन हो और जो स्थान घेरती है 'रूप' कहलाती है । अतः रूप से तात्पर्य पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु चतुर्भूत तथा तज्जन्य शरीर से है । जिसमें न तो भारीपन है, न जो स्थान घेरता हो ऐसे द्रव्य को 'नाम' कहते हैं अर्थात् मन तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ । अतः नामरूपका अर्थ हुआ शरीर और मन शारीरिक कार्य तथा मानसिक प्रवृत्तियाँ । आत्मा इस शरीर तथा मन, भौतिक तथा

मानसिक प्रवृत्तियों का एक समुच्चयमात्र है। रूप एक ही प्रकार का है, पर नाम चार प्रकार का होता है—वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान। आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पाँच स्कन्धों (समुदाय) का पुञ्जमात्र है। भूत तथा भौतिक पदार्थ (शरीर) को 'रूप', किसी वस्तु के साक्षात्कार करने को संज्ञा, तज्जन्य दुःख, सुख तथा उदामीनता के भाव को 'वेदना', अतीत अनुभव के द्वारा उत्पाद्य और स्मृति के कारणभूत सूक्ष्म मानसिक प्रवृत्ति को 'संस्कार' तथा चैतन्य का 'विज्ञान' के नाम से पुकारते हैं। विज्ञान तथा संज्ञा स्कन्धों में वही भेद है जो निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में होता है। 'यत् किञ्चित्' रूप निर्विकल्पक प्रत्यक्ष विज्ञान है तथा नामजात्यादि योजना-विशिष्ट ज्ञान सज्ञा है। ये ही 'पञ्च स्कन्ध' हैं।

मिलिन्द प्रश्न (पृ० ३०-३३) में भदन्त नागसेन ने यवनाधिपति मिलिन्द से बौद्ध सम्मत आत्म-स्वरूप का वर्णन एक बड़ी सुन्दर उपमा के सहित बतलाया है। नागसेन ने राजा से पूछा कि आत्मा के विषय में नागसेन इस कड़कड़ाते धूप में जिस रथ पर सवार होकर आप इस स्थान पर पधारे हैं उस रथ का इदमित्थं वर्णन क्या आप करते हैं? क्या दण्ड रथ है या अश्व रथ है? राजा ने निषेध करने पर फिर पूछा कि क्या चक्र रथ है? या रस्सियाँ रथ हैं? या लगाम या चाबुक रथ हैं? बारम्बार निषेध रखने पर नागसेन ने पूछा, आखिर रथ है क्या चीज़? अगत्या मिलिन्द को स्वीकार करना पड़ा कि दण्ड, चक्र आदि अवयवों के आधार पर केवल व्यवहार के लिए 'रथ' नाम दिया गया है; इन अवयवों को छोड़कर किसी अवयवों की सहा नहीं दीख पड़ती। तब नागसेन ने बताया कि ठीक यही दशा 'आत्मा' की भी है; पञ्चस्कन्धादि अवयवों के अतिरिक्त अवयवों के नितरा अगोचर होने के कारण इन अवयवों के आधार पर 'आत्मा' नाम केवल व्यवहार के ही लिए दिया गया है। आत्मा की वास्तव सत्ता

है ही नहीं। इस अज्ञात अवास्तव आत्मा के पारलौकिक सुखोत्पादन की इच्छा से वैदिक कर्मकाण्ड के प्रपञ्च में पड़नेवाले लोग उसी प्रकार उपहास्यास्पद तथा अनादरणीय हैं जिस प्रकार गुण वर्णादि को न जानने पर भी जनपदकल्याणी की कामनावाला पुरुष अथवा प्रासाद की सत्ता बिना जाने, उस पर चढ़ने के गरज से चौरस्ते पर सीढ़ी लगानेवाला व्यक्ति^१। यही है बौद्धों का संघातवाद या **नैरात्म्यवाद**।

त्रिपिटको के कथनानुसार यह आत्मा तथा जगत् अनित्य है। इसका कालिक सम्बन्ध दो क्षण तक भी नहीं रहता। यह पञ्च स्कन्ध बौद्धों के अनुसार दो क्षण तक भी समानरूप में स्थिर नहीं (२) सन्तानवाद रहता; वह तो प्रतिक्षण में परिणाम प्राप्ति करता रहता है। इस प्रकार जीव तथा जगत् दोनों परिणामशाली हैं। जल प्रवाह तथा दीपक शिखा के उदाहरणों में इस सन्तान के सिद्धान्त का विशदीकरण किया गया है। जिस जल में हम एक बार स्नान करते हैं; क्या दूसरी बार के हमारे स्नान के समय भी वह जल वही पुराना अनुभूत जल रहता है? उसी प्रकार क्या दीपशिखा की अभिन्नता मानी जा सकती है? जब क्षण क्षण में एक लौ निकलकर अस्त हो जाती है और दूसरी लौ के उत्पन्न होने का कारण बनती है।

नागसेन ने दूध के विकारों का दृष्टान्त देकर इस तत्त्व को ब्रह्म मुन्दर ढंग से समझाया है। दूध दुधे जाने पर कुछ समय के उपरान्त जम कर दही बन जाता है, दही में मक्खन तथा मक्खन से घी बना दिया जाता है। यहाँ भिन्न-भिन्न विकारों के सद्भाव में भी वस्तु की एकता का अपल्याप नहीं किया जाता; ठीक इसी भाँति किसी वस्तु के अस्तित्व की प्रवाह में एक अवस्था उत्पन्न होती है और एक अवस्था लय होती है। इस प्रकार एक प्रवाह जारी रहता है, पर इस प्रवाह की दो अवस्थाओं

में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता; क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उत्पन्न हो जाती है। जन्मान्तर ग्रहण में भी यही प्रवाह जारी रहता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के अन्त होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान उठ खड़ा होता है (मि० प्र० पृष्ठ ४९-५०)। इसी प्रकार अनुभव विषय वस्तु क्षण-क्षण में परिणाम प्राप्त हो रही है; वस्तु की एकता तदाकार वस्तुओं की एक वीथी है; वास्तविक एकता जगत् में अलभ्य वस्तु है। बुद्ध के इस सिद्धान्त में हम दो विपरीत मतों के समन्वय करने का उद्योग पाते हैं—एक मत सत्तापर विश्वास करता है तथा दूसरा मत असत्तापर निश्चय रखता है। पर मध्यम प्रतिपदा के पक्षपाती बुद्ध के अनुसार सत्य सिद्धान्त दोनों छोरों के बीचोबीच में कहीं है। बुद्ध सत्ता तथा असत्ता के बीच परिणाम के सिद्धान्त को मानते हैं। जगत् के सत्य-रूप को अवहेलना न करते हुए भी वे उसकी परिणामक व्याख्या करते हैं। इस विश्व में **परिणाम** ही सत्य है, पर इस परिणाम के भीतर विद्यमान किसी **परिणामी** पदार्थ का अस्तित्व असत्य है। बुद्ध की यह सूझ दार्शनिक जगत् को एक अपूर्व बहुमूल्य देन मानी जाती है। पश्चिमी जगत् में परिणाम की सत्यता का सिद्धान्त बुद्ध से अवान्तर काल का है। ग्रीस के प्रसिद्ध दार्शनिक 'हिरेक्लिटस' ने इस सिद्धान्त को बुद्ध के कई पुस्त पीछे निर्धारित किया तथा फ्रेंच दार्शनिक 'बर्गसो' ने 'क्रीएटिभ इवोल्यूशन' ग्रन्थ में आधुनिक जगत् में इसी सिद्धान्तकी मनोरम व्याख्या कर विपुल कीर्ति अर्जन किया है।

(३) बौद्धधर्म का धार्मिक विकास

बुद्ध के निर्वाणान्तर इस धर्म का बहुमुखी विकास इतना विस्तृत है कि इस परिच्छेद में उसका यथार्थ वर्णन नहीं किया जा सकता। दार्शनिक विकास की धारा को समझने के लिए थोड़ी धार्मिक सम्प्रदाय मोटी बातें पाठको के सामने रखी जाती हैं। बुद्ध निर्वाण के सौ वर्ष के पीछे वैशाली की द्वितीय संगीति (३२६ वि० पू०)

में वात्सीपुत्रीय (वज्जिपुत्रीय) भिक्खुओं ने आचार तथा अध्यात्म-विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के विरोध में अपना झंडा ऊँचा किया। उसी समय से बौद्ध मठ में फूट पैदा होकर दो वादों का जन्म हुआ—स्थविरवाद (जो प्राचीन विनयों में रचकमात्र भी संशोधन करने के प्रतिकूल था) तथा महामंथिक (संशोधनवादी)। इसी संगीति के सौ वर्षों के भीतर ही १८ विभिन्न सम्प्रदाय उठ खड़े हुए जिन्हें 'निकाय' कहते हैं। आचार्य वसुमित्र ने 'अष्टादश-निकायशास्त्र' में इन निकायों का विशद वर्णन किया है, परन्तु वसुमित्र का वर्णन आचार्य भव्य, द प-वंस तथा कथावत्थु की अष्टकथा के निर्देशों से भिन्न प्रकार का है। अष्टकथा के अनुसार महामंथिकों के भिन्न 'निकायों' के ये नाम थे—गोकुलिक, एकव्यावहारिक, प्रज्ञप्तिवादी, बाहुलिक तथा चैत्यवादी। स्थविरवादके निकायोंकी सजा थी—महीशामक (अवान्तर निकाय=सर्वास्तिवादी, काश्यपीय, साक्रान्तिक, सौत्रान्तिक, धर्मगुणिक) तथा वृजिपुत्रक या वात्सीपुत्रीय (अवान्तर निकाय—धर्मोपग्रीय, मद्रयाणिक, पाण्णागारिक तथा साम्मितीय) यह स्थिति अशोकवर्ष के समय थी, पर पीछे की शताब्दियों में इन निकायों के सिद्धान्त-भेद-मूलक अवान्तर भेद होते गये। चैत्यवादी निकाय के ५ भेद पीछे हुए—पूर्वशैलीय, अपर शैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थक तथा वैपत्यवादी (वेतुल्लवादी)। इनमें प्राचीनता के पक्षपाती थेरवाद (स्थविरवाद) को ही हीनयान कहते हैं। महामंथिक निकाय से ही अनेक अवान्तर परिवर्तनों के अनन्तर 'महायान' का उदय हुआ।

इन निकायों के सिद्धान्त किसी समय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जाते थे। ब्राह्मण-दार्शनिकों ने भी इनका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया

१ इन निकायों के विशिष्ट सिद्धान्तों के लिए द्रष्टव्य कथावत्थु के अग्रे जी अनुवाद का प्रस्तावना।

हैं, परन्तु आज ये सिद्धान्त विस्मृतप्राय हो गये हैं। 'कथावत्थु' ही इन निकायों के रहस्योद्घाटन करने के लिए एक मात्र प्रामाणिक ग्रन्थ है। कतिपय निकायों के संक्षिप्त वर्णन से ही हमें संतोष करना पड़ता है जिनका दार्शनिक जगत् में विशेष आदर है। **महासंधिक** 'लोकान्तर बुद्ध' के सिद्धान्त को मानते थे। उनकी दृष्टि में बुद्ध सर्वशक्ति-सम्पन्न अलौकिक पुरुष थे; साम्ब (सामागिक) धर्म का लक्षमात्र भी सम्पर्क उन्हें न था तथा वे इन्द्रि (शक्तिविशेष) के द्वारा नैसर्गिक नियमों का भी निरोध कर सकते थे। ये अवतारवाद के पक्षपाती थे। शाक्यमुनि इसी लोकान्तर बुद्ध के लोकानुवर्तन के निमित्त अवतार थे। भिक्षु जीवन का चरम लक्ष्य अर्हत् न हो कर 'बोधिसत्त्व' की उपलब्धि था। **सर्वास्तिवाद** जगत् के भूतात्मक तथा चिन्तात्मक प्रत्येक पदार्थ को त्रिकाल-सत्य मानता है। ये लोग बुद्ध को देवा शक्ति-सम्पन्न मानव-मात्र मानते हैं। महासंधिक के विरुद्ध बुद्ध की सत्ता काल्पनिक और मायिक न होकर वास्तविक है। सर्वास्तिवादियों के मतों का खण्डन शंकराचार्य ने शार्ङ्गिक भाष्य (२।२।१८-२७) में किया है। **सांमितायों**^१ का एक समय बोलचाल था। इनके मत का उल्लेख विशेषतः उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ३४२) में किया है। ये लोग स्कन्ध-पञ्चक से अतिरिक्त एक विशिष्ट पुद्गल पदार्थ की सत्ता मानते थे जो पञ्चस्कन्धों के साथ ही उत्पन्न-विनाशशाली था तथा उन्हें धारण किये रहता था^२। अन्तर्गम्य देह (जीव की मृत्यु तथा पुनर्जन्म के बीच में विद्यमान शरीर) की सत्ता इन लोगों को मान्य थी और इसका पुष्टि

१ सांमितायों के सिद्धान्त के लिए द्रष्टव्य डा० पुसैं (Dr. Poussin) का लेख इनसाइक्लोपिडिया आफ ग्लोजन ऐण्ट एथिक्स भाग ११, पृ० १६८-१६९।

२ प्रज्ञाकारमणि ने इसी पुद्गलवाद के कारण इन्हें 'अन्तश्चरन्तार्थिक' (बौद्ध सम्प्रदाय में वार्ता) कहा है। द्रष्टव्य बोधिचर्यावतार पत्रिका ९६०।

में पुद्गल की कल्पना भी आदरणीय थी। **वैपुल्यवाद** के सिद्धान्त भयंकर विप्लव मचानेवाले थे। इनके सिद्धान्तों में महायान की ही सूचना नहीं मिलती, प्रसृत तान्त्रिक वज्रयान के भी बीज अन्तर्निहित है। इनका एक विलक्षण सिद्धान्त मैथुन के विषय में था कि किसी खास मतलब से (एकाभिप्रायेण) पति-पत्नी में स्वाभाविक अनुरक्ति रहने पर या भविष्यलोको में साहचर्य के लिए मैथुन का आचरण किया जा सकता है। बौद्ध भिक्षुओं के लिए भी यह नियम जायज़ था। बुद्ध की ऐतिहासिकता का स्पष्ट निषेध तथा मैथुन की अवस्थाविशेष में अनुज्ञा एकदम धार परिवर्तन के सूचक सिद्धान्त थे। वैपुल्यवादियों के सबसे बड़े प्रचारक आचार्य नागार्जुन माने जाते हैं। अतः ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि महामधियों का ही अन्धक सम्प्रदाय तथा वैपुल्यवाद के रूप में विकसित रूप **महायान** सम्प्रदाय है। आज कल महायान का प्रचार भारत के उत्तरी प्रदेशों—तिब्बत, चीन, कोरिया, मंगोलिया, जापान—में पाया जाता है। महायानवादी थेरवाद को अपनी दृष्टि से हेय मानकर उन्हें 'हीनयान' अर्थात् निर्वाण प्राप्ति का निकृष्ट मार्ग कहते हैं और अपने सिद्धान्त को 'महायान' कहते हैं। भारत के दक्षिण तथा पूरव के सिंधल, ब्रह्मा, स्याम, जावा आदि प्रदेशों में बुद्ध की मौलिक शिक्षाओं को मानने वाले 'हीनयान' का प्रचार है।

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार त्रिविध यान हैं तथा प्रत्येक यान में जीवन्मुक्ति या बोधि की कल्पना एक दूसरे से निम्नलिखित है—

त्रिविध यान बोधि, प्रत्येक-बुद्धबोधि तथा सम्यक्संबोधि। **श्रावक-**
बोधि का आदर्श हीनयान को मान्य है। बुद्ध के पास

धर्म सीखने वाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है। जीव को परमुखापेक्षी होने की आवश्यकता नहीं है; यदि वह स्वयं आर्य अष्टांगिकमार्ग का यथावत् अनुसरण करे, तो मसार की रागद्वेषमयी विषय-चागुरा से मुक्ति पा सकता है। श्रावक के लिये चार अवस्थाओं का विधान किया गया

हैं—स्रोतापन्न (स्रोत आपन्न), सकदागामी (सकृद् आगामी), अनागामी तथा अहरण (अर्हत)। स्रोतआपन्न साधक का चित्त प्रपञ्चमार्ग से एक दम हट कर निर्वाणरूपी स्रोत-प्रवाह में पड़कर आध्यात्मिक उन्नति में अग्रसर होता है। व्यासभाष्य के शब्दों में चित्त-नदी उभयतोवाहिनी है—पाप की ओर भी बहती है, कल्याण की ओर भी बहती है। (चित्तानदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। यो० सू० १। १२) अतः कल्याणगामी प्रवाह में चित्त को डाल लेना प्रथम अवस्था का मूल मन्त्र है। महालमुग (दी० नि० ६ टा सुत्त) ने तीन संयोजनों (बन्धन—सत्कायदृष्टि, विचिकित्सा, शीलव्रत-परामर्श) के क्षय होने से फिर पतित न होने वाले नियत संश्रद्धि की ओर जाने वाले व्यक्ति को 'स्रोत-आपन्न' कहा है। इसके ४ अंग होते हैं—बुद्धानुस्मृति, धर्मानुस्मृति, तथा संघानुस्मृति अर्थात् बुद्ध धर्म सत्र में अत्यन्त श्रद्धा तथा अखण्ड अनिन्दित समाधिगामी कमनीय शील का सम्पादन।

संसार के प्रपञ्च में अज्ञानपूर्वक जीवन यापन करनेवाला व्यक्ति पृथक् जन कहा जाता है। बुद्ध के ज्ञानरश्मियों से जब साधक का सम्बन्ध हो जाता है तथा वह निर्वाणगामी मार्ग चार अवस्थायें वर आरूढ़ हो जाता है तब उसकी शास्त्रीय मंशा 'आर्य' है। आर्य को अर्हत अवस्था तक पहुँचने में चार भूमियों को पार करना होता है। प्रत्येक भूमि में दो दशायें हैं—मार्गावस्था, फलावस्था। स्रोतापन्न भूमि की प्रथम अवस्था को 'गोत्रभू' कहते हैं, जब कामक्षय होने से कामलोक से सम्बन्धविच्छेद हो जाता है तथा साधक रूपलोक की ओर अग्रसर होता है। उस समय उसका नवीन (लोकोत्तर) जन्म सम्पन्न होता है। वह एक क्षण के लिए अनासूव ज्ञान को पा लेता है। तीन संयोजनों (बन्धनों) के क्षय होने से साधक को सात जन्म से अधिक जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नहीं रहती।

द्वितीय भूमि स्रोतापन्न की फलावस्था से आरम्भ कर अर्हत् की मार्गदशा तक रहती है। इस भूमि में उसे 'कायसाक्षी' सजा मिलती है। आसूव-श्रय करना ही प्रधान लक्ष्य रहता है। सकृदगामी संसार में एक हो बार आता है। अनागामी के लिए फिर इस भवचक्र में आने की आवश्यकता नहीं। अगाम भूमि में आसूवों का नितान्त श्रय हो जाता है। अतः जीव अर्हत् पद को प्राप्त कर स्वर्गीय व्यक्तिगत कल्याण साधक में तत्पर हो जाता है। उसे दूसरों को निर्वाण प्राप्त करानेकी योग्यता नहीं रहती। श्रावकयान का यही अर्हत्त्वप्राप्ति लक्ष्य है।

'प्रत्येकबुद्ध' का कल्पना अर्हत् तथा बोधिमत्त्व के बीच की साधना का सूचक है। जिस व्यक्ति को बिना गुरूपदेश के ही स्वस्फूर्ति से बुद्धत्व लाभ हो जाय, उसे कहते हैं—प्रत्येकबुद्ध। बुद्धत्व लाभ हो जाने पर भी उसे दूसरों के उद्धार करने की शक्ति नहीं रहती। वह तो द्वन्द्वमय जगत् में अलग हट कर निर्जन स्थान में एकान्त वास करता हुआ विनिर्गुण का प्रत्यक्ष अनुभव किया करता है।

महायान के मुख्य सिद्धान्तों त्रिकाय (धर्मकाय, निर्माणकाय तथा संयोग काय); दशभूमि, धर्मभूतता या धर्मसमता अथवा तथता तथा

बोधिमत्त्व-में बोधिमत्त्व के रहस्य को प्रथमतः
यथार्थ रूप से निरूपण करना अत्यन्त आवश्यक है।

बोधिसत्व की कल्पना महायान की मंत्र में बड़ी विशेषता है। 'बोधिमत्त्व' का शाब्दिक अर्थ है बोधि प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला व्यक्ति (बोधौ मन्वं अर्वा प्रायाज्म्येति बोधिमन्त्रः^१)। इस अवस्था को प्राप्त करने वाले साधक का जीवन-लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनाय तथा व्यापक होता है। उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याण-साधन होना है। बोधिसत्व का 'स्वार्थ' इतना विस्तृत रहता है कि उसके

‘स्व’ की परिधि में जगत् के समस्त जीव समा जाते हैं। उसके प्रधान गुण होते हैं—महामैत्री तथा महाकरुणा। विश्व के पिपीलिका से लेकर हस्ती-पर्यन्त जीवों में जत्र तक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है तत्र तक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता। उसका हृदय प्राणियों के क्लेशों के निर्गन्ध से स्वभावतः द्रवीभूत हो उठता है। बोधिचर्यावतार (तृतीय परिच्छेद) में बोधिसत्त्व के आदर्श का सुन्दर वर्णन है:—

एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽमादितं शुभम् ।

तेन स्या सर्वमन्वाना सर्वदुःखप्रशान्तिकृत् ॥

मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः ।

तैरेव ननु पर्याप्त मोक्षेनारमिकेन किम् ॥

बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रहती है कि सौगत मार्ग के अनुष्ठान से जिस पुण्यसंभार का मैंने अर्जन किया है उसके द्वारा समग्र प्राणियों के दुःखों की शान्ति हो। मुक्त जीवों के हृदय में जो आनन्द सागर हिलारे मारने लगता है, वही मेरे जीवनको आनन्दमय बनाने के लिए पर्याप्त है। समहीन मूखों मोक्ष को लेकर क्या करना है ?

बोधिसत्त्व को प्रथमतः बोधिचित्त का ग्रहण करना पड़ता है। सब जीवों के उद्धार के लिए सम्यक् बोधि में चित्त को प्रतिष्ठित करना बोधिचित्त का ग्रहण है। उसके लिए वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अभ्येष्टना, बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना—इन सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। पट्पारमिताओं का अनुशीलन भी नितान्त उपयोगी साधन है। ‘पारमिता’ कहते हैं पूर्णत्व को। दान, शील, क्षाति-वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन पट्पारमिताओं का अर्जन बुद्धत्वप्राप्ति का नैमर्गिक उपाय है। आत्मभाव का त्याग तथा निःस्वार्थ बुद्धि की प्रकृष्टता दानपारमिता है। प्राणातिपात आदि गर्हित कृत्यों से चित्त की विरति का नाम शील है। दूसरों के द्वारा अपकार किये जानेपर भी चित्त की अकोपनता क्षान्ति है। वीर्य का फलरूप ध्यान चित्त की नितान्त एका-

प्रता है। दानादि पंच पारमिताओं का उद्देश्य प्रज्ञापारमिता का उदय कराना है। प्रज्ञापारमिता (पूर्णज्ञान या सर्वज्ञता) की प्राप्ति शून्यता में प्रतिष्ठित होनेवाले व्यक्ति को होता है। उस समय यही ज्ञान होता है कि भावों की उत्पत्ति न तो स्वतः होती है, न परतः न उभयतः न अहेतुतः (कारण बिना)। व्यवहार दशा में ही प्रतीत्यसमुत्पाद की सत्यता है, परमार्थ दशा में सब भाव धर्मशून्य है। जगत् की सभा सावृतिक है, पारमार्थिक नहीं। वास्तव में सब भावों की शून्यता ही परमार्थ ज्ञान है। प्रज्ञापारमिता प्राप्त करने वाले बोधिसत्व के लिए इस जगत् के समस्त व्यवहार मायिक, स्वप्नवत् मिथ्या प्रतीत होते हैं। 'नैरात्म्यपरिपृच्छा सूत्र' में बोधिचित्त का विषद वर्णन है। बोधिचित्त (संबोधिनिष्ठ चित्त) निःस्वभाव, निगलम्ब, सर्वशून्य, निगलय तथा प्रपञ्चमतिक्रान्त माना जाता है^१। प्रज्ञापारमिता की देवी-रूप से उपामना बौद्धों का प्रधान आचार है^२। बोधिसत्व में ही उपदेश के द्वारा प्राणियों को मुक्त बनाने की याग्यता रहती है।

महायान सम्प्रदाय ने निर्गन्धर्ववादी निवृत्तिप्रधान हीनयान की काया पलट कर उसे प्रवृत्तिप्रधान तथा 'मित-प्राप्ति' बना कर मानवों के कल्याण का मार्ग प्रशस्त बना दिया। हीनयान में गृह्य ज्ञान की ही प्रधानता थी, परन्तु महायान ने भक्तिवाद को प्रथम देकर जीवों की

१ निःस्वभाव निगलम्ब सर्वशून्य निगलयम् ।

प्रपञ्चमतिक्रान्त बोधिचित्तस्य लक्षणम् ॥

—नैरात्म्य-परिपृच्छा-सूत्र, श्लो० १२.

२ सर्वेषामपि वीर्याणां पराजितयानमनाम् ।

बोधिका जनयित्री च माता त्वमपि वामला ॥

वृद्धं प्रत्येकवर्द्धंश्च श्रावयैश्च निषेधिता ।

मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः ॥—

आध्यात्मिक प्रवृत्तियों के नैसर्गिक विकास के लिए अवसर प्रदान किया। बौद्ध-धर्म का विकास अवान्तर शताब्दियों में सा होना ही गया। वैपुल्य-वादियों ने मन्त्र-तन्त्र की ओर गिरेप अभिरुचि दिखलायी थी। इनके प्रधान आचार्य तान्त्रिकशिरोमणि नागार्जुन को गुह्यशिखाओं ने महायान का रूप परिवर्तन कर दिया। 'मञ्जुश्रामूलकम्' में मन्त्र-तन्त्रों का पर्याप्त विधान है। मोट ग्रन्थों के आधार पर 'धान्यकटक' तथा 'श्रोतार्थ' के प्रान्त में 'मन्त्रयान' का उदय हुआ। आगे चलकर इस मन्त्रयान में वज्रयान का उत्पत्ति हुई जिसमें मन्त्र, दृष्ट्यांग आदि तान्त्रिक आचारों का विपुल प्रचार हुआ। अविनाशी, अच्छेय तथा अभेद्य होने से 'शून्यता' ही वज्र का वाच्यार्थ है।

दृढं सारममौशीर्यमच्छेद्यामेधलक्षणम् ।

अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥ -वज्रशेखर ।

दार्शनिक दृष्टि शून्यवाद की है, पर आचार में तान्त्रिक क्रियाकलाप की बहुलता है। इस प्रकार वज्रयान तान्त्रिक बुद्धधर्म का विकसित रूप है। यही वज्रयान सहजयान के रूप में परिवर्तित होकर भारतेतर प्रदेशों तथा पूर्वी भारत के धार्मिक विकास का प्रधान कारण बना।

(४) दार्शनिक विकास

पहले कहा गया है कि बुद्ध ने तत्त्वों के ऊहापोह को अनिर्वचनीय तथा अव्याकृत बतलाकर अपने शिष्यों को इन व्यर्थ बकवादों से सदा रोका, पर हुआ वही जिसके विरुद्ध वे उपदेश दिया करते थे। बौद्ध पण्डितों ने बुद्ध के उपदेशों के तह में पहुँचकर विशेष मर्म विद्वत्तापूर्ण सिद्धान्तों को ढूँढ निकाला। तिरस्कृत तत्त्वज्ञान ने अपना बदला खूब चुकाया। धर्म एक कोने में पड़ा रह गया और तत्त्वज्ञान को तूनी बोलने लगी।

जैन तथा ब्राह्मण दार्शनिकों ने बौद्धदर्शन की चार श्रेणियों में विभक्त किया है।

इन मतों के सिद्धान्तों का वर्णन बड़ी सुन्दर गति में इस ब्लॉक में किया गया है^१—

मुख्यो **माध्यमिको** विवर्तमग्विल शून्यस्य मेने जगत्
योगाचारमते तु सन्ति मतयन्तासा विवर्तोऽग्विलः।

अर्थोऽस्ति श्रणिकस्त्वभावनुमितो बुद्ध्यन्ति **सौत्रातिकः**

प्रत्यक्ष श्रणभंगुर च सकलं **वैभाषिको** भाषते॥

इन चारों सम्प्रदायों में वैभाषिक का सम्बन्ध हीनयान से है तथा अन्य तीन मतों का सम्बन्ध महायान से है, क्योंकि सत्ताविषयक प्रश्न को लेकर मतभेद होने पर भी ये महायान के सम्मत सिद्धान्तों के अनुयायी हैं। तत्त्वसमीक्षा की दृष्टि से वैभाषिक एक छोर पर आता है ता योगाचार-माध्यमिक दूसरी छोर पर टिके हुए हैं। सौत्रान्तिक का स्थान इन दोनों के बीच का है, क्योंकि कतिपय अंश में वह सर्वास्तिवाद का समर्थक है, पर अन्य सिद्धान्तों में वह योगाचार की ओर झुकता है। निर्वाण के महत्त्वपूर्ण विषय पर भी इन मतों का विशेषता निम्नलिखित प्रकार से प्रदर्शित की जा सकती है—

वैभाषिक तथा प्राचीन मत	संसार सत्य, निर्वाण सत्य।
माध्यमिक	संसार असत्य, निर्वाण असत्य।
सौत्रान्तिक	संसार सत्य, निर्वाण असत्य।
योगाचार	संसार असत्य, निर्वाण सत्य।

बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक विकास भी अत्यन्त रोचक है। विक्रम के पूर्व पञ्चम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक लगभग पन्द्रह सौ वर्ष बौद्ध दर्शन की स्थिति का महत्त्वपूर्ण समय है। इस दीर्घकाल में बौद्ध आचार्य बुद्धधर्म के तीन बार

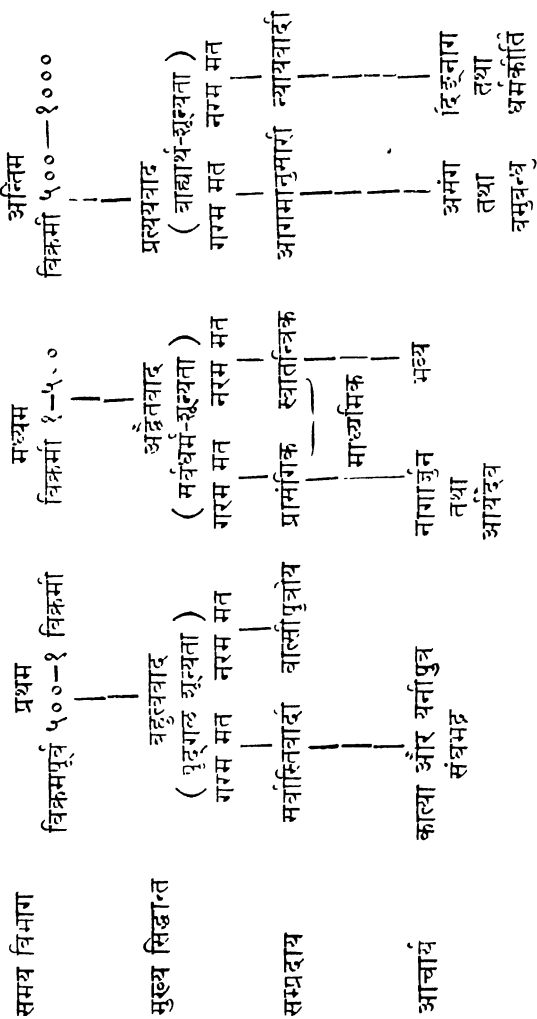
ऐतिहासिक विकास

परिवर्तन स्वीकार करते हैं जिसे वे 'त्रिचक्र' के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक विभाग पौंच सौ वर्ष का माना जा सकता है। पहले कालविभाग में आत्मा के अनस्तित्व का सिद्धान्त प्रधान था। बाह्य आयतन या विषय के अस्तित्व का निषेध माना जाता था। यह जगत् शक्तियों का मूलसत्ताविहीन एक क्षणिक परिणाममात्र, सन्तानमात्र है। पारस्परिक कार्य-कारणभाव की सत्ता माना जाती थी। आचार की दृष्टि से व्यक्तिगत निर्वाण को ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य मान कर 'अर्हत्' पद की प्राप्ति ही मानवमात्र का कर्तव्य स्वीकृत की गई थी। इस स्वल्प का परिचय हमें वैभाषिक ज्ञान में उपलब्ध होता है।

दूसरा कालविभाग विक्रम की प्रथम शताब्दी से लेकर पञ्चम शताब्दी तक था। पृथगल्-शून्यता के स्थान को सर्वधर्म-शून्यता या धर्म-नैरात्म्यवाद ने ग्रहण कर लिया। व्यक्तिगत कल्याण की जगह सर्व-जनीन विश्वकल्याण की उन्नत भावना विराजने लगी। इस नवीन बौद्ध-मत ने जगत् को सत्ता का एकदम निरस्कार न कर उसे परमार्थ दृष्टि से आभासमात्र माना। आर्यसत्य की जगह द्विविधसत्यता (सांघातिक तथा पारमार्थिक) की कल्पना ने विशेष महत्त्व प्राप्त किया। मूल बौद्धधर्म के बहुत्ववाद के स्थान पर अद्वैतवाद (शून्याद्वैतवाद) के सिद्धान्त को प्रथम दिया गया। सत्यता का निर्णय सिद्धों का प्रातिमन्त्र ही कर सकता है। अतः तर्कबुद्धि की कड़ी आलोचना कर रहस्यवाद की ओर विद्वानों का अधिक झुकाव हुआ। अर्हत् के संकीर्ण आदर्श ने पलटा गया और बोधिसत्त्व के उदारभाव ने विश्व के प्राणियों के सामने उन्नति तथा परमानन्द प्राप्ति का सगलमय आदर्श समुपस्थित किया। 'मानव बुद्ध' के स्थान पर 'लोकोत्तर बुद्ध' का सिद्धान्त लाया गया। बौद्ध दर्शन का यह विकास 'शून्यवाद' के नाम से पुकारा जाता है।

तीसरे विकास का समय विक्रम की पंचम शताब्दी से लेकर दशम शताब्दी तक है। न्याय की उन्नति होना इस समय का प्रधान दार्शनिक

(बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक विकास)



१ द्रष्टव्य डा० चेगवास्की (Dr. Stecherbatsky)—बुध्द लोत्रिक. भाग प्रथम पृष्ठ १४

(क) वैभाषिक मत

इन चारों सम्प्रदायों में आचार्यों ने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। बौद्ध दर्शन की ग्रंथ-सम्पत्ति बड़ी विशाल मौलिक तथा मूल्यवान् है, परन्तु आजकल संस्कृत मूल के अभाव में तिब्बती तथा चीनी अनुवादों से ही सन्तोष करना पड़ता है।

वैभाषिक सम्प्रदाय का सर्वमान्य ग्रन्थ 'अभिधर्मज्ञानप्रस्थान शास्त्र' है जिसे **कात्यायनीपुत्र** ने बुद्धनिर्वाण के तीन सौ वर्ष पीछे निर्माण किया था। इस विपुलकाय ग्रन्थ में ८ परिच्छेद, ४४ वर्ग ^{साहित्य} तथा १५ हजार श्लोक थे। संस्कृत मूल उपलब्ध नहीं है, परन्तु चौथी (३८२ ई०) तथा सातवीं शताब्दी (हुएनत्सांगकृत) के चीन-भाषा में अनुवाद आज भी उपलब्ध हैं। कनिष्क के समय चतुर्थ संगीति में इस ग्रन्थ पर 'अभिधर्म विभाषाशास्त्र' के नाम से एक भाष्यग्रन्थ की रचना की गई। मूल संस्कृत का यहाँ भी अभाव है, परन्तु तिब्बती तथा चीनी (हुएनत्सांगकृत) अनुवाद प्राप्य हैं। इस 'विभाषा' के मूल आधार पर प्रतिष्ठित होने से इस सम्प्रदाय का नाम '**वैभाषिक**' पड़ा है। '**वसुबन्धु**' का 'अभिधर्मकोश' काश्मीर-वैभाषिकों की परम आदरणीय, प्रामाणिक तथा मौलिक रचना है। वसुबन्धु का नाम बौद्ध दर्शन के इतिहास में सुवर्णाक्षरों से लिखने योग्य है। अपनी विद्वत्ता, उन्नत आचरण, प्रकाण्ड आचार्यत्व के कारण इनका नाम भारतीय दर्शन के इतिहास में एक गौरवास्पद वस्तु है। इनकी सर्वातिशायिनी प्रतिभा के लिए कोई विषय अगम्य न था। अपने जीवन के आरम्भिक काल में ये वैभाषिक थे, परन्तु पीछे असंग के उपदेश से विज्ञानवादी हो गए। पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिकगोत्री एक ब्राह्मण के तीन पुत्रों में ये मध्यम पुत्र थे। प्रौढ़ावस्था में इन्होंने अयोध्या का अपना कर्मक्षेत्र बनाया। यहीं स्थविर बुद्धमित्र के द्वारा हीनयान में दीक्षित होकर प्रति-

पक्षियों को विवाद में परास्त कर इन्होंने अपनी वाचदूकता, विद्वत्ता, तथा शास्त्रनिष्ठता का पर्याप्त परिचय दिया। कुमारजीव ने ४०१-४०९ के बीचोबीच वसुवन्धु का पुण्य चरित लिखा। इनका समय अनेक अकाश्रय प्रमाणों के आधार पर चतुर्थ शतक (२८०-३६०) माना जाता है। इनका वैभाषिक विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'अभिधर्मकोश' है जिसका विमल ख्याति निर्व्वत, चीन, जापान तथा मंगोलिया में आज भी अश्रुण है जहाँ यह ग्रन्थ प्रातःस्मरणीय स्तोत्रों के समान कण्ठ किया जाता है। बाणभट्ट ने हर्षचरित में 'शुर्कुरि शाक्यशामनकुशलः कोश समुदिशद्भिः' लिखकर ब्राह्मणों में भी इस ग्रन्थ का महत्ता का निदर्शन उपस्थित किया है। इसकी अनेक टीकाओंमें स्थिरमति (नन्वार्थ), दिग्नाग (मर्मप्रदाय), यशोमित्र (स्फुटार्थ) की टीकाये प्रामाणिक तथा बहुमूल्य मानी जाती हैं यशोमित्र ने गुणमति तथा वसुमित्र की व्याख्याओं को अपना उपजाव्य बतलाया है (स्फुटार्थः पृष्ठो ५)। अतः ये टीकाये निःसन्देह निरान्त प्राचीन तथा प्रामाणिक हैं। डाक्टर पुमें ने अथान्त घोर परिश्रम कर कोश के मूल का उद्धार किया है तथा चीनी, निर्व्वर्ती अनुवादों को पाण्डित्यपूर्ण टिप्पणियों के साथ ६ भागों में प्रकाशित किया है। इसके अनिरिक्त परमार्थमपन्ति (माख्यमपन्ति का खण्डन), तर्कशास्त्र तथा वादविधि बौद्ध न्याय के माननाय ग्रन्थ हैं।

संघभट्ट (चतुर्थ शतक) वसुवन्धु के प्रतिस्पर्धी बौद्धाचार्य थे। वसुवन्धु के मतों के खण्डन करने के लिए इन्होंने 'कोशकग्का' का निर्माण किया जिसमें कोश के मन्तव्यों का सप्रमाण खण्डन है। 'नानाप्रतिभा' वैभाषिक सिद्धान्तों का सार ग्रन्थ है। 'कग्का' में ७ लक्ष श्लोक थे, प्रदापिका में १० हजार। हुएनत्सांग कृत चीनी अनुवाद भी आज उपलब्ध हैं।

वैभाषिकों के मतानुसार यह नानात्मक जगत् वस्तुतः सत्य है; इसकी स्वतन्त्र सत्ता का अनुभव प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा होता है। बाह्य और

मिथ्यात्व आभ्यन्तर द्विविध गेद का कल्पना कर वैभाषिक भौतिक तथा मानसिक जगत् दोनों को परस्परनिरोध भवतन्त्र सत्ता स्वीकृत करते हैं। वस्तु-विभाग दो प्रकार से किया जाता है—विपर्यागत तथा विषयगत। विषयगत विभाजन-पद्धति से समस्त पदार्थ तीन प्रकार में बाटे जाते हैं:—

(१) पचस्कन्ध —रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान।

(२) द्वादश आयतन— 'आय तनोतीति आयतनम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आयतन अनुभव के साधनभूत द्वाय को कहते हैं। इनकी संख्या ब्राह्म है—पट् इन्द्रिय तथा पट् विषय। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय तथा मन—इन इन्द्रियों को आभ्यन्तरवर्ती होने के कारण 'अन्त्यात्म-आयतन' तथा उनके विषयभूत रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्शव्य, तथा धर्म आयतन (अतीन्द्रिय) को बाह्य आयतन कहते हैं।

(३) अष्टादश धातु --जिन शक्तियों के एकीकरण से घटनाओं का एक प्रवाह (सन्तान) निरन्तर होता है, उन्हें 'धातु' कहते हैं। इन धातुओं की संख्या १८ है जिसमें आदिम द्वादश ऊपर निर्दिष्ट आयतन हैं तथा नवौन धातुओंमें चक्षुर्विज्ञान धातु, श्रोत्रविज्ञान धातु, घ्राणविज्ञान धातु, जिह्वाविज्ञान धातु, कायविज्ञान धातु तथा मनोविज्ञान धातु की गणना की जाती है।

विषयगत विभाजनपद्धति के अनुसार यद् धैधातुक जगत् दो कार के धर्मों का समुच्चयमात्र है। वैभाषिक लोग प्रत्येक सत्तात्मक पदार्थ को 'धर्म' कहते हैं। अभिधर्म कोश (प्रथम कोशस्थान) के अनुसार धर्म दो प्रकार के होते हैं--(१) सास्त्रव (मलसहित) तथा (२) अनास्त्रव (मलरहित; विमुद्ध)। सास्त्रवधर्मों का दूसरा संज्ञा है संस्कृत। इस शब्द का प्रयोग साधारण 'विमुद्ध' अर्थ में न होकर एक विशिष्ट अर्थ में किया गया है। संस्कृत का व्युत्पत्तिभ्य अर्थ 'हेतुप्रत्यय जनित' है (सम्भूय अन्योन्यमपेक्ष्य कृता, जनिता: संस्कृता:--अभि० को० १।८) ये

रागद्वेष आदि मन्त्रों के आश्रय होने से 'मास्त्व' भी कहे जाते हैं। अनेक वस्तुओं के समिश्रण से उत्पन्न होनेवाले (अतएव अनित्य), पदार्थ 'संस्कृत' हैं (संस्कृतं क्षणिकं यतः—अभि० को० ४।२)। संस्कृतधर्म ७२ प्रकार के होते हैं:—(१) रूपधर्म ११ प्रकार, (२) चित्तधर्म (मन या विज्ञान) धर्म १ प्रकार, (३) चैतन्यधर्म (या चित्त सप्रयुक्त संस्कार=विज्ञान के साथ सम्बद्ध धर्म) ८६ प्रकार; (४) रूपचित्तविप्रयुक्त (भौतिक और मानसिक उभयविध धर्मों से विभिन्न) संस्कार १४ प्रकार।

असंस्कृत की अविधर्म-कोश (१।५) में प्रज्ञा अनास्त्व (विशुद्ध) तथा मार्गसत्य है। ये धर्म हेतु-प्रत्यय-जनित न होने से नित्य हैं। अतः असंस्कृत में अविधर्म नित्य धर्मों में हैं जो तीन प्रकार के हैं:—

(१) आकाश—यह निर्विशेष, अनन्त, नित्य, सर्वव्यापक सत्तात्मक पदार्थ है। इसका रूप नहीं होता, यह भौतिक वस्तु नहीं है, परन्तु स्वतंत्र सत्तात्मक पदार्थ है। आवरणाभाव आकाश का लिंग है, स्वरूप नहीं है। आकाश को अभावतात्मक मानकर ब्राह्मण ग्रन्थों का खण्डन औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता। भावपदार्थ मानने के कारण कमलगीला ने तत्त्व-संग्रह-पञ्जिका में वैभाषिकों को बौद्ध मानने में संशय प्रकट किया है।

(२) प्रतिमख्या निरोध—प्रतिमख्या (प्रज्ञा) के द्वारा उत्पन्न मास्त्व धर्मों का पृथक्-पृथक् वियोग (प्रतिमख्यानिरोधो यो विसंयोगः पृथक्-पृथक्—अभि० को० १।६) यदि प्रज्ञा के उदय होने पर किसी मास्त्व धर्म के विषय में राग या ममता का सर्वथा परित्याग किया जाय, तो उस धर्म के लिए प्रतिमख्या-निरोध का उदय होता है।

(३) अप्रतिमख्यानिरोध—बिना प्रज्ञा के ही निरोध। जिस वस्तु का अप्रतिमख्यानिरोध होता है, वह अनुत्पन्निक धर्म बन जाता है अर्थात् भविष्य में वह उत्पन्न नहीं होता। प्रतिमख्यानिरोध से 'आसूत्र-अथ ज्ञान' उदित होता है अर्थात् समस्त मन्त्रों के नाश होने का ही ज्ञान

उत्पन्न होता है, भविष्य में उनकी उत्पत्ति की संभावना रहती है। यह 'अनुत्पाद ज्ञान' अप्रतिमंख्याननिरोध का फल है जिसमें भविष्य में रागादिकों की कथमपि उत्पत्ति न होने में जीव भवचक्र से मुक्ति लाभ करता है।

इस प्रकार समस्त धर्मों की संख्या (संस्कृत ७२+अमस्कृत ३) ७५ है। पृथ्वी, जल, तेज वायु—ये ही चार भूत हैं; आकाश भूत नहीं है। पृथिव्यादि भूत-चतुष्टय के अन्तिम उपादान 'अणु' है जो चार प्रकार के होते हैं। पार्थिव परमाणु कठिन स्वभाव, जल्यस्निग्ध, तैजस उष्ण तथा वायवीय चलन-स्वभाव होते हैं। परमाणु पट्कोणात्मक होते हैं—

पट्केन युगपद् योगात् परमाणोः पडंशता । (म० द० म० पृ० ३१)

ज्ञान के साधन दो प्रकार के होते हैं—ग्रहण और अव्यवसाय। ग्रहण के द्वारा पदार्थ के सामान्य निर्विशेष रूप की उपलब्धि होती है। वस्तु को नाम-जाति आदि योजना (कल्पना) में संयुक्त करना अव्यवसाय कहलाता है। यह निश्चयात्मक होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं माना जा सकता। ग्रहण तथा अव्यवसाय का भेद निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञान के अनुरूप हो है।

वैभाषिकों के अनुसार निर्वाणधातु दो प्रकार का होता है—(१) सोपधिशेष तथा निरुपधिशेष। 'ज्ञानप्रस्थान सूत्र' में इस विषय का बड़ा ही मार्मिक विवेचन किया गया है। कुछ लोग निवाण सोपधिशेष को साश्रव, मस्कृत, कुशल आदि वतलाने हैं और निरुपधिशेष को अनामूव, अमस्कृत अव्याकृत परन्तु दोनों ही अनामूव, अमस्कृत तथा अव्याकृत हैं। आमव क्षय होने पर भी

जो अर्धत् जीवितवस्था में है, उसे पञ्च-स्कन्ध-प्रयुक्त अनेक विज्ञान शेष रहते हैं; अतः उसकी दशा का नाम है संपाधिशेष दशा; परन्तु शरीरगत होने पर, संयोजन-अवस्था होने पर समस्त उपाधियों के अभाव में निरुपाधिशेष निर्वाण होता है। अतः संक्षेप में इन दोनों निर्वाणों में वही अन्तर है जो जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति में है।

(ख) सौत्रान्तिक मत

हीनयान के दार्शनिक दो सम्प्रदायों में विभक्त हैं—वैभाषिक तथा सौत्रान्तिक। सौत्रान्तिक दार्शनिक अभिधर्म को बुद्धरचित न होने से अप्रामाणिक मानते हैं। तथागत के आध्यात्मिक उपदेश मुत्तपिटक के ही कतिपय सूत्रों (सूत्रान्तो) में ही सन्निवेशित हैं; अभिधर्म बुद्ध की रचना न होने से भ्रान्त हो सकता है, परन्तु सूत्रान्त बुद्ध की वास्तविक शिक्षाओं के भाण्डार होने से नितान्त प्रामाणिक है। अतः इस सम्प्रदाय का नामकरण 'सौत्रान्तिक' है। 'दार्शनिक' सम्प्रदाय सौत्रान्तिकों की एक शाखा है।

सौत्रान्तिकों की उत्पत्ति वैभाषिकों के अनन्तर प्रतीत होती है, क्योंकि सौत्रान्तिकों के प्रधान सिद्धान्त वैभाषिक ग्रन्थों की वृत्तियों में विशेषतः उपलब्ध होते हैं। वसुवन्धु ने अभिधर्मकोश के स्वरचित भाष्य में वैभाषिकों के अनेक मुख्य सिद्धान्तों में दोषोद्घाटन कर उनका खण्डन किया है। ये खण्डन सम्भवतः सौत्रान्तिक दृष्टि-ध्वन्द्व से किये गये हैं। अतः वैभाषिक संघभद्र ने वसुवन्धु प्रदर्शित दोषों के निराकरण के लिए 'ममय-प्रदीपिका' तथा 'न्यायानुसार' की रचना की, परन्तु सौत्रान्तिक यशोमित्र ने इनके समर्थन में अपनी 'स्फुटार्था' वृत्ति अभिधर्मकोश पर

१ क. सौत्रान्तिकार्थः। ये सूत्र प्रामाणिका न तु शास्त्र प्रामाणिकास्ते सौत्रान्तिकाः।
—यशोमित्र-स्पुटार्थः पृ० १२

मिलते हैं। यही कारण है दोनों सम्प्रदायों के मत साथ साथ उल्लिखित मिलते हैं।

सौत्रान्तिक के ४ विशिष्ट आचार्यों का उल्लेख मिलता है। (१)
कुमारलात—हुएनत्सांग (६५० ई०) के कथनानुसार सौत्रान्तिक
 आचार्य मत के स्थापक कुमारलात ही थे^१। इनका समय
 द्वितीय शतक का उत्तरार्ध तथा तृतीय शतक का
 प्रथमार्ध माना जाता है। इस प्रकार ये नागार्जुन के समसामयिक थे।
 'कल्पना मण्डितिका' इनकी एकमात्र रचना है जिसमें धार्मिक कथाओं
 का गद्य-पद्य में वर्णन है। (२) **भीलात**—कुमारलात के शिष्य थे।
 कहा जाता है कि इन्होंने 'विभाषाशास्त्र' नामक ग्रन्थ की रचना की थी,
 परन्तु दुर्भाग्यवश यह अभी तक अप्राप्य है। 'निर्वाण' के विषय में श्रीलब्ध
 का अपना विशिष्ट मत था^२। (३) **धर्मत्रात** तथा (४) **बुद्धदेव**
 के विशिष्ट सिद्धान्तों के निर्देश अनेक वैभाषिक ग्रन्थों में किये गये हैं।

१ T. Watter--On Yuan Chwang's 'Travels in India. वाटर्स
 सम्पादित युवानच्वांग यात्रा-विवरण भाग २, पृ० २२५। इस आचार्य का नाम
 'कुमारलात' ही था। यह उनके ग्रन्थ का पुष्पिका में स्पष्ट है। इनका नाम कुमारलाभ
 या कुमारलब्ध चान्नी नाम के अशुद्ध संस्कृताकरण के कारण त्याज्य है।

२ कुमारलब्ध के एक दूसरे शिष्य हर्षिर्मा ने सत्यमिद्धि सम्प्रदाय की स्थापना
 की। इस सम्प्रदाय के मुख्य ग्रन्थ 'सत्यमिद्धिशाल' का कुमारजीव (४०३ ई०) कुत
 चानाभाषानुवाद आज भी उपलब्ध होता है। इसका समय तृतीय शतक का मध्यकाल
 माना जा सकता है। सत्यमिद्धि सम्प्रदाय का मुख्य निःशान्त 'सर्वधर्मशून्यता' है।
 महासंन्यासियों के विपरीत ये लोग पञ्चस्कन्धात्मक वस्तु के अभाव के साथ सत्य
 रूपादि स्कन्धों की भी अनित्यता मानते थे। परन्तु अन्य सिद्धान्त हा यान के हा
 थे। अतः सत्यमिद्धि हानयान सम्मत शून्यवाद का प्रचारक था। इसका विशेष
 विवरण श्री यामाकामी रोगन ने 'सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थेट' (पृ० १७२-१८५)
 में किया है।

अभिधर्मकोश (५।२६) की टीका में इन आचार्यों के काल-विषयक मतों का उल्लेख आदर के साथ किया गया है। धर्मत्रात की सम्मति में भाववैसादृश्य (भावान्यथात्व) के कारण और बुद्धदेव के विचारानुसार अन्यथान्यथात्व के कारण भूत, वर्तमान, भविष्यकाल में भेद का समर्थन किया जा सकता है; वास्तविकरूप से वर्तमानकाल की ही सत्यता प्रामाण्यमिद्ध है। (५) **वसुमित्र** ने अष्टादशनिकायों के विस्तृत वर्णन के वास्ते 'समयभेदउपरचन चक्र' नामक पुस्तक लिखी है। (६) **यशोमित्र** स्फुटार्थावृत्ति (पृ० १२) के प्रमाण पर सौत्रांतिक मत के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं।

सौत्रान्तिकों के मुख्य सिद्धान्त संक्षेपरूप में अब दिये जाते हैं^१। (१) काल के विषय में ये लोग वर्तमान काल की ही सत्यता मानते थे। भूत तथा भविष्य काल की सत्ता काल्पनिक तथा मिथ्या निराधार है। इस प्रकार वैभाषिकों से इनका पर्याप्त मतभेद था। वैभाषिक भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल के अस्तित्व का स्वीकार करते हैं। इसीलिए उन्हें 'सर्वास्तिवादी' कहते हैं (अभि० को० ५।२५)। धर्मत्रात तथा बुद्धदेव के कालभेद विषयक मत का उल्लेख पहले किया जा चुका है। (२) ज्ञान के विषय में ये स्वतः प्रामाण्यवादी थे। जिस प्रकार प्रदीप अपने को स्वयं प्रकाशित करता है, उसी प्रकार ज्ञान स्वयं प्रकाश्य है। स्वसंविन्ति या स्वसंवेदन का यह सिद्धान्त विज्ञानवादियों को भी अभिमत है। (३) वैभाषिकों के विरुद्ध ये लोग वाह्य जगत् की सत्ता प्रत्यक्ष न मानकर अनुमेय बतलाते हैं। जब समस्त पदार्थ क्षणिक हैं, तब किसी भी वस्तु के स्वरूप का प्रत्यक्ष असम्भव है। जिस क्षण में किसी वस्तु के साथ हमारी इन्द्रियों का

१ ग्रन्थ ज्ञान पुस्तिका का सौत्रान्तिक शीर्षक लेख, इन्स्टीट्यूट ऑफ ग्लिजिन ऐण्ड एथिक्स भा० ११ पृ० २१२-२१४।

सम्पर्क होता है, उस क्षण में वह क्षणिक वस्तु अतीत के गर्भ में चली गई रहती है। केवल तज्जन्य विज्ञान शेष रह जाता है। प्रत्यक्ष होते ही पदार्थों के नीलपातादियुद्ध्याकारक चित्र मन पर चित्रित होते हैं, इन्हीं चित्रों की सहायता से इनके उत्पादक वाच्य पदार्थों का सत्ता का अनुमान किया जाता है। अतः वाच्यार्थ को सत्ता प्रत्यक्ष-गोचर न होकर अनुमान-मिद्ध है।^१ (४) वाच्य वस्तु सत् है, परन्तु इनके आकार के विषय में सौत्रान्तिकों में विशेष मतभेद दृष्टिगोचर होता है। कतिपय सौत्रान्तिकों की सम्मति में पदार्थ स्वयं 'आकार' रखता है, परन्तु अन्य सौत्रान्तिकों के कथनानुसार पदार्थ में आकारनिवेश चित्त-विनिर्भित है। एक तीसरे मत में वस्तु का आकार उभयात्मक होता है। (५) परमाणुवाद के विषय में भी सौत्रान्तिकों का विशिष्ट मत था। परमाणुओं में पारस्परिक स्पर्श का सर्वथा अभाव होता है। परमाणु स्वयं निरवयव होते हैं, अतः स्पर्श अवयवों का न होकर समस्त वस्तु का ही होगा। ऐसी दशा में एक परमाणु का दूसरे परमाणु से तादात्म्य हो जायगा। अतः परमाणु सत्ता परमाणु से परिणाम में अधिकतर न हो सकेगा। परमाणु निरन्तर होते हैं, दोनों के बीच अन्तर का सर्वथा अभाव रहता है। (६) विनाश का कोई हेतु नहीं है; समस्त पदार्थ स्वभाव से ही विनाशवर्म शील हैं; वे अनित्य नहीं हैं, बल्कि क्षणिक हैं। उत्पाद का अर्थ है अभूत्वा भावः^२ (सत्ता धारण न करने के अनन्तर स्थिति)। पुद्गल (आत्मा) तथा आकाश केवल सत्ताहीन पदार्थ हैं, वस्तुतः सत्य नहीं हैं। क्रिया, वस्तु तथा क्रियाकाल में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं है। वस्तु अमत् से उत्पन्न होती है, एक क्षण तक अव-

१ नीलपातादिभिश्चित्रैर्वुद्ध्याकारेणितान्तरेः।

सौत्रान्तिकमते नित्यं वाच्यार्थः नृमीयते।—सं. सि० सं० पृ० १३।

२ द्रष्टव्य माध्यमिकवृत्ति पृ० २८१।

ज्ञान प्राप्ति करती है और फिर लज्जा हो जाती है, तब भूत तथा भविष्य का सत्ता क्यों मानी जाय ? (७) निर्वाण के विषय में श्रीलता का विशिष्ट मत था कि प्रतिमंख्या निरोध तथा अप्रतिमंख्या निरोध में कोई अन्तर नहीं है । प्रतिमंख्यानिरोध में अभिप्राय है प्रजानिवन्धन भावि-क्लेशानुत्पत्ति अर्थात् प्रजा के कारण भविष्य में उत्पन्न होने वाले क्लेशों का न होना । अप्रतिमंख्यानिरोध का अर्थ क्लेश निवृत्तिमूलक दुःखानुत्पत्ति है । क्लेशों की निवृत्ति के ऊपर ही दुःख या संसार की अनुत्पत्ति अवलम्बित रहती है; अतः क्लेशानुदय दुःखानुदय का कारण है । श्रीलब्ध की यही निर्वाण-कल्पना है ।

विज्ञानवाद ज्ञान की सत्ता अंगीकार करता है, परन्तु ज्ञेय के अभाव में ज्ञान की सत्ता क्योंकर प्रमाणित हो सकती है ? विज्ञानवादियों का यह कथन कि विज्ञान ही वाच्य वस्तु के समान प्रतीत होता है, वाच्य वस्तु की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है । दो वस्तुओं की समानता तभी सिद्ध मानी जा सकती है जब उन दोनों में पृथक्ता हो तथा दोनों की स्वतन्त्र सत्ता हो । एक ही सत्ता होने पर यह सादृश्य ज्ञान प्रतिष्ठित नहीं माना जा सकता । वास्तव में वस्तु तथा वस्तुज्ञान अभिन्न पदार्थ हो नहीं सकते, क्योंकि वस्तु एक पृथक् सत्तात्मक पदार्थ है और उसका ज्ञान विषयों में उत्पन्न होने से उसमें पृथक् होना ही चाहिए । वस्तु होता है विषय, पर वस्तुज्ञान होता है विषयीगत । अतः दोनों की भिन्नता प्रमाण प्रतियोग है । दोनों की अभेद कल्पना के अवसर पर 'मैं ही घट हूँ' ऐसा विषय-विषयी-संवलित अनुभव होना चाहिए, पर लोक व्यवहार में यह अनुभव नहीं होता ।

(ग) योगाचार सम्प्रदाय

मैत्रेय (तृतीय शतक)—इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक के विषय में पर्याप्त मतभेद था, परन्तु आधुनिक अनुसन्धान ने मैत्रेय या मैत्रेयनाथ

आचार्य

को एक ऐतिहासिक व्यक्ति तथा विज्ञानवाद का प्रवर्तक होना बलवत्तर प्रमाणोंसे सिद्ध किया है। इनके मुप्रसिद्ध ग्रंथ हैं—(१) 'मध्यान्त विभाग' या मध्यान्तविभाग सूत्र जिसमें कारिका भाग मैत्रेय का तथा गद्याश अमरका है। इसके ऊपर वसुवन्धु ने भाष्य तथा स्थिरमति ने भाष्यपर टीका लिखी है। इस ग्रन्थ में ५ प्रकरण थे। तिब्बती अनुवाद पूरे ग्रंथ का है, मूल संस्कृत प्रथम प्रकरण का ही अधूरा उपलब्ध हुआ है^१। (२) 'अभिसमयालंकार' (प्रज्ञापारमिता के विषय में अद्वितीय ग्रन्थ इसका पूरा नाम 'अभिसमयालंकार-प्रज्ञापारमितापदेश शास्त्र' है जिसमें आठ अधिकार हैं। आर्य विमुक्तिमेन, मदन्त विमुक्तिमेन (दोनों पष्ठ शतक) तथा हर्गमिद्र (नवम शतक) ने टीकाये लिखी हैं^२। (३) 'सूत्रालंकार', (४) महायानउत्तरतन्त्र, (५) धर्मधर्मताविभाग। भोट देशीय 'इतिहास लेखक 'बुन्तोन' के अनुसार मैत्रेय की ये ही पाँच कृतियाँ हैं।

असङ्ग (चतुर्थ शतक) — पुरुषपुर (पेशावर) के कौशिक-गोत्रीय ब्राह्मण के ज्येष्ठ पुत्र अमर का नाम गुरु (मैत्रेय) से भी बढ़कर है। ये समुद्रगुप्त के समय में अयोध्या में आकर रहते थे। ग्रन्थ निर्माण के अतिरिक्त इन्होंने अपने अनुज वसुवन्धु को योगाचार मत में दीक्षित किया तथा विज्ञानवाद के प्रचारार्थ ग्रन्थ लिखवाया। इनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—'महायान-संरिग्रह' (टीका वसुवन्धु की), 'महायानभिधर्ममार्गाति शास्त्र', योगाचारभूमि शास्त्र' (या सप्तदश भूमि शास्त्र), 'अभिसमयालंकार टीका'। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ 'महायान सूत्रालंकार' को डा० लेवी

१ प० विजयेश्वर शास्त्री आंग डा० तुशा के सम्पादनत्व में प्रथम परिच्छेद ही कलकत्ता ओरियन्टल सोसाय (न० २४) में प्रकाशित हुआ है।

२ निबन्ता अनुवाद के साथ मूल ग्रन्थ डा० चेरवासका के सम्पादनत्व में बिब्लो-ओरियन्टल एडिका सोसाय (न० २३) में प्रकाशित हुआ है।

ने फ्रेच अनुवाद के साथ प्रकाशित किया है। वसुबन्धु ने योगाचर मत में दीक्षित होनेपर बीस और तीस कारिकाओं में 'विश्विमात्रतासिद्धि' लिखी जिनके संस्कृत मूल को 'विशितका' तथा 'त्रिशिका' नाम से डा० लेवी ने पेरिससे प्रकाशित किया है। 'विश्विमात्रतासिद्धि' विज्ञानवाद का सर्वमान्य, नितान्त प्रामाणिक ग्रन्थ है।

स्थिरमति — वसुबन्धु के साक्षात् शिष्य थे। वसुबन्धु के वृत्तिकार-रूप से इनकी विपुल ख्याति है। समय चतुर्थ शतक का अन्तिम भाग मानना चाहिए। प्रसिद्ध ग्रन्थ — (१) त्रिशिका भाष्य (मूलसंस्कृत प्रकाशित है), (२) माध्यान्तविभग मूत्रभाष्य टीका, (३) अभिधर्म-कोश भाष्यवृत्ति, (४) मूत्रालंकार-वृत्ति-भाष्य, (५) मूलमाध्यमिक कारिका-वृत्ति।

दिङ्नाग — बौद्ध न्याय के प्रसिद्ध आचार्य दिङ्नाग अपनी प्रगल्भ वायदूकता तथा शास्त्रार्थ-पटुता के कारण 'वादिवृषभ' की उपाधि में सम्मानित किये गये हैं। कात्ची के पास 'हिंसवक्र' में ब्राह्मण-शोध-सूत्र दिङ्नाग वसुबन्धु के शिष्य थे। अतः इनका समय ३४५-४२५ ई० के आसपास है। प्रसिद्ध ग्रन्थ — (१) प्रमाणसमुच्चय, (२) प्रमाणसमुच्चय वृत्ति, (३) न्यायप्रवेश (मूलसंस्कृत प्रिन्सिपल ब्रुव के सम्पादकत्व में बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है), (४) हेतुचक्रद्वय, (५) प्रमाणशास्त्र न्यायद्वार या न्यायमुख, (६) आलम्बनपरीक्षा तथा वृत्ति।

धर्मकीर्ति — (पण्डितक ६३५-६५०) दिङ्नाग के भाष्यकार-रूप से ब्राह्मण न्याय ग्रन्थों में भी ये उल्लिखित हैं। इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाणवार्तिक' (विहार उर्दूमा मोसाइटी की पत्रिका में प्रकाशित) तथा 'न्यायविन्दु' है जिनमें बौद्ध न्याय के ऊपर ब्राह्मण नैयायिकों के

आश्रयों का उत्तर देकर स्वमिद्धान्त का मण्डन है। टीका-सम्पत्ति की दृष्टि से भी यह आदरणीय है। इन्होंने केवल प्रमाण शास्त्र (न्याय) पर ही अपने माता ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों के नाम हैं--(१) प्रमाण-वार्तिक (१४५४^१ कारिका); (२) न्यायविन्दु (१७७ श्लोक); (३) हेतुविन्दु (४४४ श्लोक); (४) प्रमाणविनिश्चय (१३४० श्लोक), (५) वादन्याय (वादविषयक ग्रन्थ) (६) सम्बन्ध परीक्षा (२९ कारिका-जिनमें श्रणिकवाद के अनुसार कार्य-कारण सम्बन्ध का निरूपण है), (७) सन्तानान्तर सिद्धि (७२ सूत्र)-जिनमें मनः सन्तान (मन एक वस्तु न होकर श्रण-श्रण में नष्ट और नया उत्पन्न होनेवाला सन्तान—बटना है) से भी पंगू दूसरी मनः सन्ताने हैं, इसे सिद्ध किया है। इसीलिए इसका मार्थक नामकरण है। इन ग्रन्थों में तीन (१, २, ५) मूल संस्कृत में लिये हैं। हेतुविन्दु मिला है, पर प्रकाशित नहीं है। शेष के निम्नवर्ती अनुवाद मिलते हैं।

धर्मपाल--(षष्ठ शतक का आरम्भ) नालन्दा बौद्ध विहार के अव्यक्ष थे। योगाचार तथा शून्यवाद दोनों मतों के ग्रंथों पर टीकायें लिखीं। 'विश्वामित्राः । विनिश्चय व्याख्या' वसुवन्धु के प्रसिद्ध ग्रन्थ की तथा 'शतशास्त्र वैपुल्यभाष्य' आर्यदेव के विख्यात ग्रन्थ की टीका है।

विज्ञानवाद

विज्ञानवादी योगी के अनुसार दो आवरणों की निवृत्ति से मोक्षलाभ कर सकता है—क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण। इन आवरणों की सत्ता रहने पर मुक्ति तथा सर्वज्ञता की उपलब्धि कभी भी नहीं हो सकती। मुक्ति का बाधक क्लेश है। अतः क्लेशावरण की निवृत्ति हो जाने पर मोक्षलाभ हो जाता है; पर सर्वज्ञता की प्राप्ति नहीं होती। इसकी प्राप्ति ज्ञेयावरण की निवृत्ति होने पर ही हो सकती है। आत्मदृष्टि से राग-द्वेषादि क्लेशों की उत्पत्ति होती है; जब साधक को पुद्गल-नैरात्म्य में

प्रतिष्ठा हो जाती है तब क्लेशों के नाश होने में मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है। पर जब धर्मनैरात्म्यज्ञान में साधक प्रतिष्ठित हो जाता है, तो किञ्चित् ज्ञेय के अभाव में चित्त सवज्ञतावस्था को प्राप्त कर लेता है। यही विज्ञानवादी दार्शनिकों के मत से परम पद की प्राप्ति है।

विज्ञान या चित्त ही एकमात्र सत्य पदार्थ है। यह नाना उपचार-समन्वित संसार मनोविज्ञानमात्र है। उपचार दो प्रकार के अनुभव में आते हैं—आत्मोपचार तथा धर्मोपचार। जीव, जन्तु, आत्मा, मनुष्य—ये आत्मोपचार हैं। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप, वेदना, सजा, संस्कार, विज्ञान-धर्मोपचार हैं। विज्ञान के बाहर इनकी सत्ता नहीं है अर्थात् आत्मा तथा धर्मविज्ञान के ही विभिन्न परिणामरूप हैं। विज्ञानवादी चित्त को आठ प्रकार का बतलाते हैं; चक्षुर्विज्ञान आदि षड्भेद पैमा-षिकों को भी सम्मत हैं, पर योगाचार के मत से मनोविज्ञान तथा आल्य विज्ञान दो विज्ञान के भेद अधिक माने जाते हैं। इस विभाग-पद्धति में आल्यविज्ञान की कल्पना विज्ञानवादियों के सूक्ष्म मानसतत्त्व-विवेचन की सूचना देती है। चक्षुर्विज्ञान आदि षड्विज्ञान जो बाह्यवस्तु तथा इन्द्रिय के संस्पर्श से उत्पन्न होते हैं, विषयज्ञान के लिए द्वारमात्र हैं। ये स्वावलम्ब्य ज्ञान को मनोविज्ञान के पास ले जाते हैं जो स्वयं आल्य-विज्ञान के पास उन्हें उपर्नात करता है। तभी विषय के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है। समस्त जगत चित्त का परिणाममात्र होने से इन्हीं अष्टभेदों के अन्तर्भूत बतलाया जा सकता है।

योगाचार के मत में विज्ञान तथा विज्ञेय का अन्तर स्पष्ट है। विज्ञेय परिनिर्दतस्वभाव होने से वस्तुतः नहीं है, पर विज्ञान प्रतीत्यसमुत्पन्न होने में नितान्त सत्य है। ऊपर आत्मोपचार तथा धर्मोपचार का नामोल्लेख किया गया है। जहाँ जो वस्तु नहीं रहती है, वहाँ उसका उपचार होता है। इस जगत में न आत्मा है न धर्म, परन्तु इसके उपचार अनादिकाल से वर्तमान हैं। उपचार होने से ये परिकल्पित मात्र हैं,

परमार्थिक या मत्त्य स्वरूप नहीं है। त्रिशिका (का० १-२) के अनुसार विज्ञान के परिणाम तीन प्रकार से होते हैं—(१) विपाक, (२) मनन, तथा (३) विषयविज्ञप्ति। कुशल तथा अकुशल कर्मवासना के परिपाक से आश्रयानुसार फल की अभिवृत्ति का नाम विपाक परिणाम है। इसका दूसरा नाम 'आलय-विज्ञान' है। सब सांवलेशिक धर्म-बीजों के आलय स्थान होने से इसकी 'आलय-विज्ञान' संज्ञा है। यह आलयविज्ञान सदा स्वर्ग, मनस्कार, वित्त, सज्ञा तथा चेतना नामक पाँच सर्वत्रग धर्मों से अन्वित रहता है। विज्ञान परिणाम का द्वितीय प्रकार 'मनन' या क्लिष्ट मन कहलाता है। सर्वदा मनन करना ही क्लिष्ट मनका स्वभाव है अतः उसे मनन कहते हैं। क्लिष्ट मन आलयविज्ञान के आश्रय को लेकर प्रवृत्त होता है या स्व मननाख्य कार्य में लगता है। विज्ञान परिणाम का तृतीय भेद 'विषय-विज्ञप्ति' है। चक्षुर्विज्ञान में लेकर मनो-विज्ञान तक के छः प्रकार के विज्ञानों के षड्विध विषय—रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्शव्य, तथा धर्म—की उपलब्धि ही विषयविज्ञप्ति है। यह उपलब्धि तान प्रकार की हो सकती है—कुशल, अकुशल तथा तदुभय-भिन्न। अलंभ, अद्वेष तथा अमोह से युक्त विषयोपलब्धि कुशल है; लंभ, द्वेष तथा मोह से समन्वित होने पर अकुशल है।

यह त्रिविध विज्ञान-परिणाम योगाचारके मत से विकल्पमात्र है। यह जगत् विज्ञान के विविध परिणामों का रूप धारण करनेवाला विकल्परूप है। विकल्प तीन प्रकार के है—आलय-विज्ञान का, क्लिष्टमन का तथा प्रवृत्तिविज्ञान का। आलयविज्ञान में समस्त धर्मों की उत्पादनशक्ति अन्तर्निहित है, क्योंकि वह 'मयीज' कहा गया है। इस आलयविज्ञान से ही समस्त पदार्थों की उत्पत्ति होती रहती है। अतः इस जगत् में विज्ञाप्यमात्रता की सिद्धि होती है (त्रिशिका का० १८)।

यह त्रिविध विज्ञान-परिणाम का सिद्धान्त योगाचार के आदि आचार्य असंग तथा वसुवन्धु के द्वारा उद्भावित किया गया है, पर दिङ्नाग इसे आत्मा का

ही निगूढ़ रूप बतलाकर इसे स्वीकृत नहीं करते । अपने मत को पुष्टि में उन्होंने प्रबल युक्तियों का प्रदर्शन किया है । इस कारण आगमानुसारी तथा न्यायवादी दो मतों की स्थिति मानी जाती है । अद्वय-वज्र ने अपने 'तत्त्वरत्नावली' में योगाचार के साकार ज्ञानवादी तथा निराकार ज्ञानवादी दो मतभेदों का वर्णन किया है । साकार ज्ञानवादियों के मत में ज्ञान बाह्यपदार्थों के स्वरूप को ग्रहण करता है, पर निराकार ज्ञानवादियों के मत में ज्ञान आकारहीन होता है, उसका सत्यस्वरूप स्वमवेदनरूप होता है । बाह्यार्थों का सत्ता मानना मूर्खता-विजृम्भित है । बाह्यार्थ मायिक होने से स्वमवेदनरूप ज्ञान ही एकमात्र सत्ता है । कहना न होगा कि इस ज्ञान के स्वरूप का अनुभव सिद्ध योगियों को ही होता है । अतः सिद्धान्ततः विज्ञानवादी होने पर योग तथा आचार को अत्यधिक महत्त्व देने के कारण ये योगाचार के नाम से अभिहित किये जाते हैं ।

(घ) माध्यमिकमत

नागार्जुन—शून्यवाद या माध्यमिक सिद्धान्त के प्रचारक थे । इनके जीवन चरित के विषय में बड़ी-बड़ी कहानियाँ प्रसिद्ध हैं । ये दक्षिण भारत के निवार्सी ब्राह्मण थे । अनन्तर बौद्ध-आचार्य धर्म में दीक्षा लेकर श्रीपर्वत पर रहते थे । अलौकिक कल्पना, अगाध विद्वत्ता, प्रगाढ़ तार्किकता के कारण इनकी विपुल कीर्ति भारतदार्शनिक जगत् में सदैव अधृण रहेगी । प्रधान रचना 'माध्यमिक शास्त्र' या माध्यमिक कारिक है जो २७ प्रकरणों में विभक्त है । शून्यवाद की प्रतिष्ठा इसी ग्रन्थ पर है । इसकी महत्त्वशाली वृत्तियों में मध्य कृत 'प्रज्ञा प्रदीप' तथा चन्द्रकीर्ति विरचित 'प्रसन्नपदा' मुख्य हैं । 'प्रज्ञा-पारमिता'-शास्त्र (पञ्चविंशति साहस्रिका प्रज्ञापारमिता की टीका जो कुमारजीव के द्वारा ४०२-४०५ में अनूदित हुई थी) तथा 'दशभूमिविभागा शास्त्र' (दशभूमिसूत्र की वृत्ति) विषयपर्यालोचन के महत्त्व में महायान के विश्वकोष कहे जा सकते हैं ।

आर्यदेव—(२००-२२४ ई०) चन्द्रकीर्ति के वर्णनानुसार ये सिंधलद्वीप में उत्पन्न हुए थे और उम देश के राजा के पुत्र थे । अनुल सम्पत्ति को लान मार्ग पर ये दाक्षिण में आये और नागार्जुन के शिष्य बन गये । ये शून्यवाद के प्रकाण्ड आचार्य थे । इनकी अनुपम दार्शनिक कृति 'चतुःशतक' है जिनमें नामानुसार चार सौ कारिकाये हैं, १६ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में २५ कारिकाये हैं । धर्मपाल तथा चन्द्रकीर्ति ने टीकायें लिखी थी जिनमें धर्मपाल की वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ के उद्गारार्थ को ह्युत्तच्चाग (६५० ई०) ने चीनी भाषा में अनुवादित किया था । चीनी में इसका अभिधान 'शतशाम्त्र वैपृत्य' है । चन्द्रकीर्ति की वृत्ति के साथ समग्र ग्रन्थ का अनुवाद तिब्बती भाषा में तथा वृत्ति का कतिपय अंश मूल संस्कृत में उपलब्ध होता है । शून्यवाद के रहस्याद्वा-टन के लिए यह नितान्त प्रामाणिक, प्रमेयबहुल ग्रन्थ है । प्रथम शतक-द्वय को धर्मशामन शतक (बौद्धधर्म का शास्त्रीय प्रतिपादन) तथा अन्तिम शतकद्वय को विग्रह शतक (परमतत्त्वण्डन) कहते हैं । ग्रन्थ के उद्गारार्थ को अंग्रेजी अनुवाद तथा टिप्पणी के साथ पण्डित विधुशेखर शास्त्री ने विश्वभारती मरीज (नं० २) प्रकाशित किया है ।

स्थविर बुद्धपालित (पञ्चम शतक)—माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रमाणभूत आचार्यों में से अन्यतम हैं । इन्होंने नागार्जुन के 'माध्यमिक कारिका' के ऊपर एक वृत्ति लिखी है जिसका अभी तक केवल तिब्बती अनुवाद ही उपलब्ध हुआ है । वे प्रासंगिक मत के उद्भावक माने जाते हैं ।

भावविवेक (भव्य या चीनी ग्रन्थों के अनुसार 'भाविवेक')—बौद्ध न्याय के 'स्वातन्त्र मत' के उद्भावक थे । नवीन मत के प्रवर्तक होने से अवान्तर शताब्दियों में इनकी विशेष ख्याति थी । इनके प्रधान ग्रन्थ—(१) प्रज्ञापदोप (माध्यमिक कारिका की वृत्ति जिसका तिब्बती

अनुवाद ही प्राप्य है), (२) मध्यम-हृदय-कारिका, (३) मध्यमार्थ-संग्रह, (४) हस्तरत्न — हैं ।

चन्द्रकीर्ति (६००—६५० ई०) — दक्षिण भारत के निवासी थे । बुद्धपालित तथा भव्य के प्रसिद्ध शिष्य कमलवृद्धि से इन्होंने शून्यवाद के ग्रन्थों को पढ़ा । इस प्रकार ये पूर्वोक्त दोनों आचार्यों के प्रशिष्य थे । नालन्दा में अध्यापक थे । इनके विख्यात ग्रन्थ हैं—(१) माध्यमिकावतार, (२) प्रसन्नपदा — माध्यमिक कारिकाओं की सर्वश्रेष्ठ मुद्रांश प्रामाणिक टीका । इसे डाक्टर पुम ने चिन्त्रीओथिका बुद्धिका सीरीज (नं० ४) में मूल संस्कृत में सम्पादित किया है । (३) चतुःशतक वृत्ति—आर्यदेव के ग्रन्थ पर टीका । तिव्वती अनुवाद में पूरी तथा मूल संस्कृत में अधूरी ही मिलती है । प्रामाणिक मत के आचार्य चन्द्रकीर्ति अपने समय के सब से श्रेष्ठ माध्यमिक आचार्य थे ।

शान्तरक्षित (८ म शतक) — स्वतन्त्र माध्यमिक सम्प्रदाय के आचार्य थे तथा नालन्दा विहार में अध्यापक थे । तिव्वत के तत्कालीन राजा के निमन्त्रण पर तिव्वत गये, एक बड़े विहार की स्थापना की तथा उसके अध्यक्ष बने । इन्होंने धर्मकीर्ति के वाद-न्याय पर विस्तृत टीका लिखी है, परन्तु इनका मौलिक त्रिपुलकाय ग्रन्थ 'तन्वमग्रह' है । इस ग्रन्थ में ब्राह्मण दार्शनिकों के मत की विस्तृत समीक्षा कर बौद्ध सिद्धान्तों की पुष्टि की गई है । यह वास्तव में नितान्त प्रौढ़ तथा प्रमेयबहुल ग्रन्थ है । इसकी टीका कमलशील ने 'तन्वमग्रह पञ्जिका' नाम से लिखी है । कमलशील स्वयं नालन्दा में तन्त्रों के अध्यापक थे तथा गुरु के साथ तिव्वत गये थे । यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल मरीज (नं० ३०, ३१) में प्रकाशित हुआ है ।

शून्यवाद

माध्यमिक मत के आचार्यों ने अपने मतवाद की मंज्ञा शून्यवाद दी है । बौद्धों के चारों दर्शनों में सबसे अधिक वैमत्य इस शून्यवाद के

तात्त्विक स्वरूप के निरूपण करने में उपलब्ध होता है। ब्राह्मण दर्शनो ने 'शून्य' शब्द का अर्थ सर्वत्र सकल सत्ता का निषेध ही किया है।

इस कल्पना का मूलाधार 'शून्य' शब्द का लोकव्यवहार में प्रयुक्त अर्थ है। परन्तु क्या माध्यमिक आचार्यों की दार्शनिक क्रतियों में इस

शब्द का यही अर्थ है? आधुनिक परिशीलन ने इस शब्द का एक विलक्षण पारिभाषिक अर्थ खोज निकाला है। किसी भी पदार्थ के स्वरूप निर्णय करने में चार ही कोटियों का प्रयोग किया जा सकता है—अस्ति, नास्ति, तदुभयं (अस्ति और नास्ति) तथा नोभय (न अस्ति न च नास्ति)। पर परम तत्त्व का निर्णय इन कोटियों की सहायता से नहीं किया जा सकता। वह मनोवाणी में अगोचर होने से नितरा अनिर्वचनीय है। इसी कारण उस परमतत्त्व की अनिर्वचनीयता की सूचना देने के लिए 'शून्य' शब्द का प्रयोग किया है। बौद्धदर्शन में अनिर्वचनीय शब्द का प्रयोग चतुष्कोटि-विस्तृत तत्त्व के लिए है^१, परन्तु वेदान्त में इसका प्रयोग सदसद्-विलक्षण के लिए ही किया जाता है। 'शून्य' का प्रयोग एक विशेष सिद्धान्त का सूचक है। हीन-यान के आचारविषयक मध्यम प्रतिपद के अनुरूप ही माध्यमिक लोग तत्त्वमीमासा के विषय में मध्यमप्रतिपदा के सिद्धान्त के पोषक हैं। इनके अनुसार वस्तु न तो ऐकान्तिक सत् है और न ऐकान्तिक असत्, प्रत्युत उसका स्वरूप इन दोनों सत् तथा असत् के मध्यविन्दु पर ही निर्णीत हो सकता है जो स्वयं शून्य रूप ही होगा।^२ यह शून्य अभाव से नितान्त

१ न सन् नामन् न सदमन्न चाप्यनुसथात्मकम् ।

चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त तत्त्व माध्यमिका विदुः ॥

—माध्यमिकवार्त्ता १।७ ।

२ अस्तानि नास्तानि उभेऽपि न्ना

शुद्धा अशुद्धीति इमेऽपि न्ना ।

तस्मादुभे अन्न विवर्जयित्वा

मध्ये हि स्थान प्रकरोति पण्डितः ॥—समाधिराजसूत्र ।

भिन्न है, क्योंकि अभाव की कल्पना सापेक्ष कल्पना है, परन्तु यह शून्य निरपेक्ष परमतन्त्र का सूचक है। इस आध्यात्मिक मध्यममार्ग के उद्भा-
वक होने के कारण ही इस दर्शन का नाम 'माध्यमिक' दिया गया है।

यह शून्य ही सर्वश्रेष्ठ एक अपरेश तत्व है। इस प्रकार माध्यमिक आचार्य शून्यताद्वैत के समर्थक हैं। यह समस्त नानात्मक प्रपञ्च इसी शून्य का ही विवर्त माना जाता है। परमतत्त्व की ही सत्यता सर्वतोभावेन माननीय है, परन्तु उसका स्वरूप इतना अकथनीय अजेय है कि हम न तो यही कह सकते हैं कि वह सत् है, या असत् है, या इन दोनों की संवलित करनेवाला सत् असत् दोनों हैं या इन दोनों में से कोई भी नहीं है। इसकी सूचना देने के लिए 'शून्य' का व्यवहार इस दर्शन में किया गया है।

माध्यमिक आचार्य नागार्जुन ने दो प्रकार का सत्यता माना है^२—

(१) परमार्थिक तथा (२) सावृत्तिक। अनुत्पन्न, अनिरुद्ध, अनु-
च्छेद, अशाश्वत आदि विशेषणों के द्वारा वर्णित
मिथ्यान्त शून्यपद वाच्यतत्त्व परमार्थिक सत्य है तथा बुद्धि
के अगोचर है। बुद्धिमात्र विकल्पात्मक है और विकल्प अवस्तुग्राही होने से अविद्यात्मक है। अतः बुद्धि में इतनी योग्यता नहीं है वह परमसत्य का यथार्थ ग्रहण कर सके। संवृत्ति^३ (माया या अविद्या) के

१ अतो भावाभावान्द्वयवर्गहन्त्वात् स एव भावानुत्पत्तिरुत्पत्त्या शून्यता मध्यमा प्रतिपद् मध्यमो मार्ग इत्युच्यते। चन्द्रकार्त्तिक—प्रसन्नपदा।

२ द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।

लोकसंवृत्तिसत्यं च सत्यं च परमार्थतः ॥—माध्यमिककारिका २४।८।

३ संवृत्ति का व्युत्पत्ति चन्द्रकार्त्तिक ने इस प्रकार का है—समन्ताद् वर्णनं संवृत्तिः। अज्ञानं हि समन्ताद् सर्वपदार्थतत्त्वावच्छादनाद् संवृत्तिरित्युच्यते।

—माध्यमिककारिकावृत्ति पृ० ४९२।

कार्यभूत होने में समस्त जगत् की सत्ता सात्त्विक या व्यावहारिक है। माध्यमिक लोग अविद्या के दो कार्य मानते हैं। स्वभाव दर्शन का आवरण तथा असत् पदार्थ स्वरूप का आरोपण। संवृति दो प्रकार की होती है तथ्यसंवृति। जब हम प्रत्यक्ष दृश्य घट पदादि विषयों का अदृष्ट इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करते हैं, तब उसे तथ्यसंवृति कहते हैं जो लौकिक दृष्ट्या सत्य माना जाता है। मिथ्यासंवृति—जब मरीचिकादि दुष्ट इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं तब इन्हे व्यावहारिक दृष्टि में मिथ्या कहते हैं। यही है मिथ्या-संवृति। अतः सात्त्विक सत्य का अर्थ होता है व्यावहारिक सत्यता।

परमार्थ इसमें विलक्षण होता है। त्रिकाल में अवाधित होने में शून्य तथा निर्वाण तत्त्व परमार्थरूप माना जाता है। इस तत्त्व का प्रत्यक्षीकरण योगिजनों के द्वारा ही किया जा सकता है। आर्य सत्य-चतुष्टय के तीन सत्य दुःख, समुदय तथा मार्ग संवृति-स्वभाव होने में सात्त्विक सत्य के अन्तर्भूत हैं। केवल निरोध परमार्थ सत्य है। इन्हीं दोनों सत्तों के आधार पर बुद्ध लोग जीवों को धर्मापदेश किया करते थे।

यह अद्वैत परमार्थ तत्त्व शून्यवादियों के धार्मिक साहित्य में 'तथागत' नाम से सुप्रसिद्ध है। इसके आलम्बन बिना न तो आत्मकल्याण सम्पन्न हो सकता है और न परकल्याण। अविद्या के द्वारा अस्पृष्ट होने में इसमें समस्त मलों का अभाव रहता है। उभयविध क्लेशावरण तथा जेयावरण से यह उन्मुक्त रहता है। सम्यक् सन्नाधि के सिवा इस अद्वैत-तत्त्व की उपलब्धि नहीं हो सकती। सम्यक् सन्नाधि की प्राप्ति के लिए पट् पारमिताओं—ज्ञान, शील, क्षान्ति, वीर्य, समाधि तथा प्रज्ञा—की उपलब्धि नितान्त आवश्यक है। ज्ञान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकाल तक अभ्यास करने से पुण्यसंभार की प्राप्ति होती है तथा वीर्य और समाधि के सतत अभ्यास से ज्ञानसंभार का उदय होता है। पुण्यसंभार तथा ज्ञानसंभार के उदय से प्रज्ञा का उन्मेष होता है। प्रज्ञा की निर्म-

लता का सम्पादन धीरे-धीरे किया जाता है । साधन तथा फलरूपा होने से इसके द्विविध भेद माने जाते हैं । साधन प्रज्ञा के प्राप्त होने पर साधक 'अधिमुक्त चरित' कहलाता है, पर अरोंक्ष ज्ञान के आविर्भाव होने पर फलरूपा प्रज्ञा का उदय होता है जिसमें बोधिमत्त्व भूमियों की प्रतिष्ठा होती है । बुद्धत्व ही प्रज्ञा का अन्तिम उत्कर्ष है । उस समय द्वैत ज्ञान का सर्वथा लोप होता है । योगी लोग इस प्रज्ञा को निर्विकल्प तथा सर्वधर्म-शून्यताधिगमरूप वतलाते हैं । इस दशा में स्वदुःख और पर-दुःख सदा के लिए निवृत्त हो जाते हैं । समस्तधर्म स्वभावहीन हैं, इसी का नाम 'शून्यता' है ।

नागार्जुन की तर्करद्धति नितान्त सूक्ष्म, परन्तु अभावात्मक है । उस शैली से परीक्षा करने पर जगत् के समस्त पदार्थ तथा बौद्धिक धारणायें निःस्वभाव प्रतीत होती हैं । नागार्जुन 'माध्यमिककारिका' में गति, इन्द्रिय, स्कन्ध, धातु, दुःख, संसर्ग, स्वभाव, कर्म, बन्धमोक्ष, काल, आत्मा—आदि समग्र व्यावहारिक धारणाओं को पाण्डित्यपूर्ण परीक्षा कर इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि ये सब एकदम असत्य हैं । 'शून्यता' ही एक सत्य परमार्थ पदार्थ है । शून्यवादियों के आभ्यात्मिक सिद्धान्तों का निष्कर्ष नागार्जुन ने पड़ली ही कारिका में दे दिया है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्या नाप्यहेतुतः ।

उत्पन्ना जातु विश्रन्ते भावाः क्वचन केचन ॥

भाव न तो स्वतः उत्पन्न होते हैं, न परतः (दूसरे कारण से), न दोनो से, न अहेतु से । इस कारिका को व्याख्या में आचार्य बुद्धपालित ने भावोत्पत्ति के अभाव की यथार्थता का विवेचन बड़ी सुंदर युक्तियों से दिखलाया है । यदि पदार्थ स्वतः उत्पन्न होते हैं, तो ऐसी दशा में उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी । जो पदार्थ विद्यमान हैं, उनकी उत्पत्ति का प्रयोजन क्या होगा ? अरने से भिन्न वस्तुओं से भी पदार्थ उत्पन्न नहीं होते,

क्योंकि तब किसी पदार्थ से कोई पदार्थ उत्पन्न होने लगेगा। दोनों पक्षों में दोष होने से, इनका समुच्चय ठीक नहीं। बिना हेतु के ही कार्य उत्पन्न होते हैं, यह भी कथन ठीक नहीं, क्योंकि कार्य-कारण का सिद्धान्त माननीय है और ऐसी दशा में सब पदार्थ सब पदार्थों से उत्पन्न होने लगेंगे। अतः त्रैधातुक (कामधातु, रूपधातु तथा अरूपधातुमय) जगत् के भावों की उत्पत्ति नहीं होता। पाठकों को शून्यवादियों को तर्कप्रणाली के रूप दिखलाने के लिए यह एक ही नमूना काफी होगा।

बुद्धपालित तथा उनके अनुयायियों ने निर्वाण तथा शून्यता की स्वयंपोषणार्थ में तर्क का सर्वतोभावेन निरस्कार किया है; अतः उन्हें 'माध्यमिक प्रासंगिक' की मज्ञा प्राप्त है; पर भव्य (या भाव-विवेक) ने माध्यमिक सिद्धान्तों की पुष्टि के लिए न्यायानुमोदित स्वतन्त्र तर्कों की कल्पना की है जिससे उन्हें 'माध्यमिक स्वातंत्रिक' की मज्ञा प्राप्त है। भव्य अपने कुशाग्र तर्क के लिए महामान्य दार्शनिकों में नितान्त विख्यात हैं, पर सत्तम शतक में आचार्य चन्द्रकीर्ति ने अपने ग्रन्थों में बुद्धपालित की शैली का अनुसरण कर आचार्य भव्य की पद्धति को गहरा धक्का पहुँचाया। चन्द्रकीर्ति का व्याख्या परम्परागत सिद्धान्तों के लिए चीन, तिब्बत, मंगोलिया आदि देशों में भी प्रमाणभूत थी। अद्वयवज्र ने तत्त्वस्तावली (पृ० १४) में माध्यमिकों के दो मतभेद का उल्लेख किया है— (१) मायोपमा-द्वयवाद तथा (२) सर्वधर्माप्रतिष्ठानवाद। पहला मत अद्वयवाद को माया के समान मानता है तथा दूसरा मत सब धर्मों के अप्रतिष्ठान में ही परमार्थ सत्य के स्वरूप को देखता है। महायान के 'अधिमात्र' अनुयायी शून्यवाद के माननेवाले दार्शनिक थे।

समीक्षा

बुद्ध दर्शन की मूलभित्ति उपनिषद् ही हैं। कर्मकाण्ड की अकिञ्चि-त्करता, भवप्रसञ्च के मूल में अविद्या का कारण होना, तृष्णा के उच्छेद

से रागद्वेषादि बन्धनो से मुक्त होना, कर्म सिद्धान्त की व्यापकता—आदि सामान्य सिद्धान्त दोनों में उपलब्ध होते हैं। 'अमत्' से 'सत्' की उत्पत्ति का तत्त्व छान्दोग्य में उल्लिखित है (छा० उप० ६।२।१)। अन्य कतिपय सिद्धान्तों में समानता भले हो, परन्तु क्षणिकवाद, अनात्मता, विज्ञान तथा शून्य की वास्तविकता के सिद्धान्त इतने घोर विद्रोहात्मक थे कि ब्राह्मण तथा जैन दार्शनिकों ने इनका खण्डन नितान्त प्रौढ़ युक्तियों के सहारे किया है।

जगत् के समस्त पदार्थों को क्षणिक मानने में व्यवहार तथा परमार्थ को उपपत्ति कथमपि सिद्ध नहीं की जा सकता^१। वस्तुओं के क्षणिक होने पर किर्मा क्षण की क्रिया स्वर्काय फलोत्पादन क्षणभङ्गनिर्गम किये बिना ही अतीत के गर्भ में विलीन हो जाती है; इस दोष का नाम है कृतप्रणाश। और किर्मा भी क्रिया के बिना किए प्राणी को स्वयं अकृत कर्मों के फल का भोगना पड़ता है (अकृत कर्म-भोग)। भवभग का दोष उसी प्रकार जागरूक है। कर्मफल के भोगने के लिए ही प्राणियों का जन्म होता है, परन्तु क्षणिकवाद के मानने पर जब प्राणियों में उत्तरदायित्व का ही अभाव है, तब मसार का उत्पत्ति ही क्योंकर सिद्ध मानी जाय ? मोक्ष सिद्धान्त को भी हानि पहुँचेगी। बुद्धधर्म मोक्षप्राप्ति के लिए अष्टांगिक मार्ग का विधान करता है, परन्तु कर्मफल के क्षणिक होने पर मोक्ष की प्राप्ति भी सुतरा असम्भव है, तब निरोधगामिनी प्रतिपद् की व्यवस्था का फल क्या होगा ? स्मृतिभग भी क्षणिकवाद के निराकरण के लिए एक प्रचल व्यावहारिक प्रमाण है। स्मरणकर्ता तथा अनुभवकर्ता की एकता लोकव्यवहार अंगीकार करता

१ द्रष्टव्य कुमारिल—दलोकवार्तिक (पृ० २१७-२२३), शङ्कराचार्य—रा० २।१८ शङ्करभाष्य, जयन्तभट्ट—न्यायमञ्जरी भाग २ (पृ० १६-३९), मल्लिषेण—स्याश्वाद-मञ्जरी पृ० १२२-१२६ ।

है। पदार्थ का स्मरण वही कर सकता है जिसने उसका अनुभव किया हो, परन्तु क्षणिकवाद के अनुसार अनुभव का कर्ता पूर्वदिन से कालिक सम्बन्ध रखनेवाला देवदास है और स्मरण करता है अव्यतन-कालिक-सम्बद्ध देवदास व्यक्ति। स्मरण के समान प्रत्यभिज्ञा (पहचान) की व्यवस्था कथमपि सिद्ध नहीं हो सकती। अतः लौकिक तथा शास्त्रीय उभय दृष्टियों से क्षणिकवाद विचार की कमौटो पर टीक नहीं उतरता। इसीलिए इतने दोषों के सद्भाव रहने पर हेमचन्द्र ने क्षणिकवाद का माननेवाले बौद्ध को टीक ही 'महासाहसिक' कहा है (अ० यो० व्य० श्लोक १८) —

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग-भवप्रमोक्ष-स्मृतिभगदोषान् ।

उपेक्ष्य साध्नात् क्षणभगमिच्छन् अहो महासाहसिकः परस्ते ॥

क्षणिकवाद के अंगीकार से विषम अनवस्था की झलक जयन्तभट्ट ने न्यायमञ्जरी (१० ३९) में वही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है —

नास्यात्मा फलभोगमात्रमथ च स्वर्गाय चैत्यार्चनं ,

मस्काराः क्षणिका युगस्थितिभृतश्चैते विहागः कृताः ।

सर्वं शून्यमिदं वमूनि गुरवे द्रेहीति चादिश्यते ,

बौद्धानां चरितं किमन्यदियती दम्भस्य भूमिः परा ॥

आत्मा को पञ्चस्कन्धात्मक मानने से निर्वाण को हानि पहुँचती है। जिस स्कन्ध-पञ्चक ने पुण्यसंभार का अर्जन किया, वह तो अतीत की वस्तु बन गया है। ऐसी दशा में पूर्वप्रदर्शित दोषों का सद्भाव तो बना ही रहेगा। इस वैषम्य को दूर करने के लिए बौद्धों ने 'वासना' का अस्तित्व माना है। त्रुटित मुक्तामाला के समान परस्पर विशकलित क्षणों के अन्योन्यानुस्यूत प्रत्यय उत्पन्न करनेवाली एतन्मयः सन्तान-परम्परा का नाम वासना है। पूर्वज्ञान से उत्तर ज्ञान में जनित शक्ति की बौद्ध संज्ञा 'वासना' है (वासनेति पूर्वज्ञानजनितामुत्तरज्ञाने

अग्निभाट्टः—स्याद्वादमञ्जरी, श्लोक १९) । प्रथमतः वामना का क्षण-मन्वन्ति के साथ ठीक-ठीक सम्बन्ध नहीं उपपन्न होता । अन्यच्च वामना मयं निर्विषय ही ठहरती है । मृगमद को वामना के समान पूर्व क्षण से उत्तर क्षण का 'वामिन' होना (वास्यता) वामना का स्वरूप है, परन्तु स्थायी आधार के अभाव में वह सक्रमणशीलता कैसे सिद्ध मानी जाय ? स्थायी वस्त्र की सत्ता रहने पर ही मृगमद की वामना युक्तियुक्त है, परन्तु पञ्चस्कन्धों के श्रणिक होने से वामना का आधार कौन पदार्थ होगा ? ऐसी दशा में 'वामना' की कल्पना अनात्मवाद को दार्शनिक त्रुटि से बचा नहीं सकती । आचार्य शंकर का यह कथन (२।२।३० शारीरिक भाष्य) यथार्थ है—अपि च वासना नाम मस्कारविशेषाः । संस्काराश्च नाश्रयमन्तरेणावकल्पन्ते । एवं लोके दृष्टत्वात्^१ ।

विज्ञानवाद का खण्डन आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र (२।२।२८-३२) के भाष्य में बड़ा विस्तार के साथ किया है । विज्ञानवादियों का ब्राह्म्यार्थ के अभाव का सिद्धान्त कथमपि माननीय नहीं है, क्योंकि ब्राह्म्यार्थ की उपलब्धि का कथमपि अस्मात् नहीं किया जा सकता । घटपटादि की अभुति सर्जन-प्रसिद्ध है । 'वाद्य पदार्थ विज्ञानात्मक होने पर भी ब्राह्म की भाँति (बहिर्वत्) प्रतीत होता है' इस कथन से भी ब्राह्म्यार्थ की पृथक् स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध होती है । सादृश्य की प्रतीति उभय पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता पर ही अवलम्बित रहती है । 'देवदत्त बन्ध्यापुत्र' के समान प्रकाशित हो रहा है', इस वाक्य का प्रयोग भला कोई कर सकता है, जब बन्ध्यापुत्र एक अमृत्य कल्पना है । जाग्रत जगत् को भी स्थानवत् मायिक बतलाना तथ्य से बहुत दूर है, क्योंकि स्थानानुभूत पदार्थ का जागरण होने पर बाध हो जाता है, परन्तु जागरित दशा में उपलब्ध

१ 'वामना' के विस्तृत खण्डन के लिए द्रष्टव्य श्लोकवार्तिक (पृ० २२४-२६७) तथा स्याद्वादमञ्जरी श्लोक १९ ।

वस्तु का बाध किसी अवस्था में नहीं होता । और भी एक महान् भेद है । स्वप्नदर्शन स्मृतिरूप है, परन्तु जागरितदर्शन उपलब्धिरूप है । और उपलब्धि-स्मृति का अन्तर प्रत्यक्ष अनुभूत है । ऐसी दशा में जागरित जगत् को स्वप्नजगत् के समान मानना कपोल-कल्पनामात्र है । शून्यवाद की कल्पना भी इसी प्रकार घोर विलय मचानेवाली है । शून्यवादी प्रमाता, प्रमेय, प्रमाण तथा प्रमिति इस तत्त्व-चतुष्टय को परिकल्पित, अवस्तु मानते हैं । सूक्ष्म तर्क के आधार पर वे इन तत्त्वों का खण्डन कर इसी निषेधात्मक सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि जितना वस्तुतत्त्व का विचार किया जाता है, उतना ही वह विशीर्ण हो जाता है (यथा यथा विचार्यन्ते विशीर्यन्ते तथा तथा); परन्तु आचार्य कुमारिल ने श्लोक वार्तिक (पृ० २६८-३४५) में इस सिद्धान्त का खण्डन बड़े ऊहापोह के साथ किया है । मल्लिषेण ने स्याद्वादमञ्जरौ (श्लोक १७) में इसके दोषों का संक्षेप में वर्णन किया है । शंकराचार्य ने तो शून्यवाद को इतना लोक-हानिकर माना है कि उन्होंने एक ही वाक्य में इसके प्रति अपनी अनादर-बुद्धि दिखला दी है—शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाण-प्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते (२।२।३१ शा० भा०) ।



तृतीय खण्ड

सप्तम परिच्छेद

न्याय दर्शन

षड्दर्शनो का मक्षिप्त विवरण इस खण्ड का मुख्य विषय है ।
(आस्तिक दर्शनो में ये ही प्रधान माने जाते हैं । इनकी उत्पत्ति तथा
विकास का सामान्य वर्णन प्रथम परिच्छेद में किया जा चुका है । यहाँ
विकास की रूपरेखा विशेष रूप से दिखलाई जावेगी । आरम्भ न्याय-
दर्शन से किया जा रहा है । वैदिक धर्म के स्वरूपानुसन्धान के लिए न्याय
को परम उपादेयता है । इसलिए मनु ने श्रुत्यनुगामी तर्क के सहारे ही
धर्म के रहस्य जानने की बात लिखी है^१ । न्याय समस्त विद्याओं का
प्रकाशक है । वाल्म्यायन के शब्दों में^२ न्यायविद्या समस्त विद्याओं का
प्रदीप है; सब कर्मों का उपाय, प्रवर्तक है तथा समग्रधर्मों का आश्रय है ।
यहाँ सार्वजनीन उपयोगिता न्याय की लोकप्रियता का मुख्य हेतु है ।

१ आप धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राऽविरोधिना ।

यस्मिन्कणानुसन्धत्ते स धर्मो यदनेनः ॥ मनु० १२।१०६ ।

२ प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम् ।

आश्रयः सर्वधर्मोणां विद्योद्देशे प्रकीर्तिता ॥ न्या० भा० १।१।१।

(१) नामकरण और आरम्भ

न्यायदर्शन का विषय न्याय का प्रतिपादन है । न्याय का व्यापक अर्थ है—विभिन्न प्रमाणों की सहायता से वस्तु-तत्त्व की परीक्षा (प्रमा-

नामकरण णैरर्थ-परीक्षणं न्यायः—वात्स्यायन न्या० भा० १।१।१) इन प्रमाणों के स्वरूप के वर्णन करने से

तथा इस विचार के व्यावहारिक रूप प्रकट करने से यह दर्शन न्यायदर्शन के नाम से पुकारा जाता है । (‘न्याय’ शब्द का एक विशिष्ट परिभाषिक अर्थ है—प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त, उपनय तथा निगमन नामक परार्थानुमान के पञ्च अवयव । इस मकीर्ण अर्थ में न्याय शब्द का प्रयोग प्रमाणों में अन्यतम परार्थ अनुमान के लिये किया जाता है । इसका दूसरा नाम है—आन्वीक्षिकी अर्थात् अन्वीक्षा के द्वारा प्रवर्तित होने वाला विद्या । अन्वीक्षा का अर्थ है^१ (१) प्रत्यक्ष तथा आगम पर आश्रित अनुमान अथवा (२) प्रत्यक्ष तथा शब्द प्रमाण की सहायता से अवगत विषय की अनु (पश्चात्) ईक्षा (ईक्षण=पर्यालोचन=ज्ञान) अर्थात् अनुमिति । अन्वीक्षा के अनुसार प्रवृत्त होने से इस विद्या का नाम अन्वीक्षिकी है । अनुमान-प्रक्रिया में हेतु का महत्त्व सबसे अधिक होता है; अतः इसका नाम हेतुविद्या या हेतुशास्त्र भी है । विद्वानों की परिपद् में किसी गूढ़ विषय के विचार या शास्त्रार्थ को ‘वाद’ के नाम से पुकारते हैं । ऐसे शास्त्रार्थों में नितान्त उपादेय होने के कारण यह वादविद्या या तर्कविद्या के नाम से भी प्रसिद्ध है । प्रमाण की मीमांसा करने से न्यायदर्शन प्रमाणशास्त्र भी कहलाता है । इन विभिन्न अभिधानों पर दृष्टिपात करने से न्याय का मूल प्रयोजन

१ प्रत्याक्षागमाश्रितम् अनुमान सा अन्वीक्षा अथवा प्रत्यक्षागमाभ्यामाश्रितस्य अन्यीक्षणम् अन्वीक्षा । तथा प्रवर्तते इति आन्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् ।।
न्या० भा० १।१।१)

छिपा नहीं रह जाता कि प्रमाणों के द्वारा प्रमेय वस्तु का विचार करना और प्रमाणों की विस्तृत विवेचना करना न्यायदर्शन का प्रधान उद्देश्य है।

न्यायविद्या की उत्पत्ति का समय इतना सुदूर, अतीत तथा धुंधला है कि उसका यथार्थ ज्ञान इस समय एक प्रकार से असम्भव सा है।

न्यायविद्या की उत्पत्ति तर्क के उपयोग से तथ्य का पता लगाना प्राचीन काल में भी अज्ञात न था। श्रुति ने आत्मदर्शन के जिन उपायों का वर्णन किया है उनमें उपपत्तियों के सहारे तर्कानुकूल मनन भी एक उपाय है। इसके अतिरिक्त उपनिषत्काल में ही अजातशत्रु तथा जैनक की सभा में तत्कालीन अनेक तार्किकों का जमाव होता था जिसमें अनेक रहस्यमय समस्याओं की आलोचना वाद का प्रधान विषय थी। अतः उपनिषदों के समय में भी वाद की सफलता के लिए अनेक तर्क-प्रधान नियमों की छानबीन की जा चुकी थी तथा तर्कविद्या आरम्भिक अवस्था को पार कर चुकी थी।

संहिता काल में दो प्रकार की दृष्टियों की पर्याप्त सूचना उपलब्ध होती है जिनमें पहली दृष्टि को 'प्रातिभ' तथा दूसरी दृष्टि को 'तर्क-प्रधान' कह सकते हैं। (तर्कप्रधान दृष्टि श्रौत आचार के विभिन्न नियमों में आभासमान विरोध परिहार के लिए प्रयुक्त की जाती थी)। आचार-पक्ष के सामने कभी तर्कपक्ष का गौणता स्वीकृत की जाती थी और कभी आचारपक्ष को गौण मानकर तर्कपक्ष की प्रधानता मानी जाती थी। श्रौतानुष्ठान के विरोध को मूलज्ञानके लिए मीमांसा ने तर्क का उपयोग सर्वप्रथम किया। मीमांसकगण भारतीय दर्शन के इतिहास में पहले नैयायिक थे। इसी कारण मीमांसा के लिए 'न्याय' शब्द का प्रयोग किया जाता था। बहुत दिनों तक 'न्याय' धर्म की मीमांसा के लिए ही प्रयुक्त किया जाता था। पर पीछे वह श्रौत आचार की परिधि

को छोड़कर बाहर आया और धर्मेतर विषयो की विवेचना में भी प्रयुक्त होने लगा ।)

इस प्रकार वैदिक काल में तर्क की पर्याप्त उन्नति के लक्षण उपलब्ध होते हैं । उपनिषदों के सिद्धान्त मूलतः अद्वय-प्रतिपादक हैं तथा न्याय वैशेषिक के मौलिक सिद्धान्तों से प्रतिकूल हैं, तथापि कतिपय तथ्य उपनिषदों में भी यत्र तत्र मिलते हैं । बृहदारण्यक (२।१।१०) का कथन है कि जब आत्मा (अन्तःकरण) नाडियों के द्वारा पुरीतत नामक नाडी में स्थित हो जाता है तब निद्रा आती है । न्याय ने इस सिद्धान्त को ग्रहण किया, पर आत्मा के स्थान पर मन को ला जमाया । द्रव्य की कल्पना तथा संख्या के निर्धारण करने में वैशेषिक उपनिषदों का विशेष ऋणी है, क्योंकि उपनिषदों में द्रव्यों की संख्या का निरूपण अनेक स्थानों पर पाया जाता है । छान्दोग्य (७।१।१) ने आकाश को शब्दों का वाहक बतलाया है; उसका कहना है “आकाश के द्वारा मनुष्य किसीको बुलाता है, आकाश के द्वारा मनुष्य मुनाता है और आकाश के ही द्वारा मनुष्य शब्द की प्रतिध्वनि मुनता है ।” न्याय ने इस सिद्धान्त को अपने दर्शन में गृह्य महत्त्व दिया है । अतः अन्य दर्शनों के समान न्यायदर्शन भी श्रुति-मूलक है ।)

(२) न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य

भारतीय दर्शनों के इतिहास में ग्रन्थ-सम्पत्ति के अनुरोध से न्याय-दर्शन का स्थान वेदान्त दर्शन को छोड़कर सर्वश्रेष्ठ है । विक्रम की ५ वीं शताब्दी पूर्व से लेकर आज तक न्याय-दर्शन की विमल धारा अविच्छिन्न रूप से बहती चली आती है । आरम्भ में न्याय और वैशेषिक स्वतन्त्र दर्शनों के रूप में प्रादुर्भूत हुए । अपने उत्पत्तिकाल में न्याय पूर्व-मीमांसा दर्शन का पुत्र था परन्तु कालान्तर में वह वैशेषिक का कृतक पुत्र बन गया । इसीलिये वात्स्यायन ने वैशेषिक को न्याय का ‘प्रतितन्त्र

सिद्धान्त' माना है। बौद्धकाल में इन दोनों दर्शनो का परस्पर सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो गया कि न्याय के सूत्र वैशेषिक दर्शन के सूत्रों के नाम से उल्लिखित किये जाने लगे। वसुवन्धु ने इसी विस्तृत अर्थ में वैशेषिक शब्द का प्रयोग किया है तथा 'शतशान्त्र' में आर्यदेव के द्वारा उद्धृत न्याय-सूत्रों को उनके टीकाकार ने वैशेषिक सूत्र बतलाया है। ११वीं शताब्दी में शिवादित्य के 'सप्त-पदार्थो' में दोनों दर्शनो का समन्वय एक साथ किया गया मिलता है। परन्तु समन्वय की प्रक्रिया दो प्रकार से निष्पन्न की गई मिलती है। यदि न्यायसम्मत षोडश पदार्थों का वर्णन अभिप्रेत होता, तो प्रमेय के अन्तर्गत वैशेषिकसम्मत पदार्थों का सन्निवेश कर दिया जाता था (जैसे तर्क भाषा में)। यदि वैशेषिक की रूपरेखा स्वीकृत की गई, तो बुद्धि' गुण के अन्तर्गत न्याय-सम्मत प्रमाणों का सन्निवेश कर दिया जाता था (जैसे कारिकावली तथा तर्क-संग्रह में)। (कणाद सूत्र गौतम सूत्रों से प्राचीनतर हैं।

न्याय दर्शन का इतिहास लगभग दो हजार वर्षों का इतिहास है। उसमें विकास की दो प्रकार की धाराये दृष्टिगत होती हैं। (पहली धारा सूत्रकार गौतम से आरम्भ होती है जिसे षोडश पदार्थों के यथार्थ निरूपण होने से 'पदार्थ मीमासात्मक' प्रणाली (कैटेगोरिस्टिक) कहते हैं। दूसरी प्रणाली को प्रमाण मीमासात्मक (एपिस्टेमोलॉजिकल) कहते हैं। जिसे गंगेश उपाध्याय ने 'तत्त्व चिन्तामणि' प्रवर्तित किया। प्रथम धारा को 'प्राचीन न्याय' तथा दूसरी को 'नव्यन्याय' कहते हैं।

गौतम—न्यायसूत्र के रचयिता का गोत्र-नाम गौतम या गोत्तम है, व्यक्तिगत नाम अक्षपाद है। गौतम के जन्मस्थान का यथार्थ निर्णय अभी तक नहीं हुआ है, परन्तु अधिकांश विद्वानों की सम्मति इन्हें मिथिला-प्रान्त-गङ्गी मानने के पक्ष में है। न्याय सूत्र पाँच अध्यायों में विभक्त है और प्रत्येक अध्याय दो आह्निकों में। इनमें षोडश पदार्थों के उद्देश (नामकथन), लक्षण (परिभाषा) तथा परीक्षण किये गये हैं। इन

घोड़श पदार्थों के नाम हैं—प्रमाण, प्रमेय, सशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, ज्ञाति तथा निग्रह-स्थान । इन पदार्थों का उपयोग वादी-प्रतिवादी के द्वारा सिद्धान्त-निर्णय के लिए किया जाता है । न्यायसूत्र के निर्माण काल के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । सूत्रों में शन्यवाद का खण्डन पाकर डा० याक्वोबी सूत्रों की रचना तृतीय शताब्दी में मानते हैं, पण्डित हरप्रसाद शास्त्री द्वितीय शतक में तथा डा० विद्याभूषण पण्डित शतक विक्रम पूर्व मानते हैं^१ । सूत्र नितान्त प्राचीन हैं । चतुर्थ अध्याय में उल्लिखित 'वाद' बुद्ध के जन्मकाल से भी प्राचीन है । अतः गौतम के समय को विक्रम-पूर्व चतुर्थ शतक मानने में कोई भी विप्रपत्ति नहीं दीख पड़ती । सूत्रों में श्लेषकों की कल्पना भी निःसार तथा निर्मूल है ।

वात्स्यायन (वि० पू० प्रथम शतक) —ने न्यायसूत्रों पर विस्तृत भाष्य की रचना की है । सूत्रों के गूढ़ अर्थों के रहस्य जानने के लिए भाष्य से बढ़कर अन्य प्रामाणिक ग्रंथ नहीं है । भाष्य के अध्ययन से पता चलता है कि इसके भी प्रथम व्याख्या-ग्रन्थ की सत्ता थी । अनेक वार्तिकों का उद्धरण तथा व्याख्यान भाष्य के प्रथम अध्याय में पाये जाते हैं । 'त्रिविधमनुमानम्' (न्या० सू० १।१।५) के व्याख्याप्रसंग में भाष्यकार ने दो प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया है । अतः सूत्रकार तथा भाष्यकार के बीच यदि चार-सौ वर्ष का अनन्तर माना जाय, तो भाष्य का रचनाकाल विक्रमपूर्व प्रथम शतक सिद्ध होगा ।

उद्योतकर (पष्ठ शतक) - इन्होंने दिङ्नाग के कुतर्कों के खण्डन करने के लिए तथा ब्राह्मण न्यायकी निर्दुष्टता प्रतिपादित करने के उद्देश्य से न्याय-वार्तिक लिखा । सुबधु ने अपनी वासवदत्ता में 'न्यायसंगतिमिव

--

उद्योतकर-स्वरूपाम्' लिखकर न्यायजगत् में उद्योतकर की विमल कीर्तिकी सूचना दी है। यह सुप्रसिद्ध बात है कि दिङ्नाग के विख्यात टीकाकार धर्मकीर्ति ने 'प्रत्यक्ष कल्पनापोढम्' इस दिङ्नागीय प्रत्यक्षलक्षण में 'अभ्रात' पद जोड़कर उद्योतकर के प्रबल खण्डन से इसे वचाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। अतः धर्मकीर्ति (७ म शताब्दी का द्वितीय भाग) तथा मुचन्धु (षष्ठ शतक का मध्य भाग) से उद्योतकर का पूर्ववर्तिता प्रमाणप्रतिपन्न है। दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रय न्यायविद्या की विमल प्रकाश को सर्वत्र विस्तार कर उद्योतकर ने अपना नाम सार्थक कर दिखाया। यह ग्रन्थ प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण है। उद्योतकर की बौद्ध न्याय की विद्वत्ता नितान्त श्लाघनीय है।

वाचस्पति मिश्र (नवम शतक) -- के समय में पण्डित मण्डली की उपेक्षा से न्यायवार्तिक का गूढार्थ समझना कठिन पड़ गया था। उद्योतकर की 'अतिजगतां' वाणी के मर्म को समझाने के लिए वाचस्पति ने 'तात्पर्य टीका' का प्रणयन किया। इनके न्यायसूची निबन्ध का रचना ८९८ में (वम्बक वसुवत्सरे^१) हुई थी जो सम्भवतः विक्रम सम्वत् है। अतः इनका समय नवमी शताब्दी का मध्य भाग है। ये मिथिला के निवासी थे, अपने अलौकिक पाण्डित्य के कारण सर्वतन्त्रस्वतन्त्र कहे जाते थे। वैशेषिक को छोड़ कर पड़दशनों पर इनकी विरचित टीकायें प्रामाणिक, प्रौढ़ तथा पाण्डित्यपूर्ण हैं। तात्पर्य टीका ने वास्तव में न्याय के प्रमेयों को तथा वार्तिक के रहस्यों को समझाने में इतनी सफलता पाई कि ये तात्पर्य-चार्य के नाम से न्याय-जगत् में विख्यात हैं।

जयन्त भट्ट (नवम शतक) -- 'न्याय मञ्जरी' में वाचस्पति मिश्र तथा आनन्दवर्धन के उल्लेख करने से इनका समय नवमी शताब्दी का

१ न्यायसूचानिबन्धोऽसामान्यं सुधियां मुद्रे ।

श्री वाचस्पतिमिश्रेण वम्बकवसुवत्सरे ॥

उत्तरार्ध है। इनकी 'न्याय मञ्जरी' गौतम सूत्र के चुने हुए सूत्रों के ऊपर एक प्रमेयबहुला वृत्ति है। विरोधमतावलम्बियों (विशेषतः चार्वाक, बौद्ध, मीमांसा तथा वेदान्त) का खण्डन प्रबल तथा पाण्डित्यपूर्ण युक्तियों के द्वारा अत्यन्त रमणीय, रोचक भाषा में किया गया है।

भासर्वज्ञ (नवम शतक) — रत्नकीर्ति (१००० ई०) ने अपोह-सिद्धि में इनके न्यायभूषण को उद्धृत किया है तथा इन्होंने धर्मकीर्ति से 'विरुद्ध व्यभिचारी' दोष को ग्रहण किया है। अतः इनका समय ९ म शताब्दी का अन्त है। इनकी एक ही रचना 'न्याय सार' न्याय जगत् में इन्हे अमर कर देने के लिए पर्याप्त है। स्वार्थ तथा परार्थानुमान का वर्णन, उपमान का खण्डन, बौद्धों के समान पश्चात्तान तथा दृष्टान्ताभास का वर्णन तथा आत्मा की निरतिशय आनन्दोपलब्धिरूप मुक्ति का कल्पना—इनकी ये कतिपय कल्पनाये नैयायिक जगत् में नितान्त अपूर्व हैं।

उदयनाचार्य (दशम शतक) — उदयन का समय १० म शतक का उत्तरार्ध है। लक्षणावली के निर्माण का काल ९०६ शकाब्द (९८४ ईस्वी) है^१। 'तात्पर्य परिशुद्धि' तात्पर्य टीका की एक बहुमूल्य व्याख्या है। परन्तु इनकी सबसे बड़ी विशेषता थी मौलिक चिन्ता। इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ हैं आत्मतत्त्वविवेक (प्रसिद्ध नाम बौद्ध-धक्कार) तथा न्याय-कुमुदाञ्जलि। प्रथम ग्रन्थ में क्षणभंग तथा शून्यवाद का खण्डन कर न्याय-सम्मत आत्मतत्त्व का यथार्थ निरूपण है। न्यायकुमुदाञ्जलि तो उदयन के ग्रन्थों का मुकुट मणि है। इसमें सांख्यदि वैदिक तथा बौद्धादि वेद बाह्य दर्शनों के ईश्वर-निषेध-बोधक प्रमाणों का न्यायपक्ष में बड़ा ही मार्मिक तथा विद्वत्तामण्डित खण्डन है। ईश्वर-सिद्धि के विषय में ऐसा तर्कप्रधान ग्रन्थ न्यायजगत् में है ही नहीं।

१ तर्काम्गार-प्रमितेश्वरान्तेषु शकान्ततः।

वषपृथगनश्चक्रो सुबोधो लक्षणावलीम् ॥

गङ्गेश (१३ शतक)—उदयनाचार्य के अनन्तर मिथिला ने ऐसे एक नैयायिक रत्न को जन्म दिया जिसने प्राचीन न्याय की धारा पलट कर 'नव्यन्याय' का जन्म दिया । इनका नाम गङ्गेश उपाध्याय था जिनकी रचना 'तत्त्व-चिन्तामणि' न्याय के इतिहास में वास्तव में एक नवीन युग का प्रवर्तक है । गङ्गेश के हाथों में पुराना पदार्थ शास्त्र अब सर्वाङ्ग परिपूर्ण **प्रमाण शास्त्र** में परिवर्तित हो गया । तत्त्व-चिन्ता-मणि की भाषा भी इसी प्रकार अपनी विशिष्टता के लिये विख्यात है । गङ्गेश ने अवच्छेदक, अवच्छेद्य, निरूपक, निरूप्य, अनुयोगी तथा प्रतियोगी आदि विचार-मापक शब्दावली की उद्भावना करके भाषा का जो शास्त्रीय विशुद्ध रूप निर्धारित किया वह वास्तव में एक श्लाघनीय व्यापार है । गङ्गेश ने खण्डनखण्डखाद्यकार श्रीहर्ष (१२ वें शतक का अन्तिम भाग) का उल्लेख कर उनके सिद्धान्तों का खण्डन किया है । जयदेव (पञ्चधरमिश्र; १३ शतक का अन्तिम भाग) ने इस तत्त्व चिन्ता-मणि के ऊपर 'आलोक' नामक टीका लिखी है । इस प्रकार इनका समय श्रीहर्ष तथा जयदेव के मध्य में अर्थात् १३ वीं शताब्दी के आरम्भ में समझना चाहिये ।

अब पाण्डित्य की कमौट्टी क्या थी ! उदयन तथा गङ्गेश के इन पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों के ऊपर व्याख्या का रचना । गङ्गेश के पुत्र वर्धमान उपाध्याय अपने पिता के समान ही उद्भट नैयायिक थे । सर्व प्रथम इन्होंने उदयन के ग्रन्थों, गङ्गेश के 'चिन्तामणि' तथा वल्लभाचार्य के 'न्याय लीलावती' पर 'प्रकाश' नामक सुन्दर टीकाओं का निर्माण किया है । जयदेव के विषय में कहा जाता है कि तत्कालीन विद्वन्मण्डली में उनका प्रतिस्पर्धी कोई नहीं था^१ । किसी सिद्धान्त को लेकर पञ्चभर तक

१ शङ्कराचार्यस्योः सदृशौ शङ्कराचर्यस्योः पत्नी ।

पञ्चधरप्रतिपक्षो लक्ष्मीभूतो न भूतले कापि ॥

समर्थन करने के कारण जयदेव ही सर्व साधारण में 'पञ्चधर मिश्र' के नाम से ख्यात थे। इन्होंने चिन्तामणि को 'आलोक' व्याख्यान से उद्भासित किया है। इन्हीं के शिष्य रुचिदत्त मिश्र भी अपने समय के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे जिन्होंने वर्धमान के 'कुसुमाञ्जलि-प्रकाश' पर 'मकरन्द' तथा चिन्तामणि पर 'प्रकाश' नामक टीकाये लिखी हैं।

इस प्रकार लगभग दो सौ वर्षों तक मिथिला न्याय विद्या की केन्द्रस्थली बना रही। १५ वीं शताब्दी में बङ्गाल के नवद्वीप में विद्यापीठ

नवद्वीप के
नैयायिक

की स्थापना हुई। १६ वीं और १७ वीं शताब्दी के काल को नव्य न्याय के इतिहास में सुवर्ण युग समझना चाहिये। इसी युग में बङ्गाल के नैयायिकों ने

अनेक प्रतिभा-सम्पन्न ग्रन्थों की रचना कर नवद्वीप को वह प्रतिष्ठा प्रदान की जो आज भी अविच्छिन्न रूप से उसे प्राप्त है। इन नैयायिकों में **वासुदेव सार्वभौम** सर्वप्रथम थे। इनका समय १५ वीं शताब्दी का अन्त तथा १६ वीं शताब्दी का आरम्भकाल है। इन्हें बङ्गाल के अनेक महापुरुषों के गुरु होने का गौरव प्राप्त है। धार्मिक निबन्धों के निर्माता रघुनन्दन, शाक्त तन्त्रों के प्रामाणिक व्याख्याता सुप्रसिद्ध तान्त्रिक कृष्णानन्द तथा नैयायिक-शिरोमणि रघुनाथ भट्टाचार्य जैसे सुप्रसिद्ध पुरुष सार्वभौम ही के शिष्य थे।

रघुनाथ शिरोमणि—(१६ वीं शताब्दी) बंगीय नैयायिकों में रघुनाथ जैसा धुरन्धर तार्किक कोई नहीं हुआ। तर्क-विषयक अद्वितीयता के कारण नदिया की विद्वन्मण्डली ने इन्हें 'शिरोमणि' की उपाधि प्रदान की थी। इनकी सबसे श्रेष्ठ पुस्तक 'दीधिति' है जो गङ्गेश के तत्त्वचिन्तामणि की विवरणात्मक तथा विवेचनात्मक टीका है। मूल ग्रन्थ के समान कालान्तर में 'दीधिति' ही पाण्डित्य की निकषग्रावा बन गई। यह ग्रन्थरत्न ग्रन्थकार के मौलिक विचारों, रमणीय कल्पनाओं तथा प्रकृष्ट युक्तियों का भण्डार है।

मथुरानाथ—शिरोमणि के शिष्यों में मथुरानाथ तर्कशास्त्री निश्चय रूप से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इन्होंने 'आलोचक' 'चिन्तामणि', तथा 'दीधिति' आदि महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के ऊपर गूढार्थप्रकाशिनी 'रहस्य' नाम्नी टीकाएँ लिखी हैं।

जगदीश भट्टाचार्य (१७ वां शताब्दी)—मथुरानाथ के बाद नवद्वीप के सबसे बड़े नैयायिक जगदीश ने 'दीधिति' के ऊपर एक विस्तृत तथा प्रामाणिक टीका लिखी है जो सर्वसाधारण में 'जागदीशी' के नाम से प्रसिद्ध है। 'शब्दशक्ति प्रकाशिका' शब्दशक्ति के ऊपर नितान्त प्रामाणिक विस्तृत निबन्ध है जिसे पण्डितमण्डली जगदीश का सर्वस्व मानती है—“जगदीशस्य सर्वस्य शब्दशक्तिप्रकाशिका”।

गदाधर भट्टाचार्य—वर्गीय नैयायिक-त्रयी (मथुरानाथ, जगदीश तथा गदाधर) के अन्तिम ग्रन्थकार गदाधर भट्टाचार्य १७ वीं शताब्दी में हुए। इनकी सबसे प्रसिद्ध रचना 'दीधिति' को बृहत्काय व्याख्या है जो सर्वसाधारण में 'गादाधरी' के नाम से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्होंने उदयन के 'आत्मतत्त्व विवेक' के ऊपर तथा 'तत्त्वचिन्तामणि' के कतिपय भागों पर 'मूल गादाधरी' नामक व्याख्या लिखी है। इन टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने न्याय के महत्त्वपूर्ण विषयों के ऊपर लगभग ५२ मौलिक ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें 'व्युत्पत्तिवाद' तथा 'शक्तिवाद' विद्वत्समाज में विशेष लोकप्रिय तथा समादर के पात्र हैं।

यदि नव्य-न्याय को एक विशालकाय वटवृक्ष की उपमा दें तो कोई अत्युक्ति न होगी। इस वटवृक्ष का जड़ें मिथिला की भूमि में बद्धमूल हुई; इसका दृढ़तर स्तम्भ '... ..' के रूप में सुदृढ़ हुआ; इसकी विशालकाय शाखाएँ नवद्वीप की पवित्र-भूमि में 'दीधिति' के रूप में प्रकटित हुई और इसके सुन्दर फल १७ वीं शताब्दी के प्रकाण्ड ग्रन्थ 'जागदीशी' और 'गादाधरी' के रूप में आविर्भूत होकर आज भी विद्वन्मण्डली को अपने मधुर आस्वाद से आनन्दित कर रहे हैं। यदि

रघुनाथ शिरोमणि तार्किकवादवृत्तियों के मुकुटमणि हैं, तो गदाधर नैया-
यिकों के वे सम्राट् हैं जिनके मन्त्रकों मणि में जटित वह मुकुट
मुशोभित कर रहा है ।

✓ (३) न्याय-प्रमाणमीमांसा

जिस प्रकार दीपक का प्रकाश अपने सामने उपस्थित होनेवाली
समस्त वस्तुओं के स्वरूप को प्रकट कर देता है, इसी प्रकार बुद्धि (ज्ञान)
समस्त पदार्थों को प्रकाशित कर देती है । ज्ञान का अधिष्ठान आत्मा
होता है । इसीलिये यह प्रकाश आत्माश्रय कहा गया है^१ ।

ज्ञान दो प्रकार का होता है—(१) स्मृति और (२) अनुभव ।
संस्कार मात्र से उत्पन्न होने वाला ज्ञान स्मृति पद वाच्य होता है ।
अनुभूत पदार्थ के नष्ट हो जाने पर भी तज्जन्य भावनारूप संस्कार
अनुभवकर्ता के हृदय में विद्यमान रहता है । तत्सदृश वस्तु के दर्शन
होने पर वही मृत संस्कार प्रबुद्ध होकर द्रष्टा के सामने अनुभूत पदार्थ
को पुनः लाकर उपस्थित कर देता है, इसे ही स्मृति कहते हैं । स्मृति से
भिन्न ज्ञान को अनुभव कहते हैं । यह ज्ञान दो प्रकार का होता है—
(१) यथार्थ तथा (२) अयथार्थ । यथार्थ ज्ञान को प्रभा कहते हैं तथा
अयथार्थ ज्ञान को अप्रभा ।

न्याय बाधार्थ की सत्यता स्वीकार करता है । बौद्धों के सिद्धान्तों की
निःसारता दिखलाते समय भाष्यकार ने स्पष्ट करके दिखलाया है (न्या०

भा० ४।२।२७) कि “यदि बुद्धि से पदार्थों का विवेचन किया
प्रभा जाता है तो पदार्थों की यथार्थ अनुपलब्धि नहीं हो सकती ।

यदि वस्तुओं की अनुपलब्धि है, तो बुद्धि द्वारा उनका विवेचन सम्भव नहीं
है । समग्र पदार्थों का बुद्धि के द्वारा विवेचन सिद्ध है, अतः हम नहीं कह

१ अज्ञानान्धकारनिर्स्कारक सकल-पदार्थस्थान-प्रकाशक प्रदीप इव देदीप्यमानः
आत्माश्रयो यः प्रकाशः सा बुद्धिः (जिनवर्धन-सप्तपदार्थ टीका) ।

सकते कि उनकी यथार्थ उपलब्धि नहीं होती।” किसी वस्तु के यथार्थ रूप की अनुभूति प्रमा है और ऐसे प्रमा के साधन को प्रमाण कहते हैं (यथार्थानुभवः प्रमा तत्साधनं च प्रमाणम्-उदयन)। वस्तु के यथार्थरूप के विषय में भाष्यकार का कथन है-सतञ्च सद्रूपोऽभ्यस्य-ताम् १. १. ५.। सत् सदिति गृह्यमाणं यथानुभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति। असच्चासदिति गृह्यमाणं यथानुभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति (न्या० भा० १।१।१)। ‘यदि कोई वस्तु सद्वृत्त से ग्रहण की जाती हो, तो जिस रूप में वह हो उसी रूप में ग्रहण करना तत्त्व है, विपरीत रूप में नहीं’। असद्रूप वस्तु के विषय में भी यही नियम है। अतः जिस वस्तु का जिस रूप से सत्ता है उसे उसी रूप में ग्रहण करना प्रमा है; अन्यथा रूप से ग्रहण करना अप्रमा है।

प्रामाण्य के विषय में दार्शनिकों की भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं। न्याय मीमांसा के स्वतः प्रामाण्यवाद का खंडन करता है और परतः प्रामाण्यवाद को अर्गीकार करता है। ‘स्वतः प्रामाण्य’ का अर्थ है कि ज्ञान के साथ ही साथ उसकी प्रामाणिकता की भी उत्पत्ति होती है। ‘परतः प्रामाण्य’ वादी ज्ञान के अनन्तर उसके प्रामाण्य को युक्तियों के सहारे पृष्ट करते हैं। न्याय का कहना है कि यदि समग्र ज्ञान ही स्वतः प्रमाणभूत होता, तो संशय की सम्भावना ही नहीं रहती। ज्ञान का प्रामाण्य अनुभूत वस्तु के साथ उसके तादात्म्य होने में रहता है। ज्ञान का प्रामाणिकता का अनुमान प्रवृत्ति की चरितार्थता से उपलब्ध होता है। ‘जानाति इच्छति यतते’ ज्ञान के अनन्तर इच्छा का उदय होता है और इच्छा के बाद यत्न का। यदि यत्न की सफलता हुई, तब तो ज्ञान यथार्थ है, अन्यथा नहीं। अतः ज्ञान के प्रमा होने में समर्थ-प्रवृत्ति-जनकता प्रधान लिंग है। तत्त्वचिन्तामणि के मत में अनुमान के द्वारा ही ज्ञान का प्रामाण्य सिद्ध किया जाता है। अतः न्याय-दृष्टि में प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः सिद्ध हैं।

भ्रान्ति के विषय में नैयायिकों ने बड़ी विवेचना की है। न्याय के

अन्य गच्छन्ति

प्रमा चार प्रकार की होती है:—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमिति (३) उपमिति (४) शाब्द । इन्द्रियार्थ के संयोग में उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष', अनुमान में साध्य ज्ञान 'अनुमिति', सादृश्य-ज्ञान के द्वारा उपन्न अनुभव 'उपमिति' तथा शब्द को सहायता से उत्पन्न ज्ञान 'शाब्द' कहलाता है । **अप्रमा** तीन प्रकार की होती है:—(१) मशय, (२) विपर्यय, (३) तर्क । एक धर्मी में विरुद्ध-नानाधर्म-विशिष्ट ज्ञान को 'मशय' कहते हैं । **मशय** : इन्द्रिय स्थानु को देखकर 'यह स्थानु है या पुरुष', ऐसा संदिग्ध ज्ञान उत्पन्न होना संशय कहलाता है । 'विपर्यय' मिथ्या ज्ञान को कहते

हैं। जैसे शक्ति में रजत-ज्ञान। अविज्ञातस्वरूप वस्तु के तत्त्वज्ञान के लिए उपपादक-प्रमाण का सहकारी जो ऊट (सम्भावना) है उसी को 'तर्क' कहते हैं।

(क) प्रत्यक्ष

यथार्थ अनुभव के साधन को प्रमाण कहते हैं। 'प्रमीयते अनेनेति प्रमाणम्' इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिनके द्वारा प्रमा या यथार्थ अनुभव का उत्पत्ति होती है उसे 'प्रमाण' कहते हैं। प्रमा चार प्रकार का है और तदनुसार प्रमाणों की भी मख्या चार ही है। प्रमाण साधन है और प्रमा उसका फल है। प्रत्यक्ष प्रमा के करण को प्रत्यक्ष प्रमाण, अनुमिति प्रमा के करण को अनुमान; उपमिति प्रमा के साधन को उपमान तथा शाब्द प्रमा के करण को शब्द प्रमाण कहते हैं।

इन्द्रिय तथा अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। आत्मा में प्रत्यक्ष ज्ञान उत्पन्न होने के लिये विविध सम्बन्ध का आवश्यकता होती है। प्रथमतः आत्मा का संयोग मन से; मन का इन्द्रिय के साथ तथा इन्द्रिय का विषय के साथ सन्निकर्ष सम्पन्न होता है। आत्म-मनःसंयोग ज्ञान-सामान्य के लिए आवश्यक होता है।

प्रत्यक्ष साधारणतया दो प्रकार का होता है: - (१) निर्विकल्पक (२) सविकल्पक। दूर पर विद्यमान होने वाली किसी वस्तु का ज्ञान जब पहिले पहल होता है तब उसके विषय में हमारा प्रत्यक्ष के भेद ज्ञान सामान्य कोंटि को पारकर विशेष में कर्मा प्रवेश नहीं करता है। हमें यही पता चलता है कि कुछ है। पर क्या है? उसका स्वरूप कैसा है? किन-किन गुणों की सत्ता उसमें पायी जाती है? इत्यादि वस्तुओं का ज्ञान हमें उस समय कुछ भी नहीं होता। इसा नामजात्यादि-कल्पना से विहीन प्रत्यक्ष ज्ञान को 'निर्विकल्पक' कहते हैं। पर जब वस्तु के स्वरूप, जाति, गुण, क्रिया, तथा सत्ता का ज्ञान हमें प्राप्त हो जाता है तो नाम-जात्यादि-योजनाविशिष्ट यह ज्ञान 'सविकल्पक' के

न मे पुकारा जाता है। प्रत्यक्ष की यह द्विविध कल्पना वाचस्पति की तात्पर्य टीका' (पृ० १३३) में उपलब्ध होती है। उन्होंने यत्रस्थ (१।१।८) प्रत्यक्ष लक्षण में आने वाले 'अव्ययदेयम्' तथा वसायात्मक' पदों को क्रमशः इस द्विविध कल्पना का मूल बतलाया पर इस विषय में भाष्य और वार्तिक में कोई विवरण नहीं मिलता। ारिल के 'श्लोकवार्तिक' में प्रत्यक्ष के ये दोनों भेद बौद्धसम्मत प्रत्यक्ष पण्डित के अवसर पर स्वीकृत किये गये हैं। अतः वाचस्पति मिश्र विषय में कुमारिल के वृत्तां जान पड़ते हैं। मनोविज्ञान वस्तुग्रहण अवसर पर संस्मरण (संवेदन) तथा परमेशान (प्रत्यक्ष) में जो तर बतलाता है वही अन्तर निर्विकल्पक तथा सविकल्पक प्रत्यक्ष में भी प्रमान है। दोनों प्रकार कुमारिल को सम्मत हैं, परन्तु शाब्दिक तथा इ मन भिन्न हैं^१।

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो अन्य भेद भी होते हैं:—(१) लौकिक (२) शैकिक। लौकिक प्रत्यक्ष भी दो प्रकार का है—(१) बाह्य (बहिन्द्रियों के द्वारा साध्य) और (२) आन्तर (केवल मन के द्वारा ध्य)। बाह्य प्रत्यक्ष भी पञ्चज्ञानेन्द्रियों के द्वारा साध्य होने से पाँच ाग का है (१) चाक्षुष (२) श्रावण (३) स्पर्शन (४) रासन (५) घ्राणज। मानस प्रत्यक्ष केवल एक प्रकार का होता है। इस ाग मत्र मिलाकर लौकिक प्रत्यक्ष छः प्रकार का होता है।

लौकिक प्रत्यक्ष के लिये इन्द्रियार्थसन्निकर्ष छः प्रकार का होता है—
१) संयोग, (२) सयुक्त-समवाय, (३) सयुक्त-समवेत-समवाय, ४) समवाय (५) समवेत-समवाय (६) विशेषणविशेष्यभाव। चक्षु घटके प्रत्यक्ष होने पर संयोग, घटरूप (कृष्ण, पीत, रक्त आदि वर्ण) प्रत्यक्ष में सयुक्त समवाय, घटरूपत्व के प्रत्यक्ष में सयुक्त-समवेत-

समवाय मन्निकर्ष होते हैं। श्रोत्र आकाशरूप हो है; अतः शब्द के प्रत्यक्ष होने में समवाय सन्निकर्ष होगा, क्योंकि गुणगुणी का वास्तव में सम्बन्ध समवाय होता है। शब्दत्व का प्रत्यक्ष समवेतसमवाय से तथा अणु का प्रत्यक्ष विशेषण-विशेष्यभाव सन्निकर्ष से होता है (तर्कभाषा पृ० ५-६) ।

जब पाकशाला में अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध निश्चित होता है, तब धूम-विशेष का ही सम्बन्धग्रह होता है। धूम वह्नि-व्यभिचारी है या नहीं ' इस सन्देह का निराकरण क्यों कर हो सकता है ' सकल धूमों का 'आलोचक सन्निकर्ष' चाक्षुष ज्ञान तो हो नहीं सकता; अतः सकल धूमों में तथा दृश्यमान धूम में भी विद्यमान 'धूमत्व' सामान्य के द्वारा ही इसका प्रत्यक्ष माना जाता है। (१) इस मन्निकर्ष का नाम है--सामान्य-लक्षण प्रत्यामनि। पाश्चात्य नैयायिक 'इन्ड-क्लिम लीव' के नाम से जिसे पुकारते हैं उसका काम भारतीय नैयायिक सामान्य-लक्षणा प्रत्यामनि के द्वारा निष्पन्न करते हैं। (२) अलौकिक मन्निकर्ष ज्ञानलक्षणप्रत्यामनि कहलाता है। सामने रखे गये पुष्प के रमणीय रूप के ज्ञान के साथ-साथ उसके सुगन्ध का भी ज्ञान मुझे होता है। चाक्षुष ज्ञान के साथ ही साथ गुलाब की भीनी गन्ध का भी अनुभव होता है। जो लोग गन्ध का अनुभव अनुमानजन्य मानते हैं, उनके लिए तो यह प्रश्न नहीं उठता, परन्तु प्रत्यक्ष मानने वालों के लिए यह समस्या अवश्य है कि दूरस्थित पुष्प से घ्राणेन्द्रिय का सम्बन्ध तो होता ही नहीं। परन्तु गन्धका ज्ञान होता है। अतः यहाँ अलौकिकसन्निकर्ष माना जाता है। पुष्प के ज्ञान के साथ ही साथ इसके गन्ध का ज्ञान भी सम्बद्ध है। अतः इस ज्ञान को ज्ञानलक्षणसन्निकर्षजन्य कहते हैं। (३) तृतीय अलौकिक ज्ञान 'योगज' कहलाता है। सूक्ष्म (परमाणु आदि), व्यवहित (दीवाल आदि के द्वारा व्यवधान वाली) तथा विप्रकृष्ट (काल तथा देश उभयरूप से दूरस्थ) वस्तुओं का ग्रहण लोकप्रत्यक्ष के

द्वारा कथमपि सिद्ध नहीं हो सकता (न चास्य गृहम-व्यवहित-विप्रकृष्टस्य वस्तुनो लोकप्रत्यक्षेण द्रष्टव्यम-व्यामनाप्य १।८९) । परन्तु ऐसे वस्तुओं का अनुभव अवश्य होता है । अतः इनके लिए प्रणिधान की सहायता अपेक्षित होती है । इसे योगजमन्त्रिकर्षजन्य कहते हैं । योगियों के प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय में भर्तृहरि (बा० प० १।३७) ने ठीक ही कहा है ।

अनुभूतप्रकाशानामनुपद्रुतचेतसाम् ।

अतीतानागतज्ञान प्रत्यक्षान्न विशिष्यते ॥

(ख) अनुमान

किमी लिंग (हेतु) के ज्ञान से उस लिंग को धारण करने वाले वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना अनुमान कहलाता है, (तल्लिगिल्लिगपूर्वकम्) : पर्वत के शिखर से निकलने वाली धूमरेग्या को देखकर उस पर्वत में अग्नि की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना कि यह पर्वत वर्द्धमान् है, अनुमान प्रमाण के द्वारा सिद्ध होता है । प्रत्यक्ष से अनुमान के भेद-साधको का उद्योतकर ने वर्णन किया है । प्रत्यक्ष मुख्यतया एक ही प्रकार का होता है पर अनुमान विविध प्रकार का होता है । प्रत्यक्ष वर्तमान काल में द्रष्टा के सामने विद्यमान पदार्थ के विषय में हो सकता है, परन्तु अनुमान भूत, वर्तमान तथा भविष्य तीनों काल से सम्बद्ध वस्तुजात के विषय में होता है । व्याप्ति का स्मरण अनुमान के लिए आवश्यक साधन है, पर प्रत्यक्ष को ऐसे किसी साधन पर अवलम्बित होने की आवश्यकता नहीं होती (न्यायवार्तिक १।१।४) ।

पर्वतोऽयं वर्द्धमान् धूमात् ('यह पर्वत धूम से युक्त होने के कारण वर्द्धमान् है') इस अनुमाननाम्य में पर्वत के विषय में अग्नि की सत्ता धूम हेतु से अनुमान के द्वारा सिद्ध हो जा रही है । अतः पर्वत 'पक्ष' वर्द्धमान् 'साध्य'; तथा धूम 'हेतु' कहलाता है । पक्ष, साध्य तथा हेतु पाश्चात्य न्याय-वाक्य के माइनर टर्म, मेजर टर्म तथा मिडिल टर्म के

पर्यायवाची हैं। अन्नंभट्टने उसे पक्ष बतलाया है जिसमें साध्यकी स्थिति सन्दिग्ध है (सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः)। यदि साध्य की सत्ता का ज्ञान पूर्व से ही हमें प्राप्त हो, तो उसके विषय में अनुमान करने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती, पर नव्य नैयायिक लोग सन्दिग्ध-साध्यवादी पक्षता का लक्षण नहीं स्वीकार करते। उनकी राय में वस्तु का पूर्व-ज्ञान अनुमान का वाधक नहीं हो सकता, यदि उस वस्तु को सिद्ध करने की अभिलाषा (सिमाधीयता) अनुमन्ता में विद्यमान हो। अतः सिमाधीयता की सत्ता पक्षता का प्रधान लक्षण^१ है। जिस वस्तु को सिद्ध करना हो, उसे 'साध्य' तथा जिसके द्वारा सिद्ध किया जाय उसे 'हेतु' कहते हैं। साध्य का दूसरा नाम व्यापक, तथा हेतु का साधन, लिंग तथा व्याप्य है। उक्त उदाहरण में अल्प दृष्टान्तों में उपस्थित होने से धूम व्याप्य कहलाता है तथा तदपेक्षया बहुतर स्थानों में विद्यमान होने से अग्नि व्यापक कहा जायगा। व्याप्य की सत्ता देखकर ही व्यापक का सत्ता का अनुमान न्याय संगत है। व्यापक का सत्ता से व्याप्य (धूम) का सत्ता का अनुमान कथमपि नहीं हो सकता।

न्यायवृत्तों (१।१।५) में अनुमान तीन प्रकार का बतलाया गया है— पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतो दृष्ट। इन अनुमान प्रकारों के लक्षण अनुमान के भेद के विषय में न्यायवृत्त के टीकाकारों में गहरा मतभेद है। 'पूर्व' तथा 'शेष' मीमांसा के पारिभाषिक शब्द हैं। अतः यह अनुमान-भेद मीमांसकों की कल्पना प्रतीत होता है। नैयायिकों ने इसे ग्रहण कर इनके मुख्य अर्थ में परिवर्तन भी किया है। मीमांसा में 'पूर्व' का प्रयोग प्रधान तथा 'शेष' का अंग के लिए किया जाता है, पर नैयायिकों ने प्रधान तथा अंग के सम्बन्ध को कारण-कार्य भाव के ऊपर अवलम्बित ठहराया है।

१ सिमाधीयता शून्या सिद्धिर्यत्र न तिष्ठति स पक्षः। भाषापरिच्छेद, ७० वा कारिका की मुक्तान्ता देखिए।

भाष्यकार के मतानुसार जब कारणसे कार्य का अनुमान किया जाता है तब पूर्ववत्, और कार्य से कारण के अनुमान करने पर शेषवत् होता है। आकाश में काले-काले मेघमण्डल को देखकर वृष्टि होने का अनुमान करना पूर्ववत् का उदाहरण है। नदी में होनेवाली बाढ़ को देख कर वर्षा का अनुमान करना-कार्य से कारण का अनुमान करना-शेषवत् कहलाता है। इनकी एक दूसरी व्याख्या भी मिलती है। अन्वयमुख से प्रवृत्त होनेवाला अनुमान पूर्ववत् तथा व्यतिरेक मुख से प्रवृत्त होनेवाला अनुमान शेषवत् कहलाता है। धूम ज्ञान से अग्नि का अनुमान पहलें अनुमान का उदाहरण है। शेष का अर्थ होता है अवशिष्ट होनेवाला; अतः परिशेषात् अनुमान करने पर शेषवत् माना जा सकता है। उदाहरणार्थ शब्द स्वरूप का निर्धारण करने के अवसर पर सत् तथा अनित्य होने के कारण यह जाना जाता है कि शब्द सामान्य, विशेष तथा समवाय से पृथक् होकर द्रव्य गुण तथा कर्म के ही अन्तर्गत हो सकता है। इन तीनों की अन्तर्भूतता के विचार पर यही ज्ञात होता है कि शब्द एक द्रव्याश्रित होने से द्रव्य से पृथक्, तथा शब्दान्तर के हेतु होने से कर्म से पृथक् है। अतः परिशेष से वह गुणरूप ही हो सकता है। यह अनुमान शेषवत् का उदाहरण माना जाता है।

सामान्यतो दृष्ट (सामान्यतः=सामान्यस्य, दृष्टं=दर्शन; सामान्यमात्र का दर्शन) वहाँ होता है जहाँ वस्तु विशेष की सत्ता का अनुभव न होकर उसके सामान्यरूप का ही हमें परिचय प्राप्त है; यथा इन्द्रियो की सत्ता का अनुमान। कार्य को देखकर कारण का अनुमान तर्कानुसृत है। लेखन कार्य को देखकर तत्साधनभूत लेखनी का अनुमान करना उचित ही है। इसी दृष्टान्त के आधारपर वस्तुग्रहणरूप फल के लिए तत्साधनभूत इन्द्रियो की सत्ता का अनुमान किया जाता है। चक्षुरिन्द्रिय के अभाव में रूप का 'ग्रहण कथमपि सम्पन्न नहीं हो सकता। यह सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण है, क्योंकि यहाँ इन्द्रियविशेष का

मना न देखकर तत्सामान्य करणत्वमात्र का ही अवलोकन हमारे लिए साध्य है। न्यायसूत्र में गौतमाभिमत ये ही तीन अनुमान हैं (न्या० वा० प्र० ४३-५७; ता० ग्र० पृ० १५६-१७६)।

अनुमान के अन्य दो भेद होते हैं—(१) स्वार्थानुमान और (२) परार्थानुमान। अपने ही लिए जब अनुमान किया जाता है वह होता है स्वार्थानुमान; पर यदि उसका प्रयोजन दूसरे कोई व्यक्ति हो तो वह होगा परार्थानुमान। स्वार्थानुमान के लिए वाक्य प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। पर जब दूसरे व्यक्ति का किसी अनुमिति का ज्ञान प्राप्त कराना प्रधान उद्देश्य रहता है, तब परार्थानुमान का प्रयोग किया जाता है। इसमें पाँच वाक्यों का प्रयोग करना नितान्त आवश्यक है।

न्याय अथवा पञ्चावयव वाक्य

परार्थानुमान पाँच वाक्यों के द्वारा प्रकट किया जाता है जिनके नाम प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन हैं। इन पञ्चावयव वाक्यों का प्रयोग इस प्रकार किया जाता है (न्या० सू० १।१।३२-३९)।

(१) देवदत्त मरणशील है (प्रतिज्ञा)।

(२) क्योंकि वह मनुष्य है (हेतु)।

(३) जितने मनुष्य हैं वे सब मरणशील हैं जैसे राम, श्याम, मोहन मोहन आदि (उदाहरण)।

(४) देवदत्त भी ऐसा ही एक मनुष्य है (उपनय)।

(५) अतएव देवदत्त मरणशील है (निगमन)।

‘प्रतिज्ञा’ पहला वाक्य है जो सिद्ध किये जानेवाली वस्तु का निर्देश करता है। ‘हेतु’ दूसरा वाक्य है जो अनुमान को सिद्ध करनेवाले कारण का निर्देश करता है। तीसरा वाक्य ‘उदाहरण’ कहलाता है जिसमें उदाहरण के साथ हेतु और साध्य के नियत साहचर्य-नियम का उल्लेख किया जाता है। चौथा वाक्य ‘उपनय’ कहलाता है जिसमें व्याप्ति

विशिष्ट पक्ष का बोध होता है। इतना होने पर अनुमान के द्वारा प्रतिज्ञा की सिद्धि हो जाती है और वह 'निगमन' कहलाता है।

अनुमान प्रयोग में वाक्यों की सख्या के विषय में दार्शनिकों में पर्याप्त मतभेद पाया जाता है। वेदान्ती और मीमांसक लोग तीन ही वाक्यों को अनुमान के लिए पर्याप्त मानते हैं—आदिम तीन वाक्य अथवा अन्तिम तीन वाक्य (वे० प० पृ० ९२)। प्राचीनकाल में वाक्यों की सख्या दस मानी जाती थी। वात्स्यायन ने पूर्वोक्त पाँच वाक्यों के अतिरिक्त निम्नलिखित पाँच वाक्यों का भी माननेवाले नैयायिकों का उल्लेख किया है (न्या० भा० १।१।३२)। वे वाक्य ये हैं—
(१) जिज्ञासा, (२) मशय, (३) शक्यप्राप्ति, (४) प्रयोजन, (५) मशय-वृद्धास। साध्यकार के मन्तव्यानुसार इनको नितान्त आवश्यकता अनुमान के लिए न होने से इनका उल्लेख नहीं किया जाता। ये सिद्धि के लिए सहायकमात्र हैं, अतः इनका वर्णन 'न्याय' में नहीं किया जाता।

अब इसकी विशेषता पर दृष्टिपात करना आवश्यक है। यह पंचावयव वाक्य मनावैज्ञानिक आधारपर अवलम्बित है। पाश्चात्य न्याय में इंडक्शन और इन्डक्शन भेद कर तर्क दो प्रकार का माना जाता है, पर भारतीय न्याय में इन दोनों का श्लाघनीय सम्मेलन किया गया मिलता है। व्याप्य और व्यापक के नियत सम्बन्ध पर ही अनुमान का पूरी इमारत खड़ी रहती है। इसी व्याप्ति का सूचना उदाहरण-वाक्य की विशेषता है। चतुर्थ वाक्य उपनय या परामर्श वाक्य की अपना खास विशिष्टता है। बिना परामर्श के अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान का ही आवश्यकता नहीं, प्रत्युत उस व्याप्ति का पक्ष में रहना भी उतना ही आवश्यक है। अतः व्याप्य हेतु का पक्ष धर्म होना (व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मज्ञान) परामर्श माना जाता है। केवल धूमवान् होने से पर्वत की अग्निमत्ता अनुमित नहीं हो सकती, जब तक धूम और अग्नि की व्याप्ति का ज्ञान न हो और इस प्रकार वह्नि-व्याप्य

धूम का ज्ञान पर्वत में न हो। निगमन हेतु-द्वारा सिद्ध प्रतिज्ञा का उल्लेख करता है। जिसकी प्रतिज्ञा आरम्भ में की गई थी वह हेतु द्वारा सिद्ध कर दिया गया है, यही निगमन वाक्य प्रदर्शित करता है।

अनुमान प्रक्रिया में **व्याप्ति** का स्थान अत्यन्त महत्व का है। इसलि ए भारतीय दार्शनिकों ने, विशेषतया नैयायिकों ने व्याप्ति को आलोचना करने में इतनी कुशाग्रबुद्धि का परिचय दिया है कि अनुमान की मूलभूति वह दार्शनिक जगत् में एक आश्चर्यजनक व्यापार स्वीकार किया जाता है। व्याप्ति के लक्षण के विषय में पर्याप्त विवेचना नव्यन्याय के ग्रंथों में की गई है। हेतु (धूम) तथा साध्य (वृद्धि) के नियत साहचर्य सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। दो वस्तुओं के एक साथ विद्यमान होने से ही उनमें व्याप्ति की कल्पना हम तब तक नहीं कर सकते जब तक हमें उनके मदा नियम में एकत्र रहनेकी सूचना न मिले। 'जहाँ धूम है वहाँ अग्नि है' इस साहचर्य की मत्ता हम नियतरूप से पाते हैं, अतः धूम तथा वृद्धि की व्याप्ति न्यायमग्न प्रतीत होती है। इसीलिए व्याप्ति को प्राचीन ग्रंथों में 'अविनाभाव' के नाम से पुकारते थे। अविनाभाव जो वस्तु जिसके बिना विद्यमान न रह सके उनका सम्बन्ध है। धूम की मत्ता तभी है जब वृद्धि के साथ उसका सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। व्याप्ति धूम तथा वृद्धि के साथ सम्बन्ध होती है। परन्तु वृद्धि तथा धूम के साथ व्याप्ति कथमपि सिद्ध नहीं होती। क्योंकि वृद्धि के स्थलों में धूम की सार्वत्रिक विद्यमानता उपलब्ध नहीं होती। उदाहरणार्थ अयोगालक पिण्ड (लोहे के जलते हुए गोले) में अग्नि के रहने पर भी धूम नहीं दीख पड़ता। अग्नि के साथ धूम का सम्बन्ध तभी सिद्ध हो सकता है जब गीली लकड़ी का उपयोग जलाने के लिए किया जाय। इस आद्रेन्धन-संयोग को न्यायशास्त्र में 'उपाधि' कहते हैं। व्याप्ति के लिए उपाधि का अभाव नितान्त आवश्यक है। अतः हेतु और साध्य के नियत और अनौपाधिक (उपाधिविरहित) सम्बन्ध को

व्याप्ति के नाम से पुकारते हैं (हेतुसाध्ययोरनौपाधिको नियतः सम्बन्धो व्याप्तिः, भा० प०, का० ६८-६९) ।

कतिपय मनुष्यों में मरणधर्मत्व की सत्ता को देखकर समस्त मानवों में उस धर्म की विद्यमानता का मान बैठना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? ऐसा सार्वत्रिक व्याप्ति की स्थिति किस प्रकार प्रमाण-प्रतिपन्न मानी जा सकती है ? इसका उत्तर दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूप में दिया है । बौद्ध नैयायिकों ने (दिङ्नाग, धर्मकीर्ति आदि) व्याप्ति के निषेधात्मक पक्षपर विशेषरूप से जोर दिया है, यथा साध्य के अभाव में हेतु को अनुपलब्धि । उनके मतानुसार अविनाभाव का प्रत्येक दृष्टान्त हेतु तथा साध्य के नियत सम्बन्ध को सूचित करता है । यह सम्बन्ध तादात्म्य और तदुत्पत्ति (कार्यकारणभाव) पर अवलम्बित रहता है । वेदान्तियों के वस्तुानुसार व्याप्ति साहचर्यावलोकन पर अवलम्बित रहती है । दो वस्तु यदि एक साथ सदा रहती है (सहचार) तथा इसके विपरीत कोई भी दृष्टान्त हमारी दृष्टि में न आया हो (व्यभिचारादर्शन) तो वेदान्त के अनुसार उनमें व्याप्ति सम्बन्ध माना जा सकता है (व्यभिचारादर्शने मति सहचारदर्शनेन गृह्यते व्याप्तिः, वे० प० पृ० ८३) ।

नैयायिक लोग व्याप्ति की प्रामाणिकता के विषय में वेदान्तियों के मत को स्वीकार करते हैं कि अनुभव की एकरूपता व्याप्ति को तथ्य सिद्ध कर सकती है परन्तु अन्वय, व्यतिरेक, व्यभिचाराग्रह, उपाधिनिराम, तर्क और सामान्यलक्षणप्रत्यासत्ति—इन साधनों के प्रयोग करने से ही व्याप्ति के तथ्य का यथार्थ परीक्षण किया जा सकता है ।

व्याप्ति की सिद्धि करनेके लिए पहला बात आवश्यक है—अन्वय । ‘तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः’ । एक वस्तु की सत्ता होने पर दूसरी की सत्ता होना अन्वय कहलाता है यथा धूम की सत्ता होने पर वह्नि की सत्ता । दूसरा साधन व्यतिरेक है—“तदभावे तदभावो व्यतिरेकः” । एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु का अभाव हो, यथा वह्नि के अभावस्थलों पर

धूम का अभाव । दोनों में किसी प्रकार का व्यभिचार न होना चाहिए (व्यभिचाग्रप्रह) । इतने साधनों के होनेपर भी व्याप्ति की सिद्धि नहीं होता जब तक उपाधि का निरास (दूरीकरण) न किया जाय । अनुकूलता : इसका पौनर्व्यो सहायक साधन है । धूम तथा वृद्धि का व्याप्ति के लिए तर्क का अनुकूलता है कि यदि पर्वत में वृद्धि न होता, तो धूम भी नहीं होता । पर धूम की सत्ता प्रत्यक्ष प्रमाण से निष्पन्न है । अतः तर्क दोनों के सादृश्य का द्योतक है । इतने पर भी सन्देह के लिए स्थान है, पर अंतिम साधन से उसका सर्वथा निरास किया जाता है । इतना तो निश्चित है कि समग्र मानवों के परीक्षण का अवसर हमें न मिल सकता है और न यह साध्य ही है तथापि सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा हम मानवता तथा मरणशीलता के पारस्परिक सम्बन्ध को सिद्ध मानकर समग्र मनुष्यों को मरणशील बनाने के अधिकारी हो सकते हैं । इतने उपायों से इस प्रकार प्रमाणित होने से ही व्याप्ति की सत्यता मानने में कथमपि संकोच न होना चाहिए^१ ।

तर्क का जो लक्षण ऊपर दिया गया है, वह 'अविज्ञाततन्त्रेऽर्थे कारणावगतिस्तन्व-ज्ञानार्थमूत्स्वर्कः' (न्या० सू० १।१।८०) के आधार पर है । अन्नभट्ट ने इसका लक्षण 'व्यापारादेण व्यापकारो-स्तर्कः' किया है अर्थात् व्याप्य के आगेप में व्यापक का आगेप करना । पर्वत में अग्न्यभाव मानने से उसे धमाभाववान् भी मानना पड़ेगा, जो वास्तव में वह नहीं है । अतः तर्क अप्रमा का एक भेद माना जाता है । प्राचीन नैयायिक तर्क के ११ प्रकार मानते हैं (स० द० स० पृ० ९३) परन्तु नव्य नैयायिक केवल ५ प्रकार—आत्माश्रय, अन्यान्याश्रय, चक्रक, अनवस्था तथा तदन्यवर्धितार्थप्रसंग (विश्वनाथ—१।१।८० न्याय-सूत्र-

१ द्रष्टव्य विनिर्मासि का व्याप्तिप्रमाण प्रकरण तथा भाषा-परिच्छेद का० १३७ की गुन्तावली ।

वृत्ति)। तत्त्वज्ञान के साधन में तर्क की उपादेयता सर्वत्र स्वीकृत का गई है।

पाश्चात्य जगत् में न्याय की रूपरेखा ग्रीक दार्शनिक अरस्तू (अरिस्टोटल) ने निश्चित की थी। कतिपय परिवर्तनों के साथ उनकी उद्भावित शैली तथा सिद्धान्तों का अनुगमन आज भी पश्चिमी तर्क करता

है। उनके अनुमान वाक्य (सिल्लजिज्म) के साथ पाश्चात्य अनुमानवाक्य में 'न्याय' की तुलना अत्यन्त शिक्षाप्रद है। पाश्चात्य

अनुमान में आकारगत सत्यता की ही उपलब्धि होती है, तात्त्विक सत्यता का आवश्यकता नहीं माना जाता, परन्तु भारतीय अनुमान में दोनों प्रकार की सत्यताओं का होना अनिवार्य रहता है। पश्चिमी तार्किक वाक्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) निरपेक्षवादय (कैटेगोरिकल), (२) काल्पनिक (हाइपोथेटिकल), (३) वैकल्पिक (डिस्जंक्टिव), परन्तु भारतीय तार्किक वाक्य केवल प्रथम प्रकार का ही होता है। पश्चिमी न्याय में केवल तीन वाक्यों से अनुमान की पूरा प्रक्रिया निष्पन्न होती है—(१) साधनवाक्य (मंजर प्रेमिस), (२) प्रत्यवाक्य (माइनर प्रेमिस) तथा (३) फलवाक्य (कॉन्कल्यूजन), परन्तु भारतीय न्यायशास्त्र में ५ वाक्यों का प्रयोग किया जाता है। पश्चिमी न्याय में अनुमान कभी भावात्मक, कभी अभावात्मक, कभी पूर्ण-व्यापी (यूनिवर्सल) और कभी अश्व्यापी (पार्टिकलर) होकर विविधरूप धारण करता है, परन्तु भारतीय न्याय-वाक्य पूर्ण-व्यापी भावात्मक एक ही प्रकार का होता है। परन्तु सबसे महान् अन्तर भारतीय न्याय में परामर्श (उपनय) की स्थिति में है। पश्चिमी न्याय में प्रथम दोनों वाक्यों का समन्वयात्मक वाक्य नहीं होता, परन्तु भारतीय न्याय में हेतु वाक्य और उदाहरण का एकीकरणात्मक रूप उपनय का सत्ता नितान्त आवश्यक है, वास्तव में परामर्शज्ञान से ही अनुमिति का उदय होता है। यहाँ हेतु के अत्यन्त महत्वपूर्ण होने से समस्त दाप (हेत्वामास) हेतु के आभास पर अवलम्बित रहते हैं,

परन्तु पश्चिमी न्याय में पक्षाभास (एलिमिट माइनर) तथा साध्याभास (एलिमिट मेजर) नामक दोषों की भी सगा स्वीकृत की गई है । परार्थानुभेद और स्वार्थानुमान प्रकार भी पश्चिमी जगत् में उपलब्ध नहीं होते । मोटे तौर से दोनों में ये स्फुट प्रतीयमान विभेद हैं ।

हेत्वाभास

हेतु के द्वारा ही अनुमान की सिद्धि होती है । अतः हेतु के निर्दोषता के विषय में नैयायिकों का विशेष आग्रह रहता है । हेतु में पाँच गुणों के होने पर वह मत्-हेतु कहा जाता है—(१) पक्षे सत्ता (हेतु का पक्ष में रहना), (२) सपक्षे सत्ता (सपक्ष में हेतु का विद्यमान होना); (३) विपक्षाद् व्यावृत्तिः (पक्ष में विपरीत दृष्टान्तों में यथा कृप, जलाशय आदि में हेतु का अभाव); (४) अमत्प्रतिपक्षत्वम् (साध्य में विपरीत वस्तु की सिद्धि के लिए अन्य हेतु का अभाव, (५) अबाधितविषयत्व (प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा बाधित न होना) । अनुमान की सत्यता हेतु के इन गुणों पर अवलम्बित रहती है । यदि इन गुणों में से किसी में त्रुटि लक्षित होती है तब मत् हेतु न होकर हेतु का आभास मात्र रहता है (हेतु+आभास) अथत् आपाततः हेतु में निर्दुष्टता लक्षित होती है, पर वास्तव में वह दोष से सवलित रहता है । इसे ही 'हेत्वाभास' कहते हैं । बौद्ध न्याय में इनके अतिरिक्त पक्ष और दृष्टान्त के दोषों का भी विस्तृत विवेचन किया गया मिलता है । हेत्वाभास के नाम इस प्रकार हैं—

(१) सव्यभिचार (अनैकान्तिक), (२) विरुद्ध, (३) प्रकरण-सम (मत्प्रतिपक्ष), (४) साध्यसम (असिद्ध), (५) कालातीत (बाधित) ।

सव्यभिचार हेतु साध्य के साथ भी रहता है तथा उससे पृथक् नहीं । इसके तीन प्रकारों में **साधारण** हेत्वाभास में हेतु साध्य तथा साध्याभाव दोनों में विद्यमान रहता है । **असाधारण** में हेतु पक्ष में ही

निश्चित रहता है, इसके लिए सपक्ष तथा विपक्ष दृष्टान्त का अभाव रहता है। अन्वय तथा व्यतिरेक दृष्टान्त में रहित हेतु **अनुपसंहारो** कहलाता है। **विरुद्ध** हेत्वाभास में हेतु साध्याभाव से व्याप्त रहता है तथा **सत्प्रतिपक्ष** में उस साध्य के अभाव को सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु विद्यमान रहता है। **असिद्ध** तीन प्रकार का होता है। आश्रयासिद्ध (पक्ष की असिद्धि होने पर), स्वरूपामिद्ध (हेतु को असिद्धि होने पर), व्याप्यत्वासिद्ध (व्याप्ति के संपादिक होने पर)। **वाधित** हेत्वाभास में साध्य का अभाव अनुमान से इतर प्रमाणों से सिद्ध रहता है। अतः साध्य की सिद्धि के लिए अनुमान के प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं प्रतीत होता। संक्षेप में हेत्वाभासों का यही सामान्य परिचय है।

(ग) उपमान

उपमान नैयायिकों का तीसरा प्रमाण है। पहिले अनुभूत किसी वस्तु के साथ सादृश्य धारण करने के कारण जहाँ किसी नई वस्तु का ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे 'उपमान' कहते हैं। "गो के सदृश गवय होता है" इस वाक्य के श्रवणानन्तर जगल में जानेवाला पुरुष जब गो की समानतावाले पशु को देखकर उसे 'गवय' पद का वाच्य समझता है तब इस ज्ञान का अनुभव उसे 'उपमान' के द्वारा होता है। अतः उपमान में वस्तुद्वय का सादृश्य-ज्ञान करण है तथा 'गवय गो के समान होता है' इस वाक्य का स्मरण सहकारी कारण है। सादृश्य कई प्रकार का हो सकता है—'एकान्त सादृश्य' एक गाय का दूसरी गाय के साथ; 'कति-पयाश में सादृश्य' गाय का सादृश्य मँस के साथ तथा 'आशिक' सादृश्य मँस तथा सर्प का सत्ताश में सादृश्य। परन्तु भाष्यकार ने इन सादृश्यों का उपमान के लिए खण्डन किया है और प्रसिद्ध सादृश्य को ही उपयुक्त ठहराया है। समानता के अंगों की विपुल संख्या उपमान में महत्त्व-शालिनी नहीं है, प्रत्युत समानता की विख्याति तथा महत्ता। अतः

प्रसिद्ध सादृश्य के बल पर जहाँ सजा तथा संजी का सम्बन्ध स्थापन किया जाता है उसे उपमान कहते हैं (समाख्यासम्बन्ध-प्रतिपत्तिः उपमानार्थः—न्यायवार्तिक १।१।६)।

उपमान के स्वतन्त्र प्रमाण मानने में दार्शनिकों ने बड़ी विप्रतिपत्ति खड़ी की है। चार्वाक उपमान का प्रामाण्य नहीं स्वीकार करते। दिङ्नाग उपमान को प्रत्यक्ष के अन्तर्गत मानते हैं^१। वैशेषिक लोग इसे अनुमान के अन्तर्भूत बाल्याते हैं, 'गो सदृश होने से यह पशु गवय है' यह ज्ञान हेतु के ऊपर अवलम्बित होने से अनुमान का एक प्रकार-मात्र है^२। साख्य^३ उपमान में शब्द तथा प्रत्यक्ष की आशिक स्थिति मानता है। गवय में गोसादृश्य का ज्ञान प्रत्यक्ष से होता है तथा सा-सादृश्यवान् पशु के गवय होने में उद्देश का वाक्य प्रमाणभूत है। भास्वरज ने नैयायिक होने पर गो उपमान को शब्द के अन्तर्गत स्वीकृत किया है। जैनदर्शन उपमान को प्रत्यभिज्ञामात्र मानता है^४। मीमांसा^५ तथा वेदान्त^६ उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं अथर्व्य पर उनका कल्पना नैयायिक कल्पना से गिगान्त भिन्न पड़ती है। इन विप्रतिपत्तियों का मार्मिक खण्डन न्यायग्रन्थों में किया गया है। वास्तव में उपमान अंशतः अन्य प्रमाणा के ऊपर अवलम्बित होने पर गो अन्ततः एक स्वतन्त्र प्रमाण है। उपमान साधा सादा न होकर एक मिश्रित व्यापार है। 'गवय गोमान पशु होता है' इस अंश में शब्द की, गवय में गो सादृश्य के अनुभव में प्रत्यक्ष की, 'यहा गवय है' इस अंश में पूर्ववाक्य की स्मृति तथा अनुमान को सत्ता मेलें ही मिद्ध मानी जाय, परन्तु 'गवय-पद का वाक्य यही गवयपशु है' इस अंश में उपमान स्वतन्त्र प्रमाण है

(१) न्यायवार्तिक १-१-६। (२) ऽष्टम्य उपस्कार वे० सू० १।२।५ सूत्र पर। (३) ऽष्टम्य तत्त्वकौमुदा, काशिका ५। (४) प्रमेय-कवचवार्तिक पृ० १७-१००। (५) शास्त्र-काशिका पृ० ७४-७६। (६) वेदान्तसिन्धु पाणिनीय ३।

ही, क्योंकि यह अश किर्मा अन्य प्रमाण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता ।

(घ) शब्द

शब्द अन्तिम प्रमाण है । आप्तोपदेशः शब्दः (न्या० सू० १।१।६) । किर्मा आप्त पुरुष के उपदेश को शब्द कहते हैं । आप्त वह कहलाता है जो वस्तु को यथार्थरूप से जानता है तथा हितोपदेश्य होने के कारण त्रिसके वाक्यों को हम प्रमाण मान सकते हैं । लौकिक तथा वैदिक रूप से शब्द दो प्रकार हैं । लौकिक शब्द लौकिक पुरुषों के वाक्यों को कहते हैं । वैदिक शब्द श्रुति के वाक्यों को कहते हैं । पद के समूह को वाक्य कहते हैं । पद शक्ति से सम्पन्न रहता है । नैयायिक लोग दो प्रकार की शक्ति मानते हैं—अभिधा तथा लक्षणा । पदशक्ति के विषय में बड़ा मतभेद है । प्राचीन नैयायिकगण ईश्वर को इच्छा को संकेत मानते हैं । 'यह शब्द इस अर्थ को बोध करे' इसी ईश्वर-इच्छा पर शब्द-संकेत निर्भर रहता है, पर नव्यनैयायिक पुरुष की इच्छा को भी संकेत का कारण मानते हैं । संकेतग्रह के विषय में भी दार्शनिकों में गहरा मत-भेद है । न्याय जाति, व्यक्ति तथा आकृति—इन तीनों के ऊपर संकेत स्वीकार करता है । वाक्यार्थ-बोध के लिए आकांक्षा, योग्यता तथा सन्निधि का रहना नितान्त आवश्यक है ।

वेद के विषय में नैयायिकों तथा मीमांसकों ने बड़ा विचार किया है, पर दोनों के विचार एक दूसरे से अत्यन्त विभिन्न पड़ते हैं । ईश्वर की सत्ता न माननेवाली मीमांसा को वेद के विषय में ईश्वर की कर्तृता अर्गाकृत नहीं है । अतः पुरुष (ईश्वर) के द्वारा उद्भूत न होने से वेद अपौरुषेय हैं, परन्तु न्याय जगत्कर्तृस्वरूप से ईश्वर को मानता है तथा वेद को ईश्वरकर्तृ के होने से पौरुषेय मानता है । नित्यता के विषय में दोनों का ऐकमत्य है । जयन्तभट्ट ने वैद की पौरुषेयता सिद्ध करने

के लिए बड़ी प्रबल युक्तियों का उपन्यास किया है। बौद्ध तथा जैन ग्रन्थकारों में वेद में अनेक दोषों की उद्भावना की है, पर इनका खण्डन न्याय तथा मीमांसा ने बड़ी तर्ककुशलता के साथ किया है।

वेद-प्रामाण्य न मानने पर भी जैन तथा बौद्धदर्शन शब्द प्रमाण का मानते हैं। जिस प्रकार ब्राह्मण दार्शनिकों को वेदवचन प्रमाणभूत है, उसी प्रकार बौद्धों को बुद्धवचन (पाली त्रिपिटक) तथा जैनो को जैन-अगम (अर्धमागधी में लिखित 'अग') माननाय हैं। अतः शब्द इन दोनों के लिए भी ज्ञान का एक स्वतन्त्र साधन है।

कार्य कारण सिद्धान्त

प्रमाण का लक्षण देते समय हमने ऊपर 'करण' शब्द का प्रयोग किया है। असाधारण कारण को 'करण' कहते हैं—वह विशिष्ट वस्तु जो किसी कार्य के उत्पादन में विशेषरूपसे कारण हो, करण कहलाता है। यहाँ 'कारण' का विचार अप्रासंगिक न होगा। कार्य के नियत रूप से पूर्व होने वाली वस्तु 'कारण' कहलाती है; नियत पूर्ववर्ती कहने से तात्पर्य यह है कि उस कार्य के वास्ते बिना किसी व्यवच्छेद के उस वस्तु को पूर्ववर्ती होना ही चाहिए। यदि यह पूर्ववर्तीता कादाचित्क है—कभी है और कभी नहीं है, तो उसे कारण नहीं माना जा सकता। कारण को अनन्यथा सिद्ध होना भी उतना ही आवश्यक है। उन वस्तुओं को 'अन्यथासिद्ध' कहते हैं जिनकी कार्यविशेष के लिए उपादेयता उत्तम उत्कृष्ट रूप से नहीं होती। विश्वनाथ ने पाँच प्रकार के 'अन्यथासिद्धों' का वर्णन मुक्तावली (का० २०-२२) में किया है। दण्डत्व, दण्डरूप आकाश, दण्डान्तरा तथा अपनी पीठ पर मिट्टी लाने वाला गर्दभ—इन सब की घटोत्पादन में कारणता नहीं होती, क्योंकि नियतपूर्ववर्त होने पर भी ये अन्यथासिद्ध हैं। मिट्टी के लाने में गर्दभ का बहुल प्रयोग होने पर भी उसमें घट के प्रति कारणता का अभाव ही है, क्योंकि

दूसरे साधनों से भी वही कार्य निष्पन्न किया जा सकता है। अतः गर्दभ की घटोत्पत्ति के प्रति नितान्त आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार कारण का मान्य लक्षण है -- अनन्यथासिद्धनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम् (दीपिका पृ० २५ तथा मुक्तावली का० १६)। प्रागभाव के प्रतियोगी की सज्ञा 'कार्य' है (कार्य प्रागभाव-प्रतियोगि)। जिस वस्तु का अभाव होता है, उसे अभाव के प्रति 'प्रतियोगी' कहते हैं। उत्पत्ति से पूर्व कारण (मृत्तिका) में कार्य (घट) का अभाव 'प्रागभाव' है। इसके प्रतियोगी अर्थात् घट का कार्य कहेंगे।

कार्य-कारण सम्बन्ध की मामामा दर्शनशास्त्र का एक नितान्त मौलिक कार्य है, क्योंकि इसी सम्बन्ध पर अन्य सिद्धान्तों की सगति सिद्ध होती है। कार्य-कारण का सम्बन्ध चार प्रकार का माना जाता है-- अमत् से मत् की उत्पत्ति (बौद्ध), सत् से सत् की उत्पत्ति (सांख्य—सत्कार्यवाद), मत् से अमत् कार्य का उदय (वेदान्त—विवर्तवाद), तथा मत् से उत्पत्ति से प्रथम अमत् कार्य की उत्पत्ति (न्याय)। न्याय के अनुसार कारण में कार्य की सत्ता उत्पत्ति से पूर्व नहीं रहती अर्थात् कारण-नामग्री के उपयोग करने से मृत्तिका में 'घट' नामक एक अभूत-पूर्व नवीन वस्तु की उत्पत्ति होती है। नैयायिक दृष्टि में कार्य उपादान-कारण से एकदम भिन्न है। जिस मूत्र-समूह से पट बनता है, वह सूत ही कपड़ा नहीं है प्रत्युत कपड़ा सूत से अत्यन्त भिन्न है। कारण-व्यापार में पूर्व कार्य कारण में विद्यमान नहीं रहता। अतः इस सिद्धान्त का नाम अमत्-कार्यवाद या आरम्भवाद है।

कारण तीन प्रकार का होता है—समवायी कारण, असमवायी कारण तथा निमित्त कारण। जिसमें समवाय सम्बन्ध से रहते हुए कार्य की उत्पत्ति होती है, उसे समवायी कारण (या उपादान कारण) कहते हैं जैसे घट के लिए मिट्टी। समवायिकारणता द्रव्य की ही होती है। कार्य के साथ अथवा कारण के साथ एक वस्तु में समवाय सम्बन्ध से रहते हुए

जो कारण होता है, वह असमवायी कारण है। तन्तु-संयोग पट का असमवायी कारण है, क्योंकि पटर्पण कार्य के साथ तन्तुसंयोग तन्तुरूप एक द्रव्य में समवाय सम्बन्ध में निवास करता है। कारण पट के साथ तन्तुरूप एक ही तन्तु में समवाय-सम्बन्ध में विद्यमान है, अतः तन्तुरूप पटर्पण का असमवायी कारण है। असमवायी कारण नैयायिकों की अपनी खास मूल्य है जिसे अन्य दार्शनिकों ने खण्डन करने के लिए अनेक युक्तियाँ दी हैं। गुण तथा क्रिया ही असमवायी कारण हो सकते हैं। इन दोनों से भिन्न कारण को निमित्त कारण कहते हैं जैसे घड़ का बनाने वाला कुलाल तथा उसके औजार। इन त्रिविध कारणों की परस्पर सहकारिता में ही कार्य की उत्पत्ति होती है। इन तीनों में से कार्योत्पत्ति के लिए जो असाधारण-विशिष्ट या नितान्त साधक है उसे कारण कहते हैं (साधकतम कारणम् आद्य० १।४।४२)।

(४) न्याय तत्त्व समीक्षा

न्यायसूत्र (१।१।९) में प्रमेय के द्वादश भेद स्वीकृत किये गये हैं—(१) आत्मा-सर्व वस्तुओं का देखने वाला, भोग करने वाला, जानने वाला। (२) शरीर-भोगों का आयतन या प्रमेय आधार; (३) इन्द्रिय—जिनके द्वारा आत्मा ब्रह्म वस्तुओं का भोग करता है—भोगों के साधन, (४) अर्थ-भोग किये जाने वाले वस्तुजात; (५) बुद्धि—भोग, ज्ञान; (६) मन—मुख-दुःख आदि आन्तर भोगों का साधनभूत इन्द्रिय; (७) प्रवृत्ति—मन, वचन तथा शरीर का व्यापार; (८) दोष—जिनके कारण अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्ति होती है; (९) प्रेत्यभाव—पुनर्जन्म; (१०) पल-मुखदुःख का संवेदन या अनुभव; (११) दुःख-इच्छाविघातजन्य क्लेश या पीड़ा; (१२) अवयव—दुःख से आत्यन्तिका निवृत्ति। इन्हीं पदार्थों का ज्ञान मुक्ति के लिए सहायक है। अतः इन वस्तुओं को 'प्रमेय' कहते हैं।

जगत् तथा आत्मा की नैयायिक कल्पना वैशेषिक के समान ही है। अतः इनका रूप अगले परिच्छेद में विवेचित किया जायगा।

उदयनाचार्य ने न्याय-कुमुदाञ्जलि में ईश्वर की मिद्धि अकाश्व्यक्तियों के सहाय की है। उन्हीं की कतिपय युक्तियाँ सक्षेप में दी जाती हैं—

(१) **कार्यात्**—जगत् के समस्त पदार्थ पर-
 ईश्वर मिद्धि के प्रमाण माणुजन्य, मावयव तथा अवान्तर महत्त्वविशिष्ट हैं।
 कार्य के लिए कर्ता की सत्ता मानना उचित ही है।

धट की उत्पत्ति तदुत्पादक कुलात् की सत्ता के बिना न्यायसंगत नहीं है; उर्मा प्रकार कार्यरूप इस जगत् की सृष्टि करने वाला कोई चेतन पदार्थ अवश्य होगा। (२) **आयोजनात्**—सृष्टि के अवसर पर परमाणुद्वय के संयोग से द्रव्यगुण की उत्पत्ति होती है। परन्तु जड़ परमाणुओं का एक साथ आयोजन होना स्वयं मिद्धि नहीं हो सकता। इसके लिए किसी चेतन पदार्थ की कल्पना नितान्त तर्कयुक्त है। (३) **धृत्यादेः**—तीमरी युक्ति संसार के धारण करने के विषय में है। यदि कोई चेतन धारण करने वाला न होता, तो यह जगत् कब का गिर गया होता। इस सृष्टि जगत् का नाश प्रत्येकाल में होता है। अतः नाश के लिए किसी नाश-कर्ता की आवश्यकता बनी हुई है। (४) **पदान्**—इस जगत् में अनेक कला-कौशल विद्यमान हैं; जैसे वस्त्र का बनाना, गृह की एक विशिष्ट प्रकार से रचना करना। इस सम्प्रदाय-व्यवहार के लिए इसकी उत्पत्ति के लिए, किसी ज्ञानवान् व्यक्ती की कल्पना करना पड़ता है। (५)

प्रत्ययतः—श्रुति हमारे लिए परम प्रमाण है। उसके प्रतिपादित सिद्धान्तों में किसी प्रकार की भ्रष्टि या विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती। कितने भी कुशाग्रबुद्धि के द्वारा किया गया अनुमान श्रुति की शिक्षा पर पड़े जाने से, विरुद्ध होने पर चूर चूर हो जाता है। श्रुति की इस प्रमाण श्रेष्ठता का रहस्य क्या है? यही कि यह सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ ईश्वर के द्वारा निर्मिता की गई है। श्रुति का ज्ञान ईश्वर का परिचायक है। (६)

समीक्षा वं३ मार्मिक दृंग से की है । मनुष्य का प्रत्येक चिकीर्षा (करने का इच्छा) किसी विशेष प्रयोजन के ऊपर आश्रित रहती है । चिकीर्षा के तीन हेतु है—(१) कृतिसाध्यता ज्ञान—इस बात का ज्ञान कि यह कार्य हमारे द्वारा साध्य हो सकता है; (२) इष्टसाधनताज्ञान—कार्य के करने से किसी अभिलषित वस्तु की सिद्धि का ज्ञान; (३) बलवदनिष्टाजनकता-ज्ञान—बलवान् अनिष्ट के न उत्पन्न होने का ज्ञान । इन तीनों ज्ञानों का चिकीर्षा के प्रति हेतुता है, प्रथम दो भावात्मक हेतु और अन्तिम अभावात्मक हेतु है । समग्र प्रवृत्ति के मूल ये ही हैं । कार्य हमारे प्रयत्नों से साध्य हो सकता है, इसका ज्ञान नितान्त आवश्यक है । इस ज्ञान के अभाव में वर्षा की उत्पत्ति में अथवा चन्द्रमण्डल के आनयन में जीव का प्रवृत्ति नहीं होती । अर्माष्ट वस्तु की सिद्धि का ज्ञान भी इसे नहीं है, तब तक हमारी प्रवृत्ति हो नहीं सकती । तृप्त पुरुष के भोजन में अप्रवृत्ति का कारण यही है । बलवान् अनिष्ट की अनुत्पत्ति का बोध भी प्रवृत्ति उत्पन्न करने में साधक होता है । रोग से दृषितचित्र पुरुष विप्रभक्षण कर आत्मदत्त्या इर्मालिये कर लेता है कि उसे बलवान् अनिष्ट न उत्पन्न होने का ज्ञान रहता है । उपादान का प्रत्यक्ष होना भी इसी प्रकार हेतु होता है । संश्लेष में प्रवृत्ति के दो कारण हैं—कार्यताज्ञान (इस कार्य का करना हमारा कर्तव्य है, इसका ज्ञान) तथा इष्टसाधनता-ज्ञान (कार्य के करने से इष्ट वस्तु की उत्पत्ति का ज्ञान) । प्रथम पक्ष प्राप्ताकरो का है । द्वितीय पक्ष नैयायिकों तथा भाट्टमतानुयायी र्मीमामकों का । प्रवृत्ति के तीन कारण हैं राग (मुख देने वाले पदार्थों में आसक्ति), द्वेष (प्रतिकूल वस्तुओं में विरक्ति) तथा मोह (वस्तु के यथार्थ रूप न जानने से मिथ्याव्यवसाय, वस्तुपरमार्थापरिच्छेदलक्षणों मिथ्यावसायो मोहः) । ये तीन प्रवृत्ति के साक्षात्कारण हैं । ये तीनों विशिष्ट समुदाय के प्रतिनिधि हैं । अतः गौतम ने ४।१।३ सूत्र में इनके सम्मिलित रूपको 'त्रेगाय' कहा है । रागपक्ष में काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा तथा लोभ का

गणना है। द्वेषपक्ष में क्रोध, ईर्ष्या, अमृया, द्रोह, अमर्ष का तथा मोहपक्ष में मिथ्याज्ञान, विचित्रिकत्सा (किं स्विदिति विमर्शः=यह क्या है ? ऐसा विचार), मान (अगद्गुणा यन्नेतेन स्वात्कर्षबुद्धिः=अविद्यमान गुणों की कल्पना कर अपने को उत्कृष्ट मानना=वमण्ड), प्रमाद (असावधानता) का समावेश किया जाता है। प्राणोमात्र के समस्त प्रवृत्तियों का उदय इन्हीं कारणों से होता है। परन्तु राग द्वेष को उत्पादक होने से मोह की प्रवृत्ति में सब से अधिक हेतुता है। वाल्म्यायन के द्वारा निर्दिष्ट पूर्वोक्त दोषों का विस्तृत वर्णन जयन्त भट्ट ने न्यायमञ्जरी (प्रवर्तनालक्षण दोषा १।१।१८) में किया है।

वचन, मन तथा शरीर के आरम्भ की प्रवृत्ति कहते हैं (न्या० सू० १।१।१७) प्रवृत्ति दो प्रकार की होती है^१ पापिका तथा पुण्या। कायिक, वाचिक तथा मानसिक भेद से ये दोनों तीन प्रकार के होते हैं। पूर्वोक्त दोषों के वश होकर प्राणा शरीर से अहिंसास्तेयादि कर्मों का करता है, वचन से मिथ्या पदवादि वाक्यों का उच्चारण करता है, मन से परद्रोह, नास्तिक्य आदि करता है। यह पाशात्मिका प्रवृत्ति अधर्म उत्पन्न करती है। शरीर से दान-परिचाणादि का; वचन से सत्य वितर्क का, मन से दयाश्रद्धादि का आचरण पुण्य प्रवृत्ति है जो धर्म की उत्पत्ति करती है।

सूत्रकार के शब्दों में दुःख से अत्यन्त विमोक्ष को अपवर्ग कहते हैं (तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः १।१।२२)। 'अत्यन्त' का अभिप्राय है कि

मुक्ति
उपात्त जन्म का परिहार तथा अन्य जन्म का अनु-
त्पादन। गृहीत जन्म का नाश तो होना ही चाहिए,
परन्तु भविष्य जन्म की निरन्तर अनुत्पत्ति भी उतनी ही आवश्यक है।
इन दोनों की सिद्धि होने पर आत्मा का दुःख से आत्यन्तिका निवृत्ति

सम्पन्न होती है। जब तक वासनादि आत्मगुणों का उच्छेद सिद्ध नहीं होता, तब तक दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए मुक्तावस्था में आत्मा के नवों विशेषगुणों—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा मस्कार—का मूलोच्छेद हो जाता है। धर्म तथा अधर्म के कारण ही सुख और दुःख की उत्पत्ति होती है। अतः ये दोनों समाखर्पा प्रमाद के स्वरूप हैं। इन गुणों के उच्छेद होने से शरीरादि कार्यों का अनुत्पाद हो जाता है। भोगायतन शरीर के अभाव में इच्छा, द्वेष, प्रयत्नादिकों के साथ आत्मा का सम्बन्ध कथमपि सिद्ध नहीं होता। अतः मुक्तावस्था में आत्मा के विशेषगुणों का अत्यन्तभाव अर्थात् करना सौपरत्तिक है। मुक्त आत्मा के स्वरूप का सुन्दर परिचय न्यायमञ्जरी (पृ० ७७) में दिया गया है—

स्वरूपैकप्रतिष्ठानः परित्यक्तोऽखिलैर्गुणैः ।

ऊर्मिपट्टकातिग रूप तदस्याहुर्मनीषिणः ।

समाखन्धनाश्वानदुःखक्लेशाद्यदृषितम् ॥

अर्थात् मुक्त दशा में आत्मा अपने विगुण स्वरूप में प्रतिष्ठित और अखिल गुणों से विरहित रहता है। 'ऊर्मि' का अर्थ क्लेश विशेष है। भूयःप्यास प्राण के, लोभ-मोह चित्त के, शीत आतप शरीर के क्लेश-दायक होने से ऊर्मि कहे जाते हैं। मुक्त आत्मा इन छः ऊर्मियों के प्रभाव को पार कर लेता है और दुःख क्लेशादि सासारिक बन्धनों से बट विमुक्त हो जाता है।

मुक्त आत्मा में सुख का भी अभाव रहता है। अतः मुक्तावस्था में आनन्दोपलब्धि नहीं होती। इस सिद्धान्त का मण्डन नैयायिकों ने बड़े आग्रह के साथ किया है^१। वेदान्तियों का मत इसके ठीक विपरीत पड़ता है। इसका खण्डन जयन्तभट्ट ने बड़े विस्तार के साथ किया है।

(पृ० ७८-८१) । उनके कथन का सागश यह है कि मुख के साथ गग का सम्बन्ध लगा हुआ है और यह गग बन्धन का साधन है । अतः मोक्ष को मुखात्मक मानने में बन्धन की निवृत्ति कथमपि हो नही सकती । 'आनन्द ब्रह्म' आदि आनन्द बोधक वाक्यों का तात्पर्य दुःखा पाय-बोधन में ही है । ज्वर या शिरःपांडादि-व्याधि-दुःखों के निवृत्ति हो जाने पर सुखी होने की कल्पना लोक व्यवहार में भी न्याय्य माना जाता है । उद्योतकर ने दो प्रकार का निःश्रेयस माना है^१—अपरनिः श्रेयस तथा परनिःश्रेयस । तत्त्वज्ञान ही इन दोनों का कारण है । जीवन्मुक्ति का अपरनिःश्रेयस कह सकते हैं, पर-निःश्रेयस विवेकमुक्ति है । वाचस्पति ने तात्पर्य टीका (पृ० ८०-८१) में इन दोनों का अन्तर विस्मर में विवेचन किया है । आत्मा के विषय में चार प्रतिपत्तियाँ हैं—श्रवण मनन, ध्यान तथा साक्षात्कार । आन्वीक्षिकी का उपयोग मज्जरिमा तथा प्रमाणतत्त्व के बोधन में होता है, परन्तु मनन से भी सयोरूप में साक्षात्कार का उदय नहीं होता, क्योंकि विपर्यय ज्ञान के नाश हो जाने पर भी उसकी वामना का उपश्रय नहीं होता । ध्यान आत्मसाक्षात्कार के लिए नितर उपादेय है । बिना योगज-ध्यान के आत्मतत्त्व की अप-रोक्ष अनुभूति उत्पन्न नहीं होती । चतुर्था प्रतापि पाने वाले पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं । परन्तु प्रारब्धकर्मों का सम्बन्ध तब तक भी लगा ही रहता है । इनकी भी उपभाग से जब क्षीणता हो जाती है, तभी परनिः श्रेयस का उदय होता है (पर निःश्रेयस न तावद् भवति यावत् उपभोगदुष्प्राप्तकर्मशयप्रचयो न क्षीयते । तस्मान् तत्त्वसाक्षात्काराधान-प्रयत्नात् परः तदुपभोगप्रयत्नश्चास्म्येयः तथा च न तुल्यकाल उत्सादः पराग्यानिश्रेयशयोः —तात्पर्यटीका पृ० ८१) ।

१ निःश्रेयसस्य परापभेदाः । यत्तावदपर निःश्रेयस तत् तत्त्वज्ञानान्तरमेव भवति । पर निःश्रेयस तत्त्वज्ञानात् तमेव भवति—न्यायवार्तिक १।१।१।

मुक्ति के साधनों का विचार करना अब आवश्यक है। गोतम ने दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदन्तराभावात् अपवर्गः (१।१।२) सूत्र में मोक्षमार्ग के स्वरूप का परिचय दिया है। मिथ्याज्ञान से रागद्वेषादि दोषों का सद्भाव होता है, उनसे शुभा या अशुभा प्रवृत्ति का उदय होता है जिसमें शरीर धारण करना पड़ता है। जन्म देने से प्रतिकूल संवेदनात्मक दुःखों की उत्पत्ति होती है। मिथ्याज्ञान आदि का अविच्छेदेन प्रवर्तमान होना समार है। इस संसारोच्छेद के लिए कारणभूत मिथ्याज्ञान का समुच्छेद नितान्त स्पृहणीय है। मिथ्याज्ञान का धम होता है तत्त्व ज्ञान से। अतः आत्मस्वरूप विषयक तत्त्वज्ञान से ही दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूप अपवर्गकी सिद्धि होती है। जयन्तभट्ट ने 'न्यायमञ्जर' (पृ० ८९-९१) में कर्मज्ञानसमुच्चयवाद का विशदरूपेण खण्डन कर ज्ञान की ही उपयोगिता पर जोर दिया है। परन्तु तत्त्वज्ञान से आत्मसाक्षात्कार की सिद्धि के लिए ध्यान धारणादि योग प्रसिद्ध उपायों का अवलम्बन नितरां श्रेयस्करो है। गोतम ने 'तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाभ्यात्मविभ्युपायैः' (न्या० सू० ४।२।४६) सूत्र में प्राणायाम आदि उपायों के आश्रय लेने की बात स्पष्टाक्षरों में प्रतिपादित की है।

(६) समोक्षा

न्यायदर्शन की भारतीय दर्शन साहित्य की सबसे अमूल्य देन शास्त्रीय विवेचनात्मक पद्धति है। प्रमाण की विस्तृत व्याख्या तथा विवेचना कर न्यायनेजिन तत्त्वों को खोज निकाला है, उनका उपयोग अन्य दर्शन भी कतिपय परिवर्तन के साथ अपने विवरणों में निश्चय रूप से करते हैं। हेत्वाभासों का सूक्ष्म विवरण प्रस्तुत कर न्याय ने अनुमान को दोषनिर्मुक्त बनाने का मार्ग प्रशस्त कर दिया है। इसपर कलिकाल-सर्वज्ञ आचार्य

हेमचन्द्र का यह कथन है^१ कि गौतम मुनि को अपने दर्शन में अस्वर्ग के साधक तत्त्वज्ञान का वर्णन करना उचित था, परन्तु इसके विपरीत उन्होंने छल वितण्डा जाति आदि का वर्णन करके परमर्म के भेदन में अपने अमूल्य समय को व्यर्थ बिताया। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसा नहीं है, क्योंकि इनका उपयोग परमर्म के भेदन में ही नहीं किया जाता है। सूत्रकार ने स्वयं जल्पवितण्डा को तत्वाभ्यवसाय के रक्षणार्थ उसी प्रकार उपयोगी माना है जिस प्रकार कण्टक-शाखा का आवरण बीज के अङ्गुरों की रक्षा करता है (न्या० सू० ४।२।५०)। अतः इनका उपयोग विनाशात्मक न होकर रचनात्मक है। इनके अभाव में सूक्ष्ममति नास्तिकों की अवाततः रमणीय युक्तियों से प्रतागित होकर साधारण मनुष्य न जाने कब का उन्मार्ग का पथिक बन गया होता। अतः इनके वर्णन करने में गौतम का निमर्ग-निर्मल कर्मणावृत्ति शलकनी हृद् दीव्य पड़ती है^२।

परन्तु न्यायदर्शन की तर्कपद्धति जितनी सन्तोषजनक है, उतना सन्तोषदायक उसका तत्त्वज्ञान नहीं है। न्याय ने इस जगत् को ज्ञान में पृथक् एक स्वतन्त्र सत्तात्मक वस्तु बतलाया है तथा उसमें अनेक नित्य पदार्थों का कल्पना की है। आत्मा के अतिरिक्त परमाणु, मन, आकाश, काल तथा दिक् सब नित्य माने जाते हैं। इस दृष्टि से जगत् की व्याख्या करने में अनेक चुट्टियाँ परिलक्षित होती हैं। न्याय की व्याख्या में इतने नित्य पदार्थों के अस्तित्व मानने के लिए कोई औचित्य नहीं प्रतीत होता। सच्चा दर्शन वही हो सकता है जिसमें एक नित्य पदार्थ को

१ उष्टय अन्ययोग-व्यवहारेऽध्यावशिका, श्लोक १०।

२ अक्षिप्त-कृतक-श-लेख-वाचालितानना।

अथवा किमन्यथा जेतुं वितण्डादोषपण्डिता॥

गनानुगतिको लोकः कुमारः वा प्रतागितः।

मा गार्हिनि छलानि प्राह काण्डिको मुनिः ॥-न्यायभाष्य (पृ० ११)

सत्ता मानकर समस्त पदार्थों का सम्बन्ध उसी में प्रदर्शित किया जाय तथा सद्रस्तु के एकरूप पर जोर दिया जाय । इस सिद्धान्त के अनङ्गीकार करने में न्याय में अनेक दोष दृष्टिगत होते हैं ।

ईश्वर का निमित्तकारणरूप में जगत् का स्पष्टा वस्तुत्वाकर न्यायदर्शन ने उसमें मानवाय भावों का कमजोरियों को उपस्थित कर दिया है । नैयायिक ईश्वर लौकिक कर्ता के अनुरूप कल्पित किया है । जिस प्रकार बहई अपने हथियारों में काठ को काट पीट कर कुग्सी, टेबुल आदि बनाया करता है और जिस प्रकार दूकान में बेंटा हुआ लोहार लोहे से तरह तरह के सामान बनाया करता है, ठीक उसी प्रकार ईश्वर परमाणुओं से जगत् का सृष्टि किया करता है । वह इस सृष्टिकार्य के लिए उपादान कारणों के ऊपर अवलम्बित रहता है । उपादानों को सत्ता पर अवलम्बित रहनेवाला ईश्वर किस प्रकार सर्वशक्तिमान् तथा परमस्वतन्त्र माना जा सकता है ? वेदान्त ने ईश्वर को जगत् का उपादान तथा निमित्तकारण दोनों मानकर इस अनुपपत्ति को दूर कर दिया है, परन्तु न्याय में इस अनुपपत्ति का निगम कथमपि नहीं किया जा सकता ।

न्याय ने आत्मा के साक्ष्य का स्वतन्त्रता दिखलाकर तथा उसे शरीर और इन्द्रियों से पृथक् स्थायी नित्य पदार्थ प्रमाणित कर चार्वाक तथा बौद्ध के सिद्धान्तों का युक्तियुक्त खण्डन किया है तथा आत्मा की स्वतन्त्रता भली प्रकार प्रदर्शित की है, परन्तु मुक्त आत्मा की जो कल्पना का है, वह दार्शनिकों के प्रचलित खण्डन का विषय है । नैयायिक मुक्ति का सिद्धान्त अन्य दार्शनिकों के कौतुकावह कटाक्ष का विषय है । मुक्त-वस्था में समस्त अज्ञानावरणों से विमुक्त आत्मा में नित्य आनन्द को मानने वाले वेदान्ती श्रीहर्ष ने नैषधचरित में नैयायिक मुक्ति की जो दिग्लगी उड़ाई है वह पण्डितसमाज में अपनी गेचकता के कारण नितान्त प्रसिद्ध है । उनका कथन है कि जिन सूत्रकार ने सचेता पुरुषों के लिए ज्ञानमुखादि विरहित शिलारूप प्राप्ति का जीवन का परम लक्ष्य

बतलाकर उपदेश दिया है उनका अभिधान गोतम शब्दतः हा यथार्थ नहीं हैं, अपितु अर्थतः भी हैं । वह केवल गौ (बैल) न होकर गोतम (अतिशयेन गौः—गोतमः) पक्का बैल है^१ । वैष्णव दार्शनिकों ने भा इसीलिए नैयायिकों के ऊपर फवतियाँ मुनाई हैं । मुक्तावस्था में आनन्द धाम गोलोक तथा नित्यवृन्दावन में सरस विहार करने की व्यवस्था बतलाने वाले वैष्णव लोग इस नोरस मुक्ति की कल्पना से घबरा उठते हैं और भक्त भावुक हृदय से पुकार उठते हैं कि वृन्दावन के सरस निकुञ्जों में शृगाल बन कर जीवन बिताना हमें मंजूर है, परन्तु हम लोग वैशेषिक मुक्ति को पाने के लिए कथमपि इच्छुक नहीं हैं^२ ।



१ मुक्तये यः शिलात्वाय शास्त्रमचे सचेतमाम् ।

गोतम तमवेध्यैव यथा विन्ध तथैव सः ॥

—रूपधरचित १७।७५।

२ वः वृन्दावने रम्ये शृगालत्वं वृणोम्यहम् ।

वैशेषिकं लोकमोक्षात् सुखलेशविर्वर्जितम् ॥

—स० सि० स० पृ० २८

अष्टम परिच्छेद

वैशेषिक दर्शन

पण्डित मण्डली में एक सुप्रसिद्ध कहावत प्रचलित है—काणाद पाणिनाय च सर्वशास्त्रोपकारकम् । शब्द के यथार्थ निर्णय में पाणिनाय व्याकरण के समान पदार्थों के स्वरूप-निर्णय में वैशेषिक दर्शन अन्यन्त उपादेय है । इस दर्शन का नाम वैशेषिक, काणाद तथा औलूख्य दर्शन है । अन्तिम दोनों नाम इसके आद्य प्रवर्तक उत्कृष्ट ऋषि के पुत्र महर्षि काणाद के नाम पर दिये गये हैं, पर 'वैशेषिक' नाम का रहस्य क्या है ? इसके रहस्य को विद्वानों ने भिन्न भिन्न रूप से बतलाया है । चीनदेशीय दार्शनिक चिस्तान (५४९-६२३ ई०) तथा क्वहेइचो (६२३-६८२ ई०) के द्वारा मण्डलीत एक प्राचीन परम्परा के अनुसार काणाद सूत्रों का 'वैशेषिक' नामकरण अन्य दर्शनों से, विशेषतः सांख्यदर्शन से, विशिष्ट अर्थात् अधिक-युक्तियुक्त होने के कारण किया गया था^१ । पर भारतीय विद्वन्मण्डली के अनुसार 'विशेष' नामक पदार्थ की विशिष्ट कल्पना करने के कारण काणाद दर्शन की 'वैशेषिक' मज्ञा प्राप्त हुई है (व्या० भा० १।४९) ।

वैशेषिक दर्शन की उत्पत्ति कब हुई ? बौद्ध ग्रन्थों में (मिलिन्द प्रश्न, लकावतार-सूत्र, ललितविस्तर आदि) वैशेषिक दर्शन का नामोल्लेख पाया

जाता है; इन ग्रन्थों में न्याय सिद्धान्त का भा वैशेषिक नाम से ही स्मरण किया है। साख्य तथा वैशेषिक मतों को बुद्ध से पूर्वकालीन मानने में बौद्ध सम्प्रदाय को एकवाक्यता दीज्य पड़ता है। जैन तत्त्व-समीक्षा सम्भवतः वैशेषिक पदार्थों को कल्पना पर आधारित है। अतः वैशेषिक दर्शन जैन तथा बौद्ध दोनों से प्राचीनतर प्रतीत होता है।

(१) वैशेषिक दर्शन के आचार्य

इस दर्शन के सूत्रकार महर्षि कणाद हैं। त्रिकाण्डशेष कोष में इनका दूसरा नाम 'काश्यप' मिलता है तथा किरणावली में उदयनाचार्य ने इन्हें काश्यप पुनि का पुत्र बतलाया है। अतः इनके कणाद 'काश्यप' गोत्र नाम होने में सन्देह नहीं है। श्राहर्ष ने नैपथ (२२।३६) में कणाददर्शन का औत्क सज्ञा दी है। वायुपुराण में कणाद प्रभास निवर्मा सोमशर्मा के शिष्य और शिव के अवतार बतलाये गये हैं^१। अतः कणाद मुनि काश्यप गोत्रों, सोमशर्मा के शिष्य तथा उत्क मुनि के पुत्र थे।

वैशेषिक सूत्रों की संख्या ३७० है और वे १० अध्यायों में विभक्त हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक हैं। प्रथम अध्याय के प्रथम आह्निक में द्रव्य, गुण तथा कर्म के लक्षण तथा विभाग का, दूसरे आह्निक में 'सामान्य' का, दूसरे तथा तीसरे अध्यायों में नव द्रव्यों का, चतुर्थ अध्याय के प्रथमाह्निक में सम्मानवाद का तथा द्वितीयाह्निक में अनित्य-द्रव्य विभाग का, पञ्चम अध्याय में कर्म का, षष्ठ अध्याय में वेदप्रामाण्य के विचार के बाद धर्माधर्म का, ७ वे तथा ८ वे अध्याय में कतिपय गुणों का, ९ वें अध्याय में अभाव तथा ज्ञान का, १० वें में सुख-दुःख-विभेद तथा त्रिविध कारणों का वर्णन किया गया है। न्यायसूत्रों

में तुलना करने पर वैशेषिक सूत्र प्राचीन दृश्यते हैं। इनका रचनाकाल तृतीय शतक विक्रम पूर्व है^१।

ब्रह्मसूत्र २।२।११ के शास्त्रभाष्य की रत्नप्रभा टीका में तथा अन्यत्र कई स्थलों में वैशेषिकसूत्रों के ऊपर 'शिवणभाष्य' का उल्लेख किया गया मिलता है, पर यह भाष्य आजकल उपलब्ध नहीं है। मगधराज वृत्ति नितान्त प्राचीन प्रतीत होती है। ५० जयनारायण ने दिवृत्ति रचकर तथा महामहोपाध्याय पण्डित चन्द्रकान्त तर्कालंकार ने भाष्य का निर्माण कर इन सूत्रों के यथार्थ अर्थ के समझने में हमारा बड़ा उपकार किया है।

प्रशस्तपाद—प्रशस्तपाद का 'पदार्थ-धर्मसंग्रह' वैशेषिकतत्त्वों के निरूपण के लिए नितान्त मौलिक ग्रन्थ है। साधारण रीति से इसे भाष्य कहते हैं पर यह सूत्रस्थ पदों के उल्लेखपूर्वक उक्तानुक्तिचिन्तामयित प्रबन्ध नहीं है। इसमें तो ग्रन्थकार ने केवल वैशेषिक सिद्धान्तों के ऊपर अपने स्वतन्त्र विचारों को प्रामाणिक रूप में प्रतिपादित किया है। सूत्र के बाद इस दर्शन के इतिहास में सर्वमान्य प्रामाणिक ग्रन्थ यही प्रशस्तपाद भाष्य है। इसमें विशेषतः परमाणुवाद, जगत् को उत्पत्ति तथा प्रलय, प्रमाण तथा गुणों का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। वसुवन्धु के द्वारा इनके सिद्धान्तों के खण्डन किये जाने और न्याय-भाष्य में इनके सिद्धान्तों के उपयोग किये जाने से इन्हें वात्स्यायन और वसुवन्धु में प्राचीन द्वितीय शतक में होना न्यायसंगत प्रतीत होता है^२। प्रशस्तपादभाष्य के आधार पर 'चन्द्र' नामक किसी आचार्य ने दश-पदार्थी शास्त्र की रचना की जिसमें द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय तथा विशेष—इन षट् पदार्थों के अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्य-

१ द्रष्टव्य बोडम-तर्कसंग्रह की प्रस्तावना पृ० ४०। कुण्डुस्वामी-प्राइमर आफ इण्डियन लॉजिक, प्रस्तावना पृ० (३०)

२ आचार्य ब्रुव-न्यायप्रज्ञ की प्रस्तावना पृ० १८।

जिसे तब अभाव थे चार नवीन पदार्थ स्वीकृत किये गये हैं। चन्द्र मन्थम शास्त्री से पहले के ही होंगे, क्योंकि इसका अनुवाद ६४८ ई० में चान भाषा में किया गया उल्लेख होता है जिसका अंग्रेजी अनुवाद ज्ञानानन्द विद्वान् डा० उई ने किया है।

'प्रशस्तपादभाष्य' पर ये प्रसिद्ध आचार्यों की टीकायें उपलब्ध होती हैं—

व्योमशिवाचार्य—इनके नाम से पता चलता है कि ये सम्भवतः दक्षिण के शैवाचार्य थे। इनकी विरचित **व्योमवती** प्रशस्तपादभाष्य की समे प्राचीन टीका है। उदयनाचार्य ने किरणावली में 'आचार्याः' कह कर तथा राजशेखर ने न्यायकन्दली का टीका में भाष्य के टीकाकारों में इन्हीं का नाम सबसे पहले उल्लिखित किया है। अतः ये दशम शतक से पूर्व ही विद्यमान थे। श्रीधर, शिवादित्य, वल्लभाचार्य आदि आचार्य प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाणद्वय मानने के पक्ष में हैं, परन्तु ये आचार्य चार्य शब्द को भी एक स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं^१।

उदयनाचार्य—उदयनाचार्य ने भाष्य के गृह्योद्घाटन के लिए एक विशिष्टाङ्ग व्याख्या 'किरणावली' लिखी है। साधव (पृ० ९०) के कथनानुसार तम का आरोपित नील रूप मानने का सिद्धान्त श्रीधर के नाम से सम्बद्ध है। पर नामोल्लेख बिना किये उदयनाचार्य ने इस मत का खण्डन किया है (किरणा० पृ० ११२)। उधर श्रीधर ने भी 'न्यायकन्दली' में उदयन के किरणावली के वाक्यों को स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है तथा उनके सिद्धान्तों पर एक आलोचनात्मक दृष्टि भी डाली है। इससे प्रतीत होता है कि श्रीधर ने न्यायकन्दली सर्वप्रथम लिखी।

१ सगिम्बर ने हरिभद्र के पञ्चतन्त्र-समुच्चय की टीका में इनके मत का उल्लेख किया है—यद्यपि ब्रह्मसूत्रशास्त्रे व्यासजिनाचार्यान्तानि त्रयि प्रमाणानि, तथापि श्रीधर-मतपि तथा अत्र उभे एव निगदिते। (पृ० ६३ चाखम्भा संस्करण)।

अनन्तर 'किरणावली' की रचना उदयन ने की, परन्तु श्रीधर ने ग्रन्थ के पुनः संशोधन के अवसर पर उदयन के मन की समीक्षा भी की। किरणावली की टीकाओं में वरदराज (११ शतक), वादीन्द्र (१३ वीं शतक का पूर्वभाग; रससार), वर्धमानोपाध्याय (१३ वीं शतक—किरणावली प्रकाश), पद्मनाभ मिश्र (१६ शतक, किरणावली भास्कर) की टीकाये सुप्रसिद्ध तथा महत्वपूर्ण मानी जाती हैं।

श्रीधराचार्य—इनके पिता का नाम बलदेव तथा माता का अम्बोका देवी। गौड़ देश के भूगिरिमण्डि नामक गाँव के निवासी होने से ये वगदेशीय प्रतीत होते हैं। इन्होंने भाष्य के ऊपर 'न्यायकन्दली' नामक महत्वपूर्ण टीका ९१३ शक (९९१ ई०) में लिखी^१। शास्त्रीय ज्ञान इनका जितना ही विस्तृत था, इनकी प्रज्ञा उतनी ही तलस्पर्शिनी थी। न्यायकन्दली वैशेषिक सिद्धान्तों के लिए एक प्रमाणभूत ग्रन्थ मानो जाती है। इनके 'अन्धकार' विषयक सिद्धान्त की समीक्षा अनेक मान्य दार्शनिकों ने की है। कन्दली की टीकाओं में पद्मनाभ मिश्र का 'न्यायकन्दलीसार' तथा जैन विद्वान् राजशेखर की 'न्यायकन्दली पञ्जिका' प्रसिद्ध हैं।

श्रीवत्स कृत न्याय लीलावती ही चौथी टीका है। वल्लभ की न्याय लीलावती टीकात्मक न होने पर भी याद कथमपि टीका मान भी ली जाय, तथापि यह श्रीवत्सकृत नहीं है।

वल्लभाचार्य—इनकी 'न्यायलीलावती' वैशेषिक सिद्धान्तों का आगार है और इसकी प्रसिद्धि 'किरणावली' के समान ही है। किरणावली के समान ही अनेक टीकाग्रन्थों से मण्डित होने का गौरव इस ग्रन्थ को भी प्राप्त है। आचार्य वल्लभ के जन्म-प्रदेश का पता नहीं चलता,

१ अधिकशोत्तान्तवशनशाकाब्दे न्यायकन्दली रचना।

श्रीमद्गुडासयाचिन-भट्ट-श्री-श्रीधरेण्यम् ॥

पर वादीन्द्र के द्वारा रसमार (१२२५ ई०) में उल्लिखित होने से इनका समय १२ वीं शताब्दी का अन्तभाग माना जा सकता है। इस ग्रंथ का मात टीकाओं का पता चलता है जिनमें वर्धमान उपाध्याय का 'लीलावती प्रकाश' तथा पद्मधर मिश्र का 'न्याय लालावता विवेक' दूसरों में प्रार्चीन है।

पद्मनाभ मिश्र—इनका दूसरा नाम प्रयातन मिश्र था। इनके टीकाग्रन्थ का नाम 'मेतृ' है जो द्रव्यग्रन्थ तक हो उपलब्ध होता है। पद्मनाभ मिश्र वैशेषिक दर्शन के विशेषज्ञ विद्वान् थे, मिथिला निवास थे तथा १६ वें शतक के आसर्ष में विद्यमान थे।

शंकर मिश्र—इनका टीका का नाम 'कणादशब्द' है जो वास्तव में वैशेषिक सिद्धान्त का प्रतिपादक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। **जगदीशभट्टाचार्य**—प्रशस्तपाद की एक टीका जगदीश भट्टाचार्य निमित्त 'सूक्ति' में है। द्रव्यग्रन्थ तक यह टीका उपलब्ध हुई है। **मल्लिनाथसूरि**—इनका 'भाष्यनिकष' अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है।

शिवादित्यमिश्र (१० म शतक)—इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ **सप्तपदार्थी** है जिसमें वैशेषिक सिद्धान्तों का नैयायिक सिद्धान्तों के साथ मनोरम समन्वय किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना १२ वीं शताब्दी में पहले हुई, क्योंकि श्रीहर्ष ने खण्डनखण्डखान में इनके प्रमावक्षण का खण्डन किया है^१। इन्होंने उदयन की किरणावली का पर्याप्त उपयोग सप्तपदार्थी में किया है, उदाहरणार्थ जाति तथा तम का लक्षण। इन्होंने अभाव का सप्तम पदार्थ रूप में वर्णन किया है। सप्त पदार्थों के अतिरिक्त **लक्षणमाला** इनका एक अन्य वैशेषिक विषयक ग्रन्थ है।

शंकरमिश्र (१५ वीं शतक)—ये दरभंगा के पास 'मग्गिय' गाँव

^१ नेतु नावा 'नवानुभूतिः प्रभा अयुक्तम्—(खण्डन)। इसकी टीका करने समय शंकरमिश्र ने ये न्यायचार्य (शिवादित्य) के 'लक्षणमाला' ग्रन्थ का बतलाया है।

के रहने वाले थे जहाँ इनकी स्थापित सिद्धेश्वरी का मन्दिर आज भी विद्यमान है। इनके पिता मीमामसा, व्याकरणार्थ अनेक शास्त्रों निष्णात, 'अयार्चा' मिश्र के नाम से लब्धप्रतिष्ठ भवनाथमिश्र थे तथा माता का नाम भवना था। इनके पितृव्य जीवनाथमिश्र भी वंश भारी प्रसिद्ध थे। ये अपने समय के एक असाधारण प्रतिभागम्न दार्शनिक माने जाते थे। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थः—(१) उपस्कार—(कणादसूत्रों का टीका), (२) कणादग्रहस्य—(प्रशस्नवादभाष्य की व्याख्या कहे जाने पर भी स्वतन्त्र ग्रन्थ), (३) आमोद—(न्यायकुमुदाञ्जलि की व्याख्या), (४) कल्पलता—(आत्मतत्त्व विवेक की टीका), (५) आनन्दवर्धन—(श्रीहर्ष के खण्डनखण्ड ख्याय की टीका), (६) कटाक्ष—(न्यायलालावर्ती की व्याख्या), (७) मयूख—(चिन्तामणि का टीका (उपस्कार तथा वादि विनोद में उल्लिखित) (८) वादि विनोद—(वादविषयक मौलिक ग्रन्थ), (९) भेदस्तनप्रकाश—(न्याय वैशेषिक के द्वैतसिद्धान्त का प्रतिपादक, खण्डन ग्रन्थ का खण्डन करने वाला मौलिक ग्रन्थ)।

विश्वनाथ न्यायप्रज्ञानन (१७ वीं शतक)—ये बंगाल में नव्य न्याय के संस्थापक तथा ग्युनाथ शिरोमणि जैसे विद्वानों के विद्यागुरु वापुदेव सार्वभौम के अनुज रत्नाकर विद्यावाचस्पतिके पौत्र थे। इनके पिता काशीनाथ विद्यानिवास एक लब्धकीर्ति दार्शनिक थे जो अकबर के अर्थसाचव डायरमल के यहाँ श्राद्ध के उपलक्ष से सञ्चित सभा में नव-द्वितीय प्रसिद्धमण्डला के प्रतिनिधि थे। इनके न्याय-वैशेषिक-विषयक दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैंः—

(१) **भाषापरिच्छेद**—१६८ कारिकाओं में वैशेषिक सिद्धान्तों का सूचारु वर्णन किया गया है। अपने प्रियपान राजीव के उपकारार्थ ग्रन्थकार ने ही इस पर न्याय-सिद्धान्त-मुक्तावली टीका बनाई। विषय प्रतिपादन का शैली इतनी मनोरम है कि यह तर्कमग्न के अनन्तर सबसे

अधिक लोकप्रिय प्रकरण-ग्रन्थ है। इसके ऊपर बालकृष्ण भारद्वाज के पुत्र महादेव भट्ट भारद्वाज ने 'मुक्तावली प्रकाश' नामक टीका लिखना आरम्भ किया जिसे उनके पुत्र दिनकर भट्ट ने पूरा किया। 'दिनकर' के नाम से विख्यात इस व्याख्या पर रामरुद्र भट्टाचार्य ने 'दिनकरांतरंगिणी' अथवा 'रामरुद्री' नामक विद्वत्तापूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ की रचना की है।

(२) न्यायसूत्रवृत्ति—इसमें न्याय सूत्रों की सरल व्याख्या शिरोमणि के व्याख्यान के अनुसार की गई है। वृद्धावस्था में वृन्दावन में निवास करते समय विज्जनाथ ने इस वृत्ति का निर्माण १५५३ शक (१६३१ ई०) में किया।

अन्नभट्ट—(१७वीं शताब्दी का उत्तरार्ध) इनका सुप्रसिद्ध 'तर्कसंग्रह' लोकप्रियता में अद्वितीय है। यह तार्किक तर्कों की जानकारी के लिए सबसे पहला, सरल तथा बोधगम्य ग्रन्थ है। अन्नभट्ट तैत्तिरीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम अद्वैतविद्याचार्य तिरुमल था। काशी आकर इन्होंने विद्यासम्पादन किया था। इस घटना की सूचना 'काशी-गमनमात्रेण नान्नभट्टयायते द्विजः' इस प्रसिद्ध लोकोक्ति से हमें लग सकती है। इनकी ख्याति तर्कसंग्रह तथा दीपिका के कारण है, परन्तु इन्होंने अन्य शास्त्रों पर भी प्रामाणिक टीकाएँ लिखी हैं—(१) राणको-जीवनी (न्यायसूत्र की बृहत्काय टीका—मीमामसा), (२) ब्रह्मसूत्र-व्याख्या (वेदान्त), (३) अष्टाध्यायी टीका, (४) उद्योतन (कैयट-प्रदीप का व्याख्यान), (५) सिद्धाञ्जन (जयदेव के 'मध्यालोक' का टीका)। तर्कसंग्रह के ऊपर २५ व्याख्याग्रन्थों की तथा दीपिका के ऊपर १० व्याख्यानों—प्रकाशित तथा अलिखित—की उपलब्धि से ग्रन्थ के महत्त्व का पता चलता है। इन टीकाओं में गोवर्धन मिश्र की न्याय-बोधिनी, श्री कृष्णधूर्जटि दीक्षित का सिद्धाञ्जन, चन्द्रजसिंह का

पदवृत्त्य, नीलकण्ठभट्ट की नीलकण्ठी तथा तदात्मज लक्ष्मीनृसिंह की भास्करोदया अत्यन्त प्रसिद्ध तथा विद्वत्प्रामाण्यित है ।

(२) वैशेषिक तत्त्वमीमांसा

वैशेषिक लोग जगत् के वस्तुओं के लिए 'पदार्थ' शब्द का व्यवहार करते हैं । 'पदार्थ' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—पदस्य अर्थः=पदार्थः । 'अर्थ' से तात्पर्य उस वस्तु से है जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं (ऋच्छन्ती-न्द्रियाणि यं सोऽर्थः) अतः पदार्थ का अर्थ है अभिधेय वस्तु, किसी नाम को धारण करनेवाली चीज । प्रमिति (ज्ञान) का विषय होना भी पदार्थ का लक्षण है । अतः ज्ञेयत्व (ज्ञान विषय होने की योग्यता रखना) तथा अभिधेयत्व (नाम की योग्यता रखना) पदार्थ का सामान्य लक्षण है^१ ।

सूत्रों में ६ पदार्थों के ही नाम उपलब्ध होते हैं । ऋणाद ने अभाव का भी वर्णन किया है अवश्य, पर सत्तात्मक पदार्थों का वर्गीकरण

अभीष्ट होने से उन्होंने अभाव का पदार्थत्व स्वीकार नहीं किया है । अभाव को पदार्थों की गणना में पीछे पड़ा गया । चन्द्र नामक किसी प्राचीन वैशेषिक आचार्य ने पदभाव पदार्थों से अतिरिक्त शक्ति, अशक्ति, सामान्यविशेष तथा अभाव पदार्थों की नवीन कल्पना कर पदार्थों की संख्या दस बतलाई है^२ । इनमें अभाव की गणना पदार्थों में पीछे भीकृत की गई । सामान्य-विशेष में नवीनत्व की सम्भावना नहीं थी । शक्ति के पदार्थत्व की कल्पना मीमांसकों ने माना है । प्रातन्धक वस्तु की उपस्थिति में वस्तु की शक्ति का सर्वथा निरोभाव ही गोचर होता है, पर उसके अभाव में वह शक्ति प्रकट हो जाता है । मणिविशेष के सान्निध्य में अग्नि की

१ प्रमितिविषयाः पदार्थाः—रत्नप्रदान (पृ० २) अभिधेयत्व पदार्थसामान्य-लक्षणम्—नर्कदीपिका (पृ० २) ।

२ देखिये डा० उई—वैशेषिक फिलॉसफी ।

दाहिका शक्ति का विरोधाव प्रत्यक्ष-सिद्ध है तथा उसकी अनुपस्थिति में वह शक्ति प्रकट हो जाती है। इस लोकव्यवहार के दृष्टान्त पर शक्ति का समामेक गण एक नवीन पदार्थ मानते हैं, पर वैशेषिकों का यह अनीष्ट नहीं है। वे लोग कारणसामग्री की समग्रता में प्रतिबन्धकाभाव को भी कारण ठहराते हैं, अतः शक्ति की पृथक् पदार्थ कल्पना प्रमाणरुःसर नष्ट है। इसी प्रकार 'सादृश्य' का भी खण्डन किया गया है।

पदार्थ दो प्रकार के होते हैं—(१) भावपदार्थ (२) अभावपदार्थ। भावपदार्थों के छः भेद माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष तथा समवाय। अभाव चार प्रकार का माना जाता है प्रागभाव, प्रध्व-साभाव, अत्यन्ताभाव तथा अन्योन्याभाव। इन पदार्थों का क्रमशः सञ्चित वर्णन यथा प्रस्तुत किया जाता है।

द्रव्य

कार्य के समवाया कारण और गुण तथा कर्म के आश्रयभूत पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं^१।

द्रव्य वैशेषिकों के मतानुसार नौ हैं—पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिग्, आत्मा और मन। लोक प्रत्यक्ष के आधार पर तम में नालम्ब तथा असम्पत्तक कर्म की मता मानकर तम को भाट्ट समामेक द्रव्य अथवा गुण मानते हैं^२। पर वैशेषिक आचार्यों ने इसका खण्डन प्रमाणरुःसर किया है। आलोक की सहायता से चक्षु रूप-

१ मानमेयोदय पृ० २५८-२६०। भाट्ट आदिभिरनेय-समवायः (पृ० १७) मुद्रितः। का० २।

२ पृ० ५-६। भाट्टाचार्य समामेक पदार्थानि द्रव्यलक्षणम् (पृ० ११।१५) तथा समवायः (पृ० २१)।

३ मानमेयोदय पृ० १५९-१६३।

सम्पन्न द्रव्यो का ग्राहक माना जाता है, पर अन्धकार के प्रत्यक्षीकरण में प्रकाश को सहायता तनिक भी अपेक्षित नहीं होती। अपसरण की क्रिया भी औपाधिक है—प्रकाश के आगमनपर अवलम्बित है। अतः नीलरूप तथा चलनक्रिया दोनों औपाधिक होने से तम में द्रव्यत्व की कल्पना प्रमाणमिद्ध नहीं मानी जा सकती। अतः यह तम तेजःसामान्य का अभाव मात्र है। न यायिको तथा वैशेषिको की अन्धकार के विषय में यही निश्चयात्मक धारणा है। पर श्रीवराचार्य इस मत से सहमत नहीं हैं। न्यायकन्दली में उन्होंने अपने इस स्वतन्त्र मत का वर्णन किया है। उनका कहना है कि किसी वस्तु पर आरोपित नील वर्ण के अतिरिक्त अन्धकार कोई भिन्न वस्तु नहीं है। अतः वे तम को गुण के अन्तर्गत मानते हैं। उदयनाचार्य ने इस मत का खण्डन कर प्रकाशसामान्याभाव को स्वीकृत किया है (किरणा० पृ० ११२)। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन समग्र (पृ० ९०) में प्रकाशक सामान्य के एकदेशीय मत का उल्लेख किया है जिसके अनुसार अन्धकार आलोक ज्ञान का अभाव रूप है, न कि आलोक-सामान्य का। इस प्रकार तम के स्वरूप के विषय में वैशेषिकों ने खूब विवेचना की है। उदयन से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पाँचे होने वाले, खण्डनखण्डन्याय के रचयिता दार्शनिक शिरोमणि श्री-हर्ष इन मतवादों में पूर्ण परिचित थे। अतः उन्होंने औक्कदर्शन को नग-स्वरूप निर्णय में नितान्त समर्थ बतलाते हुए कवित्व तथा दार्शनिकत्व दोनों का मनोरम सामञ्जस्य उपस्थित किया है—

ध्वान्तस्य वामारु विचाराणाया वैशेषिकं चारु मत मत मे ।

औक्कमाहुः खलु दर्शनतत्त्वमं तमस्तन्वनिष्पणाय । नैपथ २२।३६।

पृथिवी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश इन पाँचों को महाभूत कहते हैं। पृथ्वी का विशेष गुण ग्रन्थ है। अन्य द्रव्यों में होने वाले कतिपय सामान्य गुण भी पृथ्वी में पाये जाते हैं जैसे रूप, रस, स्पर्श, सख्या आदि। पृथ्वी दो प्रकार की होती है—नित्य तथा अनित्य। समस्त

पार्थिव पदार्थों की उत्पत्ति अत्यन्त सूक्ष्म, अविभाज्य रूप परमाणुओं से होती है। अतः कारणभूत परमाणु में रहने वाली पृथ्वी नित्य है, पर कार्यरूप से विद्यमान पृथ्वी अनित्य है। अनित्य पृथ्वी तीन रूपों का धारण करती है—शरीर, इन्द्रिय तथा विषय। शीत स्पर्श विशिष्ट द्रव्य को 'जल' तथा उष्णस्पर्श विशिष्ट द्रव्य को 'तेज' कहते हैं। नित्यानित्य भेद से पृथ्वी के समान ये भी दो प्रकार के होते हैं। शरीर इन्द्रिय विषयजन्य भेद इनमें भी उसी प्रकार रहता है।

रूप से रहित तथा स्पर्श से युक्त द्रव्य को 'वायु' कहते हैं। रूप-रहित होने से वह प्रथम तीन द्रव्यों से भिन्न हो जाता है तथा स्पर्श-विशिष्ट होने से वह आकाशादि अग्निम पञ्च द्रव्यों से पृथक् रहता है। वायु प्रत्यक्ष होता है या नहीं? इस प्रश्न को लेकर प्राचीन तथा नवीन नैयायिकों में गहरा मतभेद है। प्राचीन नैयायिक वायु को चाक्षुष प्रत्यक्ष न मान कर अनुमान से सिद्ध मानते हैं^१, पर नव्य नैयायिक वायु का प्रत्यक्ष स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं। प्राचीन नैयायिक गण उद्भूत रूप को प्रत्यक्ष के लिए प्रधान साधन बतलाते हैं^२। इसका कारण यह है कि उनकी सम्मति में 'प्रत्यक्ष' शब्द चाक्षुष-प्रत्यक्ष के सीमित अर्थ में व्यवहृत किया जाता है। इस कल्पना के कारण रूपरहित वायु का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना मुतग अमिद्ध है। पर नव्यनैयायिक इस वहिर्द्रव्यप्रत्यक्ष को चाक्षुषप्रत्यक्ष के ऊपर ही अवलम्बित होने की कल्पना को कथमपि स्वीकार नहीं करते। उनकी सम्मति में बाह्य प्रत्यक्ष के लिए उद्भूत रूपके समान ही उद्भूत स्पर्श भी कारण है^३। वायु में अनुष्णा-

१ सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त। रूपस्पर्शरामावा। वायोरनुपलब्धि—वे० मृ० ४।१।७ तथा प्रशस्नापादभाष्य पृ० १९।

२ उद्भूतरूप नयनस्य गोचरः—भाषापरिच्छेद कारिका ५४।

३ तस्मात् प्रभा पश्यामानिवत् वायु गृह्यामिति प्रत्ययस्य सभवाद् वायोऽपि प्रत्यक्षः सभवत्येव—मुत्तावली (का० ४६)

नीति उद्भूत स्पर्श की सत्ता विद्यमान होने से उसे प्रत्यक्ष न मानना न्याय-
विरुद्ध होगा। 'आकाश' अन्तिम भूत-द्रव्य है, जिसका विशेष गुण शब्द
है। शब्द के अधिकरण होने से आकाश की सिद्धि मानी जाती है
प्रत्यक्ष के द्वारा नहीं, प्रत्युत अनुमान के द्वारा। परन्तु भाट्ट सीमासकों
के मत से आकाश का प्रत्यक्ष होता है (मानमयोदय पृ० १८८) 'काल'
—पृथिवी आदि द्रव्यों के समान काल भी एक पृथक् द्रव्य है। यह
कालिक ज्येष्ठत्व और कनिष्ठत्व के द्वारा एवं वस्तु-द्वय की एककालता,
भिन्नकालता, दोर्घकालता तथा अव्यकालता के द्वारा सिद्ध होता है।
इसके गुण सख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग हैं। यह
वस्तुतः एक है पर उपाधिभेद से नाना है। 'दिक्'—पूर्व, पश्चिम,
उत्तर और दक्षिण आदि लोक व्यवहार का कारण दिक् है। काल के
समस्त गुण दिक् में ही विद्यमान हैं। दिक् एक और नित्य है परन्तु
उपाधि भेद से नाना है।

आत्मा

आत्मा नित्य द्रव्य है जिसमें बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,
धर्माधर्म, मस्कार आदि गुण निवास करते हैं। वह शरीर तथा इन्द्रियो से
पृथक् होकर एक स्वतन्त्र सत्ता धारण करनेवाला
आत्मा के इन्द्रियात्मक होने का स्वप्न द्रव्य है। आत्मा इन्द्रियो से सर्वथा भिन्न है। कभी
हम एक वस्तु को अपनी आँखों से देखते हैं तथा
सूचिकर होने पर उसे अपने हाथ से छूते हैं। इस प्रक्रिया में हमारा
ज्ञान यही रहता है कि वस्तु एक ही है। जिसे हम आँखों से देखते हैं उसे
ही हम हाथ से छूते हैं। इन्द्रियद्वय-साध्य इस अनुभव में यदि आत्मा
इन्द्रियरूप ही होता, तो वस्तु की प्रत्यभिज्ञा (पटनान) कैसे सिद्ध
की जाती (न्या० सू० ३।१।१-३) ? दाहिने हाथ से स्पृष्ट पदार्थ को
बाएँ हाथ से स्पर्श करने पर उसकी एकत्वभावना का निरास नहीं होता

(न्या० सू० ३।१।७) । एक इन्द्रिय का प्रभाव दूसरी इन्द्रियों पर पड़ा करता है । वृक्ष में लटकते हुए पके आमों को देखते हैं और, पर उसका प्रभाव पड़ता है जीभ पर, क्योंकि जीभ से पानी टपकने लगता है । यदि आत्मा इन्द्रियात्मक ही होता, तो जीभ से पानी टपकने को हम किसी प्रकार सिद्ध नहीं कर सकते । पानी टपकने का कारण यही हो सकता है कि पके आम को देखते वाले व्यक्ति को पूर्व काल में आम्बादित आम के स्वाद का स्मरण हो आता है (न्या० सू० ३।१।१२) । अतः फलों के द्रव्य तथा स्वाद के स्मरणकर्ता को एक होना न्याय-मगत है । पर इन्द्रिय में नैतन्य मानने से इस घटना का समुचित व्याख्या नहीं हो सकती, क्योंकि अन्य-दृष्ट वस्तु को दूसरा स्मरण नहीं करता । इन्द्रिय को आत्मा स्वीकार करने पर उनके उदघात होने पर स्मृति की व्यवस्था हो नहीं सकती । अनुभव तथा स्मरण समानाधिकरणरूप में ही विद्यमान रहते हैं । जो अनुभव का कर्ता है, स्मरण का भी कर्ता वही हो सकता है । ऐसी वस्तुस्थिति में चाक्षप प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत पदार्थ का चक्षु के नाश होने पर स्मरण न होना चाहिए । पर लोकानुभव हमसे नितान्त विपरीत है । अतः इन्द्रिया को आत्मा मानना नितान्त अभिद्ध है^१ । कर्ता तथा कर्ण की भिन्नता अनुभवमिद्ध है । लेखन का साधन (लेखनी) तथा लेखन का का (लेखक) दोनों भिन्न भिन्न व्यक्ति हैं । इसी प्रकार अनुभव के कर्ता (आत्मा) तथा अनुभव के साधन (इन्द्रिया) की भिन्नता ही प्रमाण सिद्ध है, अभिन्नता नही ।

नित्य मन को भी आत्मा मानने में विप्रतिपत्ति ही है । अणुरूप होने के कारण मन का प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष में महत्व कारण माना जाता है । ऐसी दशा में मन को ही यदि आत्मा मान लिया जायगा, तो उसमें विद्यमान सुखदुःख इच्छा आदि की भी अप्रत्यक्षता होने लगेगी । पर अनुभव से विरुद्ध

होने से इसे मिथ्यान्त मानना अन्याय होगा। इस प्रकार शरीर, इन्द्रिय तथा मन—इन तीनों से पृथक् चैतन्याधिष्ठित द्रव्य की ही आत्मा मजा है।

आत्मा को शरीरात्मक मानने वाले चार्वाकि लोकानुभव को निश्चित रूप में संमत्ता नहीं सकते। मयोजात शिष्ट के कार्यकलाप पर दृष्टि डालिए। उत्पन्न होने के कतिपय दिनों के अनन्तर शिष्ट चिल्लोने पर लेटा हुआ हँसने लगता है। हँसना प्रसन्नता के कारण ही होता है, पर उसके कतिपय दिनों के जीवन में हर्षोत्साहक घटना का अभाव ही होता है। अतः वह जन्मान्तरीय अनुभूत प्रसन्नता की घटनाओं को स्मृति के बल से स्मरण किया करता है और उसी स्मरण के बल पर यह हँसता है। यही व्याख्या तर्कमंगत प्रतीत होता है। पर यह व्याख्या आत्मा का शरीररूप होने पर निष्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव के कर्ता शरीर के नाश होने पर ही यह नया शरीर बालक को प्राप्त हुआ है^१ (न्या० सू० ३।१।१९)। बालक की दुग्धपान की प्रवृत्ति भी आत्मा को शरीररूप मानने पर सिद्ध नहीं हो सकती। प्रवृत्ति में दृष्टमाधनताजान कारण होता है। वह अनुभव के अभाव में इस जन्म का न होकर जन्मान्तरीय ही होता है^२ (न्या० सू० ३।१।२२)। मनुष्यों की अवस्था तथा स्वभाव में पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। क्यों ? पूर्व जन्म में किये गये कर्मों के कारण। ऐसी अवस्था में पूर्व जन्म में कर्म करने वाले तथा इस जन्म में तदनु-रूप फल भोगने वाले व्यक्ति की एकता माननी ही पड़ती है (न्या०

१ तस्मान्मुग्धविकासस्य हर्षो, हर्षस्य च स्मृतिः ।

स्मृतेरनुभवो हेतु म च जन्मान्तरे शिशोः ॥—न्या० म० (पृ० ४७०) ।

२ द्रष्टव्य वै० सू० ३।२।४ तथा उसका उपस्कार, प्र० पा० भा० पृ० १२-३४, न्यायकान्दली पृ० ७१-८८ ।

म० पृ० ४७१) । इन प्रमाणा से यशो मिद्ध होता है कि आत्मा शरीर से भी पृथक् है तथा नित्य है ।

वेदान्त आत्मा को एक मानता है, पर न्याय लोक-व्यवहार के अनु-रोध पर आत्मा को **अनेक** मानता है । इच्छा, शृंग, प्रवृत्ति तथा ज्ञान आदि की विभिन्नता के कारण आत्मा की अनेकता मिद्ध होती है ।

अब आत्मा के अनुभव पर विचार करना है । इस विषय को लेकर प्राचीन तथा नव्य नैयायिकों में मतभेद सा दीख पड़ता है । वात्स्यायन का स्पष्ट मत है कि आत्मा अनुमान का विषय है आत्मा की अनुमेयता—
प्राचीन मत तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि इस अनुमान के लिंग है (१।१।१० पर न्याय भाष्य) । किसी सुख देने

वाली वस्तु को पाने की इच्छा, दुःख देने वाली वस्तु से द्वेष जिसमें उत्पन्न हुआ करता है वही आत्मा है । इस प्रकार प्राचीन नैयायिक आत्मा को अनुमेय मानते हैं, परन्तु पिछले नैयायिकों ने आत्मा को प्रत्यक्ष का विषय माना है तथा उसके प्रत्यक्ष के लिए एक पृथक् अन्तर्गन्धिय (मन) स्वीकार

किया है । इस मानस प्रत्यक्ष में भी मतभेद है । कोई नैयायिक आत्मा का मन के साथ सम्पर्क होने पर 'अहमस्मि' (मैं हूँ) अहप्रत्यय रूप में शुद्ध चैतन्यरूप में उसका अनुभव वतलाते हैं, परन्तु अन्य नैयायिक शुद्ध चैतन्यरूप को प्रत्यक्ष का अविषय मान कर 'मैं जानता हूँ' 'मैं सुखी हूँ'

इत्यादि परामर्श वाक्यों में प्रकटित, प्रत्येक ज्ञान में दोनों का समन्वय-
जयन्त भट्ट ज्ञातारूप से आत्मा को प्रत्यक्षमिद्ध स्वीकार करते हैं ।

आत्म-प्रत्यक्ष के साधन भूत मन के इन्द्रियत्व विषय में नाना मत हैं । इन दोनों मतों का समन्वय जयन्तभट्ट ने यह कहकर दिखलाया है कि आत्मा के मानस प्रत्यक्ष मानने पर भी उसे अनुमेय मानना ही युक्तिसंगत है^१ ।

१ अनुमेयत्वमेवास्तु लिङ्गेनेच्छादिनाऽऽत्मनः । न्या० म० पृ० ४३४ ।

अहं-प्रत्यय रूप से आत्मा का प्रत्यक्ष अनुभव महर्षि कणाद को भी सम्भव है। आत्मा न तो आगमिक है, न अनुमेय, अपितु प्रत्यक्षगम्य है^१। अनुमान के आश्रय लेने का अभिप्राय शरागादि में आत्म-बुद्धि माननेवाले सन्देहवादियों का निराकरण मात्र है। इसी अभिप्राय से शरीर में प्राण अग्न की मत्ता, निमेष, उन्मेष, जीवन कार्य आदि को कणाद ने आत्मसिद्धि में लिंग बतलाया है। प्रशस्तपाद ने अपने भाष्य में (पृ० ३०-३५) अनेक प्रबल युक्तियों के सहारे आत्मा की सिद्धि विस्तार से दिखलाई है।

मन

आत्मा इन्द्रियों के द्वारा ही विषयों के अनुभव करने में समर्थ होता है। बाह्य विषय के ज्ञान के लिए वह वहिरिन्द्रियों की सहायता लेता है। उसी प्रकार भग्न दुःख आदि आन्तरिक अर्थ की उपलब्धि के लिए भी उसे किसी अन्तरिन्द्रिय की आवश्यकता बनी हुई है। वह उपलब्धि-साधन मन इन्द्रिय है^२। बाह्येन्द्रियों के द्वारा ज्ञानप्राप्ति में भी मन को सहायता अपेक्षित रहती है।

मन प्रतिशरीर में भिन्न होने से अनेक, क्रियाकारिता रखने से मूर्त तथा अणुरिणाम माना जाता है। ठाकानुभव मन के अणुत्व सिद्ध करने में प्रधान साधन है। पुष्पाधिका में बैठनेवाला पुरुष नेत्रों से फूलों का शोभा को देखता है, कान से ग्रामोफोन का रेकार्ड सुनता है तथा अपने हाथों से सामने पड़े टेबुल की चिकनाहट को स्पर्श द्वारा जानता है। इस प्रकार तीन इन्द्रियों के द्वारा तीन विषयों का ज्ञान उसे हो रहा है। पर वे एककालावच्छिन्न नहीं होकर क्रमानुसार एक के बाद एक

१ अहमिति शब्दस्य व्यतिरेकागमिकम् । वै० सू० ३।२९ ।

२ द्रष्टव्य प० पा० भा० पृ० २७, न्या० क० ९०-९३, सप्तपदार्थ (पृ० ८२) मु ता० (कारिका ८५), तर्कसंग्रह (मनः प्रकरण) ।

होते हैं। ज्ञान की क्रमानुसारिता मन के अणुत्व की सिद्धि करने में पर्याप्त साधन मानी जाती है^१। यदि मन में विभुत्व होता, तो वह एक काल में इन तीनों इन्द्रियों के साथ संयुक्त हो जाता तथा तथा इन तीनों विभिन्न विषयों का तीनों इन्द्रियों के द्वारा एककालावच्छिन्न अनुभव प्राप्त होता। पर लोक में ऐसे अनुभव का अभाव है जो मन में विभुत्व के अभाव का सूचक है। जिस इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होगा, उस क्षण में उसके द्वारा तदवस्था विषय का ही अनुभव प्राप्त हो सकेगा। अतः मनु का अणुत्व प्रमाणप्रतिपन्न है।

गुण द्रव्य में आश्रित रहते हैं और स्वयं गुण या त्रिषा में रहित होते हैं। गुण तथा द्रव्य का अन्तर यह है कि द्रव्य गुण का आश्रय होता है, परन्तु गुण गुण का आश्रय नहीं होता है।

२. गु.

कर्म संयोग-विभाग के प्रति कारण है, परन्तु सत्कारण न गुण का 'संयोगविभागे-प्रकारण' (वै० सू० १।१।१६) ब्रह्माकार कर्म से भिन्न अगीकृत किया है^२। कर्म क्षणिक होता है; परन्तु गुण द्रव्य में उस समय तक वह अवश्य रहता है, जब तक वह द्रव्य रहता है या जब तक किसी विरोधा गुण की उत्पत्ति नहीं हो जाती।

कणाद ने सूत्रों (वै० सू० १।१।६) में इन १७ गुणों का ही नामो-लेख किया है—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अणुत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न। प्रशस्तपाद ने अन्य ६ गुणों का वर्णन अपने भाष्य में अधिक किया है (प्र० पा० भा० पृ० ३५)—गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार,

१ साक्षात्कार गुणादीनां कारण मन उच्यते

अथ गणयान् ज्ञानानां । १०, ११, १२, १३—भाष्यार्थ-लेख का० ८५ ।

२ द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेऽप्यकारणमनपेक्षं ततः गुणलक्षणम् । वै० सू० १।१।१६, प्र० पा० भा० पृ० ३८, मुक्तानां का० ८६ ।

अदृष्ट तथा शब्द । इन गुणों में धर्म तथा अधर्म भेद से अदृष्ट दो प्रकार का माना जाता है । इस प्रकार कणाद-निर्दिष्ट १७ तथा प्रशस्तपाद-उल्लिखित ७ मिला कर गुणों की संख्या २४ मानी जाती है^१ ।

गुणों के विषय में नैयायिकों और वैशेषिकों में कई सिद्धान्तगत विभेद हैं -

(१) पाकजोत्पत्ति - नैयायिकों का सिद्धान्त है कि घड़े को आग में डालने पर घड़े का नाश नहीं होता, प्रत्युत छिद्रों से होकर गर्मी परमाणुओं के रंग को बदल देती है । अतः घड़े का पाक होता है परमाणुओं का नहीं । इसका नाम 'पिंडर पाक' मत है, परन्तु वैशेषिकों के मत से अग्नि-व्यापार से परमाणु अलग अलग हो जाते हैं तथा पक कर लाल होकर वे ही द्व्यणुकादि क्रम से पुनः घटोत्पत्ति करते हैं । इसका मंज 'पीलु (अणु) पाक' है । पीलु पाकवाद पर वैशेषिकों का बड़ा आग्रह है (मुक्ता० का० १०५, न्या० मं० पृ० ११-१२)

(२) द्वित्वसंख्या--द्वित्व संख्या वैशेषिकों के मत से 'अपेक्षा बुद्धि-जन्य' है, पर नैयायिकों के कथनानुसार 'अपेक्षाबुद्धि-ज्ञाप्य' है । अनेक एकत्व की बुद्धि को अपेक्षाबुद्धि कहते हैं (अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षा-बुद्धिरिष्यते, भा० पा० का० १०८) वैशेषिक लोग अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व संख्या को उत्पन्न मानते हैं, परन्तु नैयायिक लोग केवल ज्ञाप्य मानते हैं । वैशेषिकों के मत में नाना एकत्वों से द्वित्व की कल्पना स्वतन्त्र है । द्वित्व एक स्वतन्त्र वस्तु है । अपेक्षाबुद्धि से इसकी पृथक् उत्पत्ति होती है, परन्तु न्यायमत में एकत्व की कल्पना के भीतर ही द्वित्व की कल्पना अन्तर्निहिता है । अतः अपेक्षा बुद्धि के उसकी अभिव्यक्तिमात्र होती है । कार्य होने से द्वित्वसंख्या अनित्य होती है ।

१ इनके लक्षण तथा विवेचन के लिए द्रष्टव्य प्रशस्तपाद-भाष्य पृ० ३८-१४६, भाषापरिच्छेद का०--८६-१६८ ।

(३) विभागजविभाग-वैशेषिक लोग विभागजन्य विभाग मानते हैं । जैसे हस्त-वृक्ष विभाग से शरीर-वृक्ष का विभाग । नैयायिकों को यह विभाग सम्मत नहीं है । इन्हीं मतभेदों का निर्देश एक प्राचीन लोक में किया गया है—

द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे ।

यस्य न स्वलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः ॥

गुण के समान ही **कर्म** द्रव्य में आश्रित रहने वाला धर्म है^१ । द्रव्य कर्म का आश्रय हो सकता है पर कर्म द्रव्य का आश्रित धर्मविशेष है ।

(३) कर्म कर्म गुण से भी भिन्न है । गुण द्रव्य का सिद्ध धर्म है, अर्थात् वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर चुका है,

पर कर्म अभी साध्यावस्था में है । उसके स्वरूप का अन्तिम निश्चय नहीं हो सका है । यह वस्तुओं के संयोग तथा विभाग का स्वतन्त्र कारण है । कर्म की मूर्त द्रव्यों में ही वृत्ति रहती है । अल्प-परिमाण वाले द्रव्य ही 'मूर्त' माने जाते हैं^२ । उन्हीं की मूर्ति की सम्भावना है पर व्यापी विभु द्रव्य मूर्त नहीं हो सकते^३ । इस प्रकार पृथ्वी, जल, तेज, वायु तथा मन—इन्हीं मूर्त द्रव्यपञ्चक में कर्म की वृत्ति रहती है । विभु द्रव्य—जैसे आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा—में कर्म की कथमपि सम्भावना नहीं है ।

कर्म पाँच प्रकार का माना जाता है—(१) उत्क्षेपण (ऊपर फेंकना) (२) अपक्षेपण (नीचे फेंकना), (३) आकुञ्चन (सिकोड़ना), (४) प्रसारण (फैलाना) अवयवों में सान्निध्य नष्ट होकर विप्रकृष्टता आना । अन्तिम (५) कर्म का नाम गमन है ।

१ द्रष्टव्य वै० सू० १।१।१७, प्र० पा० भा० पृ० १४७, भाषापरिच्छेद (का० ५, ६), तर्कसंग्रह पृ० ५ ।

२ द्रव्यावच्छिन्नपरिमाणयोगित्वं मूर्तत्वम्—सप्तपदार्थः ।

३ अल्पमूर्तसंयोगिन्य विभुत्वम्—सप्तपदार्थः ।

स्वविषय के सब वस्तुओं में रहने वाला, आत्मस्वरूपानुगम प्रत्यय का उत्पादक, अनुवृत्तिप्रत्यय का कारण सामान्य होता है। सामान्य नित्य, एक तथा अनेक में अनुगत—समवाय सम्बन्ध से सम्बद्ध—रहता है। मनुष्य उत्पन्न हो या मर जाँय, आवें या चले जायें, पर मनुष्यत्व

(४) सामान्य

रूप सामान्य सदा विद्यमान रहता है। अतः इसकी नित्यता प्रमाणप्रतिपन्न है। इस सामान्य की दूसरी सज्ञा 'जाति' भी है। व्यापकता की दृष्टि से सामान्य तीन प्रकार का माना जाता है। 'पर सामान्य'—सबसे अधिक व्यक्तियों में रहने वाली जाति; 'अपर सामान्य'—सबसे कम व्यक्तियों में रहने वाली जाति तथा 'परापर सामान्य'—जो दोनों के बीच में रहने वाला होता है। परसामान्य का दूसरा नाम 'सत्ता' है, क्योंकि इसके भीतर समस्त सामान्यों का अन्तर्भाव हो जाता है; घटत्वं घटमात्र में रहने के कारण अपर सामान्य का उदाहरण है; द्रव्यत्व परापर रूप है, क्योंकि द्रव्यत्व, कर्मत्व तथा गुणत्व में विद्यमान सत्ता की अपेक्षा द्रव्यमात्र में सीमित होने से छोटा—अपर—है, परन्तु घटत्व की अपेक्षा वह कहीं बड़ा है। अतः इन दोनों के बीच में रहने से यह मध्यवर्ती सामान्य का दृष्टान्त माना जाता है।

नैयायिकों के मत से अनेक व्यक्तियों में रहने पर भी कोई धर्म सामान्य या जाति नहीं कहा जा सकता। व्यक्ति की अभिन्नता जाति की प्राधिका है। आकाश के एक व्यक्ति होने से 'ऽऽकाशः' जाति नहीं है। एक ही घट व्यक्ति को घट तथा कलश दो भिन्न नामों से पुकारते हैं। अतः घटत्व तथा कलशत्व दो पृथक्-पृथक् जातियाँ नहीं बन सकतीं। मकीर्ण होने के कारण मूर्तत्व तथा भूतत्व जाति नहीं हो सकते, क्योंकि अकेले मूर्तत्व की मन में तथा भूतत्व की सत्ता आकाश में है; पर पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु इन चारों द्रव्यों में मूर्तत्व तथा भूतत्व दोनों विद्य-

मान हैं। अतः इनका संकर हो जाता है। अनवस्थाभय से सामान्य के ऊपर किसी सामान्य की सत्ता नहीं मानी जा सकती, उसी प्रकार स्वरूप-हानि के भय से न विशेषत्व जाति है और सम्बन्धाभाव के हेतु न समवा-यत्व जाति है। इनको 'उपाधि' के नाम से पुकारते हैं^१। इस प्रकार जाति तथा उपाधि की कल्पना वैशेषिकों की सूक्ष्म विवेचना शक्ति को सूचित करती है।

विशेष की कल्पना सामान्य की कल्पना से ठीक विपरीत पड़ती है। भिन्न भिन्न व्यक्तियों के एक श्रेणीबद्ध होने का कारण यदि सामान्य है,

(५) विशेष तो ठीक इसके उल्टे एक श्रेणी के समानगुण धारण करनेवाले व्यक्तियों के पारस्परिक विभेद की सत्ता सिद्ध करनेवाला पदार्थ 'विशेष' ही है^२। पृथ्वी का एक परमाणु दूसरे परमाणु से भिन्न क्यों कर है? एक आत्मा दूसरे आत्मा से विभिन्न या एक मन दूसरे मन से भिन्न किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? इस पार्थक्य की कल्पना के लिए इन द्रव्यों में विशेष नामक पदार्थ की कल्पना की गई है। विशेष नित्य द्रव्यों—जैसे पृथ्वी, जल, तेज तथा वायु के परमाणु, आकाश, दिक्, काल, आत्मा तथा मन—में निवास करता है। विशेष की सत्ता न मानने पर सब आत्मा एक ही समान होने से उनमें पारस्परिक विशिष्टता का अभाव दृष्टिगोचर होता तथा समस्त मनुष्यों में एक मनुष्यत्व सामान्य की स्थिति होने से व्यक्तित्व की स्थिति असिद्ध ही रहती। इसीलिए सावयव द्रव्यों के लिए नहीं, प्रत्युत नित्य द्रव्यों की पृथक्ता के हेतु 'विशेष' पदार्थ का अंगीकार

१. यत्तेरेरेस्तु-यत् सकारोऽथानवस्थितिः।

रूपहानिरसम्बन्धो जातिबाधकसग्रहः॥—(किरणावली पृ० १६१)।

२. अणुवै० सू० १।२।६, प्र० पा० भा० १६८-१७०, न्या० क० पृ० ३२३-३२४, मुक्ता० (का० १०)।

करना न्यायसंगत है। नित्य द्रव्यों में रहने से विशेष भी नित्य है तथा आश्रयभूत द्रव्यों की अनन्तता होने के कारण विशेष भी अनन्त है। विशेष स्वतांव्यावर्तक होते हैं अर्थात् एक विशेष से दूसरे विशेष का भेदक स्वयं विशेष ही हुआ है, अन्यथा अनवस्था दोष के होने का भय है।

सृष्टिकाल में कार्यवस्तुओं में भेद की उपपत्ति के लिए अणुओं में 'पाकज विशेष' माना जाता है, जो अदृष्ट के समान प्रलय में भी नष्ट नहीं होता^१। नैयायिक आचार्य यह 'पाकज' विशेष नहीं मानते (न्याय भाष्य पृ० ३५२)।

समवाय^२ भावपदार्थों में अन्तिम पदार्थ है। कोई भी वस्तु किसी वस्तु के साथ बिना किसी सम्बन्ध के रह नहीं सकती। वैशेषिकों के

मन्तव्यानुसार सम्बन्ध दो प्रकार का होता है—संयोग
६) समवाय तथा समवाय। संयोग सम्बन्ध उन वस्तुओं में होता है जो संयोग के बिना भी अपनी पृथक् सत्ता धारण कर सकती हैं। यह सम्बन्ध अनित्य होता है; यह कतिपय क्षण तक ही अपनी सत्ता बनाये रहता है। अतः युतसिद्ध वस्तुओं के कतिपय क्षणस्थायी बाह्य सम्बन्ध को संयोग कहते हैं। पर समवाय सम्बन्ध इससे नितान्त भिन्न है। वह वस्तुद्वय में रहनेवाला नित्य सम्बन्ध है। अंगी-अंग में, गुण गुणवान् में, क्रिया-क्रियावान् में, जाति-व्यक्तियों में तथा विशेष-नित्यद्रव्यों में यह निवास करता है। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि समग्र वस्त्र अपने अवयव भूत तन्तुओं में रहता है, लालिमा गुलाब के फूल में, लेखनक्रिया लेखक में, मनुष्यत्व मनुष्य नामधारी व्यक्तियों में तथा विशेष आत्मा तथा परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में निवास करता है। पर इन दोनों का सम्बन्ध समवाय के द्वारा ही सम्पन्न होता है। समवाय की विशेषता है

१ न्याय कुसुमान्जलि बोधनी पृ० ३२।

२ द्रष्टव्य वै० सू० १।१।३, प्र० पा० भा० पृ० १७१-१७५, न्या० क० पृ० ३२५-३२८, सुक्ता० (का० ११)।

इसकी नित्यता । संयोग तो श्रणिक सम्बन्ध है, पर समवाय की दशा ऐसी नहीं है । ऊपर जिन वस्तुयुगलों का वर्णन किया गया है, उनकी पारस्परिक स्थिति के निर्वाह करने के समवाय सम्बन्ध मानना पड़ता है । अतः इन परस्पर नित्य सम्बन्ध (अयुत सिद्ध) वस्तुओं का सम्बन्ध समवाय है । जब तक उक्त पदार्थों की सत्ता बनी हुई है, तब तक इस सम्बन्ध की सत्ता मानी ही जावेगी । 'समवाय' की कल्पना इस न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त के लिए नितान्त आवश्यक तथा उपादेय है, क्योंकि इसी के आधार पर इनके कार्य-कारण के विषय की विशिष्ट कल्पना अवलम्बित है ।

कणाद सूत्रों में तथा भाष्य में पट्ट पदार्थों के वर्णन मिलने के कारण **अभाव** की कल्पना वैशेषिक दर्शन के इतिहास में पीछे के ग्रन्थकारों की अलौकिक मूर्ख है, यह कितने ही आलोचकों की धारणा है । शिवादित्य मिश्र के सप्तपदार्थी ग्रन्थ में अभाव का पदार्थों में वर्णन मिलने से कुछ लोग उन्हें ही इस पदार्थ की प्रथम कल्पना करनेवाला मानते हैं, पर ये सब धारणाएं भ्रान्त हैं । अभाव पदार्थ की कल्पना वैशेषिक सिद्धान्त की पूर्ति के लिए नितान्त आवश्यक है । वास्तववाद के लिए अभाव की सत्ता उतनी ही यथार्थ तथा आवश्यक है, जितनी भाव पदार्थों की । वैशेषिक दर्शन के अनुसार दुःखात्यन्ताभावरूपा मुक्ति के स्वरूप का विवेचन अभाव पदार्थ की कल्पना बिना किये हो नहीं सकता । कणाद ने भी सूत्रों (१।२।१ तथा १।१।३) में अभाव का वर्णन किया है, पर पदार्थ रूप से नहीं । उदयनाचार्य इसे सूत्रकार की त्रुटि या अननुमति मानने के लिए तैयार नहीं हैं । उनका कथन^१ है कि अभाव की कल्पना सूत्रकार को भी अभिमत

१ 'एते च पदार्थाः प्रधानतयोद्दिष्टाः, अभावस्तु स्वरूपवानपि नोद्दिष्टः, प्रतियोगिनि रूपणार्थाननिरूपणत्वात्, न तु तुच्छत्वात्'—किरणावली ।

थी, उन्होंने प्रतियोगी मात्र के वर्णन करने से अभाव को भी पदार्थों में अंगीकार कर लिया है। अतः अभावपदार्थ प्राचीन वैशेषिकों को भी उसी प्रकार मान्य था, जिस प्रकार नवीन वैशेषिकों को। इसलिए अभाव पदार्थ का विवेचन करना नितान्त आवश्यक है^१।

अभाव दो प्रकार का होता है—(१) संसर्गाभाव, (२) अन्योन्याभाव। संसर्गाभाव दो वस्तुओं में होने वाले संसर्ग या सम्बन्ध का निषेध है अर्थात् कोई वस्तु अन्य वस्तु में विद्यमान नहीं है। अन्योन्याभाव का अर्थ होता है कि एक वस्तु दूसरी वस्तु नहीं है अर्थात् दोनों में पारस्परिक भेद है। संसर्गाभाव तीन प्रकार का माना जाता है—(१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव तथा (३) अत्यन्ताभाव। अन्योन्याभाव एक ही प्रकार का होता है। अतः इन दोनों भेदों को मिलाने से अभाव चार प्रकार का होता है। संसर्गाभाव का सामान्य परामर्श वाक्य होगा—‘क ख में नहीं है’ पर अन्योन्याभाव का सामान्य परामर्श वाक्य होगा—‘क ख नहीं है’।

उत्पत्ति के पहले कारण में कार्य के अभाव को प्रागभाव—पहले होनेवाला अभाव—कहते हैं। उत्पत्ति के पीछे कारण में कार्य के होने वाले अभाव को प्रध्वंसाभाव कहते हैं। अतः प्रध्वंसाभाव सादि होते हुए अनन्त माना जाता है। दो वस्तुओं का संसर्ग वर्तमान, भूत तथा भविष्य तीनों काल में अविद्यमान रहने पर अत्यन्ताभाव होता है। कोई भी वस्तु किसी अधिकरण में संसर्ग-विशेष से ही विद्यमान रह सकती है जैसे भूतल पर घट की स्थिति संयोग सम्बन्ध में ही मानी जा सकती है, समवाय सम्बन्ध से नहीं। अतः भूतल पर घट के

१ प्रभाकरभट्ट अभाव को अधिकणात्मक मानकर उसकी पृथक् सत्ता स्वीकार नहीं करते (मानमेयोदय पृ० २९३-२९५)। इस मत का नैयायिकों तथा भाट्टों ने खण्डन कर इसका पृथक् पदार्थता सिद्ध की है। द्रष्टव्य मुक्तावली (का० १२)।

चाक्षुष प्रत्यक्ष होने पर भी 'भूतल पर समवाय सम्बन्ध से घट का अत्यन्ताभाव है' यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है। उसी प्रकार मुरभि मुमन में गन्ध की सत्ता समवाय सम्बन्ध से है, संयोग सम्बन्ध से नहीं। अतः 'इस फूल में संयोग, सम्बन्ध से गन्ध का अत्यन्ताभाव है' इस कथन में पुष्प में सुगन्ध के अनुभव होने पर भी किसी प्रकार की त्रुटि नहीं है। इसे ही अत्यन्ताभाव कहते हैं। जिसका अभाव रहता है, उसे न्याय की दार्शनिक भाषा में 'प्रतियोगी' कहते हैं। इस अत्यन्ताभाव में प्रतियोगिता संसर्गावच्छिन्न होती है अर्थात् किसी मंसर्ग-विशेष का अवलम्बन करके ही किसी वस्तु का अन्य वस्तु में अभाव स्वीकार किया जाता है। प्रागभाव की तरह यह न तो उत्पत्ति से सम्बद्ध है और न प्रध्वंसाभाव की तरह उत्पत्ति के नाश से। अतः अनादि भी है तथा अनन्त भी। एक वस्तु की दूसरी वस्तु से भेद होने पर अन्योन्याभाव होता है। जिस प्रकार 'घट पट नहीं है' इस कथन से घट से पट की भिन्नता के समान पट में घट की भी भिन्नता स्वीकृत की जाती है। घट पट नहीं है और न पट ही घट है। इन दोनों में तादात्म्य सम्बन्ध का अभाव है।

परमाणुवाद

अन्य दार्शनिकों के तरह वैशेषिकों ने भी जगत् के उपादान के विषय में विशेष विचार किया है। वास्तववाद के सिद्धांत के अनुयायी जगदुपादान के विषय दर्शनों ने परमाणु को जगत् का उपादान बतलाया है, क्योंकि उनकी दृष्टि में इसी मूलभूत पदार्थ से इस नानात्मक जगत् की सृष्टि हुई है। पर परमाणु के साथ जगत् का सम्बन्ध एक अभिन्न प्रकार से ही निष्पन्न नहीं होता, प्रत्युत वास्तववाद के समर्थक दर्शनों में इस विषय में गहरा मतभेद है। कार्य को नवीन उत्पन्न द्रव्य अथवा कारण का परिणाम न मानकर कारणों का केवल संघात-मात्र माननेवाले बौद्धों के मत में यह जड़ प्रपञ्च

कर्मनियमित क्षणिक तथा परमाणु पुञ्जरूप—परमाणु से सर्वथा अभिन्न- है (अर्थात् कार्य कारण का परिणाम न होकर तदभिन्न है) । जैनियों के मत में यह जगत् कर्म नियमित स्थिर तथा परमाणुओं (पुद्गलों) का परिणाम (किसी अंश में भिन्न और किसी अंश में अभिन्न=भिन्नाभिन्न) है । प्रभाकर के मत में जगत् कर्मनियमित तथा परमाणु का कार्य (भिन्न) है, पर न्याय वैशेषिक के सिद्धान्तानुसार यह जगत् परमाणु का कार्य (भिन्न) होते हुए कर्म-नियमित न होकर कर्म की सहकारिता से ईश्वर नियमित है ।

अनुभव मार्गी हैं कि चाक्षुष प्रत्यक्ष वाले समस्त पदार्थ अवयव-विशिष्ट होते हैं । प्रत्यक्षानुभूत घट के अवयव कपोल हैं तथा पट के अवयव तन्तु हैं । इन अवयवों के भी अवयवों की तथा उनके भी अवयवों की कल्पना की जा सकती है, पर एक स्थल पर इन अवयवधाराओं को विराम देना ही होगा । यदि अवयवधारा का अवसान न मानकर अनन्त अवयव-परम्परा स्वीकार की जायगी, तो पर्वत तथा राई दोनों के परमाणुओं में तुल्यता होने लगेगी । क्योंकि जिस प्रकार अवयवपरम्परा के अन्त न मानने से पर्वत के अनन्त अवयव होंगे, उसी प्रकार राई के भी अनन्त अवयव होंगे जिनमें नियामक न होने से तुल्यत्वापत्ति होने लगेगी । इस दोष से बचने के लिए अवयवधारा का कहीं न कहीं विराम मानना ही पड़ेगा । जिन अवयवों पर उसका विराम स्वीकार किया जायगा, वे स्वयं अवयव-रहित होंगे तथा स्वयं उपादान होने से नित्य द्रव्य माने जावेंगे । इस प्रकार के सर्वापेक्षया सूक्ष्म, इन्द्रियातीत, निरवयव नित्य द्रव्य को 'परमाणु' कहते हैं । ये परमाणु चार प्रकार के हैं — पार्थिव, जलीय, तैजस तथा वायवीय ।

इन परमाणुओं से जगदुत्पत्ति के प्रकार का वर्णन प्रशस्तपाद ने अपने (पृ० १९-२२) भाष्यमें बड़े सुन्दर ढंग से किया है ।

उत्पत्ति क्रम

परमाणुओं के संयोग से 'द्यणुक' की उत्पत्ति होती है जो अणुपरमाणु विशिष्ट होने से स्वयं अतीन्द्रिय होते हैं। ऐसे तीन द्यणुओं के संयोग से त्र्यणुक (त्रसरेणु या त्रुटि) की उत्पत्ति होती है जो महत्परमाणु से संयुक्त होने से अन्य पदार्थों का उत्पादक तथा इन्द्रियगोचर होता है। घर के छत के छेद से जब सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं, तब उनमें नाचते हुए जो छोटे-छोटे कण नेत्रगोचर होते हैं, वे ही त्रसरेणु हैं^१। त्र्यणुक का महत्त्व द्यणुओं की संख्याके कारण उत्पन्न माना जाता है, न कि उनके अणुपरमाणु से। चार त्रसरेणुओं के योग से चतुरणुक की उत्पत्ति होती है और तदनन्तर जगत् की सृष्टि होती है। प्रत्येक द्रव्य का सृष्टि में इसी क्रम का अनुसरण माना जाता है।

वैशेषिक मत में परमाणु स्वभावतः शान्त अवस्था में निष्पन्द रूप से निवास करते हैं; उनमें प्रथम परिस्पन्द का क्या कारण है? प्राचीन वैशेषिक लोग प्राणियों के धर्माधर्मरूप अदृष्ट को इसका कारण बतलाते हैं। अदृष्ट की दार्शनिक कल्पना बड़ी विलक्षण है। अयस्कान्त मणि की ओर मूर्छ की स्वाभाविक गति^२, वृक्षों के भीतर रस का नीचे से ऊपर चढ़ना^३, अग्नि की लपटों का ऊपर उठना, वायु की तिरछी गति, मन तथा परमाणुओं की आद्य स्पन्दनात्मक क्रिया—अदृष्ट के द्वारा अन्य बतलाई जाती है। पर पीछे के आचार्यों ने अदृष्ट की सहकारिता से ईश्वर की इच्छा से ही परमाणुओं में स्पन्दन तथा तज्जन्य सृष्टि क्रिया मानी है^४। अदृष्ट के स्थान पर महेश्वर की सत्ता कारणभूत

१ जालान्तर्गते भान्ता यत् सूक्ष्म दृश्यते रजः।

तस्य पृष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते ॥

२ मणिगमन सूच्यभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्। वै० सू० ५।१।१५

३ वृक्षाभिसर्पणमित्यदृष्टकारितम्—वै० सू० ५।२।७

४ प्र० पा० भा० पृ० २०, न्या० क० पृ० ५२-५३

मानी गई है। महेश्वर की जगत् के संहार करने की इच्छा उत्पन्न होने पर अदृष्टों का शक्ति-प्रतिबन्ध उत्पन्न हो जाता है। अतः उसका सद्यः फल प्रलय की उत्पत्ति होती है, पर जब प्राणियों के कर्म फलोन्मुख होते हैं और अदृष्ट वृत्तिलाभ करता है, तब महेश्वर की सृष्टि करने की इच्छा से आत्मा तथा परमाणु का संयोग उत्पन्न होता है; उसके कारण परमाणुओं में कर्म की उत्पत्ति होती है और क्रमशः सृष्टि का आविर्भाव होता है।

वैशेषिकों की यह परमाणु-कल्पना स्वप्रतिभोत्पादित सिद्धान्त है। ग्रीक दार्शनिक डिमाक्रिटस के परमाणुवाद से यह सिद्धान्त नितान्त भिन्न है। ग्रीसदेशीय विवेचना के अनुसार परमाणु स्वयं गुणरहित होते हैं, पर उनमें तौल, स्थान, तथा क्रम का अन्तर होता है, पर कणाद के अनुसार परमाणु में विशेष गुण होता है। डिमाक्रिटस तथा एपिक्यूरस ने परमाणुओं को स्वतः गमनशील तथा आत्मा को भी उत्पन्न करने-वाला बतलाया है। वे अनन्त आकाश में विचरण करते हुए पारस्परिक संघर्ष से स्वतः जगत् की सृष्टि करते हैं, क्योंकि ईश्वर के बहिष्कार कर देने से उनका कोई भी सचेतन नियामक विद्यमान नहीं रहता परन्तु वैशेषिक सिद्धान्त इससे नितान्त भिन्न ठहरता है। यहाँ परमाणु स्वभावतः निष्पन्दावस्था में रहते हैं; उनमें स्पन्द का आविर्भाव अदृष्ट के सहकार से ईश्वर की इच्छा से होता है। वे पृथिव्यादिभूत चतुष्टय की ही उत्पत्ति कर सकते हैं, आत्मा स्वयं नित्य द्रव्य है तथा उनके समान ही साथ-साथ स्थिति धारण करता है। दोनों में तात्त्विक विभेद यह है कि ग्रीकसिद्धान्त भौतिकवाद का समर्थक है, पर भारतीय सिद्धान्त आध्यात्मिकवाद का पोषक है। ऐसी दशा में डाक्टर कीथ^१ की भारतीय परमाणुवाद के सिद्धान्त पर ग्रीक प्रभाव की कल्पना नितान्त निर्मूल है।

(४) वैशेषिक ज्ञानमीमांसा

बुद्धिप्रकरण में ज्ञान की मीमांसा प्रशस्तपाद भाष्य में विशेष रूप से की गई है। ज्ञान सामान्यतः दो प्रकार का होता है - (१) विद्या तथा (२) अविद्या। ये दोनों चार-चार प्रकार के होते हैं। **अविद्या** के चार प्रकार हैं—संशय, विपर्यय, अनव्यवसाय और स्वप्न। अनेक प्रसिद्ध विशेषवाले दो पदार्थों में माहृष्यमात्र के दर्शन से और उभयस्थ विशेषों के स्मरण न करने से उभयावलम्बी विमर्श को संशय कहते हैं। यह दो प्रकार का है—अन्तः (भीतरी) और बाह्य (बाहरी)। विपर्यय का अर्थ है अवस्तु में वस्तु का ज्ञान (अतस्मिन् तदिति प्रत्ययः) अर्थात् भ्रम। अनव्यवसाय से तात्पर्य 'अनिश्चय' से है। 'यह क्या है' 'यह आलोचनमात्र ज्ञान। 'कटहल' को देखकर किसी अन्यप्रांतीय मनुष्य का निश्चय पर न पहुँचना अनव्यवसाय है। स्वप्न तो प्रसिद्ध है। प्रशस्तपाद के मत से स्वप्न के तीन कारण होते हैं—संस्कारपाटव धातुदोष, तथा अदृष्ट। कामी या क्रुद्ध पुरुष जिस विषय का चिन्तन करता हुआ सोता है उसकी चिन्तामन्तति स्वप्न में प्रत्यक्षरूप से दीप्त पड़ती है। वात प्रकृति या वातदूषित व्यक्ति आकाश में गमन, पित्त-प्रकृति व्यक्ति अग्निप्रवेश और स्वर्णसर्वत, कफप्रकृति मरित् समुद्र का सपना देखता है। अदृष्ट से विचित्र स्वप्नों का उदय प्रसिद्ध ही है। **विद्या** चार प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, लैंगिक (अनुमान), स्मृति और आर्ष। प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना नैयायिकों के समान है। वैशेषिक लोग उपमान और शब्द को अनुमानके अन्तर्गत मानकर द्विविध प्रमाण के पक्षपाती हैं। स्मृति प्रसिद्ध है। ऋषियों का अतीन्द्रिय विषयों का प्रतिभाजन्य यथार्थ निरूपणात्मक ज्ञान 'आर्ष' कहलाता है। प्राचीनकाल में वैशेषिक दर्शन का साहचर्य बौद्धदर्शन के साथ विशेष घनिष्ठ प्रतीत होता है। शब्द को स्वतन्त्र प्रमाण न मानने से ही ये 'अर्थ वैनाशिक' (आधे बौद्ध) के नाम से प्राचीन ग्रन्थों में उल्लिखित हैं।

(५) वैशेषिक कर्तव्यमीमांसा

वैशेषिक दर्शनके प्रथमसूत्र में ही पता चलता है कि धर्म की व्याख्या करना महर्षि कणाद का प्रधान लक्ष्य है। धर्म का लक्षण है यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वै० सू० १।१।२) किङ्गावली और उपस्कार के व्याख्यानानुसार अभ्युदय का अर्थ तत्त्वज्ञान और निःश्रेयस का मोक्ष है। धर्म वही है जिसके द्वारा तत्त्वज्ञान और मुक्ति की उपलब्धि हो या तत्त्वज्ञानपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति हो। प्रशस्तपाद के अनुसार कर्ता का मोक्षसाधक, अतीन्द्रिय, शुद्ध संकल्प से उत्पन्न, स्वकीयवर्ण तथा आश्रम में नियत कर्मों के साधन से उत्पन्न होनेवाला पुरुष का गुण धर्म कहलाता है (पु० १३८)। धर्म के साधक कर्म दो प्रकार के हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य धर्मोंके धर्म में श्रद्धा, अहिंसा, प्राणीहित-साधन, मृत्यु वचन, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य, अनुपधा (भावशुद्धि), अक्रोध, स्नान, पवित्रद्रव्य-मेवन, विशिष्ट देवताकी भक्ति, उपवास और अप्रसाद की गणना है। विशेष धर्म चारो वर्ण तथा चारो आश्रम के कर्तव्य रूप हैं जिनका निरूपण स्मृति ग्रन्थों में विस्तार के साथ किया गया है (मनु० २-६)। इन कर्मों का आचरण कामना के साथ किये जाने पर तत्काल की उत्पत्ति होती है, परन्तु प्रयोजन के बिना अर्थात् निष्काम बुद्धि से इनका विधान भावप्रसाद (चित्त शुद्धि) के द्वारा धर्म की उत्पत्ति करता है। अतः निष्काम कर्म का आचरण तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है। धर्म को इस उपादेयता को न जानकर महर्षि कणाद पर यह लालन लगाना एकदम मिथ्याज्ञान विजृम्भित है।

धर्म व्याख्यातुकामस्य षट्पदार्थोपवर्णनम्।

सागरं गन्तुकामस्य हिमवद्गमनोपमम्॥

मोक्ष की अभिव्यक्ति का प्रकार यह है कि निष्काम कर्मके सम्पादन

से सत्त्वशुद्धि होती है अर्थात् प्रतिबन्धक अधर्म का सर्वथा तिरोधान हो जाना है। सत्त्वशुद्धि का फल तत्त्वज्ञान का उदय है, जो मिथ्याज्ञान निवृत्तिरूप व्यापार के द्वारा मोक्ष का मुख्य कारण है। इस तरह मोक्षोदय के प्रति तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण (सन्निपत्योपकारक) है, परन्तु निष्कामकर्म परम्परया (आरादुपकारक) है^१। वैशेषिकमत ज्ञानकर्म-समुच्चयवाद का पक्षपाती नहीं है, अपि तु ज्ञानवाद का ही। निष्काम कर्म तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति में सहायकमात्र है। निवृत्तिरूप धर्म से प्रसूत, द्रव्यादि षट् पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य से उत्पन्न तत्त्वज्ञान मोक्ष का साधन है (वै० सू० १।१।४)। अतः निवृत्तिरूप धर्म या निष्काम कर्म का आचरण करना इस क्लेश-बहुल संसार से निवृत्ति पानेवाले प्राणी का कर्तव्य होना चाहिये। योगाभ्यास, प्राणायाम आदि साधन भी नितान्त आवश्यक हैं^२। प्रवृत्ति की न्यायानुगत व्याख्या वैशेषिकों को भी सम्मत है। मोक्ष की कल्पना में प्रचलित नैयायिकों तथा वैशेषिकों में आज कोई अन्तर नहीं दीख पड़ता। परन्तु कभी दोनों मतों में अन्तर अवश्य था। भामर्षि^३ तथा सर्वसिद्धान्त संग्रह^४ के मतानुसार आनन्दरूपा मुक्ति के माननेवाले एकदेशी नैयायिक अवश्य थे, परन्तु वैशेषिकों ने सर्वदा दुःखात्यन्त-निवृत्ति और आत्मविशेष-गुणोच्छेदरूपा ही मुक्ति अंगीकृत किया है^५।

वैशेषिक दर्शन में ईश्वर की सत्ता मानी गई या नहीं ? इस प्रश्न को लेकर आलोचकों में बड़ा मतभेद है। वैशेषिक सूत्रों में केवल दो

१ द्रष्टव्य प्र० पा० भा० पृ० १३९, किष्कावलीभास्कर पृ० २१।

२ उपस्कार सूत्र ६।२।१६।

३ न्यायमार्ग पृ० ४०-४१।

४ नित्यानन्दानुभूतिः स्यान्मोक्षे तु विषयादृते ६।४१

५ नै० मोक्षः। प्र० पा० भा० पृ० १४४।

ईश्वर

मृत्र ईश्वर की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं, परन्तु इनकी व्याख्या में एकमत्य नहीं है। तद्वचना-
 दाम्नायस्य प्रामाण्यम् (वै० सू० १।१।३) में 'तद्' शब्द ईश्वर का
 बोधक माना गया है परन्तु वह धर्म का भी प्रतिपादक हो सकता है
 (द्रष्टव्य उपस्कार)। वै० सू० २।१।१८ मृत्र में 'अस्मद्विशिष्ट' शब्द
 ईश्वर के समान योगियों का बोधक माना जा सकता है। अतः २ त्रों में
 ईश्वर का विस्पष्ट निर्देश प्रतीत नहीं होता, परन्तु प्रशस्तपाद से लेकर
 अवान्तरकालीन ग्रन्थकार ईश्वर की सिद्धि एकमत से स्वीकार करते हैं।
 प्रशस्तपाद ने ग्रन्थ के आदि तथा अन्त में महेश्वर को प्रमाणभूत माना
 है, क्योंकि सृष्टिकाल में ईश्वर की समृद्धि (सृष्टि की इच्छा) से ही
 जड़ परमाणुओं में आद्य स्रन्दन उत्पन्न होता है। भक्ति में संतोषित
 ईश्वर का अनुग्रह भी मोक्ष सम्पादन में साधन माना गया है। गुणरत्न
 के कथनानुसार वैशेषिक लोग पशुपति के अनुयायी होने से पाशुपत कहे
 जाते थे (पञ्चदर्शन समुच्चयवृत्ति पृ० ५१), जिस प्रकार शिव के भक्त
 होने से नैयायिक शैव कहे जाते थे। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन पर
 अनिश्चरवादी होने का लाञ्छन नहीं लगाया जा सकता।

(५) समीक्षा

तत्त्वज्ञान से आत्मा के यथार्थ रूप की अनुभूति होने पर निःश्रेयस
 की प्राप्ति होती है परन्तु आत्मा के स्वरूप-ज्ञान के लिए आत्मेतर द्रव्यों
 की जानकारी आवश्यक है। द्रव्यों के आश्रित धर्म गुण और कर्म है।
 तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति आत्मा और आत्मेतर द्रव्यों के परस्पर साधर्म्य और
 वैधर्म्य के कारण हो ही सकती है। द्रव्य, गुण, कर्म के समानधर्मों के योग
 का नाम 'सामान्य' है (सामान्य साधर्म्ययोगः)। समानधर्म कहीं
 व्यवस्थित रहता है (यथा गोल्लादि) और कहीं अध्ववस्थित रहता है
 (यथा आरोह परिणाह-विस्तार आदि)। यदि केवल सामान्य धर्म का

आश्रय लिया जाता है, तो तन्त्रार्थबुद्धि का उदय न होकर मिथ्याबुद्धि होती है। स्थाणु में पुरुषत्व की बुद्धि सामान्य धर्म के ही ऊपर निर्भर है। अतः वैधर्म्य का ज्ञान भी नितान्त आवश्यक है। वैधर्म्यज्ञान का पता विशेष से चलता है। सामान्य और विशेष जैसे नित्यपदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए नित्य सम्बन्ध की कल्पना भी न्याय्य है। यह नित्य सम्बन्ध 'समवाय' है। भाव पदार्थों के समान अभाव भी उतना ही वास्तव, यथार्थ और महत्त्वशाली है। अतः आत्मा के साधर्म्य-वैधर्म्य के द्वारा यथार्थ स्वरूप की प्रतीति के लिए सात पदार्थों की वैशेषिक कल्पना नितान्त संगत और औचित्यपूर्ण है (चन्द्रकान्त — वैशेषिकभाष्य १।१।४।)

वैशेषिक पदार्थमीमासा की समीक्षा करने पर पहली बात जो आलोचकों के आक्षेप का विषय है वह पदार्थों की नियमित पट् सख्या है। पदार्थों की पट् सख्या का नियामक क्या है? क्या इतने से अधिक या न्यून पदार्थों की कल्पना मान्य नहीं हो सकती? स्वतन्त्र पदार्थ अपने अस्तित्व के लिए परमुखापेक्षो नहीं होता, परन्तु स्वतन्त्र पदार्थ होने पर भी गुण और कर्म की द्रव्याभित्ति अमीष्ट है। यदि गुण कर्म द्रव्याधीन रहते हैं, तो क्या उनकी स्वतन्त्र पदार्थ कल्पना में इससे धक्का नहीं पहुँचता? अतः छः या सात पदार्थों की कल्पना में कोई भी नियामक हेतु प्रतीत नहीं होता। सामान्य तथा विशेष की कल्पना अनेक दार्शनिकों के प्रबल आक्षेप का विषय है। जैन दार्शनिक मल्लिपेण का कहना है कि सब पदार्थों का यह स्वभाव है कि वे अनुवृत्ति और व्यावृत्ति स्वतः उत्पन्न करते हैं। उत्पन्न होनेवाला घट तदाकार-विशिष्ट समस्त द्रव्यों की घटप्रतीति उत्पन्न करता है और सजातीय विजातीय द्रव्यों से अपने स्वरूप को स्वयमेव व्यावृत्त करता है। ऐसे वस्तुस्थिति में इन दो नवीन पदार्थों की अनावश्यक कल्पना क्योंकि सुसंगत मानी जाय? (स्याद्वादमञ्जरी श्लोक ४)।

सामान्य' दार्शनिकों के मतभेद का एक प्रधान विषय है। बौद्धों की सम्मति में जाति की कल्पना नाम मात्र की है, वास्तव कल्पना नहीं; जाति-सम्प्राप्ति जगत् में व्यक्ति (स्वलक्षण) ही की सत्ता है जो निर्विकल्पक प्रत्यक्ष के द्वारा अनुभूत होता है। कणाद (वै० सू० १।२।३) जाति की केवल मानस सत्ता मानते हैं, परन्तु उनके पीछे के वैशेषिक नैयायिक, भाट्ट तथा प्राभाकर जाति की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् स्वतन्त्ररूपेण मानते हैं परन्तु इन वास्तववादी दार्शनिकों में भी जाति-व्यक्ति सम्बन्ध को लेकर मतभेद दृष्टिगोचर होता है। नैयायिक और प्राभाकर जाति-व्यक्ति का सम्बन्ध 'समवाय' मानते हैं, परन्तु कुमारिल जाति को व्यक्ति में भिन्न अथवा अभिन्न मानते हैं। रामानुज व्यक्ति को सत् तथा तद्व्यतिरिक्त जाति को असत् मानते हैं, परन्तु वे संस्थानजन्य सुमादृश्य का वास्तव मानने के पक्ष में हैं। शाकर-वेदान्त सामान्य की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानता (वै० प० पृ० ११)। इस प्रकार दार्शनिकों की जाति के विषय में स्वसिद्धान्तानुसारी भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ हैं। परन्तु न्याय और बौद्धदर्शनका पारस्परिक संघर्ष दार्शनिक जगत् में एक महत्त्वशाली घटना है।

बौद्ध दार्शनिक जाति कल्पना के सबसे कट्टर विरोधी और विदूषक हैं। उनकी आलोचना का सारांश यह है कि जगत् के स्वतन्त्र सत्तात्मक पदार्थ स्थिति के लिए पृथक् देश को ग्रहण करते हैं। घट से दण्ड पृथक् द्रव्य है, क्योंकि उसका स्थितिसाधक स्थान अलग है। परन्तु जाति के विषय में यह नहीं कह सकते। जाति के स्वतन्त्र पदार्थ होने से उसकी अनुभूति अलग होनी चाहिए थी, परन्तु उसका ग्रहण व्यक्तियों के अतिरिक्त कहीं भी नहीं होता। पाचक व्यक्तियों के प्रत्यक्ष हानपर या उनके सामान्य का कथमपि ग्रहण होता है ? पाचकों में जो सामान्यानुगत धर्म है, वह पाक-क्रियामूलक है। पाकक्रियाओं के विभिन्न होने पर भी एकाकार अनुगत धर्म के कारण उनमें परस्पर सादृश्य है। ऐसी दशा में

सामान्यधर्म की उपलब्धि पाकक्रिया में होती है, न कि पाचक व्यक्तियों में। ऐसी विषम स्थिति में 'पाचकत्व' की कल्पना आकाशमुमनके समान नितान्त निराधार, निःसत्त्व है। 'गोत्व' का अर्थ है गोभिन्नपदार्थों से जैसे अश्वादिकों से भिन्न पशुगत धर्म (तदितरेतत्त्वम् अपोहः^१)। अतः व्यक्ति (स्वलक्षणः) की कल्पना वास्तव है, जाति की सत्ता नामतः है, वस्तुतः नहीं। पण्डित अशोक की यह व्यङ्ग्योक्ति वस्तुतः मर्मस्पर्शिनी है कि पाँच अंगुलियों से अलग जो व्यक्ति सामान्यरूप छोटे पदार्थ का सद्भाव मानता है उसे अपने सिर पर सींगों की भी स्थिति माननी चाहिए:—

एहामु पञ्चस्ववभासनीषु प्रत्यक्षबोधे स्फुटमङ्गुरीषु ।

माधारणं पष्ठमिहेक्षते यः शृङ्गं गिरस्यात्मन ईक्षते सः ॥

वैशेषिक सम्मत तर्क की कमौट्टी पर टीक नहीं उतरता। सृष्टिकाल में पृथग्भूत परमाणुओं में संयोग उत्पन्न होने पर द्वयणुकादिक्रम से सृष्टि मानी गई है। संयोग कर्म-
परमाणु कारणवाद-
समीक्षा जन्य होता है। अब प्रश्न यह है कि यह कर्म किनि-
मित्तक होता है ? दृष्ट कारणों में प्रयत्न या अभिघात माना जा सकता है, परन्तु उस समय शरीर उत्पन्न न होने से आत्म-
मनःसंयोगजन्य प्रयत्न का उदय स्वीकृत नहीं हो सकता। अभिघात की कल्पना भी इसी प्रकार असंगत है। अदृष्ट को कर्म का कारण मान सकते हैं, परन्तु अचेतन होने के कारण वह कर्मोत्पादन में किस प्रकार समर्थ हो सकता है ? अतः किसी नियत कर्मनिमित्त के अभाव में अणुओं में आद्य कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता, न कर्मजन्य संयोग, न संयोगजन्य द्वयणुकादि-सृष्टि। प्रलयकाल में इसी प्रकार वियोगोत्पादक कर्म के निमित्ता-

१ शब्दों के 'अपोहवाद' की सिद्धि तथा सामान्य-निगम के लिए दृष्टव्य महापण्डित रत्नकीर्ति कृत 'अपोहसिद्धि', पण्डिताशोक कृत 'सामान्य-दूषणदिक-प्रसारिता, न्याय-मञ्जरी पृ० २०८-३००। जातिमण्डन के लिए देखिए न्या० म० ३०१-३१८।

भाव में जगत् का प्रलय असम्भव है। परमाणुओं को प्रवृत्तिस्वभाव मानने में नित्य प्रवृत्ति होगी, प्रलय का अभाव होने लगेगा। और निवृत्ति-स्वभाव मानने पर नित्यनिवृत्ति के सद्भाव में सृष्टि का अभाव होने लगेगा। उभय स्वभाव मानने पर परस्पर विरोध होगा और अनुभय स्वभाव मानने पर भी दोष तदवस्थ रहेगा। अतः परमाणुओं में न तो स्वतः प्रवृत्ति-प्रवणता है न स्वतो निवृत्तिप्रवणता, प्रत्युत उनमें आद्य संयोग की उत्पत्ति के लिए किसी चेतन नियामक पदार्थ की सत्ता मानना ही नाय्य होगा। वैशेषिकों का यह सिद्धान्त कि रूपादिमान् चतुर्विध परमाणु रूपादिमान् चतुर्विध कार्यों के उत्पादक तथा नित्य है मुसङ्गत नहीं प्रतीत होता। रूपादिमान् होने से परमाणुओं को अनित्य मानना पड़ेगा क्योंकि लोक का यह नियम है कि रूपादिमान् वस्तु स्वकारण की अपेक्षा में स्थूल और अनित्य होती है। अतः परमाणुओं को भी स्वकारणापेक्षया स्थूल तथा अनित्य मानना ही न्यायसंगत है। ऐसी स्थिति में सिद्धान्त को हानि पहुँचती है। अतः परमाणुकारणवादका कथमपि समर्थन नहीं किया जा सकता^१। समवाय की कल्पना भी प्रमाण-प्रतिपन्न नहीं प्रतीत होती। यदि अणुओं से अत्यन्त-भिन्न द्रव्यणुओं के साथ सम्बन्ध मानने के लिए समवाय स्वीकृत किया जाता है, तो अत्यन्त भेद की समता के आधार पर समवायी पदार्थों में अत्यन्त भिन्न समवाय के साथ सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी-जिससे अवनस्था दोष उपस्थित हो जायगा^२। इन्हीं कारणों से वैशेषिकों के सिद्धान्त तार्किक दृष्टि से सर्वमान्य भले न हो, परन्तु आधुनिक भौतिक विज्ञान के समान वैशेषिक की भौतिक जगत् की समीक्षा लौकिक दृष्टि से नितान्त उपादेय और ग्राह्य है। तत्त्व-प्रासाद की इन आरम्भ की सीढ़ियों के द्वारा ही हम ऊपर चढ़ सकते हैं और अद्वैत तत्त्व की उपलब्धि में समर्थ हो सकते हैं।

१ द्रष्टव्य ब्र० सू० २।२१२-१७ पर शाङ्करभाष्य।

२ द्रष्टव्य ब्र० सू० २।२।१३ पर शाङ्करभाष्य, स्याद्वादमञ्जरी पृ० ४०-४१।

नवम परिच्छेद

सांख्य दर्शन

‘सांख्य’ नामकरण का रहस्य इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त में छिपा हुआ है। प्रकृति तथा पुरुष के पारस्परिक विभेद को न जानने से इस ‘सांख्य’ का अर्थ दुःखमय जगत् की सत्ता है। परन्तु जिस समय पुरुष के विशुद्ध स्वरूप का ज्ञान उत्पन्न हो जाता है उसी समय उसके लिए दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। विवेक ज्ञान कारण है तथा दुःख-निवृत्ति कार्य है। इस ज्ञान की पारिभाषिकी संज्ञा है ‘प्रकृति-पुरुषान्यताख्याति’ या प्रकृति-पुरुष विवेक। इसी का दूसरा नाम है संख्या=सम्यक् ख्याति=सम्यक् ज्ञान=विवेक ज्ञान। ‘सांख्य दर्शन’ में ‘संख्या’ को नितान्त मूलभूत सिद्धान्त होने के कारण इस दर्शन का नाम ‘सांख्य’ पड़ा है। महाभारत^१ में ‘सांख्य’ शब्द की यही प्रामाणिक व्याख्या की गई है। कुछ लोग तत्त्व निर्णय के कारण गिनती के अर्थ में व्यवहृत होनेवाले ‘संख्या’ शब्द से इसका सम्बन्ध जोड़ते हैं, परन्तु यह व्याख्या उतनी प्रामाणिक नहीं प्रतीत होती जितनी पूर्वोक्त व्याख्या^२।

१ संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृति च प्रचक्षते।

तत्त्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिता ॥—महाभारत।

२ दोषाणां च गुणानां च प्रमाण प्रविभागः।

कश्चिदयेमाभिप्रेत्य सा संख्येयुषधायताम् ॥—महाभारत।

(१) सांख्य का उद्गम और विकास

सांख्य नितान्त प्राचीन दर्शन है। सांख्य के सिद्धान्तों की उपलब्धि उपनिषदों में होती है। यद्यपि 'सांख्य' शब्द 'योग' शब्द के साथ सांख्य और उपनिषद् श्वेताश्वतर उपनिषद् (तत् कारण सांख्ययोगाधिगम्यम् ६।१३) में उपलब्ध होता है, तथापि इसके अनेक माननीय सिद्धान्त उसमें भी प्राचीन उपनिषदों में बीजरूप में मिलते हैं। सत्त्व, रज, तम यह त्रिगुण का सिद्धान्त छान्दोग्य में प्रथमतः दृष्टि-गोचर होता है। छान्दोग्य (६।४।१) का कथन है कि अग्नि का रूप लाल है, जल का शुक्ल तथा पृथिवी का कृष्ण। इस जगत् की सृष्टि में ये तीन ही रूप कारणभूत हैं; ये ही सत्य हैं। जगत् केवल नामरूपात्मक होने से विकारमात्र है—वाक् का आरम्भण-मात्र है। प्रकृति की कल्पना में श्वेताश्वतर^१ ने इन्हीं वर्णों का उपयोग किया है। "प्रकृति एक है, अजा—उत्पन्न न होनेवाली है, लोहित, कृष्ण तथा शुक्लरूपों को धारण करनेवाली है तथा अपने स्वरूपानुसार प्रजाओंको उत्पन्न करनेवाली है।" 'इन्द्रियो से बढ़कर अर्थ; अर्थ से बढ़कर मन; मन से बढ़कर बुद्धि; बुद्धि से बढ़कर महान् आत्मा; महत् से बढ़कर अव्यक्त तथा अव्यक्त से बढ़कर पुरुष—पुरुष से बढ़कर अन्य कोई भी वस्तु नहीं होती।' कठ (१।३।१०, १३) के इस क्रम को सांख्य ने अपने ग्रंथों में अपनाया है। प्रश्नोपनिषत् (६।२) में पुरुष की सोलह कलाओंका वर्णन मिलता है जो सांख्यके सूक्ष्म शरीरकी कल्पना का मूलाधार है। श्वेताश्वतर उपनिषद् तो सांख्य सिद्धांतों

किमी वस्तु के विषय में तत्त्व दोषों तथा गुणों का छानबान करना 'संख्या' कहलाता है। 'संख्या' का अर्थ आत्मा के विशुद्धरूप का ज्ञान भी किया गया है (शुद्धात्मतत्त्वविज्ञान सांख्यमित्यभिधीयते)। शांकर विष्णुमहेश्वरनाममाय।।

१ अजामेकां लोहितकृष्ण शुक्लां।

बह्वीः प्रजाः सृजमाना मरूपाः ॥ (श्वेता० ४।५)

का भण्डार है। ईश्वर प्रधान या प्रकृति, क्षेत्रज्ञ या जीवो का तथा गुणो का अधिपति है (प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः श्वेता० ४।१६)। जिम प्रकार मकड़ा अपने शरीर से उत्पन्न होनेवाले तन्तुओं से जाला तनता है, उसी प्रकार ईश्वर प्रकृतिजन्य गुणों के द्वारा अपने को प्रकटित करता है (श्वेता० ६।१०)। प्रकृति ईश्वर की मायाशक्ति है तथा प्रकृति का अधिपति महेश्वर माया कहलाता है (माया तु प्रकृति विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् श्वे० ४।१०)। तन्मात्रा, त्रिगुण तथा प्रकृति-पुरुष-विवेक के सिद्धान्त मैत्रायणी उपनिषद् (द्वितीय और तृतीय प्रपाठक में) सके-तित किये गये हैं।

बुद्धदर्शन तथा सांख्यदर्शन के पारस्परिक सम्बन्ध का यथार्थ निरूपण अभी तक नहीं हो पाया है। बुद्ध चरित्र में सिद्धार्थ आराड कालाम जैसे सांख्य-तन्त्रोपदेशक आचार्य के समीप शिक्षा ग्रहण के लिए जाते हैं। दार्शनिक दृष्टि में भी कतिपय समानताएँ दृष्टिगत होती हैं। दुःख की मत्ता पर जोर देना, वैदिक कर्मकाण्ड की गौणता स्वीकृत करना, ईश्वर की सत्ता पर अनास्था रखना तथा जगत् को सतत परिवर्तनशील मानना (परिणाम-नित्यता), अहिंसा आदि सिद्धान्त सांख्य तथा बौद्ध दर्शन दोनों में समान रूपेण मान्य हैं। परन्तु सांख्य के प्रकृति पुरुष जैसे द्विविध तत्त्व की कल्पना, त्रिगुण के सिद्धान्त—आदि बौद्ध दर्शन में उपलब्ध नहीं होते। बौद्ध दर्शन आरम्भ काल में सांख्य सिद्धान्तों से प्रभावित अवश्य हुआ था। महाभारत के समय में अनेक सांख्य-आचार्यों का पता तो चलता ही है। साथ ही साथ तीन प्रकार के सांख्य का वर्णन मिलता है (महा० १२।३१८)। एक सांख्य २४ तत्त्वों को, दूसरा २५ तत्त्वों और तीसरा २६ तत्त्वों को अङ्गीकार करता था। महाभारत के जनक पञ्चशिख संवाद में (शान्ति ३०३-३०८) सांख्य के प्रधान सिद्धान्तों का सुन्दर वर्णन उपलब्ध होता है। श्रीमद्भागवत आदि पुराणों में भी लोकप्रिय दर्शन सांख्य ही है। इस प्रकार उपनिषद्,

इतिहास, पुराण तथा स्मृति ग्रन्थों में सांख्य के सिद्धान्तों की उपलब्धि इसकी प्राचीनता तथा महनीयता की पर्याप्त बोधिका है ।

सांख्यदर्शन के ऐतिहासिक विकास पर दृष्टिपात करने से निम्न-लिखित समय-विभाग स्वीकृत किये जा सकते हैं—

(१) उपनिषदों तथा भगवद्गीता का सांख्य (१०००-८०० ई० पूर्व) इस काल में सांख्य वेदान्त के साथ समिश्रित है तथा ईश्वरवाद का समर्थक है ।

काल-विभाग (२) महाभारत तथा पुराणों का सांख्य (लगभग ६००-२०० ई० पूर्व)—इस काल में सांख्य वेदान्त के सिद्धान्तों से पृथक् होकर स्वतन्त्र दर्शन के रूप में प्रकट होता है । सांख्य सिद्धान्तों में विशेष विकास दृष्टिगत होता है । चरक का सांख्य भी इसी काल के सांख्य से मिलता जुलता है । चरक सांख्य की अनेक विशेषताएँ (शरीर स्थान, १ अ०)-पुरुष को अव्यक्तावस्था में मानना, तन्मात्राओं का सर्वथा अभाव, मुक्तावस्था में पुरुष की चेतना-रहित दशा—महाभारत १२।२१९) में भी उपलब्ध होती है जिससे चरक पञ्चशिख के अनुयायी प्रतीत होते हैं । (३) ब्रह्मसूत्र में निर्दिष्ट तथा सांख्यकारिका में वर्णित सांख्य (३०० ई० पूर्व ३०० ई०) इस काल का सांख्य निश्चितरूपेण निरीश्वरवादी है । प्रकृति तथा पुरुष को अन्तिम तत्त्व मानकर विश्व की तात्त्विक व्याख्या की गई है । ईश्वर के लिए इस सांख्य में कोई स्थान नहीं है । (४) विज्ञान भिक्षु का सांख्य (१६ वीं सदी)-विज्ञानभिक्षु एक विशिष्ट मौलिक दार्शनिक थे । उन्होंने सांख्य से निरीश्वरवाद के लाञ्छन को हटाकर पुनः सेश्वरवाद की प्रतिष्ठा की है । विज्ञानभिक्षुने सांख्य के लुप्त गौरव का पुनः उद्धार किया है तथा उसे वेदान्त के साथ सुन्दर समन्वय उपस्थित कर महा-भारतकालीन व्यापकता प्रदान की है ।

गुणरत्न ने (प०द०स०वृत्ति पृ० ९६) साख्यके दो सम्प्रदायोका वर्णन किया है—मौलिक्य तथा उत्तर । मौलिक्य साख्यमें प्रत्येक आत्मा के लिए एक स्वतन्त्र प्रधान की कल्पना स्वीकृत की गई है । यह सिद्धान्त चरक साख्य से मिलता जुलता है । अतः महाभारत तथा चरककालीन साख्य मौलिक्य साख्य का प्रतिनिधि प्रतीत होता है । उत्तर साख्य कारिका में वर्णित निरीश्वर साख्य ही है ।

✓ (२) प्रसिद्ध सांख्याचार्य

कपिल— साख्यदर्शन के रचयिता का नाम 'कपिलमुनि' है । उपनिषदों में सकेतिक सिद्धान्तों का शास्त्रीय विवेचन सबसे पहले इन्होंने किया था । अग्निपुराणान्तर्गत साख्य वेदान्त के साथ मिश्रित था । उसे पृथक् कर स्वतन्त्र दर्शन के महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित करने का समस्त श्रेय इन्हीं को प्राप्त है । इसी कारण कपिल 'सांख्यदर्शन' के महत्त्वशालिनी उपाधि से विभूषित किये गए हैं । भगवत (१।८।११) के समय में ही साख्य 'कालविण्टुत' हो चुका था अतः इसके पुनरुद्धार के लिए कपिल ने तत्त्वग्रामो का सम्यक् निर्णय किया । आचार्य पञ्चशिखने अपने एक सूत्र^१ में कपिल को निर्माणकाय का अधिष्ठान कर आसुरि को साख्यतन्त्र के उपदेश देने की घटना का उल्लेख किया है । इस प्रकार कपिल अपने समय के सुप्रसिद्ध अग्रगण्य दार्शनिक प्रतीत होते हैं^२ ।

(कपिल को दो रचनाओं का पता चलता है—तत्त्व

१ आदिविद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिगमुरये जिज्ञासमानाय तन्त्र प्रोवाच ॥ (१।२५) पर व्यासभाष्य में उद्धृत ।

२ कनिष्य विद्वान् 'ऋषिं प्रसूत कपिल इवेता० (५.२) में कपिल के अभिधान का संकेत बताते हैं, परन्तु सन्दर्भानुसार इस शब्द की वेदान्तिक व्याख्या ही सत्य प्रतीत होता है । यह कपिलवर्ण व्यक्ति हिरण्यगर्भ से अभिन्न ही हैं । द्रष्टव्य इवेता० ३।४, ४।१२, ६।१८ ।

ममास^१ तथा सांख्यसूत्र । तत्त्वसमास । केवल २२ छोटे-छोटे सूत्रों का समुच्चयमात्र है । सांख्यसूत्र में ६ अध्याय हैं और सूत्र संख्या ५१७ है । पहले अध्याय में विषय का प्रतिपादन, दूसरे में प्रधान के कार्यों का निरूपण, तृतीय में वैराग्य, चतुर्थ में सांख्यतत्त्वों के मुगम बोध के लिए अनेक रोचक आख्यायिका, पंचम में परपक्ष का निरास, षष्ठ में सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय है । तत्त्वसमास को अनेक विद्वान् सांख्य शास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ बतलाते हैं ।)

तत्त्वसमास—समय के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है । डा० कीथ ने इसकी रचना १३८० ई० के अनन्तर मानी है, क्योंकि इसी समय लिखे गए सर्वदर्शनसंग्रह में इसका उल्लेख नहीं है । दाम-गुप्त तथा गाँवें का भी यही मत है । मैक्समूलर अवश्य इसे अतिप्राचीन मौलिक ग्रन्थ मानते थे । बोधायन कवि कृत 'भगवदज्जुक' नाटक महेन्द्र विक्रम (७ शतक) के समय लिखा गया था । इसमें तत्त्वसमास के ८ सूत्र उद्धृत हैं (पृ० १४-१५) वहाँ इन सूत्रों को 'सांख्य समयः' कहा गया है । अतः इन सूत्रों की रचना सप्तम शताब्दी से अवश्य प्राचीन है ।

सांख्यसूत्र को अर्वाचीन मानना ठीक नहीं है । माधवाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह में इसका उल्लेख अवश्य नहीं किया है, तथापि उन्हीं के समकालिक माधव मन्त्री ने सूतसंहिता की टीकामें 'सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यावस्था मूल प्रकृतिः' (सांख्यसूत्र १।६१) को उद्धृत किया है । अतः इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ये सूत्र १४ शतक से प्राचीन हैं ।

१ तत्त्वसमास पर अनेक टीकार्यों सांख्यसंग्रह में प्रकाशित हुई हैं, जिनमें शिवानन्द कृत 'सांख्य-तत्त्वविवेचन', भावागणेश (१६ वी शताब्दी) कृत 'सांख्यतत्त्व-याथार्थ्यदीपन', सर्वोपकारिणी टीका, सांख्यसूत्र-विवरण आदि मुख्य हैं । सांख्यसूत्र पर 'अनिरुद्धधृति' प्रामाणिक तथा विद्वत्तापूर्ण मानी जाता है ।

आसुरि - कपिल के साक्षात् शिष्य थे। इनके मिडान्त का वर्णन प्राचीन ग्रंथों में उपलब्ध होता है। स्याद्वाद-मंजरी में (१५ वें श्लोक) आसुरिका एक श्लोक उद्धृत किया गया है।

पञ्चशिख—‘षष्ठितन्त्र’ के निर्माता, आसुरि के शिष्य पञ्चशिख सांख्यदर्शन का सुसम्बद्ध तथा प्रतिष्ठित करनेवाले प्रथम आचार्य हैं। इनके कतिपय सिद्धान्त-विषयक सूत्र प्रमाण के लिए व्यासभाष्यमें उद्धृत किये गए हैं। वाचस्पतिमिश्र ने ‘राजवार्तिक’ नामक ग्रन्थ से कतिपय श्लोकों को उद्धृत कर माठ प्रधान विषयों की व्याख्या हाने के कारण ग्रन्थ के ‘षष्ठितन्त्र’ नामकरण को सार्थक बतलाया है (त० कौ० का० ७३) ‘अहिर्बुध्न्य संहिता (१२।१८-३०) के अनुसार इसके माठ परिच्छेद थे। चीनी ग्रंथों के अनुसार इस ‘षष्ठितन्त्र’ की रचना पञ्चशिख ने की थी। पञ्चशिख के सिद्धान्तों का परिचय महाभारत (शान्तिपर्व अ० ३०२-३०८) से भी मिल सकता है।

सांख्यकारिका (७१वीं कारिका) के अनुसार पञ्चशिख के अनन्तर शिष्य परम्परा के द्वारा यह शास्त्र ईश्वरकृष्ण को प्राप्त हुआ था, परन्तु इस शिष्य परम्परा का पूरा परिचय अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। पञ्चशिख-ईश्वरकृष्ण के मध्यकालीन युग के कतिपय प्रसिद्ध आचार्यों के नाम ये हैं—भार्गव, उद्दक, वात्स्याकि, हारीत, देवल (माटरवृत्ति का० ७१); वादलि, कैरात, पौरिक, ऋषभेश्वर, पञ्चाधिकरण, पतञ्जलि; वार्धगण्य, कौडिन्य, मूक (युक्तिदीपिका का० ७१); गर्ग और गौतम (जयमंगला)। इन सांख्याचार्यों के विशिष्ट मतों का निर्देश अनेक दर्शन-ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। **पौरिक के मतमें प्रतिपुरुष प्रधान की पृथक् मन्ना रहता है (युक्तिदीपिका पृ० १६९) जो गुणरत्न के प्रमाण पर मौलिक्य सांख्यों का अन्यतम सिद्धान्त था (पृ० ९६)। आचार्य पञ्चाधिकरण के अनेक विशिष्टमतों का उल्लेख प्रपञ्चसार तंत्र की पद्मापादाचार्य की टीका (१म० पटल, ९४-९७ श्लोक) तथा युक्तिदीपिका में किया**

गया है। महत् तत्त्व से पहले प्रधान के अनन्तर अनिर्देश्यस्वरूप एक तत्त्व की उत्पत्ति होती है; यह विचित्र मत **पंचाधिकरण** का ही था। वार्षागण्य के मत का निर्देश योगभाष्य में ही है। परन्तु जैन ग्रन्थों में भी इन आचार्यों का उल्लेख होना इनकी ऐतिहासिकता का पर्याप्त प्रमाण है। तन्वार्थ-राजवार्तिक (पृ० ५१) ने कपिल और माटर के अतिरिक्त उद्क, गार्ग्य, व्याघ्रभूति तथा वाद्वलि के नामों का निर्देश किया है।

ईश्वरकृष्ण - इनकी सांख्यकारिका सांख्य का लोकप्रिय तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। शकगचार्य जेमे दार्शनिक ने शारीरकभाष्य में सांख्य मत के उपन्यास करने के समय सांख्यसूत्र का निर्देश न करके इन्हीं कारिकाओं का उद्धरण दिया है। इस घटना से भी इसकी प्रामाणिकता तथा प्राचीनता की पुष्टि हो सकती है। चीनी भाषा में वृत्ति के साथ इस ग्रन्थ का अनुवाद परमार्थके द्वारा छठीं शताब्दी में किया गया मिलता है। चीनी भाषा में इसे 'हिरण्य सप्तति' या मुवर्ण सप्तति कहते हैं। जापानी विद्वान् डा० तकाकुमु ने ईश्वरकृष्ण तथा विन्ध्यवासी की एकता मानी है परन्तु समय और सिद्धान्त में नितान्त पार्थक्य होने से उभय आचार्यों की अभिन्नता कथमपि मानी नहीं जा सकती। ईश्वरकृष्ण का आविर्भाव काल चतुर्थ शतक में साधारणतया ब्रतलाया जाता है, परन्तु वस्तुतः ये इससे कहीं अधिक प्राचीन हैं। जैनग्रन्थ 'अनुयोगद्वारसूत्र' (१०० ई०) 'काविल', 'मट्रितंत', 'माटर' के साथ 'कणगसत्तरी' का उल्लेख करता है। सन्दर्भानुसार 'कणगसत्तरी' सांख्यग्रन्थ प्रतीत होता है। सांख्यकारिका के चीनदेशीय नाम 'मुवर्ण सप्तति' से हम परिचित हैं। अतः यह कणगसत्तरी निश्चयरूप से 'सांख्यकारिका' का ही नामान्तर है। इस उल्लेख से ईश्वरकृष्ण का समय ईसा की प्रथम शताब्दी से अर्वाचीन नहीं हो सकता।

कारिका की अनेक विद्वत्तापूर्ण टीकायें उपलब्ध होती हैं जिनमें 'माटरवृत्ति' सबसे प्राचीन प्रतीत होती है (१) आचार्य माटर कनिष्क

के समसामयिक माने जाते हैं। अतः इनका समय अनुयोगद्वारा के निर्देश के आधार पर भी प्रथम शतक में माना जाता है। (२) 'गौडपाद भाष्य' भी प्राचीन और प्रामाणिक ग्रन्थ है। वृत्ति और भाष्य में अनेक स्थलों पर भाव और भाषागत विचित्र समानताये हैं; अभी तक निश्चय नहीं हो सका है कि चीनी भाषा में अनूदित टीका का मूल वृत्ति है या भाष्य। गौडपाद का समय सप्तम शतक के आसपास है। ये माण्डूक्यकारिका के रचयिता गौडपादसे भिन्न है या अभिन्न? इस प्रश्न का अन्तिम निर्णय अभी तक नहीं हुआ है। (३) 'पुक्तिर्दापिका' हाल में 'कलकत्ता संस्कृत सीरीज' (सं० २३) में प्रकाशित हुई है। यह अद्भुत पुस्तक है जो प्राचीन सांख्याचार्य के सिद्धान्तों से भरी पड़ी है। सांख्यके इतिहासकी जानकारी के लिए इससे अधिक प्रामाणिक ग्रंथ का मिलना मुश्किल है। वसुवन्धु और दिङ्नाग जैसे प्राचीन बौद्धाचार्यों के मतों का उल्लेख स्थान स्थान पर किया गया है। शंकरस्वामी का उल्लेख अवश्य है, परन्तु न कुमारिल का, न प्रभाकर का। ग्रन्थकार के नाम का पता नहीं चलता, परन्तु यह वाचस्पति मिश्र से प्राचीन अथवा समसामयिक अवश्य है। (४) वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्वकौमुदी' सांख्यसिद्धान्तों के प्रकाशनार्थ वस्तुतः कौमुदी है। (५) शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध, परन्तु शंकरार्थ विरचित 'जयमङ्गल' सांख्यतत्त्व जिज्ञासुओं का मंगल साधन करनेवाला अल्पाक्षरा उपयोगिनी टीका है जिसकी रचना १४ शतक के आसपास की गई। (६) नारायण तीर्थ (१७ वीं शताब्दी) की 'चन्द्रिका' लघुकाय होने पर भी गम्भीरार्थप्रतिपादिनी है। (७) नरसिंह स्वामी का अभी तक अप्रकाशित 'सांख्यतत्त्वसन्त' सांख्य और वेदान्त में मूलतः भेद नहीं मानता।

विन्ध्यवासी—सांख्याचार्य विन्ध्यवासी के विलक्षण सिद्धान्तों का पर्याप्त उल्लेख दार्शनिक ग्रन्थों में यत्र तत्र मिलता है, परन्तु इनकी रचना की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। कुमारिल (श्लोकवार्तिक

३९३, ७०४), भोजराज (भोजवृत्ति ४।२२), मेधातिथि (मनु-
माध्य १।५५), युक्तिदोषिका (पृ० १०८, १४८, १४८) शान्तरक्षित
तत्त्वसंग्रह (पृ० ६३६), गुणरत्न (पृ० १०२ तथा १०४), मल्लिषेण
(स्याद्रादमञ्जरी पृ० ९७) ने इनके विशिष्ट मतों का निर्देश किया
है। प्राचीन सांख्यसम्मत 'अन्तराभवदेह' की कल्पना इन्हें मान्य न थी,
जिसका उल्लेख अनेक वाग मिलता है [अन्तराभवदेहस्तु निषिद्धो
विन्ध्यवासिना, श्लो० वा० आत्मवाद, श्लो० ६२; युक्तिदोषिका (का०
४०)]। इनके ग्रन्थ के ग्वण्डन करने के लिए वसुबन्धु ने 'परमार्थसप्तति'
को रचना की। इस प्रकार इनका समय तृतीय शतक का अन्त तथा
चतुर्थ का आदि (२५०-३२० ई०) प्रतीत होता है।

आचार्य विन्ध्यवासी का व्यक्तिगत नाम 'रुद्रिल' था परन्तु विन्ध्य
के जंगलों में रहने से इनकी विन्ध्यवासी नाम से ख्याति हो गई थी।

यदेव दधि तत् क्षीरं यत् क्षीरं तदधीति च।

वदता रुद्रिलेनैव ख्यापिता विन्ध्यवासिता ॥

तत्त्वसंग्रह (पृ० २२) में उल्लिखित यह कटाक्षपूर्ण श्लोक वसुबन्धु
की परमार्थ-सप्तति का प्रतीत होता है, क्योंकि इसमें परिणामवाद के
अंगीकार करनेवाले सांख्याचार्य विन्ध्यवासी की बड़ी मीठी चुटकी ली
गई है। परमार्थ ने इनके गुरु का नाम 'वार्णगण्य' बतलाया है। शां-
तरक्षित ने ईश्वरकृष्ण का उल्लेख विन्ध्यवासी से अलग ही किया है।
अतः सिद्धान्त तथा व्यक्तित्व की भिन्नता के हेतु दोनों की अभिन्नता
मानी नहीं जा सकती।

विज्ञानमिश्र—विज्ञानमिश्र एक प्रकार से सांख्य के अन्तिम
आचार्य हैं। १६ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में ये काशी में ही विद्यमान
थे। मिश्रनाम धारण करनेपर भी न तो ये बौद्ध थे और न दशनामी
संन्यासियों में अन्तर्भुक्त थे। यदि ऐसा होता, तो ये शंकराचार्य के मत-
को खरी आलोचना से अवश्य विरत होते। ये ब्रह्म स्वतन्त्र विचार के

साख्य-आचार्य थे। इन्होंने उपनिषद् तथा पुराणों के युग के अनन्तर वियुक्त होने वाले साख्य और वेदान्त में हृदयंगम सामञ्जस्य दर्शाया है। इन्होंने तीन दर्शनों के ऊपर भाष्यग्रन्थ लिखे हैं—(१) साख्य-प्रवचनभाष्य—(सांख्यमूत्रो पर), (२) योगवार्तिक—(व्यासभाष्य पर), (३) विज्ञानामृतभाष्य—(ब्रह्मसूत्र पर)। इनके अतिरिक्त 'साख्यसार' तथा 'योगसार' में इन दर्शनों के सिद्धान्त का संक्षिप्त प्रतिपादन सरल ढंग से किया गया है। इनके तीन विशिष्ट शिष्यों के नामालेख मिलते हैं जिनमें **भावगणेश** साख्य के विशेषज्ञ थे जैसा उनके तत्त्वसंग्रह की विद्वत्तापूर्ण व्याख्याग्रन्थ (तत्त्वयाथार्थ्यदीपन) से पता चलता है। साख्य तन्त्र का अध्ययन-अध्यापन दुर्बल हो चला था। इसीलिए इन्होंने साख्य को 'कालार्कभक्षित' कहा है। परन्तु इस तन्त्र की प्रणाली को पुनः जाग्रत करने तथा पुनरुज्जीवित करने में जितना श्लाघनीय उद्योग विज्ञानभिक्षु ने किया, वैसा किसी ने नहीं किया। साख्य-योग को पुनः प्रतिष्ठित करने का सुयश विज्ञानभिक्षु को ही प्राप्त है।

✓(३) सांख्य-तत्त्वमीमांसा

साख्य दर्शन में तत्त्वों की मीमांसा बड़े सुन्दर ढंग से की गई है। उसके अनुसार २५ तत्त्व होते हैं जिसके जानने से किसी भी आश्रम का पुरुष, चाहे वह ब्रह्मचारी हो, सन्यासी हो या गृहस्थ हो, दुःखों से अवश्यमेव मुक्ति प्राप्त कर लेता है^१। इन पचीस तत्त्वों का वर्गीकरण निम्नलिखित चार प्रकार से किया जाता है—(१) कोई तत्त्व ऐसा है जो सबका कारण तो होता है, पर स्वयं किसी का कार्य नहीं होता (प्रकृति)। (२) कुछ तत्त्व कार्य हो होते हैं—किसी से उत्पन्न होते

१ पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो यत्र कुत्राश्रमे वसेत् ।

अष्टौ मुण्डा शिवा वापि मुच्यन्ते नात्र सशयः ॥ स० मि० सं० १।११ ।

हैं पर स्वयं किसी अन्य को उत्पन्न नहीं करते (विकृति) । (३) कुछ तत्त्व कार्य तथा कारण दोनों होते हैं—किन्हीं तत्त्वों से उत्पन्न भी होते हैं तथा अन्य तत्त्वों के उत्पादक भी होते हैं (प्रकृति-विकृति) । (४) कोई तत्त्व कार्य तथा कारण उभयविध सम्बन्ध से शून्य रहता है । न वह कार्य हो होता है, न कारण ही (न प्रकृति न विकृति) । सांख्य-सम्मत तत्त्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है (सा० का० का० ३) : -

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति ।
विकृति	१६	<u>ज्ञानेन्द्रिय</u> (चक्षु, घ्राण, रसना, त्वक् तथा श्रोत्र) । <u>कर्मेन्द्रिय</u> (वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ) । <u>मन</u> , और <u>महाभूत</u> (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) ।
प्रकृति-विकृति	७	महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्रा (शब्द-तन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, गन्धतन्मात्रा) ।
न प्रकृति-न विकृति	२ ^१	पुरुष

कार्यकारण सिद्धान्त

सांख्य का सिद्धान्त इस विषय में विलक्षण है । उसका कहना है कि उत्पत्ति से पूर्व भी कार्य, कारण में अवश्यमेव अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है । इस प्रकार कार्य तथा कारण में वस्तुतः अभिन्नता है । कार्य की अव्यक्तान्धता का ही नाम कारण है और कारण की व्यक्तावस्था की संज्ञा कार्य है । इस प्रकार कार्य कारण का भेद व्यावहारिक है, परन्तु अभेद तात्त्विक है । इस सिद्धान्त को सत्कार्यवाद या परिणामवाद के

नाम से पुकारते हैं। इसकी पुष्टि में साख्याचार्यों ने निम्नलिखित युक्तियाँ दी हैं^१ :—

(१) असदकरणात्—अविद्यमान वस्तु कथमपि उत्पन्न नहीं की जा सकती। यदि कारण में कार्य की सत्ता वस्तुतः नहीं होती, तो कर्ता के कितना भी प्रयत्न करने पर वह कार्य उत्पन्न नहीं हो सकता। वाचस्पति मिश्र का यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि नील वस्तु सदस्यो शिष्यियों के उद्योग करने पर भी कथमपि पीत रंग की नहीं बनाई जा सकती। (२) उपादानग्रहणात्—किसी वस्तु की उत्पत्ति के लिए केवल विशिष्ट साधनों का उपयोग किया जाता है; दही चाहनेवाला दूध को ही ग्रहण करता है। तन्तुओं से ही कपड़ा बुना जा सकता है। इन व्यावहारिक दृष्टान्तों से स्पष्ट है कि कार्य कारण का सम्बन्ध नियत है। यदि ऐसा न होता तो कोई भी कार्य किसी कारण से उत्पन्न होता दिखाई पड़ता। (३) सर्वसंभवाभावात् - सब कारणों से सब कार्यों की उत्पत्ति कभी दृष्टि-गोचर नहीं होती। यह भी कार्यकारण के पूर्वस्थित सम्बन्ध का नियामक है। (४) शक्यस्य शक्यकरणात्—शक्त (शक्ति सम्पन्न) कारण से शक्य वस्तु की उत्पत्ति होते देखे यही कहा जा सकता है कि कारण में कार्य की सत्ता अव्यक्त रूप से अवश्य विद्यमान है। (५) कारण-भावात्—कार्य तथा कारण की एकता वास्तविक है। वस्तुतः कार्य और कारण एक ही वस्तु की विभिन्न अवस्थाओं के भिन्न नाम हैं—व्यक्त दशा का नाम है कार्य और अव्यक्त दशा का प्रचलित अधिधान कारण है। संसार का प्रतिदिन अनुभव इसी सिद्धान्त को पुष्ट करता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि कारण-व्यापारके पहले भी कारणमें कार्य की सत्ता रहती है। इसी कारण सांख्य

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसंभवाभावात् ।

शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सन् कार्यम् ॥ सां० का० ९

के मत से न तो किसी वस्तु की उत्पत्ति होती है और न विनाश। कर्तृ-व्यापार से वस्तु का आविर्भावमात्र होता है—अव्यक्त वस्तु व्यक्त रूप को धारण करती है। व्यापार के विराम होने पर वस्तु अव्यक्तावस्था को प्राप्त होकर स्थूल से सूक्ष्म में परिणत हो जाती है। इसी पर सांख्य तत्त्वमीमासा की पूरी इमारत खड़ी है।)

सांख्यदर्शन द्वैतमत का प्रतिपादक है। उसकी दृष्टि में प्रकृति और पुरुष द्विविध मूल तत्त्व है, जिनके परस्पर सम्बन्धसे इस जगत् का आविर्भाव होता है। प्रकृति जड़ात्मिका तथा एक है, सांख्य का वास्तववाद परन्तु पुरुष चेतन तथा अनेक है। ब्राह्म जगत् की सत्ता को मानसिक व्यापार से स्वतन्त्र होकर पृथक् रूप से सिद्ध मानने के कारण सांख्य भी न्यायवैशेषिक के समान वास्तववादी है। परन्तु पुरुष-बहुत्व के सिद्धान्त को क्षणभर दूर रखकर कहा जा सकता है कि जहाँ इस जगत् की उत्पत्ति के लिए अनेक स्वतन्त्र नित्य पदार्थों की कल्पना करने से न्यायवैशेषिक अनेकत्ववादी हैं, वहाँ प्रकृतिपुरुष द्विविधतत्त्व को ही इस जगत् की व्याख्या के लिए पर्याप्त मानने से सांख्य द्वैतवाद का प्रतिपादक है। ये दानो मौलिक तत्त्व प्रकृति और पुरुष हैं।)

(इस जगत् के समस्त पदार्थ—मन, शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि आदि—सीमित तथा अस्वतन्त्र होने के कारण कार्यरूप हैं। इनकी उत्पत्ति किसी न किसी मूलतत्त्व से अवश्य ही हुई होगी। इसी मूलतत्त्व का अन्वेषण तथा तात्विक विवेचन प्रत्येक दर्शन का आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण कार्य है। बौद्ध, जैन, न्यायवैशेषिक तथा मीमांसा इस मूलतत्त्व को अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु बतलाते हैं। परन्तु सांख्य को इसमें बड़ी त्रुटि दोख पड़ती है। भौतिक परमाणुओं से स्थूल जगत् की उत्पत्ति भले ही सिद्ध की जा सके, परन्तु उनसे मन, बुद्धि जैसे सूक्ष्म पदार्थों की उत्पत्ति नहीं की जा सकती। अतः स्थूल और सूक्ष्म सकल कार्य की, जगत् को, उत्पादिका 'प्रकृति' मानी गई है।)

इस प्रकृति की सिद्धि के लिए अनेक युक्तियाँ प्रदर्शित की गई हैं।

(१) जगत् के समस्त पदार्थ सीमित—परिमित, परतंत्र हैं। अतः इनका

प्रकृति मूल कारण अवश्य ही अपरिमित तथा स्वतन्त्र होना चाहिए।

(२) समस्त पदार्थों में त्रिविध गुणों की सत्ता सर्वत्र दृष्टि-
गोचर होती है। प्रत्येक पदार्थ मुख्य दुःख तथा मोह उत्पन्न करनेवाला
है। अतः एक ऐसा मूलकारण अवश्य होना चाहिए जिनमें इन विरोध-
ताओं का सद्भाव हो। (३) कारण-शक्ति से कार्य की प्रवृत्ति अनुभव
सिद्ध है और यह शक्ति कार्य की अव्यक्तावस्था को छोड़कर अन्य कुछ
नहीं है। अतः समस्त कार्यों के जनक किमी अव्यक्त तत्त्व की कल्पना
युक्ति-विरहित नहीं माना जा सकती। (४) आविर्भावकाल में कारण
से कार्य की उत्पत्ति होती है तथा विनाशकाल में कार्य का उसी कारण में
विलय हो जाता है। अतः निश्चित है कि सृष्टिकाल में पदार्थ जिस
मूल कारण से उत्पन्न होते हैं, प्रलयकाल में उसी में विलीन हो जाते हैं।
इस प्रकार अपरिमित, स्वतन्त्र, सर्वव्यापक, मूलकारण को मानना पूर्वोक्त
युक्तियों के आधार पर नितान्त युक्तियुक्त है^१। इसे ही अव्यक्तरूप
होने से 'अव्यक्त', प्रधानकारण होने से 'प्रधान', सबकी जननी होने से
'प्रकृति' आदि भिन्न-भिन्न मन्त्राये हैं। यह स्वयं अजन्मा है—कारण होते
हुए भी स्वयं किमी का कार्य नहीं है। यदि इस तत्त्व के कारण की
कल्पना की जाय तो अतःस्था दोष गले पतित हो जाता है। अतः इस
दोष के निरास के लिए प्रकृति को ही जगत् का आदि कारण मानना
नितान्त उचित है। व्यासभाष्य (२।१९) में प्रकृति का स्वरूप अन्वा-
श्ररो में विवेचित किया गया है—निःसत्तासत्तं निःसदसद् निरसद् अव्यक्तं
अलिङ्गं प्रधानम्। तत्त्व वैशारदी ने इस वाक्य के गूढार्थ को विशदरूप

१ दृष्टव्य—सांख्यकारिका १५-१६, सांख्यसूत्र तथा सांख्यप्रवचन भाष्य

से अभिव्यक्त किया है। पुरुषार्थ-क्रियाश्रमता का नाम 'सत्ता' है—वह वस्तु जो अपनी स्थिति से पुरुष के लिए क्रिया करने में समर्थ हो सत् कही जाती है। असत्ता से तात्पर्य अत्यन्त अविद्यमानता (तुच्छता) से गुणत्रय की साम्यावस्थारूपिणी प्रकृति न तो किसी पुरुषार्थ को सिद्ध कर सकती है, न गगनकमलिनी की तरह तुच्छ स्वभाव है। सद् तथा असद् दोनों अवस्थाओं में विरहित है, तथापि शशविषाण की तरह नितरा असद् भी नहीं है। गुणशोभ न होने से व्यक्ति-रहित 'अव्यक्त' और अन्यत्र लय न प्राप्त करने से वह 'अलिङ्ग' है अर्थात् सृष्टि का जैसे वह आदि है उसी प्रकार प्रलय का वही अन्तिम अधिष्ठान है जिसमें समग्र पदार्थ लीन हो जाते हैं। सत्त्व रज तम गुणों की साम्यावस्थारूप प्रकृति कारणरहित, नित्य, व्यापक, निष्क्रिय, एक, निराश्रित, अलिङ्ग, निरवयव, स्वतन्त्र, विवेकरहित, विषय, सामान्य, अचेतन और प्रसवधर्मिणी है (सा० का० १०, ११)।

जगत् का स्वरूप

जगत् के समग्र पदार्थ सुख, दुःख मोहात्मक हैं। सुन्दर रमणी पति के हृदय में आनन्दोल्लास प्रकट करती है, उसकी अप्राप्ति से व्यथित कामीजनों के हृदय को कभी दुःख की आग में जलाती है और कभी मोह के घने अन्धकार में निमग्न कर देती है। आशय यह है कि एक ही वस्तु इन परस्पर-विरुद्ध त्रिविध विशेषताओं को भिन्न आधारों में उत्पन्न किया करती है। इन तीनों को 'गुण' कहते हैं। नामसाम्य होने पर भी साख्यभिमत गुण वैशेषिक कल्पना के अनुसार गुण नहीं है, प्रत्युत संयोग-विभागशाली और लघुत्वादि धर्मयुक्त होने से द्रव्यरूप है। वाचस्पतिमिश्र के मत से इन्हें गुण कहने का अभिप्राय यही है कि ये तीनों प्रकृति के स्वरूपाधायक अंगरूप हैं और पुरुष के अर्थ को सिद्ध करनेवाले हैं (परार्था गुणाः—त० कौ० का० १२)। गुण का

अर्थ रस्ती भी है। अतः विज्ञानभिक्षु के मतानुसार पुरुष को बन्धन में डालनेवाला त्रिगुणात्मक महत्तत्त्वादि के निर्माता होने से इन्हें गुण कहते हैं^१। (गुण तीन प्रकार के होते हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्वगुण प्रीतिरूप, लघु और प्रकाशक होता है। रज दुःखात्मक चंचल और कार्य में प्रवर्तक (उपष्टम्भक) होता है। तमोगुण मोहरूप, भारी और रोकने वाला (वरणक) होता है। इस प्रकार परस्पर भिन्न स्वभाव होने पर भी पुरुष के लिए इनकी वृत्ति प्रदीप के समान अनुकूल एकाकार होती है (सां० का० १२-१३)।)

गुणों का स्वभाव चलनात्मक है। अतः व्यक्तावस्था या अव्यक्तावस्था उभय दशा में वे परिणामशील हैं। प्रकृति अवस्था में उनमें पारस्परिक संयोग नहीं रहता, क्योंकि उस समय वे अपने विशुद्ध रूप में अवस्थान करते हैं। इस दशा में भी परिणाम होता है जिसे 'सदृश परिणाम' कहते हैं, जब 'सत्त्वं सत्त्वतया परिणमति रजः रजस्तया तमश्च तमस्तया'। सृष्टि दशा में गुण 'परिणाम' को नहीं, प्रत्युत 'विकार' को उत्पन्न करते हैं। विकार परिणाम हो सकता है, परन्तु परिणाम विकार नहीं हो सकता। समानभाव से परिवर्तन 'परिणाम' है, परन्तु वैषम्यरूपेण परिवर्तन 'विकार' है। गुण इन्द्रियातीत हैं। उनका रूप कभी अनुभव का विषय नहीं हो सकता, क्षित्यादिक तद्विकार ही दृष्टिगोचर होते हैं जो मायिक और तुच्छ हैं—

गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति ।

यस्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सतुच्छकम् ॥ (षष्ठितन्त्र)

इन्हीं तीनों गुणों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। बौद्धों के समान सांख्य सिद्धान्त भी परिणामनित्यता को स्वीकार करता है। प्रकृति

१ गुणशब्दः पुरुषोपकरणत्वात् तन्मात्र-व्यवस्थितः, तन्मात्रादिरज्जुनिर्मातृत्वाच्च प्रयुज्यते । सां० प्र० भा० १।६१ ।

नित्य परिणामशालिनी है। जगत् के समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तित होते रहते हैं। परन्तु यह परिणाम ऐकान्तिक नहीं है क्योंकि अवस्था परिवर्तित होने पर भी ये गुण अनुस्यूत रूप से विद्यमान रहते हैं। प्रकृति जत्र गुणसाम्य के कारण अव्यक्तरूप में रहती है तत्र प्रलय होता है। गुण-विपमता के कारण सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रलयावस्था में भी प्रकृति परिणामशालिनी होती है, अन्तर इतना ही होता है कि उस समय का परिणाम अपने से भिन्न वस्तुओं को पैदा न कर अपने को ही प्रकट किया करता है। इसे ही कहते हैं सजातीय या 'स्वरूप परिणाम'। इस प्रकार भौतिक जगत् के विषय में सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि चितिशक्ति को छोड़ कर समस्त पदार्थ प्रतिक्षण में परिवर्तनशाली हैं।

प्रकृति के अन्तर दूसरा मुख्यतत्त्व पुरुष है। पुरुष त्रिगुणातीत, विवेकी, विषयी, विशेष, चेतन तथा अप्रसवधर्मी है। वह साक्षात् चैतन्य-रूप है, चैतन्य उसका गुण नहीं है। जगत् के पदार्थ पुरुष त्रिगुण-सम्पन्न तथा चेतन होते हैं। इनमें त्रैगुण्य तो प्रकृति का अंश है और चैतन्यभाव चेतन पुरुष का अंश है। पुरुष में किसी तरह का सदृश या विसदृश परिणाम उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए वह अविकारी, कूटस्थ, नित्य तथा सर्वव्यापक है। क्रियाशीलता प्रकृति के धर्म होने के कारण पुरुष वस्तुतः निष्क्रिय तथा अकर्ता है। जगत् का कर्तृत्व प्रकृति ही किया करती है। निरीह पुरुष तो केवल साक्षीमात्र या द्रष्टामात्र है। त्रिगुण-विलक्षण होने से ही वह नित्य मुक्त है—स्वभावतः वह कैवल्यसम्पन्न है। इसीलिए वह 'मध्यस्थ' भी है (सां० का० १९)।

✓ सांख्य पुरुष की कल्पना युक्तियों के दृढ़ आधार पर खड़ी की गई है (सां० का०, १७ का०) -- (१) संघातपरार्थत्वात् -- जगत् के समस्त

पदार्थ संचातमय है। घर ईंट, पत्थर, चूना आदि वस्तुओं का समुदाय है। वस्त्र अनेक तंतुओं का समूह है। संगठित वस्तुओं का यह स्वभाव है कि वे किसी अन्य के उपयोग (परार्थ) के लिए हुआ करती हैं। अतः प्रकृति से उद्भूत यह संचातमय जगत् अवश्य ही प्रकृति से अन्य के लिए स्थित है। वह है कौन ? इस जगत् में नितान्त विलक्षण 'पुरुष' (२) त्रिगुणादिविपर्ययात्-त्रिगुणमय प्रकृति से भिन्न होने के कारण भी किसी एक असंचात पदार्थ की कल्पना न्याययुक्त है। (३) अधिष्ठानात्—जड़ पदार्थ में चेतन के बिना अधिष्ठान हुए प्रवृत्ति दिखलाई नहीं पड़ती। रथ एक स्थान से दूसरे स्थान को तभी जा सकता है जब उसका नियन्ता चेतन सारथि होता है। इसी प्रकार सुख-दुःख-मोहात्मक जगत् किसी चेतन पदार्थ के द्वारा अधिष्ठित होकर प्रवृत्त है। (४) भोक्तृभावात्—मसार के समस्त विषय भोग्य हैं (भोगापवर्गार्थं दृश्यम् यो० सू० २।१८)। अतः इनका, भोक्ता, भोग करने वाला, भी कोई न कोई अवश्य ही होगा जो गुणों में इनमें नितान्त भिन्न तथा विलक्षण होगा। भोग्य विषयों का भोक्ता ही पुरुष है। (५) कैवल्यार्थं प्रवृत्तेः—इस जगत् में कम से कम कुछ आदमी ऐसे हैं जो दुःखों से व्यथित होकर मुक्ति पाने के लिए वास्तव में प्रयत्नशील हैं। भौतिक जगत् के किसी भी वस्तु के लिए इस प्रकार मुक्ति के लिए प्रयत्न करना संभव नहीं, क्योंकि स्वभावतः त्रिगुणमय होने के कारण उनकी दुःख निवृत्ति किसी प्रकार हो ही नहीं सकती। मुक्ति के लिए प्रवृत्ति इसी बात की गवाही देती है कि कोई वस्तु अवश्य है जो त्रिगुण से विलक्षण होने के कारण क्लेशों में आत्यन्तिक निवृत्ति पा सकती है। वही पदार्थ पुरुष है।

सांख्य का यह मान्य सिद्धान्त है कि पुरुष बहुत हैं (सां० का० १८ का०)। लोकानुभव इसके लिए सबसे उत्कृष्ट प्रमाण हैं। जन्म, मरण, करणों का नियम दृष्टिगोचर होता है। यदि पुरुषों की एकता होती, तो

एक व्यक्ति के जन्म लेते, सब पुरुषों का जन्म हो जाता या एक व्यक्ति के नेत्र-विहीन होनेपर समग्र पुरुष नेत्ररहित हो जाते। एककालिक प्रवृत्ति का अभाव भी पुरुष-बहुत्व का साधक है। त्रैगुण्य का विपर्यय या अन्यथाभाव भी साधक प्रमाण है। कोई सत्त्वबहुल, कोई रजोबहुल और कोई तमोबहुल पुरुष दृष्टिगोचर होते हैं। इन प्रमाणोंमें अरुचि होने पर नये प्रमाणों से भी पुरुषबहुत्व की सिद्धि की जा सकती है। पुरुष देशकालातीत है, अतएव वह एक होगा; इसमें कोई आधार नहीं है। मन के देशातीत द्रव्य होने से क्या मन बहुसंख्यक नहीं माना जा सकता? कालातीत का अर्थ है विकारहीन। तो क्या विकारहीन होने से वस्तु एकसंख्यक ही होगी, इसका नियामक क्या है? अतः देशकाल से अतीत होने पर भी पुरुष में बहुसंख्यकता अवश्यमेव विद्यमान है^१।

प्रकृति और पुरुष के संयोग से ही विश्व की सृष्टि उत्पन्न होती है। दोनों का संयोग ही सृष्टि का उत्पादक है। प्रकृति के जड़ होने से यह संसार केवल उससे उत्पन्न नहीं हो सकता, न स्वभावतः निष्कय

पुरुष से ही। इसलिए प्रकृति-पुरुष उभय का संयोग इस सृष्टि कार्य में अपेक्षित है। चेतन की अभ्यक्षता में ही जड़ प्रकृति सृष्टि कार्य का सम्पादन कर सकती है। परन्तु साख्य में सब से विषम प्रश्न है कि विरुद्ध स्वभाव वाले प्रकृति पुरुष का संयोग किन्मिक्तक है? (इस विषय में साख्य अन्वे और लंगड़ा की रोचक कहानी दृष्टान्त रूप से पेश करता है। अन्वे में चलने की शक्ति है परन्तु मार्ग का उसे तनिक भी ज्ञान नहीं है। उधर लंगड़ा मार्गदर्शक होते हुए भी चलने में असमर्थ है। परन्तु पारस्परिक संयोग से जिस प्रकार ये दोनों अपनी स्वार्थसिद्धि में सफल होते हैं, उसी भाँति जड़ात्मिका परन्तु सक्रिय

प्रकृति तथा निष्क्रिय परन्तु चेतन पुरुष का संयोग परस्पर कार्यसाधक है। प्रकृति भोग्या है; अतः भोक्ता के अभाव में प्रकृति की स्वरूप सिद्धि नहीं हो सकती; भोक्ता के द्वारा दृष्ट या अनुभूत होने पर ही प्रकृति का भोग्यत्व निष्पन्न होता है (दर्शनार्थम्)। पुरुष प्रकृति के संयोग का इच्छुक इसलिए बना रहता है कि वह उससे विवेक ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष की सिद्धि करता है (कैव्यार्थं सां० का० २१) प्राचीन साख्य में प्रकृति पुरुष के अतिरिक्त काल भी एक तृतीय पदार्थ माना जाता था^१ (श्रीमद्भागवत ३।६।२)। इसी काल के कारण पुरुष के सान्निध्य में प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होना बतलाया जाता था। प्राणियों के कर्मादिको की फलोत्पत्ति का जब काल आता है तब सृष्टि होती है। पीछेका साख्य स्वभाव को पुरुष के व्यतिरिक्त प्रकृति की प्रवृत्ति में कारण मानता है। प्रथमतः रजोगुण की प्रचलता से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है; गुणों में वैषम्य भाव उत्पन्न होने पर सत्त्व की प्रधानता पहले रहती है। अतः महत्तत्त्व में सत्त्वाधिक्य है। प्रकृति-विकृति में रजोगुण तथा तमोगुण का मिश्रण रहता है; भूतमृष्टि में तमः की ऐकान्तिक प्रधानता रहती है।

पुरुष के सान्निध्य से जडात्मिका प्रकृति में विकार उत्पन्न होता है। प्रथम विकृति का नाम महत्-तत्त्व है जो जगत् की उत्पत्ति में मद्बीजरूप है। व्यष्टि में इस तत्त्व को बुद्धि कहते हैं। बुद्धि का कार्य अध्यवसाय या कार्याकार्य के विषय में निश्चय करना है (सां० का० २३) सात्त्विक बुद्धि के चार गुण होते हैं—धर्म, ज्ञान, वैराग्य यथा ऐश्वर्य। तामस बुद्धि के गुण ठीक इनसे विपरीत होते हैं—अधर्म, अज्ञान,

१ अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।

बुद्धिः सत्त्वस्तमो रजो सर्गस्थित्यन्तसयमाः ॥

—विष्णुपुराण, प्रथमांश २।२६ ।

अवैराग्य तथा अनैश्वर्य । महत्तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है । अहंकार की सत्ता का अनुभव प्राणी मात्र के लिए माधारण बात है । 'सर्व विषय मेरे लिए हैं', 'मैं ही इस कार्य के करने का अधिकारी हूँ तथा ममर्थ हूँ' आदि लोकानुभव में जो अभिमान की भावना दृष्टिगोचर होती है, वह अहंकार का स्वरूप है । गुणविपमता के कारण अहंकार तीन प्रकार का होता है—वैकृत (अर्थात् सात्त्विक); तैजस (राजस) तथा भूतादि (तामस) । इनमें तैजस रजोगुणात्मक होने से चालक है । अतः उसकी सहायता अन्य दोनों प्रकारों के विकास के लिए नितान्त आवश्यक है । इस प्रकार तैजस-महकृत सात्त्विक अहंकार से ११ प्रकार की इन्द्रियो (मन, शानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय) की उत्पत्ति होती है । यह सांख्य काण्डिका (का० २५) तथा तत्वकौमुदी के अनुसार है । विज्ञान मिथु के अनुसार अहंकार के विकारों का क्रम इससे भिन्न है । इन्द्रियो में मन ही मुख्यतया सात्त्विक है । अतः सात्त्विक अहंकार से मन की, राजस से दश इन्द्रियो की और तामस से पञ्च तन्मात्राओ की उत्पत्ति होती है (सा० प्र० भा० २ । १८) । 'तन्मात्रा' शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध के अत्यन्त सूक्ष्म रूप हैं । ये इतने सूक्ष्म होते हैं कि इनका प्रत्यक्ष योगीजनो का ही होता है । हमारे लिये ये अनुमान के विषय हैं । शब्द तन्मात्रा से शब्दगुणक अकाश की उत्पत्ति होती है । शब्दतन्मात्रासहित स्पर्शतन्मात्रा से शब्दस्पर्शगुणवान् वायु की उत्पत्ति होती है । इसी प्रकार तेज, जल, पृथिवी की उत्पत्ति पूर्व तन्मात्राओ से सहचरित स्वीय तन्मात्रा से होती है (सा० का० २२) । सांख्यसम्मत विकासक्रम इस प्रकार है—

अनुभव का उदय नहीं होता, जब तक बुद्धि में चैतन्यात्मक पुरुष का प्रतिविम्ब नहीं पड़ता । बुद्धि में प्रतिविम्बित पुरुष का पदार्थों के सम्पर्क होने का ही दूसरा नाम ज्ञान है^१ । इस ज्ञान के साथ पुरुष के संयुक्त होने का फल तत्कालीन अनुभव में स्पष्ट रूप से दृश्य पड़ता है—
'चेतनोऽङ्करोति=मैं चेतन करता हूँ' यह अनुभव बुद्धि तथा पुरुष के मयोग का परिणाम है, क्योंकि न तो वस्तुतः निष्क्रिय पुरुष कार्य का सम्पादन कर सकता है और न कार्य करने वाली बुद्धि में विचार करने की शक्ति है ।

बुद्धितत्त्व प्राकृत होने से स्वभावतः अचेतन है तथा उसमें पदार्थ की उपस्थिति होने पर जायमान अध्यवसाय तथा दुःखादि भी उसी प्रकार अचेतन हैं । इधर चेतन पुरुष निःसंग होने से मुख दुःखादिको से नितान्त अमृक्त है । बुद्धि में चैतन्य के प्रतिविम्ब पड़ने से दोनों का उपकार होता है । बुद्धिच्छायापत्ति का यह अर्थ नहीं है कि पुरुष में बुद्धि का प्रतिविम्ब पड़ता है प्रत्युत प्रतिविम्ब में बुद्धि धर्मों का आरोप किया जाता है । (इस बुद्धिच्छायापत्ति से चेतन अपने को मुख तथा ज्ञान आदि में मयुक्त समझने लगता है । और पुरुष के संसर्ग (चिच्छायापत्ति) से अचेतना बुद्धि अपने को चेतन के समान समझने लगती है तथा उसका अचेतन अध्यवसाय चेतन के सदृश हो जाता है (कौमुदी का० ५) । पुरुष स्वभावतः असंग तथा निगुणातीत है, परन्तु बुद्धि प्रतिविम्ब होने पर ही उसे भोक्ता तथा ज्ञाता कह सकते हैं । ऐसी दशा में ही वह अन्य दर्शनों में अभिमत जीव स्थानीय होता है ।)

१ उपात्तविषयागामिन्द्रियाणा वृत्तौ सत्यां तमोऽभिभवे सति यः सत्त्वसमुद्रेकः सोऽध्यवसाय इति, वृत्तिरिति, ज्ञानमिति चाख्यायते—न० का० का० ५ ।

१ उदाहरणार्थः । चैतन्यस्य विषयेण सम्बन्धो ज्ञानम्, ज्ञानेन सम्बन्धश्च चेतनोऽहं करोमात्युपलब्धिः ।—हर्षिदास भट्टाचार्य-टीका कुमुदाजलि १।१४ ।

प्रथमतः पदार्थों का ज्ञानेन्द्रियों के साथ सम्पर्क होता है जिससे ज्ञानेन्द्रियों में उन पदार्थों के विषय में परिचयमात्र (आलोचन) उत्पन्न होता है (सां० का० २७-२८) । ज्ञानेन्द्रियाँ अपनी वृत्ति को समाप्त कर उन्हें मन को समर्पण करती हैं । मन उन पदार्थों के विषय में सम्यक् कल्पना करता है कि वे ये हैं, ये नहीं हैं । इस सम्यक् कल्पना के कारण ही मन को सांख्य शास्त्र में संकल्पनात्मक कहा गया है । (सां० का० २७) । मन के द्वारा समर्पित पदार्थ पर अहंकार की वृत्ति आरम्भ होती है कि 'ये पदार्थ मेरे लिए हैं, अन्य किसी के लिए नहीं' । इसके अनन्तर निश्चयात्मक बुद्धि की वृत्ति होती है । बुद्धि का काम इन पदार्थों के विषय में निश्चय करने का होता है । इसी बुद्धि में पुरुषगत चैतन्य के आरोप होने पर ही उस दशा का उदय होता है जिसे हम ज्ञान की दशा कहते हैं^१ । विषय के प्रति ज्ञानेन्द्रियों तथा अन्तःकरणों (मन, अहंकार तथा बुद्धि) का व्यापार कभी युगपत् होता है, और कभी क्रमशः होता है (सां० का० ३०) । अँधेरी रात में बिजुली की चमक से अपने सामने अकस्मात् व्याघ्र को देखकर जो मनुष्य भाग खड़ा होता है, उसके कार्य में सब करणों का व्यापार नितान्त शीघ्रता से युगपत्—एक साथ ही—होता है । चक्षु से व्याघ्र का परिचय, मन के द्वारा संकल्प, अहंकार के द्वारा पृथक्करण तथा बुद्धि के द्वारा निश्चय कि यह पशु व्याघ्र ही है और उस भयानक वस्तु से अपनी शरीररक्षा के निमित्त भाग जाने की सलाह—ये समग्र व्यापार एक साथ ही होते हैं । परन्तु अन्यत्र घनघोर रात्रि में पेड़ों के छुग्मुट में खड़े होनेवाले व्यक्ति विशेष को देखकर चार ममझकूर भाग जाने के निश्चय करने में पूर्वोक्त करणों का व्यापार क्रमशः—एक के बाद एक—होता है ।

सांख्यदर्शन बुद्धिवृत्ति के द्वारा बाह्य जगत् के अनुभव प्राप्त करने

का पक्षपार्ती है, तथापि विज्ञानवादियों के विपरीत ब्राह्मार्थ की सत्ता ज्ञान के समान ही उसे अभीष्ट है। बुद्धि में आरोपित पदार्थ का स्वरूप यदि ब्राह्म जगत् में विद्यमान उस पदार्थ के रूप के साथ एकाकार हो, तो सांख्य की कल्पना में वह ज्ञान सच्चा कहलावेगा। अतः अनुभव की सत्यता की परीक्षा पदार्थ के भौतिक ब्राह्मरूप और बुद्ध्यारोपित पदार्थरूप के अभिन्नाकार होने पर अवलम्बित रहता है। सांख्यसम्मत भ्रान्ति की कल्पना विलक्षण है। उसकी सम्मति में माध्यमिकों, प्राभाकरों, वेदान्तियों और नैयायिकों के ख्यातिवाद अनेकांश में त्रुटिपूर्ण अतएव अनुपादेय हैं (सां० सू० ५।५२ ५५)। शुक्ति में जब रजतज्ञान होता है कि इदं रजतम् (यह रजत है), तब 'इदं' का ज्ञान सत् और 'रजतं' का ज्ञान असत् होता है। 'इदं' ज्ञान का आश्रय हमारे चाक्षुष प्रत्यक्ष का विषय है। अतः यह 'सत्' (विद्यमान) है। रजत ज्ञान का आश्रय हमारे इन्द्रियों से अगोचर है और नेदं रजत (यह रजत नहीं है) ज्ञान के द्वारा उत्तरकाल में बाधित भी होता है। अतः वह 'असत्' है। भ्रान्तिज्ञान इस प्रकार सत्-असत् उभयविध पदार्थों पर आश्रित रहता है। यह है सांख्य का **सदसत् ख्यातिवाद** (सां० सू० ५।५६)। पूर्वोक्त व्याख्या अनिरुद्ध वृत्ति के अनुसार है, परन्तु विज्ञानभिक्षु के मत में सब पदार्थों का नित्य होने से स्वरूपतः अबाध है, परन्तु चैतन्य में आरोपित होने पर संसर्गतः बाध है (स्वरूपेणाबाधः सर्ववस्तूनां नित्यत्वात्। संसर्गतस्तु बाधः सर्ववस्तूनां चैतन्येऽस्ति)। उदाहरणार्थ बाजार में बनियो की दूकानों पर रजत सद्रूप से विद्यमान है, परन्तु शुक्ति में अध्यस्त रजत असत् है। जगत् भी स्वरूपतः सत् है परन्तु चैतन्य में अध्यस्त होने पर असत् है—सद-सदात्मक है (५।५६ पर सांख्यप्रवचनभाष्य)।

सांख्य तीन प्रमाणों को मानता है—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द (सां० कां० ५)। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—आलोचन ज्ञान

(निर्विकल्पक) तथा सविकल्पक । अनुमान प्रथमतः दो प्रकार का होता है—अन्यमुख से प्रवृत्त होनेवाला विधायक अनुमान (वीत) तथा व्यतिरेकमुख से प्रवृत्त होने वाला निषेधक अनुमान (अवीत) । अवीत केवल एक ही प्रकार का है जो 'शेषवत्' कहलाता है, परन्तु 'पूर्ववत्' तथा 'सामान्यतो दृष्ट' भेद से वीत दो प्रकार का माना गया है (त० कौ० का० ६) । इस प्रकार न्यायपुत्राभिमत 'त्रिविधमनुमान' सांख्य-दर्शन में भी अंगीकृत है । आप्तश्रुति या आप्त वचन तीसरा प्रामाण्य है । तर्कानुकूल युक्तियों के द्वारा कथमपि सिद्ध न किये जाने के कारण ईश्वर की सत्ता प्रमाणिकोक्ति में नहीं आती । अतः तद्द्वारा विरचित न होने से वेद अपौरुषेय हैं^१ । बुद्धिपूर्वक निर्मित वस्तु को 'पौरुषेय' कहते हैं, वेद निःस्वास के समान ब्रह्मा से अबुद्धिपूर्वक स्वतः उत्पन्न होते हैं । अतः वे अपौरुषेय हैं (सा० सू० ५।५०) । श्रुति स्वार्थ प्रतिपादन में स्वतः प्रमाण है (सा० सू० ५।५१) । सांख्यदर्शन ज्ञान के प्रामाण्य और अप्रामाण्य को 'स्वतः' स्वीकार करता है^२ । सत्कार्यवाद के अनुसार अत्यन्त असत् पदार्थों की उत्पत्ति नहीं होती । अतः ज्ञान के अनन्तर प्रामाण्य और अप्रामाण्य का जो उदय होता है, वह ज्ञान में निसर्गतः विद्यमान रहता है । अन्यथा इनका उदय हो ही नहीं सकता । कारण के गुण या दोष से उसकी केवल अभिव्यक्ति उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कारणव्यापार से मृत्तिकास्थ घट का आविर्भाव ।

(५) सांख्य कर्तव्यमीमांसा

वैदिक कर्मकांड को सांख्य दृष्ट उपाय के समान ही अकिञ्चित्कर स्वीकार करता है । परलोक में अदृष्ट फल साधन करनेवाले यज्ञों में क्षय तथा अतिशय रूप दो दोष विद्यमान हैं ही, परन्तु अविशुद्धि का दोष

१ न पौरुषेयत्व तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्—सां० सू० २।४६ ।

२ प्रमाणाप्रमाणत्वे स्वतः समाश्रिताः—स० द० सं० पृ० १०६ ।

मुख्य है (सां० का० २) । पशुयाग श्रुतिमम्मत् होने से कर्तव्य कर्म है, क्योंकि यज्ञ में हिंसित पशु पशुभाव को छोड़कर मनुष्यभाव की प्राप्ति के बिना ही देवत्व को सद्यः प्राप्त कर लेता है । अतः यज्ञमान तथा पशु दोनों की दृष्टि से यज्ञानुष्ठान उपादेय है । परन्तु सांख्य-योग की दृष्टि में इसमें पशु-हिंसा अवश्य होती है; पशु को प्राणवियोग का असहनीय क्लेश भोगना पड़ता है; इसलिए इतने पापकर्म के लिए यथोचित पुण्यफल में से किञ्चित् पुण्य घट जाता है । इतनी हिंसा होने से पुण्य की समग्रता नहीं रहती । इसका नाम व्यासभाष्य (२।१३) में 'आवाप-गमन' दिया गया है^१ । भागवतधर्म के साथ सांख्य के सम्बन्ध का भी यही रहस्य है । सांख्य-योग की दृष्टि में समस्त यम नियमों में 'अहिंसा' ही मुख्य सार्वभौम धर्म है । यह बात ध्यान देने योग्य है कि सत्य तथा अहिंसा के पारस्परिक विरोध के अवसर पर 'अहिंसा' की मुख्यता मानी गई है । समस्त यम नियम अहिंसामूलक हैं तथा उनका प्रतिपादन 'अहिंसा' की विद्युद्धि—अवदातता—के अभिप्राय से किया गया है । व्यासभाष्य (यो० सू० २।३०) में 'सत्य' की विवेचना करते समय स्पष्टतः लिखा है—एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय । यदि चैवमपि अभिधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यात्, न सत्यं भवेत्; पापमेव भवेत्तेन पुण्याभासेन पुण्यप्रतिरूपकेण । कष्टं तमः प्राप्नुयात् । तस्मात् परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात् । महाभारत की सत्यमीमांसा का तात्पर्य भी यही है—यद् भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम । तत्त्ववैशारदी में चोरो के प्रश्न के उत्तर में सार्थगमन के स्थान को बतलानेवाले 'सत्य-तपाः' ऋषि की रोचक कहानी दृष्टान्तरूप से दी गई है । अतः सत्य से

१ भाष्य में पञ्चशिख का यह प्रसिद्ध सूत्र उद्धृत है—स्यात् स्वप्नः सकलः सपरि-
हारः सप्रत्यवमर्षः कुशलस्य नापकर्षायात्मम् । कस्मात् ? कुशल हि मे बह्वन्यदगति
त्रायमावाप गतः स्वप्नेऽपि अपकर्षमन्यं करिष्यति ।

बढ़कर 'अहिंसा' को महत्त्व देना सांख्यदार्शनिकों के कर्तव्यशास्त्र की आधारशिला है। इसलिए प्राणियों की प्रत्येक प्रवृत्ति अहिंसामूलक होनी चाहिए। अतः अहिंसा के प्रचार होने के कारण सांख्यदर्शन का सम्बन्ध भागवतधर्म से नितान्त घनिष्ठ है। (गुणरत्न-पङ्कटदर्शनसमुच्चय-वृत्ति पृ० ९६)।

पुरुष स्वभावतः असंग और मुक्त है, परन्तु अविवेकके कारण उसका प्रकृति के साथ संयोग निष्पन्न होता है। इस संयोगसे प्रकृतिजन्य दुःखका अपवर्ग पुरुषमें जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, बड़ी है पुरुषके लिए दुःखमोग संसार। अतः समारका मूल कारण अविवेक है और दुःख निवृत्ति का साधन विवेक है (सा० प्र० भा० ३।७४)। सांख्यसूत्र (३।६५)के अनुसार अपवर्ग का स्वरूप है—द्वयोरैकतस्य वा औदार्यान्यमपवर्गः अर्थात् प्रकृति पुरुष का परस्पर वियोग होना या एकाकी होना अथवा पुरुष की ही प्रकृति में अलग स्थिति (कैवल्य)। बन्धमोक्ष वस्तुतः प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। इसीलिए ईश्वरकृष्ण (सा० का० ६२) का यह कथन नितान्त युक्तियुक्त है कि पुरुष न तो बन्धन का अनुभव करता है, न मुक्ति का और न संसार का। ये सब प्रकृति के ही धर्म हैं। प्रकृति ही बन्धन, मोक्ष तथा संसार का अनुभव करती है। अतः पुरुष के जिस अपवर्ग की चर्चा की गई वह “प्रतिबिम्बरूप मिथ्यादुःख का वियोगमात्र” है (यः पुरुषस्यापवर्ग उक्तः स प्रतिबिम्बरूपस्य मिथ्यादुःखस्य वियोग एव-सा० प्र० भा० १।७२)। पुरुष की मुक्ति प्राप्त कर लेने का अभिप्राय यही है कि यह अपनी स्वतन्त्र, असङ्ग, केवल की दशा को प्राप्त कर लेता है। पुरुष शरीर तथा मन के ऊपर है, प्राकृत बन्धनों से उन्मुक्त होनेवाला अभरणधर्म, अपरिवर्तनशाल नित्य सत्य पदार्थ है, यह जान लेना ही पुरुष का कैवल्य है। अतः व्यक्त, अव्यक्त तथा ज के तत्त्वज्ञान से विवेक सिद्धि होती है जिसका फल निःशेष दुःख-निवृत्ति है। इसी दशा में पुरुष की कृत-

कृत्यता है (सा० सू० ३।८४) उस दशा में प्रकृति के व्यापार की निवृत्ति स्वतः निष्पन्न हो जाती है । प्रत्येक पुरुष की अपवर्ग सिद्धि के लिए ही प्रकृति का समस्त व्यवहार है^१ । जब अपवर्ग की ही सिद्धि हो गई, तब प्रयोजन के अभाव में उसका विराम होना नितान्त स्वाभाविक है । पाचक की भोजन में तभी तक प्रवृत्ति रहती है, जबतक भोजन निष्पन्न नहीं हो जाता । भोजन की निष्पत्ति होने पर उसका व्यापार स्वतः बन्द हो जाता है^२ ।

प्रकृति उस नर्तकी के समान है जो रङ्गस्थल में उपस्थित दर्शकों के सामने अपनी कलावाज' दिखाकर कृतकार्य होकर नर्तन-व्यापार से स्वतः निवृत्त हो जाती है । वस्तुतः प्रकृति से सुकुमारतर व्यक्ति कोई दूसरा है ही नहीं, वह इतनी लज्जाशीला है कि एक बार पुरुष के द्वारा अनुभूत हो जाने पर उसके सामने कभी उपस्थित ही नहीं होता (सा० का० ५९-६०) अर्थात् विवेकी पुरुष के प्रति प्रकृति का कोई व्यापार नहीं होता । उसका विराम आपसे आप सिद्ध हो जाता है । तत्त्वाभ्यास के परिणाम से पुरुष में कैवल्य ज्ञान का उदय होता है जो संशय तथा विपर्यय से हीन होने के कारण नितान्त विशुद्ध होता है । उस दशा में पुरुष को यह निश्चित ज्ञान उत्पन्न हो जाता है^३ कि 'नास्मि'—मुझमें किसी प्रकार की क्रिया का सम्बन्ध नहीं है, मैं स्वभावतः निष्क्रिय हूँ । 'नाहम्'—क्रिया के निषेध होने से मुझ में किसी प्रकार का कर्तृत्व नहीं है तथा 'न मे'—मैं असङ्ग हूँ, संगहीन होने से किसी के साथ मेरा स्वस्वामिभाव का सम्बन्ध नहीं है । इस प्रकार क्रियाहीनता, संगहीनता तथा कर्तृत्वहीनता

१ प्रनिपुरुषविमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थं आरम्भः । सा० का० ५६ ।

२ विविकृतबोधात् सृष्टिनिवृत्तिः प्रधानस्य सूदवत् पाके । सा० सू० ३।६३।

३ एव तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपशिषम् ।

अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम् । ६४।

का अनुभव प्रकृति की निवृत्ति होने पर पुरुष में स्वतः होने लगता है।
ऐसी मुक्तावस्था की प्राप्ति प्रत्येक मनुष्य इसी जन्म में कर सकता है।

मुक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति।
विवेक ज्ञान हो जाने पर मनुष्य इसी जन्म में जिस मुक्ति का अनुभव करता है उसे 'जीवन्मुक्ति' कहते हैं। जीवन्मुक्त कर्म-
जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति व्यापार से विरत नहीं होता, प्रत्युत उर्मी अभिनिवेश तथा लगन से प्रारब्ध कर्मों के निष्पादन में जुटा रहता है, परन्तु अब कर्म बन्धन उत्पन्न नहीं करते। वाचस्पति मिश्र का कथन बहुत ही सुन्दर है कि क्लेशरूपी सलिल से सिक बुद्धिभूमि में कर्मबीज के अंकुर उत्पन्न होते हैं, परन्तु तत्त्वज्ञान रूपी ग्रोष्म के कारण क्लेश-जलके सूख जाने पर ऊसर जमीन में क्या कभी कर्मबीज उत्पन्न हो सकते हैं? [क्लेशसलिलावमिकताया हि बुद्धिभूमौ कर्मबीजान्यङ्कुरं प्रमुवतं। तत्त्वज्ञाननिदाघनिर्पातसकलक्लेशसलिलायामूपराया कृतः कर्मबीजानामङ्कुर-प्रसवः—तत्त्वकौमुदी सा० का० ६७] (अतः कुलाल के व्यापार की निवृत्ति के अनन्तर जिस प्रकार चक्र कुल काल तक पूर्वाभ्यास के अनुसार अवश्य चलता रहता है, ठीक उर्मी भाँति प्रकृति की निवृत्ति होने पर भी पुरुष प्रारब्ध कर्मों का सम्पादन करता ही रहता है।) (चक्रभ्रमिवद्वृतशरीरः का० ६७)। शरीर के नाश होने पर पुरुष ऐकान्तिक—अवश्यम्भावी तथा आत्यन्तिक अविनाशी दुःखत्रय के विनाश को प्राप्त कर लेता है इसी की शास्त्रीय संज्ञा 'विदेहमुक्ति' है^१। विश्वनाथभिक्षु (सा० प्र० भा० ५।११६) विदेहमुक्ति को ही वास्तव मुक्ति मानते हैं, क्योंकि जब तब पुरुष भोगायतन शरीर में निवास करता है, तब तक शरीरधर्म से उसका प्रभावित न होना असम्भव सा है। मुक्ति के प्रकार में मतभेद भले हों पर मुक्तिस्वरूप के विषय में सांख्याचार्यों में ऐकमत्य है कि दुःखत्रय व

आत्यन्तिकी निवृत्ति ही मोक्ष है। वेदान्त के समान उस समय आनन्द का अनुभव नहीं होता। सांख्य का सिद्धान्त है कि मुख दुःख आपेक्षिक शब्द है। दुःख के अभाव होने पर मुख की भी सत्ता सिद्ध नहीं होती।

सांख्य के माननीय आचार्यों की एकमात्र सम्मति है कि जगत् की रचना तथा कर्मफल-प्रदान आदि कार्यों के लिए ईश्वर की सत्ता मानने के लिए कोई आवश्यकता नहीं है। सांख्यसूत्रों ने ईश्वर की सम्मति स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि ईश्वर पञ्चावयव वाक्यों की सहायता से सिद्ध नहीं किया जा सकता^१। ईश्वर तार्किक युक्तियों का विषय नहीं है। अतः सांख्यसूत्र प्रमाणों के द्वारा ईश्वर की असिद्धि पर जोर देता है, परन्तु ईश्वरकृष्ण तथा कारिका के टीकाकारों ने स्पष्टतः ईश्वर का निषेध किया है^२। (१) कार्यभूत जगत् का कर्ता मानना तो उचित है ही, पर ईश्वर में उसकी कर्तृता सिद्ध नहीं हो सकती। ईश्वर स्वयं निर्व्यापार—व्यापारहीन—है। अतः इस परिवर्तनशाल जगत् का वह क्रियाशील कारण कर्मा नहीं हो सकता। (२) चेतन पुरुष की कार्य में प्रवृत्ति स्वार्थमूलक होता है। इस जगत् की रचना में ईश्वर का कोई भी स्वार्थ नहीं जान पड़ता, क्योंकि ईश्वर पूर्णकाम है। उसकी कोई भी इच्छा नहीं है जिसकी पूर्ति के लिए वह इस व्यापार में प्रवृत्त होगा। (३) जगत् के व्यापार में ईश्वर की प्रवृत्ति का कारणवश मानना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि सृष्टि के पहले विषय, शरीर तथा इन्द्रिय के उत्पन्न न होने से जीवों में दुःख का सम्पर्क ही नहीं है जिसके नाश की अभिलाषा ईश्वर में कारणवश उत्पन्न

१ ईश्वरगमिदधे—सा० सू० १।९२; प्रमाणाभावात् तत्सिद्धिः—सां० सू० ५।१०, सम्बन्धाभावाच्चानुमानम्—सां० सू० ५।११।

२ द्रष्टव्य कारिका आर कांमुदा ५६-५७, सांख्यसूत्र आर भाष्य १।९२-९५, ३।५६-५७, ५।२-१२।

करेगी। कारुण्य से जगत् की उत्पत्ति और उत्पत्ति होने पर दुःखी प्राणियों की दीन दशा को देखकर कारुण्य की उत्पत्ति यदि मानी जाय तो यह तर्क अन्योन्याश्रय दोष से दूषित होने के कारण नितान्त हेय ठहरता है। ऐसी दशा में ईश्वर में न तो कोई स्वार्थ दृष्टिगोचर होता है और न कारुण्य की उत्पत्ति के लिए कोई युक्ति मिलती है। अतः बाध्य होकर ईश्वर का निषेध करना ही पड़ता है। किन्तु विज्ञानभिक्षु इसे मानने के लिए तैयार नहीं हैं। वे साख्य को निरीश्वर नहीं मानते। कर्तृत्वशक्तिसम्पन्न ईश्वर को सिद्धि भंग न हो, परन्तु ईश्वर जगत् का साक्षी है जिसके मन्निधिमात्र से प्रकृति जगत् के व्यापार में निरत होती है—परिणाम धारण कर जगत् की रचना में प्रवृत्त होती है, जिस प्रकार चुम्बक अपने सान्निध्यमात्र से लोहे में गति पैदा करता है।

(६) समीक्षा

साख्य की पदार्थमीमासा वैशेषिकों की तत्त्वमीमासा से कहीं अधिक युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वस्तुतः जगत में चैतन्य, मन तथा भूत मानने से काम चल सकता है। साख्य ने चैतन्य की सत्ता पुरुषरूप में स्वीकृत की है और मन तथा भूत का अन्तर्भाव प्रकृति के भीतर किया है जिससे मानसिक दशाओं और भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति होती है। अतः साख्य ने पुरुष प्रकृति को ही मौलिक तत्त्व माना है। वैशेषिक द्रव्यों का समावेश इन्हीं दोनों में किया गया है। विभु अनन्त आत्मा विभु बहु पुरुषरूप में अंगीकृत किया गया है, परन्तु दोनों की कल्पना में अन्तर यह है कि आत्मा चैतन्य का आश्रयमात्र है; पर पुरुष चैतन्यरूप है। इतर आठ द्रव्य प्रकृति के अन्तर्गत माने गये हैं। मन का स्थान अन्तःकरण ने और परमाणु-चतुष्टय तथा आकाश का पञ्चतन्मात्रा ने ग्रहण किया है। काल और दिक् को सांख्याचार्य स्वतन्त्र पदार्थ नहीं मानते

प्रत्युत सत्यभूत बाह्यार्थ का व्यावहारिक सम्बन्ध मानने है। ये सम्बन्ध सम्बद्ध वस्तुओं से भिन्न नहीं हैं। इस प्रकार सांख्य ने वैशेषिक नव-द्रव्यों की संख्या घटाकर दो मौलिक तत्वों को आवश्यक माना है। सांख्ययोग को बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सर्वतोभावेन माननीय है। सूत्र-कार ने 'न विज्ञानमात्रं बाह्यप्रतीतिः' (सा० सू० १।४२) में बाह्यार्थ की सत्ता का याथार्थ्य प्रतिपादित किया है। अनुरुद्ध ने इस सूत्र की वृत्ति में विज्ञानवाद का सप्रमाण खण्डन कर कपिल के मत को प्रमाणों से पुष्ट किया है। विज्ञान भिक्षु ने प्रत्यक्ष होने से बाह्यार्थ की सत्ता मानी है। योगसूत्रों (४।१८-१५) में भी पतंजलि ने बाह्यार्थ को चित्तमय न मानकर वास्तव सिद्ध किया है। इस प्रकार सांख्ययोग दोनों बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता मानने वाले वास्तववादी हैं।

✓ बादरायण ने ब्रह्मसूत्रों के अनेक स्थलों^१ पर सांख्यसम्मत तत्वों का प्रत्याख्यान किया है। शंकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य में (१।४।२८) सांख्य को 'प्रधान मन्त्र' बतलाया है जिसको बिना पछाड़े तत्त्वविचार के अग्रार्थ में वेदान्त की विजय हो नहीं सकती। सांख्य के सिद्धान्तों में सबसे आक्षेपयोग्य सिद्धान्त है—जड़ प्रकृति की कर्तृता तथा चेतन पुरुष की बहुलता। सांख्य जड़ प्रकृति को ही जगत् का कर्ता मानता है, परन्तु बादरायण की दृष्टि में प्रकृति की ही कल्पना श्रुतिसम्मत न होकर अनुमान का दुर्बल भिन्न पर प्रतिष्ठित है। इसी विचार से सूत्रों में प्रकृति लिए 'अनुमान'^२ तथा 'आनुमानिक'^३ शब्दों का प्रयोग किया गया है।

सांख्य प्रकृति को सगुण मानकर भी स्वतन्त्र तथा नित्य मानता है

१ विशेष द्रष्टव्य ईक्षत्यधिकरण (१।१५-११), आनुमानिकाधिकरण (१।४।१-७) तथा रचनानुपपत्त्यधिकरण (२।२।१-१०)।

२ रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्—ब्र० सू० २।२।१।

३ आनुमानिकमप्येवैषामिति—ब्र० सू० २।४।१।

वेदान्त इस सिद्धान्त को मानने के लिए उद्यत नहीं है। जो वस्तु सगुण होती है, वह अवश्य नाशवान् होती है। अतः सत्त्व रज तथा तम-गुण-त्रयविशिष्ट प्रधान को पुरुष से स्वतन्त्र तथा नित्य स्वीकार करना नितान्त अयुक्तिक है। परन्तु वैमत्य का विषय प्रकृति में बिना किसी चेतन की अध्यक्षता के स्वतः प्रवृत्ति का आविर्भाव है। गुणसाम्यात्मिका प्रकृति में विषमतासूचक क्षोभ का सर्वप्रथम उदय क्यों कर होता है? लौकिक दृष्टान्त के सहारे इस प्रश्न का उत्तर समीचीन नहीं प्रतीत होता। जिस प्रकार यह ऋतुपरिवर्तन (वसन्त के बाद ग्रीष्म, तदन्तर वर्षा आदि) स्वतः प्रवृत्त होता है, उसी प्रकार प्रकृति भी पुरुष की कैवल्यसिद्धि के स्वतः प्रवृत्त होती है^१। गाय के स्तन के बछड़े के लिए आप से आप बहने वाले दूध का भी दृष्टान्त इस स्वतः प्रवृत्ति का पोषक बतलाया गया है^२, परन्तु तर्कबुद्धि इन दृष्टान्तों की युक्तियुक्तता मानने के लिए उद्यत नहीं है। काल की क्रम-व्यवस्था चेतन सूर्य के कारण नुसम्भन्न है और बछड़े के पोषण के लिए दूध का निकलना चेतन धेनु के स्नेह-च्छा का परिणाम है। लोकोपकार के लिए अचेतन जल का स्वयं बहना भी सगत दृष्टान्त नहीं है, क्योंकि जल के बहने में भी चेतन ईश्वर की शक्ति अदृश्य रूप से काम करती है। अतः चेतनानधिष्ठित अचेतन प्रकृति की स्वतः प्रवृत्ति शास्त्र तथा तर्क दोनों के नितान्त प्रतिकूल है^३।

पुरुष-बहुत्व का सिद्धान्त भी इसी प्रकार दोषयुक्त प्रतीत होता है। जनन तथा मरण, अवस्था, मानसिक दशा आदि कारणों से सांख्य पुरुषो

१ कर्मवद् दृष्टेर्वा कालादे — मां० सू० ३।६०।

२ अचेतनत्वेऽपि श्रीगवच्छेष्टित प्रधानस्य — सां० सू० ३।५९
वन्मविशुद्धिनिमित्त श्रीगवच्छेष्टित प्रधानस्य तथा प्रवृत्तिगजस्य। मां० कां० ५७

३ द्रष्टव्य शाङ्करभाष्य २।२।९-१०।

को एक मानने के लिए तैयार नहीं है। शारीरिक तथा मानसिक दशाओं में प्रतिपुरुष में इतने विभेद है कि पुरुष-बहुत्व को प्रमाण कोटि में मानना ही पड़ता है। परन्तु इन स्थलों पर भी साख्य देहधर्म की भिन्नता के कारण चैतन्यस्वरूप पुरुष की भिन्नता मानने के लिए तैयार है। अन्धत्व, काणत्व आदि देह के धर्म हैं। इनके कारण शुद्ध आत्मा में भिन्नता कैसे आ सकती है? चैतन्यरूपेण सत्र पुरुष एक समान ही हैं। ऐसी दशा में पुरुष को चैतन्यरूप मानना तथा उसी क्षण में उसे विभिन्न चतलाना कदाँ तक युक्तिमत्ता है? यह एक विचार का विषय है कि इस पुरुष का प्रकृति के साथ प्रथम संयोग कैसे होता है? इस प्रश्न का भी साख्यसम्मत उत्तर अमन्तोपप्रद ही है। इन समस्त विप्रतिपत्तियों की सत्ता रहने पर भी साख्य दर्शन की सूक्ष्म तर्कमूलक विवेचनपद्धति दार्शनिकों की विशेष प्रशंसा का भाजन है। साख्य का तत्त्व-विश्लेषण बहुत ही दूरगामी तथा तलस्पर्शी है। इसने तत्त्वमीमांसा को उस स्थान तक पहुँचा दिया जहाँ से वेदान्त ने उसे ग्रहण किया तथा सर्वतोभावेन पूर्ण कर दिया। इस साख्य ज्ञान के आविर्भावक महर्षि कपिल को सूक्ष्म शास्त्रप्राहिणी विवेकबुद्धि की जितनी प्रशंसा की जाय वह थोड़ी ही है।

कठिणाय नमस्तस्मै येनाविद्योदधौ जगति मग्ने ।

कारुण्यात् साख्यमयी नौरिह विहिता प्रतरणाय ॥

—माठरवृत्ति



दशम परिच्छेद

योगदर्शन

योग हिन्दू जाति की सबसे प्राचीन और सब से समीचीन सम्पत्ति है। यही एक ऐसी विद्या है जिसमें वाद विवाद का स्थान नहीं है। यह सर्वसम्मत अविमवादि सिद्धान्त है कि योग ही सर्वोत्तम मोक्षोपाय है। भवतापतापित जीवों का सर्वसन्तापहर भगवान् से मिलाने में योग भक्ति और ज्ञान का प्रधान सहायक है। प्राचीन ऋषिओं के प्रातिम ज्ञान की, अन्तर्दृष्टि की, उत्पत्ति में योग ही प्रधान कारण था। धर्म प्रचारकों और दार्शनिकों ने योग की प्रकृष्ट उपयोगिता मानी है तथा उसका विवेचन अपनी दृष्टियों से किया है। अतः योग के अनेक प्रकार हैं। बुद्ध धर्म के पाली त्रिपिटकों तथा संस्कृत ग्रन्थों में योग की प्रक्रिया का विशिष्ट वर्णन है। महावीर स्वयं योगी थे और जैन धर्म में योग का विवेचन पर्याप्तमात्रा में किया गया है। 'अंगों' के अतिरिक्त उमास्वाती ने तत्त्वार्थसूत्र में और हेमचन्द्र ने 'योगशान्त्र' में स्वतन्त्र रूप से योग का विचार किया है। प्रस्थान भिन्न होने पर भी योग के ये विवेचन उपयोगी और उपादेय हैं। तन्त्रों में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान प्रसिद्ध ही है। गोरक्षनाथ के नाथ सम्प्रदाय में योग का इतना आदर है कि उस सम्प्रदाय को 'योगी' सम्प्रदाय के नाम से पुकारते हैं। नाथ-पन्थी सिद्ध 'हठयोग' के परमाचार्य थे। मन्त्रयोग, लययोग आदि योग

प्रसिद्ध ही हैं। परन्तु इस परिच्छेद में योग का दार्शनिक विवेचन अभीष्ट होने से 'राजयोग' के नाम से प्रसिद्ध पातञ्जल योग का ही वर्णन किया जायगा।

प्राणविद्या की महनीयता का प्रतिपादन संहिता, आरण्यक और उपनिषद् में समभावेन उपस्थित किया गया है। ऐतरेय आरण्यक के द्वितीय आरण्यक के प्रथम तीन अध्यायों में ऋक् योग का प्राचीनता संहिता के मन्त्रों के उल्लेख तथा व्याख्यान-पुरःसर प्राणविद्या का उत्कृष्ट विवेचन है। दार्ढ्यतमा ऋषि का कथन है कि मैंने प्राण का साक्षात्कार किया है जो सब इन्द्रियों का रक्षक है, कभी नष्ट नहीं होने वाला है और भिन्न-भिन्न मार्गों (नाड़ियों) के द्वारा बाहर-भीतर आता जाता है। यह प्राण अध्यात्म रूप में (शरीर में) वायु और अधिदैव रूप में आदित्य है (ऋ० वे० १।१६४। ३१; १०।१७७।३)—

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम् ।

म सत्रीर्चीः स विपृचीर्वसान आवरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

प्राण ही अन्तरिक्ष तथा वायु का स्रष्टा और पिता है। प्राण की उपासना अनेक प्रकार से बतलाई गई है। प्राण ही देवतात्मक है। प्राण ही ऋषिरूप है। अतः देवताओं और ऋषियों की भावना प्राण में करनी चाहिए। प्राण ही शयन के समय वागादि इन्द्रियों के निगरण करने के कारण 'गृह' कहलाता है और रात्रि के समय बोर्य के विसर्ग-जन्य मद उत्पन्न करने के कारण अश्व ही 'मद' है। अतः प्राण-अपान के संयोग को 'गृहमद' कहते हैं। विश्व को पापों से बचाने के कारण प्राण ही 'अत्रि' है। इस शरीर में इन्द्रियों के सब से बढ़ कर वास या निवास का कारण होने से प्राण ही 'वसिष्ठ' है। समस्त वेद और श्रुतियाँ प्राणरूप हैं। अतः प्राण की इन विविध रूपों से उपासना करनी चाहिए (ऐत० आर० २।२।१०)।

‘योग’ का प्रयोग संहिताओं में अपने विशिष्ट अर्थ में अनेक स्थलों पर मिलता है (ऋ० स० १।५।३; १।१८।७; १।३०।७ आदि) । छान्दोग्य, बृहदारण्यक, कठ, मैत्री, श्वेता-उपनिषद् में याग श्वतर आदि उपनिषदों में तो योग की विशिष्ट प्रणाली का संकेत उपलब्ध होता है । कठ (१।१।१२; २।३।१०-११) का कथन है कि जत्र पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मन के साथ आत्मा में स्थिर हो जाती हैं और बुद्धि भी जत्र किसी प्रकार की चेष्टा नहीं करती, तत्र इस अवस्था को परमा गति कहते हैं । उसी स्थिर इन्द्रिय-धारणा को योग कहते हैं (ता योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्) । श्वेता-श्वतर (२।८-१५) ने क्रियात्मक योग का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है । समाधि करने समय मिर गर्दन और गीढ़ का एक सीध में रखना, इन्द्रियों को मन के द्वारा वश करना और श्वास प्रश्वास का नियमन करना; कंकड़, आग, वायु से रहित समतल, पवित्र, मनोनुकूल स्थान पर (विशेषतः गुफा में) योग का अभ्यास करना; योगसिद्धि के होने पर लघुता, आरोग्य, वर्णप्रसाद, सुख आदि का स्वतः उत्पन्न होना—प्रत्याहार, प्राणायाम और समाधि के साक्षात् परिचायक हैं । छान्दोग्य (८।६), बृहदारण्यक (४।३।२०) और कौपीतिक (४।१९) में हृदय से पुराता तक जाने वाली ‘दिता’ नामक नाड़ियों का निर्देश किया गया है । उपनिषद्-साहित्य में २१ उपनिषद् ऐसे हैं जिनमें योग का सर्वांगीण विवेचन है—(१) अद्वयतारक, (२) अमृतनाद, (३) अमृतविन्दु, (४) क्षुरिका, (५) तेजोविन्दु, (६) त्रिशिखि ब्राह्मण, (७) दर्शन, (८) ध्यानविन्दु, (९) नादविन्दु, पाशुपत ब्रह्म, (११) ब्रह्मविद्या, (१२) मण्डलब्राह्मण, (१३) महा-वाक्य, (१४) योगकुण्डली, (१५) योगचूड़ामणि, (१६) योगतन्त्र, (१७) योगशिखा, (१८) वराह, (१९) शाण्डिल्य, (२०) हंस, (२१) योगराज । इन उपनिषदों में योग के समस्त आसन, प्राणायाम,

प्रत्याहार, मुद्रा, नादानुसन्धान आदि विषयों का तान्त्रिक विस्तृत विवेचन है। गोरक्षनाथ आदि सिद्धों के ग्रन्थों में यही योग हूबहू इन्हीं शब्दों में वर्णित है; अतः इन नाथपंथी सिद्धों की योगप्रक्रिया उपनिषन्मूलक है, बौद्धतन्त्रमूलक नहीं; यह बात स्वतः सिद्ध है। पुराणों में योग का बहुत मसाला भरा पड़ा है। जनका अनुशीलन परमावश्यक है।

(१) योग के आचार्य

उपलब्ध योगसूत्रों के रचयिता का नाम महर्षि पतंजलि है। याज्ञवल्क्य स्मृति के (हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः) कथनानुसार हिरण्यगर्भ योग के वक्ता हैं। पतंजलिने योग का केवल अनुशासन (शिष्टस्य शासननुशासनं^१ त० वै० १।१) क्रिया अर्थात् प्रतिपादित शान्ति का उपदेशमात्र दिया। अतः वे योग के प्रवर्तक न होकर प्रचारक या संशोधक मात्र हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार योगसूत्र-रचयिता तथा व्याकरण महाभाष्य-निर्माता पतंजलि एक अभिन्न व्यक्ति हैं^२। स्फोटवाद का दोनों के द्वारा अर्गीकार किया जाना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। तत्त्वमीमाणा के अनेक सिद्धान्तों में साम्य होने पर भी सांख्य और योग में एक महान् अन्तर है। सांख्य स्फोटवाद का खण्डन करता है परंतु योग मण्डन। अन्य प्रमाणों के आधार पर इनकी अभिन्नता मान्य है^३। अतः योगसूत्र की रचना विक्रमपूर्व द्वितीय शतक में हुई। चतुर्थ पाद में विज्ञानवाद का खण्डन सूत्रों (१।१४, १५) में मिलने पर भी इस सिद्धान्त का धक्का नहीं लगता, क्योंकि विज्ञानवाद मैत्रेय और असंग से कहीं अधिक प्राचीन है।

१ योगेन चित्तस्य पदेन तावां मल शरीरस्य च वैधकेन।

योऽपाकरोत् त प्रवर मुनीनां पतञ्जलि प्राञ्जलिरान्तोऽस्मि ॥

२ डा० दासगुप्त—हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी भाग १ पृ० २२५-२३५

योगदर्शनमें चार पाद हैं जिनकी सूत्र संख्या (५१+५५+५५+३४) १९५ है। पहले (समाधि) पाद में समाधि के रूप तथा भेद, चित्त तथा उसकी वृत्तियों आदि का; द्वितीय (साधन) पाद में क्रियायोग क्लेश तथा उसके भेद, क्लेशों को दूर करनेसे साधन, हेयहेतु हान तथा हानोपाय, योग के अष्टांग आदि विषयो का, तृतीय (विभूति) पाद में धारणा ध्यान और समाधि के अनन्तर योग के अनुष्ठान से उत्पन्न होने वाली विभूतियों का, चतुर्थ (वैवर्त्य) पादमें समाधिसिद्धि, निर्माणचित्त, विज्ञानवाद-निराकरण, कैवर्त्य का निर्णय किया गया है। तृतीय पाद के अन्त में 'इति' शब्द के आने से तथा चतुर्थ पाद में मतान्तर के निरसन करने में अनेक विद्वानों का यह मत है कि पातञ्जलि ने प्रथम तीन पादों का ही रचना की थी। दार्शनिक सिद्धान्तों की पूर्ति के लिए किसी पीछे के ग्रन्थकार ने (सम्भवतः भाष्यकार व्यास ने ही) चतुर्थ पाद की रचना की है। पर अभी तक इस मत की युक्तियुक्तता सिद्ध नहीं हुई है।

पातञ्जल योगदर्शन के ऊपर 'व्यासभाष्य' अत्यन्त प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है। योगसूत्रों के निगूढ रहस्यों के उद्घाटन करने में यह भाष्य नितान्त कृतकार्य है। इसके रचयिता 'व्यास' कौन थे? इसका यथार्थ रूप से नहीं हो सकता। इतना तो निश्चित है कि ये पुराणों के रचयिता महर्षि व्यास से अवश्य भिन्न हैं, क्योंकि वेदव्यास का समय बहुत प्राचीन है, परन्तु व्यासभाष्य के रचयिता विक्रम के तृतीय शतक से प्राचीन नहीं है। व्यासभाष्य स्वयं बहुत ही गूढार्थ है। अतः उसके अर्थ को समझाने के लिए **वाचस्पतिमिश्र** ने 'तत्त्ववैशारदी' और **विज्ञानमिश्र** ने 'योगवार्तिक' की रचना की है। वाचस्पति की सर्वतो-गामिनी विद्वत्ता के अनुरूप ही यह टीका नितान्त प्रमेयबहुला तथा गूढार्थप्रकाशिनी है। तत्त्ववैशारदी की भी टीका राघवानन्द सरस्वती का 'पातञ्जल रहस्य' है। ये राघवानन्द विश्वेश्वर-भगवत्पाद के शिष्य अद्वयभगवत्पाद के शिष्य थे। विज्ञानमिश्र का 'योगवार्तिक' भाष्य क

विवेचन में ही कृतकार्य नहीं है, अपि तु 'तत्त्ववैशारदी' के व्याख्यानों की भी पर्याप्त समालोचना करता है। भिक्षु ने 'योगसारमंग्रह' में योग के सिद्धान्तों का सारांश उपस्थित किया है। आज कल के प्रसिद्ध सांख्य-योगाचार्य श्री हरिहरानन्द आर्य ने भाष्य पर 'भास्वनी' नामक टीका लिखी है।

योगसूत्रों की भी अनेक टीकायें लिखी गईं जिनमें (१) भोजकृत 'राजमार्तण्ड' (प्रसिद्ध नाम भोजवृत्ति), (२) भावागणेश की 'वृत्ति', (३) रामानन्द यति की 'मणिप्रभा', (४) अनन्त पण्डित की 'योगचन्द्रिका', (५) सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योगमुधाकर', (६) नागोजी भट्ट की लयी और बृहती वृत्तियों नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन ग्रन्थों में राज-मार्तण्ड 'भोजवृत्ति' के नाम से अत्यन्त लोकप्रिय है। मणिप्रभा तथा योगमुधाकर योगनिष्ठ पुरुषों के द्वारा लिखी गई हैं। अतः सूत्र के अर्थ समझने में अत्यन्त उपादेय हैं। नागेश की बड़ी वृत्ति योगवार्तिक के आधार पर निर्मित हुई है। कहीं कहीं वार्तिक के अर्थ को इसने पल्लवित किया है और कहीं कहीं वार्तिक के अर्थ को मक्षिप्त कर प्रदर्शित किया है। इससे वार्तिक के अर्थ समझने में बड़ी सहायता मिलती है। पातञ्जल दर्शन के ऊपर इतना ही साहित्य प्रसिद्ध है।

(२) योग मनोविज्ञान

योग शब्द समाध्यर्थक 'युज्' धातु (युज् समाधौ) से निष्पन्न होता है। अतः योग का व्युत्पत्तिभ्य अर्थ समाधि है। पातञ्जलिकृत योग का लक्षण है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोकना। चित्त से अभिप्राय अन्तःकरण (मन, बुद्धि और अहंकार) से है। चित्त सत्त्वप्रधान प्रकृति-परिणाम है अर्थात् प्रकृति के परिणामों में सबसे अधिक सत्त्व का उदय चित्त में होता है। चित्त प्राकृत होने से जड़ और प्रतिक्षण परिणामशाली है और सत्त्व, रज तथा तम के उद्रेकानुसार क्रमशः तीन प्रकार का होता है—

प्रख्याशील, प्रवृत्तिशील तथा स्थितिशील । प्रख्या (ज्ञान) रूप चित्तसत्त्व रज और तम से संमृष्ट होने पर ऐश्वर्य और शब्दादि विषयो का प्रेमी बनता है । तम से युक्त होने पर यही चित्त अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य से व्याप्त हो जाता है । तम के आवरणों के नितान्त क्षीण हो जाने पर रज के अशमात्र से संमृष्ट चित्त सर्वत्र प्रद्योतमान होता है और धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से युक्त होता है । प्रथम अवस्था में चित्त ऐश्वर्य और विषयों को केवल चाहता ही रहता है, परन्तु ये उसे प्राप्त नहीं होते, क्योंकि वह रज और तम से संपृक्त रहता है, परन्तु इस दशा में सात्विक गुण की अधिकता से ऐश्वर्य की प्राप्ति होती है । परन्तु जब चित्त में रज का लेशमात्र भी मल नहीं रहता, तब सत्त्वप्रधान चित्त स्वरूप में प्रतिष्ठित होकर प्रकृति-पुरुष को अन्यताख्याति या विवेक ज्ञान को प्राप्त कर लेता है और धर्ममेवसमाधि से समन्वित हो जाता है । (व्यासभाष्य १ । २) । इस चित्त की ५ भूमि या अवस्थाये होती हैं—

चित्त की भूमि (१) क्षिप्त, (२) मूढ, (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र, (५) निरुद्ध । क्षिप्त का अर्थ चञ्चल है ।

क्षिप्त दशा में चित्त रजोगुण के उद्रेक (अधिकता) के कारण अस्थिर, चञ्चल, बना रहता है और बहिर्मुख होने से संसार के सुखदुःखादि विषयों की ओर स्वतः प्रवृत्त रहता है । मूढ चित्त तमोगुण की अधिकता के कारण विवेकशून्य रहता है, कृत्याकृत्य का विवेचन नहीं करता और क्रोधादि के द्वारा विरुद्ध कार्यों में ही प्रवृत्त रहता है । विक्षिप्त चित्त सत्त्व की अधिकता से दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधन शब्दादि विषयों में प्रवृत्त रहता है । राजस क्षिप्त चित्त की अपेक्षा यह सात्विक चित्त कभी कभी स्थिरता को धारण करता है । अतः इस विशेषता के कारण इसे 'विक्षिप्त' कहते हैं (क्षिप्ताद् विशिष्टं विक्षिप्तम् । विशेषेण उद्रेकः गद्गलस्य कादाचित्तकः स्थेमा—त० वै० १।१) एकाग्र चित्त और निरुद्धचित्त सत्त्व की उत्कृष्टता के कारण समाधि के उपयोगी हैं ।

जब बाहरी वृत्तियों के निरोध होने पर चित्त एक ही विषय में एकाकार वृद्धि धारण करता है, तब उसे 'एकाग्र' कहते हैं, परन्तु सब वृद्धियों और संस्कारों के लय हो जाने पर चित्त की सज्ञा 'निरुद्ध' है (एकाग्रे बहिर्वृत्तिनिरोधः । निरुद्धे च सर्वासां वृत्तीनां मस्काराणां च, इत्यनयोरेव भूम्यायोंगस्थ सम्भवः—भोजवृत्ति १।२) । इन पाँच भूमियों में प्रथम तीन समाधि के लिए नितान्त अनुपयोगी हैं; परन्तु अन्तिम दोनो भूमियों में योग का उदय होता है । इन भूमियों के अनुरूप चित्त के चार प्रकार के परिणाम होते हैं । क्षिप्त और मूढ भूमियों में व्युत्थान, विक्षिप्त में समाधिप्रारम्भ, एकाग्र में एकाग्रता तथा निरुद्ध में निरोधलक्षण परिणाम होते हैं । अतः समाधि के लिए अन्तिम दो दशाओं की नितान्त उपयोगिता होती है ।

पुरुष निमर्गतः शुद्ध चैतन्यरूप तथा शरीर मन के बन्धनों से स्वतन्त्र है, परन्तु अज्ञान दशा में चित्त में सम्बद्ध रहता है । चित्त वास्तव में प्रकृतिज य होने से अचेतन है, परन्तु पुरुष के प्रतिबिम्ब पड़ने पर (चिच्छायायत्या) यह चेतन के समान प्रतीत होता है । पदार्थ के साथ सम्बन्ध होने पर चित्त उस वस्तु के रूप को ग्रहण कर लेता है । पुरुष को पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान चित्त के इन परिवर्तनों के कारण होता है जिन्हें 'वृत्तियाँ' कहते हैं । जिस प्रकार नदी की लहरो में प्रतिबिम्ब । चन्द्रमा स्थित होने पर भी चलायमान प्रतीत होता है, उसी प्रकार परिमाणशाल चित्त में प्रतिबिम्बित स्वतः अपरिणामशाली पुरुष परिवर्तनशील मान्य होता है ।

चित्त की वृत्तियाँ प्रधानतया पाँच हैंः—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति । प्रमाण (सत्य ज्ञान) सांख्यों के समान प्रत्यक्ष,

चित्त की वृत्तियाँ अनुमान और शब्द तीन प्रकार का होता है (बो० सू० १।७) । किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान की विपर्यय कहते हैं जिसके अन्तर्गत संशय भी माना जाता है (यो० सू० ७।८) ।

शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला परन्तु सत्य-वस्तु-शून्य ज्ञान विकल्प है। जैसे 'घोड़े की सींग' को सुन कर इन शब्दों के अर्थ को तो हम समझ जाते हैं, परन्तु वास्तविकता से इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। 'पुरुष का स्वरूप चैतन्य है' इस वाक्य में पण्ठी के प्रयोग से दोनों की भिन्नता प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में चैतन्यात्मक पुरुष चैतन्य से भिन्न नहीं है (योग भा० १।९)। अतः इस वाक्य से उत्पन्न वृत्ति विकल्परूप है। तम के आधिक्य पर अवलम्बित होने वाली वृत्ति 'निद्रा' है जिसमें जाग्रत और स्वप्न वृत्तियों का अभाव रहता है। निद्रा के वृत्तित्व के विषय में स देह करने का अवकाश नहीं है, क्योंकि जागने पर पुरुषों की यह भान होता है कि मैंने खूब अच्छी गहरी नींद ली जिससे मेरा मन खूब प्रसन्न है या मुझे अच्छी नींद नहीं आई जिससे मेरा मन घूम रहा है। यह भान (प्रत्यक्षमर्श) ज्ञान होने पर ही हो सकता है। अतः निद्रा वृत्तिरूप है। अनुभव किये गये विषयों का बिना परिवर्तन के ठीक ठीक याद आना 'स्मृति' कहलाता है। चित्त के समस्त व्यापारों या अवस्थाओं का अन्तर्गत इन्हीं पाँचों के भीतर किया जा सकता है।

जब वृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त में क्षय प्राप्त कर लेती हैं तब ये नितान्त क्षीण नहीं हो जाती; प्रत्युत उनका सूक्ष्म रूप 'संस्कार' के रूप में रहता है। ये संस्कार ही योग्य अवसर करने पर उद्बोधक हेतु के सद्भाव में पुनः स्थूल रूप को प्राप्ति करते हैं और वृत्तियाँ का रूप धारण करते हैं। अतः वृत्तियों से संस्कारों की उत्पत्ति और संस्कारों से वृत्तियों का उदय—इस प्रकार यह चक्र सतत क्रियाशील रहता है (संस्कार वृत्तिभिः क्रियन्ते, संस्कारेण वृत्तयः, एवं वृत्ति-संस्कारचक्रमनिशमावर्तते)। वृत्ति संस्कार का परस्पर सम्बन्ध वृक्ष और जड़ के उदाहरण से भली भाँति दर्शाया जा सकता है। उन्हें पृथ्वी के नीचे अदृश्य रूप से विद्यमान रहती है और वृक्ष के नाश हो जाने पर अनुकूल परिस्थिति में बढ़ कर पेड़ को पैदा कर सकती हैं। उसी प्रकार

संस्कार

संस्कार अनुकूल स्थिति में वृत्ति का स्थूल रूप ग्रहण कर सकता है। इस लिए प्रज्ञा के आलोक से वृत्तियों के विरोध के साथ साथ संस्कार का निरोध भी योग की समग्रता के लिए नितान्त आवश्यक है।

योग के संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात भेदों के रहस्य जानने के लिए एक लौकिक उदाहरण पर दृष्टिपात करना चाहिए। लकड़ी के टुकड़ों में जब आग लगा दी जाती है, तो वे टुकड़े जलने लगते हैं और त्रिविध योग सत्र टुकड़ों का जलानेवाली आग एक आकार में दिखलाई पड़ती है। टुकड़े पहले जलते हैं; अनन्तर आग स्वयं जलनी रहती है, पर अन्त में दाह्य पदार्थ के अभाव में स्वयं बुन जाती है, उसका जलना समाप्त हो जाता है। योगप्रक्रिया में भी चित्तवृत्ति की ऐसी ही दशा होती है। चित्त में अनेक वृत्तियों का सद्भाव रहता है। जब किसी एक वस्तु के ध्यान में चित्त लगाया जाता है, तब अन्य वृत्तियों शीघ्र होकर तद्वस्तुमयी वृत्ति को दृढ़ तथा प्रबल बनाती हैं। उस समय वही वृत्ति मुख्य रहती है तथा ध्यान के प्रकर्ष से 'प्रज्ञा' कहलाती है। समाधि दो वस्तुओं के वर्णन (रगड़) के समान है, और तज्जन्य प्रज्ञा वर्णन से (रगड़ने से) होनेवाली आग के समान है। यह प्रज्ञाग्नि अन्य वृत्तियों का नाश कर देती है, कुछ काल तक स्वयं प्रद्योतित रहती है, परन्तु अन्ततो गत्वा उपशान्त हो जाती है। जिस समय चित्त अन्यवृत्तियों के उपक्षीण होने पर एकाग्र भूमि में एक वस्तु के सन्ततध्यान में संलग्न रहता है, तब संप्रज्ञात (संप्रज्ञात) समाधि होती है। इसका फल है प्रज्ञा का उदय। यह प्रज्ञा सद्भूत (वास्तव, सत्य) अर्थ को प्रद्योतित करती है (सत्त्वदर्शन), समस्तक्लेशों को नाश करती है (अविद्या-क्षय) कर्म बन्धनों को शिथिल बनाती है तथा निरोध को अभिमुख (आसन्न) करती है (यस्त्रेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति, क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनानि श्लथयति निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याद्यायते-योग-भाष्य (१।१)। इतर वृत्तियों के निरोध से उदित

प्रज्ञा का भी निरोध आवश्यक है, क्योंकि प्रज्ञा कितनी भी सात्त्विक क्यों न हो, आखिर है तो वृत्ति ही। अतः इसका निरोध होना सर्ववृत्तियों का निरोध होना है। इस निरोध के उदय होने पर असंप्रज्ञात समाधि होती है।

‘एकाग्र’ चिन्ता की वह अविचलित अध्रुव अवस्था है जब ध्येय वस्तु के ऊपर चित्त चिरकाल तक स्थिर रहता है। इस योग का नाम संप्रज्ञात या सर्वाङ्ग समाधि है, क्योंकि इस अवस्था में चित्त के समाहित होने के लिए कोई न कोई बीज या अवलम्बन बना रहता है। परन्तु निरुद्ध दशा में असंप्रज्ञात समाधि का उदय होता है जब चिन्ता की समस्त वृत्तियाँ निरुद्ध या बन्द हो जाती हैं। यहाँ किसी भी वस्तु का आलम्बन नहीं रहता। अतः इसे निर्वाङ्ग या असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं (यो० भा० १।१८)। ध्येय वस्तु के ज्ञान बना रहने के कारण पूर्व समाधि संप्रज्ञात कहलाती है। और ध्येय, ध्यान तथा ध्याता के एकात्म्य हो जाने से ध्येय वस्तु में पृथक् ज्ञान न होने से दूसरी समाधि का नाम ‘असंप्रज्ञात’ है।

इन दोनों में **सम्प्रज्ञात समाधि** चार प्रकार की होती है (यो० सू० १।१७) — वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत। ग्राह्य विषय दो प्रकार का होता है — स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल आलम्बन में जो चित्त का आभोग है उसे ‘वितर्क’ कहते हैं (वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः, व्या० भा० १।१७)। ‘आभोग’ शब्द का अर्थ है, एक वस्तु का दूसरे वस्तु के ऊपर आरोपित होने पर उसके साथ दैशिक तादात्म्य। चित्त पदार्थ मान्निध्य में तदाकाराकारित होने से जो उसके स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है वह आभोग है। (वस्तुस्वरूपमाक्षात्कारिणी प्रज्ञा — त० वै० १।१७) (क) अतः किसी महाभूत आदि अवयवी स्थूल वस्तु में शब्दार्थोल्लेखपूर्वक जो भावना की जाती है उसे ‘सवितर्क’

समाधि कहते हैं। 'यद् गौ है' यहाँ शब्द, अर्थ (वस्तु) और ज्ञान तीनों एक साथ सवलित रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः वस्तु के जिस चिन्तन में तीनों उपस्थित रहते हैं वह सवितर्क समाधि होती है और जहाँ शब्दशून्य होने से केवल अर्थ की भावना की जाती है उसे 'निर्वितर्क' कहते हैं। (ख) सूक्ष्म आलम्बन में चित्त के आभोग को 'विचार' कहते हैं। अतः जहाँ तन्मात्रा आदि सूक्ष्म आलम्बन को ग्रहण कर देशकालधर्मावच्छिन्न रूप में भावना की जाती है, वह होती है सविचार समाधि; परन्तु देशकालधर्म के सम्बन्ध का परित्याग कर केवल सूक्ष्म धर्मा की भावना की जाती है वह निर्विचार समाधि कहलाती है। ग्राह्यविषयक होने से इनका नाम 'ग्राह्य-समाधि' है। (ग) सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियों सुखात्मक है। अतः साक्षात्कार के साधन भूत इन्द्रियों की भावना करने पर सानन्द समाधि का उदय होता है। यह संप्रज्ञात 'ग्रहणसमाप्ति' होता है। (घ) इन्द्रियाँ अस्मिता से उत्पन्न होती हैं। अतः कारण होने से अस्मिता (बुद्धि) इन्द्रियों से नितान्त सूक्ष्म है। चित्-प्रति-विम्बित बुद्धि 'अस्मिता' है। अतः इस बुद्धि की भावना करने पर 'सास्मिन् समाधि' का जन्म होता है। बुद्धि में ग्रहीता पुरुष के अन्तर्भाव होने से यह संप्रज्ञात समाधि 'ग्रहीतृविषयक' मानी जाती है (द्रष्टव्य तत्त्व वैशारदी १।१७)।

असम्प्रज्ञात समाधि दो प्रकार की है—भवप्रत्यय और उपायप्रत्यय। चित्तवृत्ति का सम्यक निरोध ही असम्प्रज्ञात समाधि का लक्षण है। चित्त आत्मा का अत्यन्त निकटवर्ती है—दोनों में स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध है। व्युत्थान दशा में द्रष्टा पुरुष अपना स्वरूप भुला कर वृत्तिसंकुल चित्त के साथ अपने को अभिन्न समझता है और वृत्तियों का आकार ग्रहण करता है। वृत्तिनिरोध होने पर वृत्तियों का आकार धारण नहीं करता। इस वृत्तिहीन अवस्था में पुरुष की

द्विविध गति की सम्भावना है (१) जत्र चित्त पूर्ण चैतन्य प्राप्त कर द्रष्टा या साक्षीरूप से अवस्थित रहता है अथवा (२) गम्भीर अज्ञान में आच्छन्न होकर जिस प्रकार एक ओर विषय-ज्ञान-शून्य हो जाता है, उसी प्रकार दूसरी ओर वह अपने चित्स्वरूप की उपलब्धि से वञ्चित रहता है । यह दूसरी दशा प्रकृति-लय या जड़ समाधि है । वृत्तिनिरोध होने से यद्यपि यह असम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तर्गत है, परन्तु ज्ञान के उन्मेष न होने से यह समाधि दशा है ही नहीं । पतञ्जलि इसे ही 'भवप्रत्यय' समाधि कहते हैं जिसमें प्रकृतिलान व्यक्तियों के समान विदेह देवता भी विद्यमान रहते हैं (यो० सू० १ । १९) । 'उपायप्रत्यय' समाधि ही वास्तव समाधि है । उपाय का अर्थ है प्रज्ञा या शुद्ध ज्ञान । इसके साधक श्रद्धा, वार्य, स्मृति तथा समाधि हैं । अर्थात् सम्यक् ज्ञान के उदय होकर निरुद्ध होने पर जो असम्प्रज्ञात समाधि होती है उसका नाम 'उपाय-प्रत्यय' है (यो० सू० १ । २०) । 'भवप्रत्यय' समाधि में कुछ समय तक चित्त अवश्य निरुद्ध होता है, परन्तु उसमें 'व्युत्थान' की आशंका बनी रहती है, क्योंकि ज्ञान के उदय न होने से कर्मजन्य संस्कारों का श्रय अभी तक नहीं होता । परन्तु 'उपायप्रत्यय' में प्रज्ञा के उदय होने से क्रमशः संस्कारों के दाह होने से जो समाधि उत्पन्न होता है उसमें व्युत्थान की तनिक भी आशंका नहीं रहती । समस्त क्लेशों की जननी अविद्या है । अतः अविद्या का विनाश किये वृत्तिनिरोध होने पर भी क्लेशों का नाश नहीं होता । अविद्या का नाश शुद्ध ज्ञान के द्वारा ही हो सकता है जिसका प्राप्ति का पतञ्जलि-प्रदर्शित क्रम है— श्रद्धा, वार्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा । भवप्रत्यय में क्षणिक निरोध होने पर भी अविद्या की आत्यन्तिकी निवृत्ति नहीं होती, परन्तु उपाय-प्रत्यय में ज्ञानान्मेष से पुरुष का चैतन्यरूप में प्रतिष्ठा होती है । अतः सच्चा समाधि उपायप्रत्यय ही है । बौद्ध धर्म में प्रतिसंख्या-निरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध का अन्तर ठीक इन्हीं दोनों समाधियों के अन्तर के

समान है। अतः योग का परिनिष्ठित लक्षण 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' के साथ-साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' ही है।

चित्त अनेक क्लेशों का भाजन है जिन्हें दूर करने में ही वह योगमार्ग में अग्रसर हो सकता है। ये समग्र क्लेश विषययुक्त रूप हैं। अविद्या तो साक्षात् विषययुक्त, मिथ्याज्ञान रूप ही है परन्तु अन्य क्लेश भी अविद्या-मूलक होने से मिथ्याज्ञानात्मक ही हैं। क्लेश ही गुणों के अधिकार को

क्लेश

दृढ बनाने हैं, महत्त्व, अहंकारादि परम्परा में परिणाम को स्थापित करते हैं तथा आपस में अनुग्राहक बन कर कर्मों के फलों (जाति, आयु तथा भोग रूप) को निश्चित करते हैं (योग भा० २।३)। कर्मों से क्लेश उत्पन्न होते हैं और क्लेशों में कर्मों का उदय होता है। अतः वे आपस में एक दूसरे के सहायक हैं (स० वै० २।३)।

क्लेश पाँच प्रकार के होते हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। (१) अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्म में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख तथा आत्म बुद्धि रखना अविद्या कहलाता है। पृथ्वी, आकाश तथा स्वर्ग को नित्य मानना, परम ब्रीहत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, दुःखदायी जगत् के पदार्थों में सुखबुद्धि रखना तथा शरीर, इन्द्रिय और मन का आत्मा मानना अविद्या के प्रत्यक्ष दृष्टान्त हैं। यही चतुष्पदा अविद्या क्लेशसन्तान का बीज है तथा विपाक के साथ समय कर्माशय को उत्प्रेषिका है (योग भा० २।५)। (२) दृक्शक्ति पुरुष दर्शनशक्ति बुद्धि से नितान्त भिन्न है; परन्तु दोनों को एकात्मक मान बैठना 'अस्मिता' है। भोक्ता और भोग्य के इस प्रकार एकत्व की भावना होने पर ही भोग की कल्पना होती है। (३) सुखोत्पादक वस्तुओं में जो लोभ या तृष्णा उत्पन्न होती है, उसे 'राग' कहते हैं। (४) इससे विपरीत दुःख को जानने वाले पुरुष का दुःख की स्मृति के साथ दुःख साधनों में जो क्रोध या जिघांसा होती है वह द्वेष

हैं। (५) पामर जाव से लेकर विद्वानों तक जो मृत्यु का भय लगा रहता है उसे 'अभिनिवेश' कहते हैं। यह स्वभाव से ही वामनारूपमें प्रवृत्त होता (स्वरसवादा) है, अतः यह स्वाभाविक होता है, आगन्तुक नहीं।

(३) योग कर्तव्यमीमांसा

विवेक की सिद्धि के लिए पातञ्जल दर्शन में योग के आठ अंग वर्णन किये गये हैं। वह तो निर्विवाद है कि जब तक आत्मा को शरीर और मन के ऊपर पूरा कब्जा नहीं हो जाता, तब तक उसमें वह शान्ति या निश्चिन्तता नहीं आती जिससे वह प्रज्ञा की उपलब्धि कर सके। अतः शरीर, मन तथा इन्द्रियों की शुद्धि के लिए आठ प्रकार के साधनों का निर्देश किया गया है (यो० सू० २।२९) इन योगांगों के नाम हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

(१) **यम**—का अर्थ संयम होता है। इनके पाँच प्रकार होते हैं—(क) अहिंसा—सर्वदा तथा सर्वथा सब प्राणियों के ऊपर द्रोह न करना; (ख) मत्स्य—मन और वचन का यथार्थ होना अर्थात् जैसा देखा गया था, अनुमान किया हो उसी के समान मन तथा वचन का होना; (ग) अस्तेय—न चुराना अर्थात् दूमरों के द्रव्यों के लिए स्पृहा न रखना; (घ) ब्रह्मचर्य—गुप्तेन्द्रिय उपस्थ का संयम करना; (ङ) अप्रतिग्रह—विषयों के अर्जन, रक्षण आदि में दोष होने से उन्हें स्वीकार न करना।

(२) **नियम** भी पाँच प्रकार के हैं—(क) शौच—आभ्यन्तर और बाह्य शुद्धि। आभ्यन्तर शौच चित्त के मलों का अच्छी तरह धो देना है। बाहरी शुद्धि मृत्तिका, जल से तथा पवित्र भोजन के करने से होती है। (ख) सन्तोष—सन्निहित साधनों से अधिक वस्तुओं के ग्रहण करने की इच्छा न होना; (ग) तप—मुखदुःख, आतपशीत, भूख-प्यास,

आदि द्वन्द्वों का सहना तथा चान्द्रायणादि कठिन वृत्तों का पालन करना; (घ) स्वाध्याय—मोक्ष शान्ति का अध्ययन वा प्रणव का जप; (ङ) ईश्वर-प्रणिधान—ईश्वर में भक्तिपूर्वक सब कर्मों का समर्पण करना ।

(३) आसन—स्थिरसुखमामनम् (यो० सू० २।४६) । स्थिर तथा सुख देनेवाले जो बैठनेके प्रकार हैं उन्हें आसन कहते हैं । ध्यान के लिए आवश्यक बात है कि साधक को ऐसा आसन ग्रहण करना चाहिये कि जिससे शरीर को सुख मिले, साथ ही साथ मन की शान्ति बनी रहे । कमलासन, सिद्धासन, शीर्षासन आदि अनेक उपयोगी आसनों का वर्णन हठयोग प्रदीपिका आदि हठयोग के ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिया गया है । इन आसनों के अभ्यास करने के चित्त स्वाभाविक चञ्चलता का परित्याग कर एकाग्रता को प्राप्त करता है । आसनजय करने से द्वन्द्वजन्य पीडा नहीं होती ।

(४) प्राणायाम—आसन जय होने पर श्वास प्रश्वास के गति-विच्छेद का नाम प्राणायाम है । बाहरी वायु का लेना श्वास है और भीतरी वायु का बाहर निकाल देना प्रश्वास है । श्वास-प्रश्वास सदा ही चलता रहता है । बाहर से वायु नासिकारन्ध्र में भीतर जाता है और भीतरी वायु बाहर निकलता है । इन दोनों की गति को नष्ट कर देने को प्राणायाम कहते हैं । पतंजलि ने (यो० सू० २।५०-५१) चार प्रकार के प्राणायाम वर्णन किया है—(क) बाह्य—कोष्ठ्य वायु को बाहर निकाल कर बाहरी हो रोक देना (रेचक प्राणायाम); (ख) आभ्यन्तर (भीतरी)—नासारन्ध्र से बाहरी वायु को ग्रहण कर उसे भीतर रोक देना (पूरक); (ग) स्तम्भवृत्ति—एक ही प्रयत्न से जहाँ श्वास प्रश्वास की गति रोक दी जाय (कुम्भक) । इसमें न पूरक होता है न रेचक । व्यासभाष्य में इसके स्वरूप को समझाने के लिए एक सुन्दर दृष्टान्त दिया है । जिस प्रकार गरम पथल के ऊपर रखा गया जल

चारों तरफ से सिकुड़ने लगता है, उसी प्रकार इस कुम्भक में दोनों प्राण-अपान की गति एक साथ रुक जाती है। (४) चतुर्थ प्राणायाम या केवल कुम्भक। प्राणायाम के अभ्यास से विवेक ज्ञान को आवरण करने वाले कर्मों या दोषों का नाश हो जाता है तथा मन एकाग्र या स्थिर होने के योग्य बन जाता है (यो० सू० २।५२-५३)। जब तक व्यास-प्रवास की क्रिया होती रहती है, तबतक चित्त एकाग्र नहीं रह सकता। परन्तु प्राणायाम के अभ्यास से ज्यो-ज्यो प्राणायाम की गति का निरोध होने लगता है, त्यों-त्यों चित्त में एकाग्रता आने लगती है।

(५) प्रत्याहार—जब विभिन्न इन्द्रियो स्वीय बाह्य विषयो से हट कर चित्त के समान निरुद्ध हो जाती है तब इसे 'प्रत्याहार' कहते हैं (प्रति=प्रतिकूल; आहार=वृत्ति) अर्थात् वहिर्मुखवृत्ति इन्द्रियो बाह्य विषयो से हटकर अन्तर्मुखा (भीतर वृत्ति वाली) हो जाती है, तब उनका प्रत्याहार निष्पन्न होता है। इसका फल होता है इन्द्रियो के ऊपर पूरा वश्यता (अधिकार)। साधारण स्थिति में इन्द्रियो का स्वच्छाचारिता प्रबल रहती है; जहाँ चाहती है वहाँ वे मन को दौड़ाया करती हैं; परन्तु प्रत्याहार के अभ्यास से ये इन्द्रियो मन के कब्जे में आ जाती हैं। वह जैसा चाहता है वैसा इन्हें काम में लगाता है। अबतक प्रतिपादित पाँचों अंग—यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार—वहिरंग साधन कहे जाते हैं। अन्तिम तीन अन्तरंग साधन माने जाते हैं, क्योंकि अन्तिम तीन धारणा, ध्यान, समाधि—अंगों की विवेकख्याति के उत्पादन में जितनी उपयोगिता है उनकी प्रथम पाँचों की नहीं है।

(६) धारणा—देशबन्धचित्तस्य धारणा (यो० सू० ३।१)। किसी देश में (जैसे हृदय कमल में, नासिका के अग्रभाग पर, जिह्वा के अग्रभाग पर) या बाह्य पदार्थ में (जैसे इष्ट देवता की मूर्तियों आदि में) चित्त को लगाना या सम्बन्ध कर देना 'धारणा' कहलाता है। पूर्व अंगों

के जय से यह कार्य सुगमता से हो सकता है। प्राणायाम से पवन और प्रत्याहार से इन्द्रियो के वश में हो जाने पर चित्त में विक्षेप की सम्भावना नहीं रहती। अतः वह एक स्थानपर सफलतापूर्वक लगाया जा सकता है।

(७) ध्यान—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (या० सू० ३।२)। उस देशविशेष में ध्येय वस्तु का ज्ञान जब एकाकार रूपसे प्रवाहित होता है और उसे दबाने के लिए कोई अन्य ज्ञान नहीं होता, तब इसे 'ध्यान' कहते हैं।

(८) समाधि—समाधि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—विक्षेपों को हटा कर चित्त का एकाग्र होना (सम्यगधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र स समाधिः) जहाँ पर ध्यान ध्येयवस्तु के आदेश से मानो अपने स्वरूप से शून्य हो जाता है और ध्येय वस्तु का आकार ग्रहण कर लेता है वह 'समाधि' कहा जाती है। ध्यानावस्था में ध्यान, ध्येयवस्तु तथा ध्याता अलग-अलग प्रतीत होते हैं, परन्तु समाधि में ध्येय वस्तु ही शेष रह जाती है। ध्यान, ध्याता और ध्येय पदार्थ की एकता सी हो जाती है। अन्तिम तीनों अंगों का सामूहिक नाम 'संयम' है। संयम के जातने का फल है प्रज्ञा—विद्वेक ख्याति का आलोक या प्रकाश (तज्जयात् प्रज्ञालोकः यो० सू० ३।५)। ज्ञान ज्योति का उदय ही इन अन्तरंग साधनों के जातने का सद्यः परिणाम है। संयम की दृष्टि में यमादिपञ्चक बहिरंग है, परन्तु निर्वाज समाधि के लिए संयम भी बहिरंग ही है अर्थात् परम्परया उपकारक है, साक्षात् नहीं।

अब वर्णित विषयों के परस्पर सम्बन्ध पर दृष्टिपात करना चाहिए। प्रत्येक साधक को क्रियायोग तथा समाधियोग के अभ्यास करने से इष्ट सिद्धि होती है। क्रियायोग से आरम्भ किया जाता है। क्रियायोग से तप (चान्द्रायण व्रत आदि)

स्वाध्याय (मोक्षशान्त्रो का अनुशीलन तथा प्रणवपूर्वक मन्त्रो का जप) तथा ईश्वर-प्रणिधान (भक्तिपूर्वक सब कर्मों के फलों का ईश्वर को समर्पण करना) समझे जाते हैं । क्रियायोग के अभ्यास का फल दो प्रकार का होता है—क्लेशतनूकरण और समाधिभावना (यो० सू० २।२) । पञ्चप्रकार के क्लेश क्रियायोग के कारण क्षीण हो जाते हैं । क्लेशों की क्षीणता का कारण क्रियायोग होता है, परन्तु उनके दाह (एकदम जला देने) का कारण प्रमख्यान (ज्ञान) होता है । समाधि का भावना भी इसमें उत्पन्न होती है । अब योगियों का अनुष्ठान आवश्यक होता है । यम, नियमादि अंगों के अनुष्ठान करने से चित्त की वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष पूर्ण चैतन्य रूप का लाभ करता है । निरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता होती है । जब चित्त वृत्तिरहित हो जाता है, तब उसे उस दशा में प्रतिष्ठित होने के लिए साधक को लगातार यत्न करना चाहिए । इसी का नाम 'अभ्यास' है । अभ्यास को दृढ़ करने के लिए बहुत दिनों तक आग्रह-पूर्वक इस मार्ग का अवलम्बन करना होता है ।

जब तक साधक के हृदय में विषयों के लिए अभिलाषा बनी रहती है, तब तक चित्त में चाञ्चल्य कम नहीं होता । अतः चित्त को वृत्तियों को समेटने के लिए वैराग्य की बड़ी उपयोगिता है । वैराग्य दो प्रकार का है—अपर वैराग्य (भोगवितृष्णा) और पर वैराग्य (अस्मिन्) । जब लौकिक तथा वैदिक विषयों के लिए चित्त में लेशमात्र भी तृष्णा नहीं रह जाती, तब उन विषयों के ऊपर पुरुष का असाधारण अधिकार या प्रभुत्व उत्पन्न होता है । पुरुष समझता है कि ये विषय मेरे वश में हैं, मैं इनके वश में नहीं हूँ । इसी वशीकार का नाम वैराग्य है । अभ्यास और अपर वैराग्य के सहयोग से पुरुष को 'सम्प्रज्ञात समाधि' का उदय होता है । अस्मितानुगत समाधि में पुरुष बुद्धि से समन्वित होकर 'अस्मि' का बोध करता है । अस्मि के दो अंश हैं 'अस्' = सत्ता

(सदंश) और 'मि' = उत्तम पुरुष या चैतन्य (चिदंश) । अस्मिता-समाधि से विवेकख्याति का उदय होता है अर्थात् मदंश में चिदंश का पृथक्करण करके पुरुष स्वर्गीय निसर्ग निर्मल स्वरूप—चैतन्य—में प्रतिष्ठित हो जाता है । 'पर वैराग्य' मन्त्रसे उत्कृष्ट वैराग्य है जिससे विवेकख्याति के उत्पन्न हो जाने से चित्त गुणों से भी तृष्णा हटा लेता है । पुरुषख्याति के होने पर ही पुरुष का गुणों से वितृष्णा उत्पन्न होती है । भोगवितृष्णा होने से भोग्य जगत् में उसे आना नहीं होता; अब गुणवितृष्णा के उदय होने से पुरुष गुणों के भी बन्धन से मुक्त हो जाता है । इस परवैराग्य के उदय होने से विवेकख्याति के भी निरोध होने पर असंप्रज्ञात समाधि का जन्म होता है । किसी आलस्यन के न रहने से इसको ही निर्बीज समाधि कहते हैं । साधक की साधना में ऐसा एक अवसर आवश्यक आता है जब उसके सामने सिद्धियाँ अनायास आने लगती हैं । जिस समय चित्त में सत्त्व के साथ-साथ रज का तनिक अंश अवशेष रहता है, तभी विभूतियों का उदय होता है जिसे पतञ्जलि ने तृतीय पाद में ब्रह्म विस्तार के साथ दिखलाया है । मधु-मती भूमि में साधकों को ये सिद्धियाँ प्रलोभित करने लगती हैं । इस समय आसक्ति और अभिमान तनिक न करना चाहिये । जब पुरुष इन सिद्धियों के प्रलोभन का भी पारकर जाता है, तब 'कैवल्य' का अनुभव करता है । 'कैवल्य' का अर्थ है केवल अकेले रहने की स्थिति । बुद्धि के साथ पुरुष के सम्बन्ध-विच्छेद होने पर पुरुष स्वरूप चित् रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । यही कैवल्य है । इस समय पुरुषार्थशून्य होने से गुणों का अपने कारण में प्रविलय हो जाता है (पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति यो० सू० ४।३४) ।

योगी चार प्रकार के होते हैं - (क) प्रथमकल्पिक (ख) मधु-भूमिक; (ग) प्रज्ञाज्योति और (घ) अतिक्रान्त-माननीय (यो० भा० ३।५१) । (क) प्रथमकल्पिक योगी वे लोग होते हैं जो अष्टागयोग

मे युक्त होने पर योगमार्ग में सद्यः प्रवेश करते हैं। वितर्कानुगत समाधि में अधिकार प्राप्त कर लेने के कारण इनमें अन्तर्ज्योति का स्फुरण होने लगता है। (ख) मधुभूमिक योगी का चित्त अत्यन्त विशुद्ध हो जाता है और देवता आसरा आदि उसके पास उपस्थित होकर उसे अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं। योगियों के लिए यह अवस्था परीक्षा की दशा होती है। उसे आसक्ति और अहंकार को दूर कर देना चाहिए, नहीं तो ये प्रलोभन उसे पदच्युत कर डालने में समर्थ होते हैं। (ग) प्रज्ञाज्योति अवस्था में प्रजा योगियों के द्वारा पञ्चभूतों की पाँच प्रकार की अवस्थाओं तथा पञ्चेन्द्रिय की पाँच प्रकार की अवस्थाओं पर अधिकार पाकर योगीगण भूतजया और इन्द्रियजया हो जाते हैं। भूतजय करने से योगी को वज्र के समान मिद्धदेह और अणिमा महिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा इन्द्रियजय होने पर मनोजवित्त्व, विकरणभाव (आश्रयहीन इन्द्रियों का अपने विषयों का ग्रहण) तथा भूत-प्रकृति पर विजय प्राप्त हो जाता है। इन सिद्धियों का नाम 'मधुप्रतीक' (यो० भा० ३।४९) है। (घ) भूतेन्द्रिय राज्य को अतिक्रमण करके योगी लोग 'अस्मिता' में प्रतिष्ठित होते हैं, तब वे सर्वज्ञ हो जाते हैं और सब भावों में अवस्थान करने की शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। जिसे 'विशोका' सिद्धि कहते हैं यो० भा० ३।४९)। इसके बाद पराैराग्य के साथ-साथ त्रिगुण का राज्य समाप्त हो जाता है और योगी दृश्य तथा चिन्तनीय पदार्थों की सीमा पार कर परमपद में स्थित हो जाता है। इस दशा का नाम 'अतिक्रान्त-भावनीय' है। योगी को यही सर्व श्रेष्ठ चरम अवस्था है।

ईश्वर

योगदर्शन में ईश्वर का स्थान अत्यन्त महत्त्वशाली है। सांख्य के २५ तत्त्व योग को भी अभीष्ट हैं; केवल ईश्वरतत्त्व अधिक है। इसीलिए

योग 'शेखर सांख्य' कहलाता है। योग के शब्दों में जो पुरुषविशेष क्लेश, कर्म, विपाक (कर्मफल) तथा आशय (विपाकानुरूप संस्कार के सम्पर्क से शून्य रहता है वह ईश्वर कहलाता है (क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः—यो० मू० १।२४) मुक्त पुरुष पूर्वकाल में बन्धन में रहता है तथा प्रकृतिलीन को भविष्यकाल में बन्धन की सम्भावना रहती है। परन्तु ईश्वर तो सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है। अतः वह प्रकृतिलीन तथा मुक्त पुरुषों से नितान्त भिन्न होता है (यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रजायते नैवमीश्वरस्य । यथा वा प्रकृतिलीनस्यान्तरा बन्धकोटिः समाव्यते नैवमीश्वरस्य । स तु सदैव मुक्तः सदैव ईश्वरः यो० भा० १।२४)। ऐश्वर्य और ज्ञान की जो पराकाष्ठा है वही ईश्वर है। नित्य होने से वह भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों से अनवच्छिन्न है। वह गुरुओं का भी गुरु है—वेदशास्त्रों का प्रथम उपदेष्टा ईश्वर ही है।

इस ईश्वर की उपयोगिता योगसाधन में नितान्त मौलिक है। ईश्वर का वर्णन योगसूत्रों में तीन बार आता है। ईश्वरप्रणिधानाद्वा १।२३; तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः २।१; समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् २।४५। 'प्रणिधान' का अर्थ है—प्रकर्षण चित्तस्य निधानम्। चित्त का अतिशयरूप से एकत्र लगाना अथवा कर्म के फल का समर्पण करना। अतः अनुरागपूर्वक चित्त का ईश्वर में लगाना या प्रेमपूर्वक कर्मफलों का ईश्वर को अर्पण करना ईश्वरप्रणिधान है। इस प्रणिधान से क्लेश क्षीण हो जाते हैं तथा जो समाधि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा परिश्रम से साध्य होती है उसका सुगमता से सम्पादन इस प्रणिधान से हो जाता है। अतः समाधि की सिद्धि का सरल साधन ईश्वर-प्रणिधान है। भगवान् में प्रेमपूर्वक चित्त लगाने से यह प्रसन्न होते हैं और प्रसन्न होकर वि नरूप क्लेशों का नाश कर समाधि की सिद्धि कर देते हैं (स भगवानीश्वरः प्रसन्नः सैन् अन्तरायरूपान् क्लेशान् परिहृत्य समाधिं संवोधयति—भोजवृत्ति २।४५)। इन सबसे बढ़कर

योग में ईश्वर की एक विशिष्ट उपादेयता है। स पूर्वेषामपि गुरुः काले-
नानवच्छेदात् अर्थात् ईश्वर ही पूर्वकाल में होनेवाले गुरुओं का भी
गुरु माना गया है। अतः तारक ज्ञान का दाता साक्षात् ईश्वर ही है।
माख्य मुक्त पुरुषों की ही परम्परा को ही ज्ञान का उपदेष्टा मानता है,
परन्तु योग सब के प्राचीन मुक्तपुरुषों के गुरुरूप में ईश्वर को ही मानता
है। अतः तारक-ज्ञान प्रदाता होने के कारण ईश्वर का योगदर्शन में
मौलिक उपयोग है।

उपसंहार

योग का विषय इतना विशाल तथा महत्त्वपूर्ण है कि उसका यथार्थ
परिचय थोड़े में नहीं दिया जा सकता। तथापि अत्यन्त संक्षेप में पातं-
जलयोग का विवेचन ऊपर किया गया है। योग की उपयोगिता में
किसी भी दार्शनिक को विमति नहीं है। योग भारतीयों की अपनी
स्वाम सम्पत्ति है जिसका इन्होंने विज्ञान की भाँति अनुशीलन किया है
तथा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है। वैदिक साहित्य में
योगविद्या के महत्त्व का निदर्शन हमने आरम्भ में किया है। मोहन-
जोदड़ों की खुदाई में अनेक योगामनोपविष्ट मूर्तियाँ मिली हैं। अतः
योग की प्राचीनता निःसन्देह है। काय और चित्त को मलो से निर्मुक्त
कर पुरुष की आध्यात्मिक उन्नति में उपयोग करना 'योग' ने ही हमें
सिखलाया है। योग व्यावहारिक ही है। इसकी तत्त्वमीमासा माख्य के
ममान है। अतः 'एतेन योगः प्रत्युक्त'। (ब्र० सू० २।१।२) इस सूत्र
द्वारा बादरायण ने योग के माख्यानुरूप सिद्धान्तों का खण्डन किया है;
योगप्रक्रिया उन्हें भी नितान्त माननीय और मननीय है। पाश्चात्य
मनोवैज्ञानिकों तथा डाक्टरों की दृष्टि योग की ओर इधर आकृष्ट
हुई है जिसमें इसका विपुल प्रचार पाश्चात्य जगत् में भी होने लगा है।

एकादश परिच्छेद

मीमांसा-दर्शन

‘मीमांसा’ शब्द पूजार्थक मान् धातु से जिज्ञासा अर्थ में ‘मानेर्जिज्ञा-
सायाम्’ वार्तिक को सहायता से निष्पन्न होता है । इसकी उत्पत्ति मुद्गूर-

‘मीमांसा’ की
प्राचीनता

प्राचीन काल में हुई, क्योंकि मंहिता, ब्राह्मण और
उपनिषद् में इस शब्द का बहुत प्रयोग मिलता है ।

‘मीमांसते’ इस धातु रूप से इसका प्रयोग बहुस्थलों
पर पाया जाता है:—उत्सृज्या नोत्सृज्यामिति मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनः
तद्धाहुः उत्सृज्यामेवेति’ (तैत्तिरीयमंहिता ७-५।७।१); ‘ब्राह्मणं पात्रे न
मीमांसेत’, यस्तप्ये वा उदके वा विवाहे वा मीमांसेरन्, त एता उपेत्युः
(ताण्ड्य ब्राह्मण ६।५।९; २३।४।२) । “उदिते हांतव्यमनुदिते हांतव्य-
मिति मीमांसन्ते” —(कौषितिकि ब्राह्मण २।९) जिसमें मीमांसादर्शन में
विचार्यमाण हवन विषयक प्रश्न पर विचार किया गया है तथा ब्रह्मवादी
गण के निर्णय का निर्देश है—तस्मात् अनुदिते हांतव्यम् (सूर्योदय से
पूर्व ही हवन करना चाहिए); प्राचीनशाला औपमन्यवः महाश्रोत्रियाः
समेत्य मीमांसाञ्चक्रुः को नु आत्मा किं ब्रह्मेति” (छान्दोग्य ५।११।१) ।
तैत्तिरीय उपनिषद् (२-८-१) में क्रियापद का नहीं प्रत्युत तज्जन्य
संज्ञा ‘मीमांसा’ शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है—‘सैषा आनन्दस्य

मीमांसा भवति'। इन उद्धृताओं का आलोचना करने से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि श्रुतिकाल में ही श्रौतविषयक कर्मों में उपलब्धमान विरोध की ओर प्राचीन ऋषियों का ध्यान आकृष्ट हुआ था तथा उन लोगों ने इसके परिहार के लिए अनेक सिद्धान्तों की छानबीन की थी। मीमांसा का सब से प्राचीन नाम 'न्याय' है। इस दर्शन के न्याय-कणिका, न्यायमालाविस्तर आदि ग्रन्थों में भी न्याय शब्द का उपयोग इसी कारण से किया गया है। मीमांसा वैदिक कर्मकाण्डविषयक श्रुतियों के पारस्परिक विरोध का परिहार करती है। इसने अनेक 'न्यायों' को खोज निकाला है जिनके उपयोग से आभासमान विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता की जा सकती है। कर्मकाण्ड ज्ञानकाण्ड से पहले है। अतः इसे पूर्वमीमांसा या कर्ममीमांसा कहते हैं। ज्ञानकाण्ड की मीमांसा—उत्तरमीमांसा—के लिए 'वेदान्त' के प्रयोग होने से केवल 'मीमांसा' शब्द का प्रयोग इसी दर्शन के लिए किया जाता है।

(१) मीमांसा के मुख्य आचार्य

मीमांसा दर्शन का इतिहास बड़ा ही रोचक है। ऐतिहासिक दृष्टि से उसके तीन प्रधान विभाग किये जा सकते हैं। मीमांसा में कुमारिल भट्ट एक नवोन युग के उद्भावक माने जाते हैं। अतः उन्हीं को केन्द्र मानकर उनसे पहले समय का कुमारिल-पूर्व काल तथा पीछे के समय को कुमारिल-नश्चात् काल के नाम से पुकार सकते हैं।

जैमिनि (३०० वि० पू०)—महर्षि जैमिनि मीमांसा दर्शन के सूत्रकार हैं, पर इसके प्रथम प्रवर्तक नहीं। उन्होंने प्राचीन तथा सम-सामयिक इन आठ मीमांसक आचार्यों के नाम उल्लिखित किये हैं:—आत्रेय, आश्वरथ्य, 'कार्णाजिनि, वादरि, ऐतिशायन, कामुकायन, लाबु-कायन, आलेखन। पर इन आचार्यों के सूत्रों की उपलब्धि अभी तक

नष्टा हुई है^१ । जैमिनि ने १६ अध्यायों में मीमांसा दर्शन के मूलभूत सूत्रों की रचना की जिसमें पहले के १२ अध्याय 'द्वादशलक्षणा' के नाम से और अंतिम ४ अध्याय 'सर्गकाण्ड' या 'देवताकाण्ड' के नाम से प्रसिद्ध हैं। बहुत से आलोचक देवताकाण्ड को जैमिनि की रचना नहीं मानते। मामांसादर्शन के सूत्रों की संख्या २६४४ तथा अधिकरणों की ९०९ है। सूत्र अन्य दर्शनों के सूत्रों की सम्मिलित संख्या के बराबर है। इन द्वादश अध्यायों में धर्म के विषय में ही विस्तृत विचार किया गया है। पहले अध्याय का विषय है—धर्म-विषयक प्रमाण; दूसरे का भेद (एक धर्म से दूसरे धर्म का पार्थक्य); तीसरे का अङ्गत्व, चौथे का प्रयोजनप्रयोजक भाव, पाँचवें का क्रम (अर्थात् कर्मों में आगे पीछे होने का निर्देश), छठे का अधिकार (यज्ञ करने वाले पुरुष की योग्यता), सातवें तथा आठवें का अतिदेश (एक कर्म की समानता पर अन्य कर्म का विनियोग) नौवें का ऊपर, दसवें का बाध, ग्यारहवें का तन्त्र तथा अन्तिम अध्याय का विषय प्रसङ्ग है। इस दर्शन की मूल भित्ति इन्हीं १२ अध्यायों पर अवलम्बित है। इनके ऊपर कालान्तर में अनेक वृत्ति, भाष्य तथा वार्तिकों की रचना का गई।

मीमांसा के सत्र से प्राचीन वृत्तिकार आचार्य उपवर्ष हैं जिनके सम्मान्य मत का उल्लेख शबर स्वामी ने मीमांसाभाष्य (१।१।५) में तथा शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य (३।३।५३) में किया है। कहा जाता है कि उन्होंने पूर्व तथा उग्र दोनों मीमांसाओं के ऊपर वृत्तिग्रन्थ लिखा था। इनका समय १०० ई०—२०० ई० तक माना जाता है।

१ इन आचार्यों के अनिरुक्त 'काशकृत्स्नि' नामक एक अन्य मामांसा मतके आचार्य थे जिनका निर्देश महाभाष्य में पतञ्जलि ने किया है—काशकृत्स्निना प्रोक्ता मामांसा काशकृत्स्नी। काशकृत्स्नामर्थात् काशकृत्स्ना ब्राह्मणा—महाभाष्य ४।१।४ सूत्र पर।

भवदास (लगभग १०० — २००) की वृत्ति का उल्लेख कुमारिल के श्लोकवार्तिक (प्रतिज्ञामृत श्लोक ६३) में मिलता है । प्रपञ्चहृदय (पृ० ३९) के कथनानुसार भवदाम ने पूर्वमीमांसा के १६ अध्यायों पर वृत्ति लिखी थी । पर इन वृत्तिकारों की वृत्तियाँ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं ।

शबर स्वामी (२०० ई०)—ने समग्र चारहों अध्यायों पर विस्तृत तथा प्रामाणिक भाष्य की रचना की है । इस पाण्डित्य से ओत-प्रोत ग्रन्थ की तुलना विषय की पुंखानुपुंख व्याख्या तथा रोचक शैली के कारण पातञ्जल महाभाष्य तथा शाङ्करभाष्य से की जा सकती है । प्रसिद्धि है कि इनका नाम आदित्यमेन था, पर जैनो के उत्पीड़न से बचने के लिए इन्होंने अग्न्यचार्य शबर का वेष धारण किया था । इनके अनन्तर भर्तृमित्र ने ग्रन्थों पर वृत्ति लिखी जिसेका नाम उम्बेक का तात्पर्यश्रीका (पृ० ३) के प्रमाण पर 'तत्त्वशुद्धि' है । कुमारिल का कथन है कि इन्होंने आस्तिक मीमांसा को अपनी मनमानी व्याख्या से लोकायत (नास्तिक दर्शन) का रूप दे डाला था जिसे दूर करने के लिए उन्होंने वार्तिकों की रचना की^१ । मीमांसा में तीन विशिष्ट मत उपलब्ध होते हैं—भाट्टमत, गुरुमत तथा मुरारिमत । इन तीनों के उद्भावक क्रमशः कुमारिल, प्रभाकर और मुरारि मिश्र थे ।

भाट्टमत के आचार्य

मीमांसादर्शन के इतिहास में कुमारिल युग (६०० ई—९०० ई०) वाग्मव मे सुवर्ण-युग के नाम से अभिहित होने के योग्य है । आचार्य

१ प्रायणेत्र हि मामांसा लोके लोकायनाकृता ।

नामस्तिकपथे कर्तुमय यल कृतो मया ॥ श्लोकवार्तिक श्लो० १०.

मामांसा हि भर्तृमित्रादिभिर्लोकायनेव सती लोकायतीकृता ।

कुमारिल तथा उनके शिष्यों ने प्रामाणिक व्याख्याग्रन्थों तथा निबन्धों की रचना में न केवल मीमांसा को बौद्धों के कर्कश तर्कों से बचाया, प्रत्युत सिद्धान्तों की बोधगम्य विस्तृत व्याख्या कर के इसे लोकप्रिय तथा प्रतिष्ठित किया। **कुमारिल भट्ट** के समान प्रखर तथा प्रकाण्ड विद्वान् दूसरा नहीं हुआ। आचार्य शंकर के साथ कुमारिल ने बौद्धों को परास्त करके वैदिक धर्म की मर्यादा रक्षा की। इन्होंने समग्र शास्त्र गण्य पर तीन पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति-ग्रन्थ लिखे जो मीमांसा के आधारमन्त्र हैं। (१) कारिकावद्ध विपुलकाय 'श्लोकवार्तिक' प्रथम अध्याय के प्रथम (तर्क) पाद का व्याख्यान है। (२) 'तन्त्रवार्तिक' पहले अध्याय के दूसरे पाद से लेकर तीसरे अध्याय तक की गद्यमयी व्याख्या है तथा (३) 'वृद्धटीका' अन्तिम नौ अध्यायों की सक्षिप्त टिप्पणी है। पाण्डित्य की दृष्टि में दोनों वार्तिक अमाधारण हैं। बौद्धों के सिद्धान्तों का विशेषतः दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय का, सुन्दर पाण्डित्यपूर्ण समीक्षा कर मीमांसा दर्शन के मान्य सिद्धान्तों की यथार्थता प्रदर्शित की गई है। कुमारिल द्वारा 'वृद्धटीका' और 'मध्यटीका' नामक ग्रन्थों की रचना प्रसिद्ध है, परन्तु ये ग्रंथ अभी तक कहीं नहीं मिले हैं। इनका समय ७म शतक का अन्त तथा ८ म का पूर्वार्द्ध माना जाता है।

कुमारिल के प्रधान शिष्य प्रतिभामण्डित **मगडन मिश्र** थे। शंकर दिग्विजय के आधार पर प्रसिद्ध है कि शंकराचार्य के द्वारा शास्त्रार्थ में पराजित होने पर ये उनके शिष्य बन गये तथा सुरेश्वराचार्य के नाम से विख्यात हुए। पर दोनों के सिद्धान्तगत भेद के कारण मण्डन तथा सुरेश्वर को एकता में विद्वानों का सन्देह है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(१) विधिविवेक (विध्यर्थ का विचार) (२) भावनाविवेक (आर्था भावना का मीमांसा) (३) विभ्रमविवेक (पाँचों मुप्रसिद्ध ख्यातियों की व्याख्या) (४) मीमांसासूत्रानुक्रमणी (मीमांसासूत्रों का श्लोकवद्ध संक्षेप)। वाचस्पति ने प्रथम ग्रंथ की टीका 'न्यायकणिका' तथा शाब्दबोधविषयक

‘तत्त्वविन्दु’ की रचना की है। **उम्बेक** कुमारिल के दूसरे शिष्य थे जो उत्तररामचरित आदि नाटकयत्री के रचयिता भवभूति से अभिन्न माने जाते हैं। इन्होंने दो ग्रंथों की रचना की है—(क) भावनाविवेक की टीका तथा (ख) ‘तात्पर्यटीका’—‘श्लोकवार्तिक’ की इस सर्वप्रथम टीका में अल्पाक्षरो में वार्तिक का गृहस्योद्घाटन किया गया है। यह ग्रंथ ‘स्फोटवाद’ तक ही है। शेष टीका की प्रति ‘जयमिश्र’ ने की है जो कुमारिल के पुत्र वतल्याये जाते हैं। उम्बेक श्लोकवार्तिक के मर्मज्ञ माने जाते हैं (‘उम्बेकः कारिका वेत्ति’-गुणरत्न का तर्करहस्यदीपिका पृ० २०)।

भाट्ट सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए अनेक माननीय मीमांसकों ने जैमिनि के सूत्रों पर तथा कुमारिल के ग्रंथों पर सूत्रोद्घोष टीकाएँ लिखीं। महावृत महोदधि के प्रतिस्पर्धी थे। कृष्णयतिमिश्र ने ब्रोधचन्द्रोदय (१३) तथा भवनाथ ने नयविवेक में मत का उल्लेख किया है। इन ग्रंथकारों में तीन आचार्य अपनी ग्रन्थसम्पत्ति तथा विवेचनपद्धति के कारण मीमांसकमूर्धन्य हैं—(१) पार्थसारथि मिश्र (१२ शतक); (२) माधवाचार्य (१४ शतक); (३) स्वण्डदेव (१७ शतक)।

(१) **पार्थसारथि मिश्र** ने भाट्टमत के सिद्धान्तों को पृष्ट करने के लिए चार ग्रंथों की रचना की जिनमें दो टीका-ग्रन्थ तथा दो प्रकरण ग्रन्थ हैं। (क) तर्करत्न—टुप्पटीका की व्याख्या; (ख) न्यायरत्नाकर—श्लोकवार्तिक की टीका; (ग) न्यायरत्नमाला—जिसमें स्वतःप्रामाण्य, व्याप्ति, आदि सात विषयों की स्वतन्त्ररूपेण विशद समीक्षा है। इस ग्रन्थ पर रामानुजाचार्य (१७ शतक) का ‘नाथकरत्न’ व्याख्यान बड़ोदा से अभी प्रकाशित हुआ है। (घ) शान्तरदीपिका—इस प्रमेय-बहुल प्रख्यात ग्रन्थरत्न की दो टीकाएँ प्रसिद्ध हैं—रामकृष्ण भाट्ट की तर्कपाद पर (१) युक्तिस्नेहप्रपूर्णा और शेषाश पर सोमनाथ की (२)

‘मयूखमालिका’ । पार्थसारथि के पिता का नाम यज्ञात्मा था तथा ये मिथिला के निवासी माने जाते हैं । श्लोकवार्तिक पर ‘काशिका’ के कर्ता सुचरित मिश्र इनके पूर्ववर्ती तथा तन्त्रवार्तिक की टीका ‘न्यायमुधा’ के निर्माता सोमेश्वर भट्ट इनके समकालीन थे ।

(२) **माधवाचार्य**—विजयनगर सम्राज के मस्थापक, वेदभाष्य-कर्ता श्री मायणाचार्य के ज्येष्ठ भ्राता माधव एक विशिष्ट विद्वान् थे । मीमांसा के अधिकरणों को ग्रहण कर इन्होंने नितान्त लोकप्रिय तथा उपयोगी ‘न्यायमालाविस्तर’ लिखा है । इनके समकालीन विशिष्टाद्वैताचार्य वेदान्तदेशिक ने ‘मीमांसा पादुका’ (तर्कवाद की पञ्चात्मिका टीका) लिखी है । इनकी ‘मेश्वरमीमांसा’ अपूर्ण पुस्तक है जिसमें पूर्ण तथा उत्तर मीमांसाओं का सामञ्जस्य दिखलाकर एक नवीन मार्ग की उद्भावना की गई है ।

(३) **खण्डदेव मिश्र**—इतका नाम भाट्टमत के इतिहास में सुवर्णशरी में लिखने के लायक है । भाट्टमत में ‘नव्यमत’ के उद्भावक थे ही हैं जो ‘नव्य न्याय’ के समान दार्शनिक दृष्टि से नितान्त महत्व-शाली हैं । ये काशी के ही रहने वाले थे । अन्त समय में मन्यास लेने पर इनका नाम ‘श्रीधरेन्द्र यतीन्द्र’ था । १७१४ विक्रमा (१६५७ ई०) में देवर्षि ब्राह्मणों के विषय में जो व्यवस्थापत्र दिया गया था उसमें इनके हस्ताक्षर हैं । पण्डितराज जगन्नाथ के पिता पेरुभट्ट इन्हीं के शिष्य थे । इसके आठ वर्ष बाद १७२२ विक्रमी में (शिष्य शम्भुभट्ट के कथनानुसार) इनको मृत्यु हुई । इनके पाण्डित्यमण्डित उच्चकोटि के तीन ग्रन्थ हैं—(क) भाट्टकौस्तुभ (सूत्रों की विस्तृत टीका); (ख) भाट्टदीपिका अधिकरणप्रस्थान पर निर्मित यह ग्रन्थ खण्डदेव का सर्वस्य है । इसको तीन टीकायें मिलती हैं—(i) प्रभावर्णी—साक्षात् शिष्य शम्भुभट्ट रचित; (ii) भाट्टचन्द्रिका (भास्करराय रचित), (iii) भाट्ट-

चिन्तामणि [वाञ्छेश्वरयज्ञा (१७८०-१८६० ई०) कृत]; (ग) भाट्टरहस्य--शाब्दबोधविषयक अपूर्व ग्रन्थ मञ्जूषा तथा व्युत्पत्तिवाद के समान है । खण्डदेव के विद्यागुरु विश्वेश्वर भट्ट (गागाभट्ट) ने भाट्ट-चिन्तामणि में जैमिनीयसूत्रों पर टीका लिखी है तथा इनके समकालिक सुप्रसिद्ध अध्यायदीक्षित ने सर्वांग विधिग्रन्थायन, उपक्रमपराक्रम, वादनशत्रावली तथा चित्रकृत की रचना की है । लोकप्रिय सीमामान्यायप्रकाश (आपदेवी) के कता आपदेव तथा उसकी विस्तृत टीका 'भाट्टालंकार' के रचयिता उनके पुत्र विख्यात अनन्तदेव खण्डदेव के समकालीन थे ।

इनके अतिरिक्त नागायणभट्ट (१६ शतक) का 'मानमेयोदय', लौगाधि भास्कर का 'अर्थसंग्रह', शंकरभट्ट का 'मामासा बालप्रकाश' और 'विधिग्रन्थायनदूषण', अन्नभट्ट की सुबोधिनी (तन्त्रवार्तिक की टीका) तथा राणकोजीवनी (न्यायपुधा की व्याख्या), रामेश्वरचूरि की द्वादशलक्षणा का सुबोध टीका 'बोधिनी', कृष्णयज्ञा की 'सीमामा परिभाषा' आदि उपयोगी और लोकप्रिय ग्रन्थ हैं ।

गुरुमत के आचार्य

गुरुमत के मस्थापक **प्रभाकर** मिश्र थे । प्रसिद्धि है कि ये भट्ट कुमारिल के पट्टशिष्य थे जिन्होंने इनकी अलौकिक कल्पनाशक्ति से सुग्ध होकर इन्हें 'गुरु' का उपाधि दी । तब से इनके मत का उल्लेख 'गुरु' के नाम से किया जाता है । परन्तु इनके ग्रन्थों के अनुशीलन से ये कुमारिल से भी प्रार्चान प्रतीत होते हैं । अतः इनके समयनिरूपण में मतभेद है । भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रभाकर वह जागृत्यमान रत्न हैं जिनके व्याख्यानकौशल और बुद्धिवैभव की चमक ने विपश्चितों को चमत्कृत कर दिया है । अपने स्वतन्त्र मत की प्रतिष्ठा के लिए इन्होंने शावरभाष्य पर दो टीकायें निर्मित की हैं—(१) बृहती या निबन्धन जो प्रकाशित हुई है, (२) लवी या विवरण जो अभी तक

अप्रकाशित है। प्रभाकर की व्याख्यायें उदागतापूर्ण हैं जो किसी कारण सर्वसाधारण में मान्य न हो सकीं। अतः इस मत के ग्रन्थों की संख्या अत्यन्त अल्प है। ग्रन्थ भी अप्रकाशित ही है। गुरुमत की प्रतिष्ठा आचार्य शाळिकनाथ ने की। इन्होंने तीन पञ्चिकाओं की रचना की (१) ऋजुविमला पञ्चिका—बृहती की टीका; (२) दीपशिखा पञ्चिका—लघ्वी पर; (३) प्रकरण पञ्चिका—नितान्त मौलिक प्रकरण ग्रन्थ। ये सम्भवतः मिथिला या बंगाल के निवासों थे और उदयनाचार्य के पूर्ववर्ती थे। अतः इनका समय नवम शताब्दी के लगभग है। शाळिकनाथ के महाभार्या महादधि भी गुरुमत के प्रसिद्ध आचार्य थे। कृष्ण मिश्र तथा भवनाथ ने उल्लेख किया है। भवनाथ (या भवदेव) ने शाळिकनाथ के सिद्धान्तों के स्पर्शाकरणार्थ 'नयविवेक' की रचना की है जो मीमांसा दर्शन के अधिकरणों की व्याख्या है। इन्होंने वाचस्पति मिश्र के मत का उल्लेख किया है (नयविवेक पृ० २७५) तथा इनके मत का निर्देश आनन्दबोध्याचार्य (११ शतक) ने 'शाब्द-निर्णयदायिका' में किया है। अतः भवनाथ को दोनों के बीच में दशम शतक में मानना न्यायमंगत है। नयविवेक की चार टीकायें उपलब्ध हैं—(क) रन्तिदेव का विवेकतत्त्व; (ख) वरदराज - नयविवेक-दायिका; (ग) शंकर मिश्र - पञ्चिका; (घ) दामोदर—नयविवेकालंकार। नन्दाश्वर ने 'प्रभाकर विजय' नामक प्रामाणिक ग्रन्थ का निर्माण किया है। इन्होंने शाळिकनाथ तथा भवनाथ का (नाथद्वयान्त-सारं ऽस्मिन् शान्त्रे मम परिश्रमः, श्लोक ३) तथा पार्यमारथिका उल्लेख किया है और स्वयं श्रीभाष्य के वृत्तिकार मुदर्शनाचार्य द्वारा उल्लिखित है। अतः इनका समय १२००-१३०० के बीच में है। रामानुजाचार्य (१२ वां शताब्दी) का 'तन्त्र रहस्य' लघुकाय होने पर भी बड़ा सुन्दर है। इसे प्रभाकर मत का प्राइमर (प्रवेशिका) कहना चाहिए। गुरुमत के ये ही सुप्रसिद्ध प्रकाशित ग्रन्थ हैं।

मुरारि मिश्र—मीमांसा में तृतीय सम्प्रदाय के प्रवर्तक मुरारि मिश्र के विषय में हमारा ज्ञान बहुत ही कम है। उनका व्यक्तित्व और ग्रन्थ विस्मृतिगर्भ में अब तक लीन है। गंगेश उपाध्याय तथा उनके पुत्र वर्धमान उपाध्याय ने अपने ग्रन्थों में मुरारि मिश्र के मत का उल्लेख किया है। मुरारि ने भवनाथ के मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय १२ शतक प्रतीत होता है। दो छोटे अधिकरण-विवेचनात्मक ग्रंथ अभी तक उपलब्ध हुए हैं 'त्रिपादोर्नातिनयन' और 'एकादशाध्यायाधिकरण'। इनके स्वतन्त्र मत का उल्लेख आगे किया जायेगा। सम्भवतः इन्होंने समग्र द्वादशलक्षणी पर टीका लिखी थी।

(२) मीमांसा ज्ञानमीमांसा

अज्ञात तथा सत्यभूत पदार्थ के ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं (प्रमा चाज्ञाततत्त्वार्थज्ञानम्—मा० मे० १।२)। अज्ञात कहने से स्मृति और अनुवाद का व्यवच्छेद हो जाता है, क्योंकि इनका विषय ज्ञान पदार्थ ही है। पदार्थ को सत्य, वास्तविक होना चाहिए। अतः भ्रम तथा सञ्चय-ज्ञान प्रमा के अन्तर्गत नहीं है। इस प्रमा के कर्ण को प्रमाण कहते हैं अर्थात् जिस ज्ञान में अज्ञातपूर्व वस्तु का अनुभव हो, अन्य ज्ञान द्वारा बाधित न हो तथा दोषरहित हो वही शास्त्रदीपिका के अनुसार प्रमाण है (कारणदोष-बाधक-ज्ञान—मा० मे० १।३)। ज्ञान प्रमाणम्—शा० दी० १।१।५)। भाट्ट मत में प्रमाण छः प्रकार के है—(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) उपमान (४) शब्द (५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धि। अद्वैत वेदान्त को ये प्रमाण मान्य हैं (वेदान्तपरिभाषा पृ० १४) परन्तु प्रभाकर अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानते।

प्रत्यक्ष तथा अनुमान की कल्पना न्यायदर्शन के अनुसार ही है, परन्तु अवान्तर बातों में स्थल-स्थल पर पार्थक्य दीख पड़ता है। मीमांसा प्रत्यक्ष और अनुमान वास्तववादी है। उसकी दृष्टि में यह जगत आभास-मात्र न होकर वास्तविक है। मीमांसा को प्रत्यक्ष के

दोनो भेद मान्य हैं। निर्विकल्पक को वह 'आलोचन ज्ञान' कहती हैं। सविकल्पक ज्ञान में वस्तु के अनुभव होने पर जिन 'विशेषण' का पता चलता है, वे निर्विकल्पक दशा में भी विद्यमान रहती हैं। निर्विकल्पक ज्ञान को वैयाकरण, तथा सविकल्पक को बौद्ध नहीं मानते। न्यायसम्मत षड्विध सन्निकर्षों के स्थान में दो ही सन्निकर्ष हैं—सयोग और संयुक्ततादात्म्य। भाट्ट मत समवाय नहीं मानता। उसकी दृष्टि में जाति, गुण और कर्म का द्रव्यो के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। अतः घटत्व, घटरूप तथा घटकर्म के अनुभव होने में संयुक्ततादात्म्य सन्निकर्ष होता है। प्रभाकर सयोग, संयुक्तसमवाय तथा समवाय तीन सन्निकर्ष मानते हैं। भाट्ट मत की अनुमान प्रक्रिया नैयायिकों से कतिपय अंश में भिन्न है (विशेषतः हेत्वामास के विषय में)। पञ्चावयव वाक्य के स्थान पर मामामा तथा वेदान्त तीन ही वाक्य मानते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त अथवा दृष्टान्त; उपनय और निगमन (मानमेयोदय पृ० ६४; वेदान्तसिंहाणा पृ० ९२)।

दृश्यमान वस्तु के सादृश्य से इन्द्रिय सन्निकृष्ट न होने पर भी, स्मरण का जाने वाला वस्तु के सादृश्य-ज्ञान को उपमिति उमान कहते हैं। (मा० मे० पृ० १०८)। यह ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान से भिन्न है, क्योंकि सादृश्य को धारण करने वाली वस्तु उस समय दृष्टिगोचर नहीं है। स्मृति में भी यह भिन्न है। जिस समय किसी पदार्थ का ज्ञान होता है, उस समय अन्य वस्तु के साथ उसकी सदृशता का अनुभव हमें नहीं होता। अतः यह सादृश्य ज्ञान स्मरण के अन्तर्गत नहीं माना जा सकता। व्याप्ति के दूषित होने के कारण इसे अनुमान के, न शब्दप्रमाण के ही अन्तर्गत कर सकते हैं। इसी कारण इस ज्ञान को एक स्वतन्त्र प्रमाण का रूप दिया गया है। मीमांसक नैयायिक-उपमान के स्वरूप को सत्यभूत नहीं मानते हैं।

ज्ञात पदों के द्वारा पदार्थ के स्मरण होने पर असन्निकृष्ट वाक्य के

अर्थ का ज्ञान होना 'शब्दी' प्रमा कहलाता है। **वाक्य** दो प्रकार के होते हैं—पौरुषेय और अपौरुषेय। पौरुषेय वाक्य का शब्द प्रमाणता तभी मानी जाती है, जब वह आप्त पुरुष के द्वारा व्यवहृत किया गया हो। अपौरुषेय शब्द स्वयं प्रति है। वाक्य दो प्रकार का और माना जाता है किमो पदार्थ की मत्ता के प्रदर्शित करने वाले वाक्य को 'सिद्धार्थक वाक्य' कहते हैं तथा किमो अनुष्ठान के प्रेरक वाक्य को 'विधायक वाक्य' कहते हैं जो उपदेशक तथा अतिदेशक होने से द्विविध माना जाता है (जायन्तीवृत्ति पृ० २०४)।

मीमामसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म का प्रतिपादन है। धर्म के लिए प्रमाणभूत वेद है। अतः मीमामसा ने वेद के स्वरूप तथा प्रमाणिकता को प्रदर्शित करने के लिए बड़ा सगल सुझावों की है। वेदों और नैयायिकों के मतों का खण्डन मीमामसा करती है। ईश्वर का न मानने के कारण वेदों का कोई भी कर्ता नहीं है। वेद नित्य हैं तथा पुरुषनिर्मित न होने से अपौरुषेय हैं (मीमामसा सूत्र १।१।२७-३२)।

वेदों की नित्यता का सर्वश्रेष्ठ साधक प्रमाण है शब्दों की नित्यता। कानों से सुनाई पड़ने वाली ध्वनि अनित्य है, वह केवल शब्द के स्वरूप की सूचिका है। शब्द स्वयं नित्य हैं। मन्त्रों में सगल तथा प्रसिद्ध युक्ति यह है कि उच्चरित ध्वनि ही यदि वास्तव में शब्द होती, तो एक ही शब्द के दस बार उच्चारण करने पर दस शब्दों का अनुभव होगा, पर होता है एक ही शब्द का। अतः उच्चारण शब्द को उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत उसके रूप का आविर्भाव करता है। अतः उच्चारण के ऊपर अनवलम्बित होने से शब्द नित्य है। शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध भी स्वाभाविक तथा नित्य है^१। वेद नित्य शब्दसमूहात्मक हैं। अतः वे भी नित्य हैं^२।

१ आन्वयिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः—मीमामसा सूत्र १।१।५

२ श्लो० पा० पृ० ७२७-८६४, शा० टी० १।१।५।

अनित्य ध्वनि से अर्थ सिद्धि न होने देख व्याकरणों ने वर्णक्रम-
हीन निरवयव नित्य शब्द की कल्पना की है जिसे वे 'स्फुटत्यर्थोऽस्मात्'
(जिसमें अर्थ स्फुटित हो) इस व्युत्पत्ति के अनुसार स्फोट नाम से
अभिहित करते हैं^१ । पर शब्द-स्फोट में वह कर वाक्य-स्फोट होता है
जिसमें नित्य निरवयव अखण्ड वाक्य अखण्ड निरवयव वाक्यार्थ का
बोध कराता है । यह वाक्यस्फोट ही नित्य है, तदंगभूत वर्ण तथा पद
मृपा है । मीमांसा इस सिद्धान्त की युक्ति युक्तता स्वीकार नहीं करती ।
उसका कहना है कि वर्ण, पद तथा अवान्तर वाक्यों को मिथ्या मानने
पर तत्प्रतिपाद्य प्रयाजादि अनुष्ठानविशेषों को भी मिथ्या ही मानना
पड़ेगा जिसमें मीमांसा के मूलोच्छेदन होने की आशका है ।
शब्दा- द्वैत मानने वाले व्याकरण जगत् को कल्पनात्मक
मानते हैं, वास्तव नहीं । केवल स्फोट ही नित्य है, पर जगत्
का व्यवहार उसके अंगों को लेकर चलता है । अतः जगत् के समस्त
व्यवहार मिथ्या है । भर्तृहरि का यह कथन सयुक्तिक है कि बालको को
शिक्षा देने के समान असत्य मार्ग में चल कर सत्य की उपलब्धि की
जाती है^२ । अतः जगत् का मिथ्यात्व व्याकरण-सम्मत है । परन्तु वास्तव-
वादी मीमांसक जगत् के पदार्थों को सत्ता वास्तविक मानते हैं । अतः
स्फोटवाद का आश्रय सिद्धान्त विरुद्ध है । इस प्रकार मीमांसा को दृष्टि
मे-वर्णात्मक शब्द ही नित्य होता है, न तु स्फोटात्मक । आचार्य कुमा-
रिल ने श्लोक वार्तिक (श्लोक १३७) में स्फोटवाद-खा डन का उप-
संहार वच मुचारु रूप से इसी युक्ति से किया है—

१ न प्रत्येक न मिलिता न चैकस्मृतिगोचराः ।

अर्थस्य वाचका वणाः किन्तु स्फोटः स च द्विधा ॥

शेषकृष्ण-स्फोटतत्त्वानुरूपण, श्लो० ३ ।

२ उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः ।

अस्त्ये वर्तमनि स्थित्वा ततः सत्यं समाहते ॥

—वाक्यपदीय

वर्णातिरिक्तः प्रतिपिब्यमानः पदेषु मन्दः पञ्चमादधानि ।

कार्यणि वाक्यावयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कुत एष यत्नः ॥

लौकिक ज्ञान के लिए आपन पुरुष का कथन प्रमाण माना जा सकता है, पर धर्म का प्रतिपादन केवल अपौरुषेय वेद ही करते हैं। अतः धर्म के लिए वेदों की ही प्रामाणिकता सब में वेद-विषय-विभाग अधिक है। वेद के विषय-विभाग का विवेचन मीमांसकों ने बड़े विस्तार तथा छानबीन के साथ किया है^१। वेद के ५ प्रकार के विषय हैं—(१) विधि, (२) मन्त्र, (३) नामवेद्य, (४) निषेध और (५) अर्थवाद। 'स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे' इस प्रकार के प्रवर्तनागमित वाक्यों का 'विधि' कहते हैं। अनुष्ठान के अर्थ-स्मारकों को 'मन्त्र' के नाम से पुकारते हैं। यज्ञों के नाम को 'नामवेद्य' संज्ञा है। अनुचित कार्य से विरत होने को 'निषेध' कहते हैं तथा किसी पदार्थ के सत्त्व गुणों के कथन को 'अर्थवाद' का नाम दिया गया है। इन पाँच विषयों के होने पर भा वेद का तात्पर्य विविधात्म्य में ही है। अन्य चारों विषय उनके केवल अगभूत हैं तथा पुरुष का अनुष्ठान के लिए उत्तुक बनाकर विविधात्म्य का ही सम्मन्न किया करते हैं। 'विधि' का विचार मामांसा के लिए प्रधान विषय है। विधि चार प्रकार का होती है। कर्म के स्वरूपमात्र को चतलाने वाली विधि 'उत्पत्ति विधि' है। अग तथा प्रधान अनुष्ठानों के सम्बन्ध-बोधक विधि को 'विनियोग विधि', कर्म से उत्पन्न फल के स्थापित को कहनेवाला विधि को 'अधिकार विधि', तथा प्रयोग के प्राग्भाव (शीघ्रता) के बोधक विधि को 'प्रयोग विधि' कहते हैं। विषय के निर्णय करने में सहायक श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या नामक पञ्चमाणा को मामांसा

स्वीकार करती है। उसके द्वारा निर्णीत सिद्धान्तों का उपयोग हिन्दू स्मृतियों की व्याख्या करने में प्रधान रूप से किया जाता है।

अर्थापत्ति पंचम प्रमाण है। दृष्ट या श्रुत अर्थ की उपपत्ति जिस अर्थ के अभाव में न होती हो, तो उसे अर्थापत्ति कहते हैं। अर्थात्

अर्थापत्ति किमी अर्थ की अर्थान्तर के बिना अनुपपत्ति देखकर उसकी उपपत्ति के लिए जो अर्थान्तर की कल्पना की जाती है वह अर्थापत्ति कहलाती है^१। उदाहरण के लिए उस व्यक्ति की दशा पर विचार कीजिए जो दिन में नित्य उपवास धारण किये हुए है, परन्तु फिर भी मोटा होता जा रहा है। यहाँ उपवास करना तथा मोटा होना - इन दोनों का परस्पर विरोध स्पष्ट ही है। अतः इस विरोध के दूर करने के लिए 'यह रात में अवश्य भोजन करता होगा' इस अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति है; क्योंकि बिना इसका आशेष किये पूर्वोक्त वाक्य की सिद्धि नहीं हो सकती। अर्थापत्ति को स्वतन्त्र प्रमाण बतलाने के लिए मामासको ने बड़ा प्रयत्न युक्तियों की अवतारणा की है (शास्त्रदीपिका प्र० ४१८-४३२)। इसका विशेष उपयोग हमारा दैनिक जीवन के लिए तथा वाक्यों के अर्थ समझने के लिए है।

अर्थापत्ति के दो भेद होते हैं—(१) दृष्टार्थापत्ति-जहाँ देखी गई किसी वस्तु का उपपत्ति के लिए अर्थान्तर की कल्पना की जाती है जैसे पूर्वोक्त दृष्टान्त। (२) श्रुतार्थापत्ति-जहाँ किसी वस्तु की उपपत्ति के लिए अन्य शब्द की कल्पना होती है जैसे 'पिबेहि' ('बन्द करो') पद को सुनते ही 'द्वारं' (द्वार को) पद की कल्पना की जाती है (मा० मे० प्र० १२९-१३०)।

ये पाँचो भावपदार्थों की उपलब्धि के साधक प्रमाण हैं, पर अभाव

१ अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वाऽयौऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना—शाबरभाष्य (१.१.५)।

की उपलब्धि के बोधक प्रमाण की भी आवश्यकता है। हमारी इन्द्रियाँ भावात्मक वस्तुओं के ज्ञान को वतला सकती हैं, अनुपलब्धि या अभाव अभाव को नहीं। अतः **अनुपलब्धि** की स्वतंत्र सत्ता है। यदि लेखनी होती तो अवश्य उपलब्ध होती, पर इस समय वह उपलब्ध नहीं हो रही है। अतः वस्तु की अनुपलब्धि उसके अभाव को सूचित कर रही है। साधारण अनुपलब्धि में किसी पदार्थ के अभाव का पता नहीं चलता, अन्यथा अन्धकार में अदृश्य तथा अनुपलब्धमान वाटिका के वृक्षों का भी अभाव सिद्ध हो जायगा। अतः यहाँ 'योग्यानुपलब्धि' का ग्रहण करना चाहिए। किसी पदार्थ की उपलब्धि के समग्र साधन उपस्थित हैं, पर फिर भी उस पदार्थ की उपलब्धि नहीं हो रही है। इसमें उसका अभाव सिद्ध होता है। अनुपलब्धि को भाट्ट-मीमांसा तथा अद्वैतवेदान्त स्वतन्त्र प्रमाण मानता है। प्रमाकर अभाव को अधिकरणरूप मानकर इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते। (तन्त्ररहस्य प्र० १६-१९)।

इन ६ प्रमाणों के द्वारा लौकिक तथा शास्त्रीय प्रमेयों की सत्ता प्रमाण सिद्ध की जा सकती है। रामायण में इन्हीं छ युक्तियों के द्वारा लोक-व्यवहार की साधना स्वीकृत की गई है:—

राम ! पठ युक्तयो लोके याभिः सर्वोऽनुद्ध्यते ।

प्रामाण्यवाद के महत्वपूर्ण प्रश्न को लेकर मीमांसकों ने बड़ा सूक्ष्म विवेचन किया है। मीमांसक प्रामाण्य को 'स्वतः' तथा अप्रामाण्य को 'परतः' मानते हैं। इस विषय में उनका संघर्ष परतः प्रामाण्यवादी नैयायिकों के साथ बड़ा प्रचल है। संक्षेप में नैयायिक मत यह है कि विषयेन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर 'अयं घटः' इत्याकारक व्यवसायात्मक ज्ञान की उत्पत्ति होती है। उसके अनन्तर 'घटमहं जानामि' (मैं घट का जानता हूँ) इत्याकारक अनुव्यवसाय का जन्म होता है, अनन्तर प्रामाण्य तथा अप्रामाण्य की स्मृति और

तदनन्तर उस प्रत्यक्षज्ञान के विषय में मन्देह उत्पन्न होता है। पीछे प्रवृत्ति के चरितार्थ होने पर ज्ञान प्रामाणिक माना जाता है। अतः अनुमान के द्वारा प्रामाण्य की उत्पत्ति होनेपर प्रामाण्य 'परतः' स्वीकृत किया जाता है। परन्तु मीमांसा 'स्वतः प्रामाण्यवाद' को मानती है, परन्तु तीनों सम्प्रदायों के अनुसार इसमें भी विशिष्टता है। (क) प्रभाकर के मत में ज्ञान स्वतःप्रकाश है। ज्ञान की उपमा प्रकाश में दी जाती है। जिस प्रकार प्रकाश दृश्यमान घटपटादि पदार्थ को, अनन्तर अपने आपका, पश्चात् आश्रयभूत दीपक की चत्ती को अभिव्यक्त करता है, उसी प्रकार ज्ञान प्रथमतः इन्द्रिय-सन्निहित पदार्थ को प्रकाशित करता है, अनन्तर अपने आप को और पीछे ज्ञान में आश्रयभूत आत्मा को प्रकट करता है। अतः प्रत्येक प्रत्यक्ष में पदार्थ, ज्ञान, तथा आत्मा की स्वतः अभिव्यक्ति होती है। इसका नाम है—त्रिपुटीप्रत्यक्ष। 'स्वतः' का अर्थ है 'स्वज्ञानजनकसामग्रीतः'। अतः ज्ञान के साथ-साथ उसका प्रामाण्य भी उत्पन्न होता है अर्थात् ज्ञान का जिस सामग्री से ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी सामग्री से उस ज्ञान का प्रामाण्य भी उद्भूत होता है^१। (ख) कुमारिल का अनुभवविश्लेषण भिन्न प्रकार का है। घट के ज्ञान होने पर 'ज्ञातो घटः' (घड़ा मेरे द्वारा जाना गया है) ऐसा ज्ञान उत्पन्न होता है जिससे पता चलता है कि प्रत्यक्षविषय घट में 'जातता' नामक धर्म का उदय होता है। कुमारिल की सम्मति से ज्ञान स्वयं प्रत्यक्ष नहीं है, प्रसूत ज्ञान के धर्मविशेष 'जातता' ही का प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष-पूर्व अज्ञात घट प्रत्यक्ष के अनन्तर ज्ञान—परिचित—हो जाता है। अतः ज्ञान का फल अनुभवविषय में 'जातता' की उत्पत्ति है। इसी 'जातता' से ज्ञान का तथा प्रामाण्य का उदय होता है^२। (ग) मुरारिमिश्र के

१ न्यायकन्दर्पिका पृ० ९१, शास्त्रदायिका पृ० २१३-२१४, तन्त्रग्रहस्य पृ० ५-८, प्रकरणपत्रिका पृ० ३८-५३।

२ न्यायरत्नमाला पृ० ३१-३५, शा० दी० पृ० ९७-१०६, मा० मे० पृ० ४-६

मत पर न्याय का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे ज्ञान का प्रत्यक्ष ही मानते हैं। प्रथमतः इन्द्रियसंयोग होने पर वस्तु का व्यवसायात्मक ज्ञान होता है। अनन्तर 'घटमहं जानामि' इत्याकारक अनुव्यवसाय ज्ञान की उत्पत्ति होता है। यही अनुव्यवसायात्मक ज्ञान प्रामाण्य का उत्सादक होता है। यहाँ मुरारि का अपना विशिष्ट मत है^१ जो न्यायमत से कतिपय अंशों में समान होने पर भी भिन्न है। इन तीनों मीमांसकमतों की तारतम्य-परीक्षा करने पर मथुरगनाथ तर्कवागीश^२ की सम्मान्य सम्मति है कि प्रभाकर का ही मत पक्का 'स्वतः प्रामाण्यवाद' है, अन्य मतों में न्यायमत के समान ही पतनःप्रामाण्य का ही सिद्धान्त मान्य है।

भ्रमज्ञान

भ्रमज्ञान के विषय में मीमांसकों के विशिष्ट मत हैं। प्रभाकर के मत में समस्त ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। परन्तु शक्ति में रजत का, रस्सी में सर्प का, भ्रम भी आबालवृद्ध-परिचित है। इस विषय की मीमांसा प्रभाकर ने इस प्रकार की है। 'इदं रजतम्' ऐसी भ्रान्ति की उपलब्धि में केवल 'इदमश' प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है। चक्षु 'इद' पदार्थ के अस्तित्व की ही सूचना देकर विरत हो जाती है। 'रजत' अंश प्रत्यक्ष का विषय नहीं है, क्योंकि वहाँ उस पदार्थ की अविवक्षितता है। अन्यत्र देखे गये रजत का केवल स्मरणमात्र हो जाता है। दोनों अपने अपने स्थानों पर स्वरूप हैं, पर स्मृतिप्रभोष हाने के कारण उपलब्धमान 'इदं पदार्थ'

१ मनसैव ज्ञानस्वरूपवत् त प्रामाण्यग्रहः इति मुरारिमिश्राः । वर्धमानकुमुमाजलि प्रकाश पृ० २१९ ।

२ स्वतः स्वाश्रयजनकमामयातः । स्व प्रमात्वम् । एतच्च गुरुमते । पततः तदन्वय-मामयातः । एतच्च निरुद्धं । तदन्वयमात्रम् ॥

तथा स्मर्यमाण 'रजत' पदार्थ के पारस्परिक भेदग्रहण न होने में ही यह भ्रम उत्पन्न होता है। तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के ही भातिइनके विषय - रजत तथा शुक्ति - में विवेक के ग्रहण न होने से भ्रमज्ञान के लिए अवकाश बना रहता है (ज्ञानयाः विषययोश्च विवेकाग्रहात् भ्रमः)। शुक्ति तथा रजत का ज्ञान दोनों अपने अपने विषयों में यथार्थ हैं^१। परन्तु इस स्थान पर अनुभव होता है चमक का, और स्मरण होता है रजत का। इस गड़बड़ी के कारण ही यह भ्रान्ति है। प्रभाकर इसे 'विवेकाग्रह' कहते हैं। इसी का नाम 'अख्याति' भी है^२।

कुमारिल तथा मुरारि मिश्र नैयायिकों के मत को मानते हैं। शुक्ति-विषयक ज्ञान शुक्तित्वप्रकारक होता है और रजत-विषयक ज्ञान रजतत्व प्रकार होता है। शुक्तित्व तथा रजतत्व धर्मविशेष हैं जो शक्ति, रजत में समवायसम्बन्ध से रहते हैं और जिससे वे कथमपि पृथक् नहीं किये जा सकते। परन्तु शक्ति में रजत ज्ञान होने के अवसर पर शुक्ति में रजतत्वप्रकारक ज्ञान होता है अर्थात् अन्य विषय (शुक्ति) में अन्य (रजतत्व) प्रकारक ज्ञान है। अतः अन्यथा, भिन्नरूप से, ज्ञान होने से यह ज्ञान 'अन्यथाख्याति' कहलाता है। भाट्टमीमांसक इसे ही **विपरीतख्याति** के नाम से पुकारते हैं, क्योंकि इसमें अकार्य का कार्य-रूप से भान होता है (अकार्यस्य कार्यतया भानम्)।

(३) मोमांसक तत्त्वसमीक्षा

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से मीमांसा प्रपञ्च की नित्यता स्वीकार करती है,

१ रजतमिदमित नैकं ज्ञानं किन्तु द्वे एते विज्ञाने। तत्र रजतमिति स्मरणं तस्याननुभवरूपत्वाच्च प्रामाण्यप्रसङ्गः। इदमिति विज्ञानमनुभवरूपं प्रमाणमिदं एव। भ्रान्तिरूपता चात्र रजतज्ञानस्य स्मरणरूपस्यैव ग्रहणव्यवहारप्रवर्तकया व्यवहारकाले विसंवादकत्वात्—प्रकरणपत्रिका पृ० ४३।

२ नयविवेक पृ० ८६-९३। तन्त्ररहस्य पृ० २-५।

पर पदार्थों की कल्पना में प्रभाकर, कुमारिल और मुगारि में मतभेद दिखलाई पड़ता है। प्रभाकर ८ पदार्थों की सत्ता को मानते हैं^१—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, परतन्त्रता, शक्ति, सादृश्य और संख्या। इनमें द्रव्य, गुण तथा कर्म के स्वरूप का वर्णन वैशेषिकों के समान ही है। सामान्य की सत्ता व्यक्तियों से पृथक् नहीं मानी जाती; वह व्यक्तियों में ही रहता है। 'परतन्त्रता' वैशेषिकों का समवाय है। यह जाति तथा व्यक्ति के बीच विद्यमान सम्बन्ध है। यह नित्य नहीं है, क्योंकि यह अनित्य पदार्थों में भी रहता है। केवल द्रव्य, गुण तथा कर्मों में कार्यजनकता नहीं है, प्रत्युत शक्ति से सम्पन्न होने पर ही इनसे कार्य की उत्पत्ति होती है। अतः शक्ति नामक एक नवीन पदार्थ की कल्पना युक्तियुक्त मानी जाती है। न्यायदृष्टि में शक्ति प्रतिबन्धकाभाव रूप है और सादृश्य तथा संख्या गुण के अन्तर्गत है।

कुमारिल के अनुसार पदार्थों की संख्या केवल पाँच है। पदार्थों के दो विभाग हैं—भावात्मक तथा अभावात्मक। अभाव के वैशेषिकों के समान चार प्रकार स्वीकृत किये गये हैं। भाव पदार्थों के चार भेद हैं—द्रव्य, गुण, कर्म तथा सामान्य। वैशेषिक मत में नव ही द्रव्य हैं, भाट्ट मत में अन्धकार और शब्द दो नये द्रव्य माने जाते हैं (मा० मे० पृ० १५९)। 'नील तमश्चलति' (नीलरंग का अन्धकार प्रकाश आने पर चलता है) इस व्यवहार के ऊपर अन्धकार में नील गुण तथा चलनात्मक कर्म को विद्यमान मानकर उसे द्रव्य का स्वरूप प्रदान किया गया है, पर प्रभाकर तथा वैशेषिक लोग इसे प्रकाश का अभाव मानते हैं तथा गुण और कर्म का गणितान्वय मानते हैं, वास्तविक नहीं। गुण आदि के विभाग का वर्णन न्याय-वैशेषिक के ही समान सामान्य रूप से है।

मुरारि मिश्र की पदार्थकल्पना दोनों से भिन्न है। ब्रह्म ही एक परमार्थभूत पदार्थ है, परन्तु लौकिक व्यवहार की उपरानि के लिए अन्य चार पदार्थ हैं—(क) धर्मविशेष—नियत आश्रय, जैसे घटत्व का आश्रय घट; (ख) धर्मविशेष—नियत आवेय, जैसे घट का घटत्व; (ग) आधार-विशेष—अनियत आधार, जैसे इदानीं (इस समय का) घटः' 'तदानीं घटः' में कालबोधक इदानीं तथा तदानीं पद घट के अनियत आधार हैं; (घ) प्रदेशविशेष—देशिक आधार—'गृहे घटः', 'भूतले घटः' में घट का गृह और भूतल देशमन्वर्था अनियत आधार हैं (ब्रह्मैकं, व्यवहारे तु धर्मिधर्माधारप्रदेशविशेषाः पञ्च पदार्था इति वेदान्ता मुरारिमिश्राच्च—न्यायमाला) ।

हमारे इन्द्रियाँ ही बाह्य वस्तुओं की उपलब्धि के साधन हैं। उनके द्वारा जगत् का जिस रूप में उपलब्धि होता है, उसी मन में जगत् की सत्यता है^१। इस समार में तीन प्रकार की वस्तु का (ख) जगत् ज्ञान हमें होता है—(१) शरीर, जिनमें रहकर आत्मा सुख दुःख का अनुमान करता है (भोगायतन); (२) इन्द्रियाँ, जिनके द्वारा आत्मा सुखदुःख का भोग किया करता है (भोगमाधन) (३) बाह्य पदार्थ, जिनका भोग आत्मा किया करता है (भोगविषय) । इन त्रिविध वस्तुओं से युक्त नानारूपात्मक यह प्रपञ्च अनादि तथा अनन्त है। मीमांसा जगत् की मूल सृष्टि तथा आत्यन्तिक प्रलय नहीं मानती। केवल व्यक्ति उत्पन्न होते रहते हैं तथा विनाश को प्राप्त करते रहते हैं; जगत् की सृष्टि तथा नाश कभी नहीं होता। कुछ मीमांसक लोग अणुवाद को स्वीकार करते हैं^२। जगत् के वस्तुजात

१ तस्माद्यद् गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा ।

तत्तार्थवाभ्युपेतव्य मामान्यमथ वेतवत् ॥—श्लो० वा० पृ० ४०४ ।

२ अणुवाद के समर्थन में द्रष्टव्य प्रभाकविजय पृ० ४३-४६ ।

कुमारिल अणुवाद को मीमांसा का सर्वसम्मत भिद्धान्त नहीं मानते।

अणु से उत्पन्न हुए हैं। कमा के फलों-मुख होने पर अणुसंयोग से व्यक्ति उत्पन्न होते हैं तथा फल की समाप्ति होने पर विच्छेद के कारण ये अवान्तर परिवर्तन को प्राप्त हो जाते हैं। न्याय वैशेषिक दर्शन में भी जगत् की उत्पत्ति अणुओं से मानकर परिमाणुवाद को स्वीकार किया गया है, पर दोनों दर्शनों के अभिप्रेत परिमाणुवाद में अनेक अंश में भेद दीख पड़ता है। न्याय परिमाणुओं को हमारे लिए प्रत्यक्ष-सिद्ध न मानकर अनुमानैकगम्य मानता है। सूर्य किरण में छिद्रगमन होने पर जो सूक्ष्म द्रव्य दीख पड़ते हैं, वे त्रसरेणु कहलाते हैं और उनके पण्ड भाग को परमाणु मानते हैं। पर मीमांसकों का यह मत अभीष्ट नहीं है। हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं, इनसे भी सूक्ष्म कणों की कल्पना के लिए कोई आधार नहीं है। न्याय उसे योगिप्रत्यक्ष का विषय मानता है, पर मीमामा योगजप्रत्यक्ष को अस्मदादि प्रत्यक्ष से विलक्षण नहीं मानतो। अतः हमारे नेत्रगोचर कण ही परमाणु हैं, यही मीमामा के मत का निष्कर्ष है (मानमेयोदय पृ० १६८)। जगत् का यही मीमामा-सम्मत स्वरूप है।

जालन्ध्रविमरद्रवितेजोजालभासुरपदार्थविशेषान् ।

अल्पकानिह पुनः परमाणून् कल्पयन्ति हि कुमारिलशिष्याः ॥

आत्मा कर्ता तथा भोक्ता दोनों है। वह व्यापक और प्रतिशरार में भिन्न है। ज्ञान, सुख, दुःख तथा इच्छादि गुण उसमें समवाय सम्बन्धन रहते हैं। आत्मा जानभुग्वादिरूप नहीं है।

(ग) आत्मा

न्याय वैशेषिक मत के विपरीत भाट्ट मीमांसक आत्मा में क्रिया के अस्तित्व को मानते हैं। कर्म दो प्रकार के होते हैं-स्वन्द

मामांसकैश्च नावश्यमियन्ते परमाणवः ।

यद्वलेनोपलब्धस्य मिथ्यात्व कल्पयेद्भवान् ॥ श्लो० वा० पृ० ४०४ ।

तथा परिणाम । इनमें आत्मा में स्पन्द (स्थान परिवर्तन) नहीं होता^१, पर परिणाम (रूप-परिवर्तन) होता है । कुमारिल परिणामी वस्तु का भी नित्यता मानते हैं । उनके मत से परिणामशील होने पर भी आत्मा नित्य पदार्थ है । आत्मा में चित् तथा अचित् अंशद्वय होते हैं । इसमें चिदंश से आत्मा प्रत्येक ज्ञान का अनुभव करने वाला है, पर अचिदंश में वह परिणाम को प्राप्त करता है । सुख, दुःख, इच्छा, प्रयत्नादि, जिन्हें न्यायवैशेषिक आत्मा के विशेष गुण बतलाते हैं, भाट्टमतमें आत्मा के अचिदंश के परिणाम स्वरूप हैं^२ । वेदान्तियों के मत से विपरीत, कुमारिल आत्मा का चैतन्य-स्वरूप नहीं मानते, प्रत्युत चैतन्यविशिष्ट मानते हैं । अनुकूल परिस्थिति में (शरीर तथा विषय से संयोग होने पर) आत्मा में चैतन्य का उदय होता है, पर स्वप्नावस्था में विषय-सम्पर्क से रहित होने पर आत्मा में चैतन्य नहीं रहता । आत्मा इस प्रकार जड़ तथा बोधात्मक दोनों प्रकार का है । प्रभाकर आत्मा में क्रियावत्ता नहीं मानते । कुमारिल के अनुसार आत्मा-मानस-प्रत्यक्ष गम्य है । 'अहमात्मानं जानामि' (मैं अपने को जानता हूँ) इस अनुभव-वाक्य में कर्ता अपने अस्तित्व को जानने वाला बतलाया गया है । इस आत्म प्रत्यय का विषय 'आत्मानं' कौन है ? यही आत्मा । इस तरह कुमारिल आत्मा को ज्ञान का कर्ता तथा विषय दोनों मानते हैं, पर प्रभाकर आत्मा को अहप्रत्ययवेद्य ('अहं' पद के द्वारा जाना गया) मानते हैं । प्रत्येक ज्ञान के कर्ता-रूप में आत्मा की सत्ता है । 'घटमह जानामि'

१ यजमानन्वमप्यात्मा सक्रियत्वात् प्रपद्यते ।

न परिस्पन्द एवैकः क्रिया नः कणभोजिवत् ॥ श्लो० वा० पृ० ७०७ ।

२ चिदंशेन द्रष्टृत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषयत्वं च अचिदंशेन । ज्ञानमुखादिरूपेण परिणामित्वम् । स आत्मा अहप्रत्ययेनैव वेद्यः ॥

काश्मीरक सदानन्द—अद्वैतब्रह्मसिद्धिः ।

‘मैं घरे को जानता हूँ’ इस अनुभव-वाक्य में घटजान का कर्ता आत्मा है। अतः प्रत्येक ज्ञान के कर्तृत्वेन आत्मा का अस्तित्व मानना युक्ति सगत है (मा० मे० पृ० १९२-१९४) ।

(५) मीमांसक आचारमीमांसा

मीमांसा दर्शन का प्रधान उद्देश्य धर्म का व्याख्या करना है। जैमिनि ने धर्म का लक्षण किया है—‘योगसाधनं धर्मः’ (१।१।२) । ‘चोदना’ के द्वारा लक्षित अर्थ धर्म कहलाता है। चोदना का अर्थ है क्रिया का प्रवर्तक वचन अर्थात् वेद का विधिवाक्य। चोदना भूत भविष्य वर्तमान, सूक्ष्म व्यवहित और विप्रकुष्ट पदार्थों को बतलाने से जितनी समर्थ है, उतना सामर्थ्य न तो इन्द्रियो में है न अन्य किसी पदार्थ में (चोदना हि भूतं भवन्त भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहित विप्रकुष्ट-भिन्नोक्तं विस्तर्य शक्नोत्यवगमयितुं, नान्यत् किञ्च, नेन्द्रियम् - शाबर-भाष्य १।१।२) । मीमांसकों की माननीय सम्मति में भगवती श्रुति का तात्पर्य क्रियासरक ही है। ‘विधि’ का प्रतिपादन ही वेदवाक्यों का मुख्य तात्पर्य है (आम्नायस्य क्रियार्थत्वात् मी० सू० १।२।१) । अतः ज्ञान-प्रतिपादक वाक्य क्रिया की स्तुति या निषेध प्रतिपादन करने के कारण परम्परया क्रियासरक है। उन्हें सामान्यतः ‘अर्थवाद’ कहते हैं। इसलिए किसी प्रयोजन के उद्देश्य से वेद के द्वारा विहित यागादि अर्थ ‘धर्म’ कहलाता है। इन अर्थों के विधिवत् अनुष्ठान करने से पुरुषों को निःश्रेयस की—दुःखों को निवृत्ति करने वाले स्वर्ग की—उपलब्धि होती है। यथा ‘स्वर्गकामो यजेत’ (स्वर्ग की कामना वाला पुरुष यज्ञ करे) इस वाक्य में ‘यजेत’ क्रियापद के द्वारा ‘भावना’ की उत्पत्ति मानी जाती है। ‘भावना’ का लक्षण ‘आग्नेय’ ने किया है—भवितुर्भावनानुकूलः भावकव्यापारविशेषः (मामांसान्यायप्रकाश पृ० २) अर्थात् उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल प्रयोजकनिष्ठ व्यापार या प्रेरणा। वैदिक

वाक्यों को सुन कर उन क्रियाओं के अनुष्ठान के लिए जो 'प्रेरणा' होती है, वही मीमांसा में 'भावना' पद-वाच्य है। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक कैन्ट के सिद्धान्त में ऐसी प्रेरणा 'कैटेगोरिकल इम्पैंग्टिव' ('शुद्धप्रेरणा') के नाम से अभिहित की गई है। भावना दो प्रकार की होती है—शाब्दी भावना और आर्था भावना। 'यज्ञेत' इस क्रियापद में दो अर्थ हैं—धातु यज् तथा लिङ् लकार। लिङ् लकार-जन्य भावना शाब्दी और आख्यात-जन्य भावना आर्था कहलाती है। संसार में 'सन्ध्यावन्दन करो' इस वाक्य में प्रवृत्ति के अनुकूल आचार्य आदि प्रेरक पुरुषों में रहने वाला अभिप्राय 'भावना' कहलाता है, परन्तु वेद के कर्ता न होने से यह अभिप्राय लिङ्-लकारनिष्ठ माना जाता है। अतः यह शाब्दी भावना है। स्वर्ग-प्राप्ति की इच्छा से उत्पन्न होनेवाले, याग के सम्पादनार्थ पुरुषविषयक, प्रयत्न को आर्था भावना कहते हैं जो धातुवंश से अभिव्यक्त की जाती है।

'भावना' का सिद्धान्त मीमांसादर्शन का सर्वस्व है। अतः इसकी समुचित व्याख्या करने के लिए आचार्यों के विद्वत्पूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं^१ जिनमें मण्डनमिश्र का 'भावनाविवेक' नितान्त प्रख्यात है। इस प्रकार धर्म की साक्षात् प्रतिपादिका श्रुति है। श्रुत्यर्थ के अनुगमन करने के लिए कारण स्मृति का भी प्रामाण्य है। सदाचार को धर्मनिर्णायक सिद्ध करने के लिए तन्त्रवार्तिक (१।३।७, पृ० २०३-२१५) में कुमारिल ने बड़ा मीमांसा की है और उसकी युक्तिमत्ता प्रदर्शित की है। आत्मतुष्टि धर्म में चतुर्थ तथा अन्तिम प्रमाण है^२।

वेदविहित कर्मों के फलों के विषय में मीमांसकों में दो मत दृष्टि-गोचर होते हैं। यह तो प्रसिद्ध है कि दुःख की निवृत्ति और सुख की

१ द्रष्टव्य तन्त्रवार्तिक २ १।१, आपदेव-मीमांसान्यायप्रकाश पृ० २-५।

२ यथा रुमायां लवणाकरो मेगं यथा वोज्ज्वलरत्नभूमौ।

यज्जायते तन्मयमेव तत् स्यात् तथा भयं वेदविदान्तुष्टिः ॥

प्राप्ति प्रत्येक प्राणी का लक्ष्य होता है। प्राणियों की कर्मविशेष के अनुष्ठान में प्रवृत्ति तभी होती है जब उसमें किसी इष्ट, अभिलाषित पदार्थ के सिद्ध होने का ज्ञान उन्हें होता है। अतः कुमारिल की दृष्टि में धार्मिक कृत्यों के अनुष्ठान में 'इष्टसाधनताज्ञान' कारण है, परन्तु प्रभाकर 'कार्यता-ज्ञान' को कारण अंगीकार करते हैं। वेदविहित कृत्यों का अनुष्ठान कर्तव्यबुद्ध्या करना चाहिए, उनसे न सुख पाने की आशा रखे, न अन्य किसी फल पाने की चाह। कुमारिल का कथन है कि काम्य-कर्म कामना विशेष की सिद्धि के लिए किए जाते हैं, पर प्रभाकर का मत है कि काम्य कर्म में कामना का निर्देश मन्त्रों के अधिकारी की परीक्षा करने के लिए है—वैसी कामना रखने वाला पुरुष उस कर्म का सच्चा अधिकारी सिद्ध होता है। पर 'नित्यकर्म' के विषय में मत-पार्थक्य नितान्त स्फुट है। कुमारिल के मत में नित्यकर्म (यथा सन्ध्या-वन्दन आदि) के अनुष्ठान से दुरितक्षय (पाप का नाश) होता है, और अनुष्ठान के अभाव में प्रत्यवाय उत्पन्न होता है। परन्तु प्रभाकर को सम्मति में नित्यकर्मों का अनुष्ठान वेदविहित होने के कारण ही कर्तव्य है। वेद की अनुल्लङ्घनीय आज्ञा है कि दिन प्रतिदिन सन्ध्या की उपासना करनी चाहिए (अहरहः सन्ध्यामुपासीत)। बस, इसी उद्देश्य से, कर्तव्य कर्म होने की दृष्टि से, इन कृत्यों का सम्पादन करणीय है। अतः निष्काम-कर्मयोग की दृष्टि से कार्यों का निष्पादन प्रभाकर को माननीय है। इस सिद्धान्त पर श्रीभगवद्गीता के 'कर्मयोग' का विपुल प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

वेदप्रतिपाद्य कर्म तीन प्रकार के होते हैं:- (क) काम्य—किसी कामनाविशेष के लिए करणीय कार्य; जैसे 'स्वर्गकामो यजेत', (ख) प्रतिपिद्ध—अनर्थ उत्पादक होने से निषिद्ध जैसे 'कलञ्जं न भक्षयेत्' (विष-दिग्ध शस्त्र से मारे गये पशु का मांस न खाना चाहिए); (ग) नित्य नैमित्तिक—अहेतुक करणीय कर्म; जैसे सन्ध्यावन्दन नित्य कर्म है और

अवसर-विशेष पर अनुष्ठेय श्राद्धादि कर्म नैमित्तिक । अनुष्ठान करने ही फलकी निष्पत्ति सद्यः नहीं होती, प्रत्युत कालान्तरमें होती है । अब प्रश्न यह है कि फलकाल में कर्म की सत्ताके अभावमें फलोंत्पादक किस प्रकार होता है ? मीमांसकों का कहना है कि 'अपूर्व' के द्वारा । प्रत्येक कर्म में अपूर्व (पुण्यापुण्य) उत्पन्न करने की शक्ति रहती है^१ । कर्म से होता है अपूर्व और अपूर्व से होता है फल । अतः 'अपूर्व' कर्म तथा फल के बीच की दशा का द्योतक है । शंकराचार्य ने इसीमें अपूर्व को कर्म की मृशमा उत्तरावस्था या फल की पूर्वावस्था माना है^२ । 'अपूर्व' की कल्पना मीमांसकों की कर्मविषयक एक मौलिक कल्पना मानी जाती है ।

हमारे अचेतन कर्मों के फल का दाता कौन है ' विना किसी चेतन पुरुष की अधिष्ठातृता के कर्म स्वकीय फल उत्पन्न करने में नितरा असमर्थ है । अतः ब्रह्मसूत्र में तृतीय अध्याय के द्वितीय पाद के अन्तिम फलाधिकरण में आचार्य वादरायण ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं । पर जैमिनि^३ के अनुसार यज्ञ से ही तत्तत्फल की प्राप्ति होती है, ईश्वर के कारण नहीं । ब्रह्मसूत्र तथा प्राचीन मीमांसाग्रन्थों के आधार पर ईश्वर की सत्ता सिद्ध मानी नहीं जाती, पर पीछे के मीमांसकों का यह त्रुटि बेतरह खटकों और इसके मार्जनार्थ उन लोगों ने ईश्वर को यज्ञपति के रूप में स्वीकार

१ यागादेव फल तद्धि शक्तिद्वारेण सिध्यति ।

सूक्ष्मशक्त्यात्मकं वा तत् फलमेवोपजायते ॥

—तन्त्रवार्तिक पृ० ३९५ ।

२ न चाप्यनुपाद्य किमपि अपूर्व, कर्म विनश्यत् कालान्तरित फल दातु शक्नोति, अतः कर्मणो वा सूक्ष्मा काचिदुत्तरावस्था, फलस्य वा पूर्वावस्थाऽपूर्वं नामास्तीति तर्क्यते—शा० भा० ३।२।४० ।

३ धर्मं जैमिनिरत एव ब्र० सू० ३।२।४० ।

किया। आपदेव तथा लौगाधिभास्कर ने गीता के ईश्वरसमर्पण सिद्धान्त को श्रुतिमूलक मानकर मोक्ष के लिए समस्त कार्यों के फल को ईश्वर को समर्पण कर देने की बात लिखी है^१। वेदान्तदेशिक ने इसी उद्देश्य से 'सेश्वरमीमासा' नामक ग्रन्थ की रचना की है। 'प्रभाकर-विजय' में मुचान्त युक्तियों के प्रयोग से ईश्वरविषयक अनुमान का खण्डन किया गया है और ईश्वरसिद्धि को स्पष्टतः अंगीकार किया गया है^२। शब्द-प्रमाणवेद्य श्रुतिमूलक ईश्वर की सत्ता प्रभाकर को स्वीकृत है। जो कुछ कारण हो, प्राचीन मीमासा निरीश्वरवादी ही प्रतीत होती है। देवताओं की भी पृथक् सत्ता नहीं मानी जाती। देवता मन्त्रात्मक हैं, यही मीमांसक परिनिष्ठित सिद्धान्त है।

मोक्ष

मोक्ष के महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन मीमांसको ने बड़ी सूक्ष्म दृष्टि के साथ किया है। मोक्ष की परिभाषा थोड़े शब्दों में है—प्रपञ्च-सम्बन्धविलयो मोक्षः (शान्त्रदीपिका पृ० ३५७)। इस जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। प्रपञ्च के तीन बन्धनों ने आत्मा का जगत्-कागार में डाल रखा है। आत्मा शरीरावच्छिन्न बन कर इन्द्रियों के साहाय्य से बाह्यविषयों का अनुभव करता है। अतः इन बन्धनों ने संसारशृङ्खला में जीव को जकड़ रखा है—भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रिय, भोगविषय पदार्थ। इस त्रिविध बन्ध के

१ ईश्वरार्पायद्भ्या क्रियमाणस्तु निःप्रेयसहेतुः। न च तदर्पणवद्भ्यानुष्ठाने प्रमाणमायः। 'यत्करोषि यदजन्मानि भगवद्भगतास्मृतेरे' प्रमाणत्वात्। स्मृतिचरणे न प्रामाण्यस्य श्रुतिमूलकत्वेन व्यवस्थापनात्। अर्थसंग्रह पृ० १९६, मामांमान्याय-प्रकाश पृ० १९०।

२ 'न चानुमानिकत्वमेतद्व्यवस्थितम्। नेश्वरोऽपि निगकृतः। अत एव न प्रभाकरगुणभिरवर्गनिगमः कृतः। तत्समर्थनं च वेदान्तमीमांसायां। क्रियत इत्यभिप्रेतम्—प्रभाकरविजय पृ० ८२।

आत्यन्तिक नाश की सजा 'मोक्ष' है (वेधा हि प्रपञ्चः पुरुः वध्नाति - भोगायतन शरीर, भोगसाधनादि इन्द्रियाणि, भोग्याः शब्दादयो विषयाः । भोग इति च मुख्यदुःखविषयोऽपरोक्षानुभव उच्यते । तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः शा० दी० पृ० ३५८) । 'आत्यन्तिक' का अभिप्राय यह है कि पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय और विषयो का नाश हो जाता है, परन्तु बन्ध के उत्पादक धर्माधर्म के एकदम निःशेष हो जाने के कारण भविष्य में इनकी उत्पत्ति भी नहीं होती । अतः आत्मा को इस भौतिक जगत् में आने की कोई आवश्यकता नहीं रहता । मोक्ष-विषय में वेदान्त और मीमामा का अंतर नितान्त स्पष्ट है । मीमामा 'प्रपञ्चसम्बन्ध विलय' को, परन्तु वेदान्त 'प्रपञ्चविलय' को ही मोक्ष स्वीकार करता है । स्वप्नप्र-प्रपञ्च के समान यह संसार-प्रपञ्च अविद्यानिर्मित है । अतः ब्रह्मज्ञान होने से अविद्या के विलीन होने पर जगत् की सत्ता ही नहीं रहती । प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है (अविद्यानिर्मितो हि प्रपञ्चः स्वप्नप्रपञ्चवत्, प्रबोधनेनैव ब्रह्मविद्यया अविद्याया विलीनाया स्वयमेव विलीयते—शा० दी० पृ० ३५६) परन्तु वास्तववादी मीमासा की दृष्टि इसमें त्रिबुल भिन्न है । मुक्तावस्था में संसार की सत्ता उसी प्रकार वस्तुतः विद्यमान रहती है, जिस प्रकार अविद्यादशा में । केवल बन्ध का विलय निष्पन्न हो जाता है । यही दोनो दशाओं का पार्थक्य है । प्रभाकरमत में मोक्ष भाट्टमत से भिन्न है । प्रभाकर के मत में 'नियोगमिद्धिरेव मोक्षः' । बिना किसी वाहरी फल की कामना किये कर्तव्यबुद्धया नित्य कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है । अतः मुक्ति अनवरत कार्य की दशा है जिसमें क्रिया का छोड़ कर अन्य फल की आकांक्षा रहती नहीं (प्रकरणपञ्चिका पृ० १८०-१९०) ।

मोक्षावस्था के स्वरूपनिर्णय में भी मीमासकों में पर्याप्त मतभेद है । गुरुमत में आत्मज्ञानपूर्वक वैदिक कर्म के अनुष्ठान से धर्माधर्म के विनाश हो जाने पर जो देहेन्द्रियादि सम्बन्ध का आत्यन्तिक विच्छेद हो जाता है

वही मोक्ष है^१ । भाट्टों में दो मत हैं । एक पक्ष के अनुसार मुक्तावस्था में नित्य सुख को अभिव्यक्ति होती है^२ । बाह्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध-विलय होने पर बाह्य सुख की अनुभूति मुक्तावस्था में अवश्य नहीं होती, परन्तु आत्मा के शुद्ध स्वरूप के उदय होने से शुद्ध आनन्द का आविर्भाव अवश्यमेव होता है, परन्तु 'पार्थमारथि' दूसरे मत के अनुयायी प्रतीत होते हैं जिसके अनुसार मुक्तात्मा में सुख का अत्यन्त समुच्छेद रहता है । 'अशरीरं वाच सन्नं न प्रियाप्रिये स्मृतः' अर्थात् शरीर से हीन आत्मा को प्रिय या अप्रिय, दर्प या शोक, स्पर्श नहीं करते । यदि यह वचन विषयसुख के विषय में माना जाय तो 'आनन्द ब्रह्म' में आनन्द का अर्थ दुःखाभावरूप मानने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं है (शा० दा० ३५९) । इन दोनों मतों का उल्लेख मधुसूदन ने 'वेदान्त कल्पलतिका' (पृ० ४) में किया है ।

अब इस मोक्ष के साधन का विचार करना चाहिये । काम्य और निरुद्ध कर्म बन्धनात्मक होते हैं, पर तु नित्य-नैमित्तिक कर्म इस दोष में निर्मुक्त हैं । किसी कामना की सिद्धि के लिए किये गये कर्मों का फल भोगना ही पड़ेगा, तथा प्रतिषिद्ध कर्मों का आचरण अशुभ फल उत्पन्न करेगा ही । अतः इनसे निवृत्ति वाञ्छनीय है, परन्तु नित्य-नैमित्तिक का अनुष्ठान नितान्त आवश्यक है । अतः काम्य-निषिद्ध कर्मों से निवृत्ति परन्तु नित्य कर्मों में प्रवृत्ति मोक्ष की साधिका है । कर्म के साथ आत्म-ज्ञान उपेक्षणीय विषय नहीं है । कर्म प्रधान कारण है, परन्तु आत्मज्ञान सहकारी कारण । अतः कर्तव्यशास्त्र की दृष्टि से मीमामा ज्ञानकर्मसमुच्चय को मानती है (मा० ने० पृ० २१३) । कुमारिल ने इसीलिए वेदान्त अनुशीलन को उपादेय बतलाया है (श्लो० वा० पृ० ७२८)—

१ द्रष्टव्य मधुसूदन सरस्वता—वेदान्त कल्पलतिका पृ० ४ ।

२ दुःखात्यन्तममुच्छेदे सति प्राणामवर्तिनः ।

मुखस्य मनसा भुक्तिमुक्तिरुक्ता कुमारिलेः ॥ मा० मे० पृ० २१२ ।

इत्याह नास्तिक्यनिराकरिष्णुरात्मास्तिता भाष्यकृदत्र युक्त्या ।

दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेवणेन ॥

पार्थसारथि का कहना है — 'नित्यात्मसत्तामात्रेणैव वेद-प्रामाण्य-सिद्धेः तन्मात्रमिह प्रतिपादितम् । दाढ्यार्थमिस्तु वेदान्तविहितेष्वेव श्रवणमनन-निदिध्यासनादिषु यतितव्यम् ।' इस कथन से मीमामंसा को वेदान्तसम्मत उपायो के मान्य होने में सन्देह नहीं रह जाता ।

उपसंहार

इस दार्शनिक विवेचन के अनुशीलन से मीमामा की दार्शनिकता में किसी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता । मीमामा का मुख्य अभिप्राय यज्ञयागादि वैदिक अनुष्ठानों की तात्त्विक विवेचना है, परन्तु इस विवेचन की उपपत्ति के लिये उसने जिन सिद्धान्तों को खोज निकाला है वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । 'शब्द' विषयक मीमांसा के सिद्धान्त भाषा-शास्त्र की दृष्टि से भी कम महत्त्वशाली नहीं हैं । कुमारिल का 'अभिहितान्वयवाद' और प्रभाकर का 'अन्विताभिधानवाद' शाब्दबोध के यथार्थ निरूपण के लिए नितान्त मननीय हैं । 'बालमनोविज्ञान' के समझने के लिए मीमांसाग्रन्थों में मसाला भरा हुआ है । परन्तु विरोधी वाक्यों की एकवाक्यता करने की प्रक्रिया मीमांसा के ही द्वारा बतलाई गई है । अतः जिस प्रकार पद का ज्ञान व्याकरण से और प्रमाण का न्याय से होता है, उसी प्रकार वाक्य का ज्ञान मीमांसा से होता है । इस विषय में मीमांसा ने अनेक मौलिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है जिनका उपयोग स्मृतिग्रन्थों के अर्थनिर्णय करने में किया गया है । अतः मीमांसा का अनुशीलन निःसन्देह वैदिक धर्म की जानकारी के लिए अत्यन्त आवश्यक है:—

‘धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम् ।’

श्लोकवार्तिक श्लो० ११

द्वादश परिच्छेद

अद्वैत-वेदान्त-दर्शन

वेदान्त दर्शन भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि माना जाता जाता है। अब तक वर्णित दार्शनिक प्रवृत्तियों तथा तार्किक विचारों का चूड़ान्त उत्कर्ष वेदान्त में उपलब्ध होता है। वेदान्त का मूल उपनिषद् है, जिसका वर्णन पहिले किया गया है। श्रुति के चरम सिद्धान्त के अर्थ में 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग उपनिषदों में ही सबसे पहले उपलब्ध होता है—वेदान्ते परमं गुह्यम् (श्वेता० ६।२२), वेदान्तविज्ञानमनिश्चितार्थाः (मुण्डक ३।२।६), यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः (महानारायण १०।८)। उपनिषदों के वैदिक रहस्यमय सिद्धान्तों के प्रतिपादक होने के कारण उनके लिए 'वेदान्त' (वेद का अन्त=सिद्धान्त) शब्द का प्रयोग नितरां न्याय्य है। परन्तु कालान्तर में औपनिषद सिद्धान्तों में आपाततः विरोधों के परिहार करने की तथा एकवाक्यता करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। इसी की पूर्ति करने के लिए बादरायण व्यास ने 'ब्रह्मसूत्रों' का निर्माण किया। यह साढ़े पाँच सौ सूत्रों का स्वल्पकलेवर ग्रन्थ समस्त वेदान्त-सिद्धान्तों का आकर-ग्रन्थ है जिसकी अपनी दृष्टि से विस्तृत व्याख्या कर पीछे के आचार्यों ने अपने धार्मिक मतों की भव्य प्रतिष्ठा की है तथा विपुल यश अर्जन किया है। इन सूत्रों का उदयकाल नितान्त प्राचीन है। भिक्षुओं अर्थात् संन्या-

सियों के लिए उपादेय होने के कारण इन सूत्रों को 'भिक्षुसूत्र' भी कहते हैं। पाणिनी ने 'पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयोः' (४।३।११०) सूत्र में जिन पाराशर्य (पराशरपुत्रनिर्मित) भिक्षुसूत्रों का नाम निर्देश किया है वे पराशर के पुत्र महर्षि बादरायण व्यास के द्वारा विरचित प्रकृत ब्रह्मसूत्रों से भिन्न प्रतीत नहीं होते। श्रीधरस्वामी की सम्मति में गीता भी 'ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः' (१३।४) पद्याश में ब्रह्मसूत्रों का ही निर्देश करती है। इस प्रकार ब्रह्मसूत्रों का निर्माणकाल विक्रमपूर्व षष्ठ शतक से उतर कर नहीं है। तर्कपाद (२।२) में सर्वास्तिवाद और विज्ञानवाद के खण्डन उपलब्ध होने पर भी इस सिद्धान्तको हानि नहीं पहुँचती, क्योंकि भारतीय विचारधारा के इतिहास में ये मत बुद्ध से भी अधिक प्राचीन हैं। अमंग आदि ने नवीन ग्रन्थों का निर्माण कर इनका व्यवस्थापन मात्र किया है।

ब्रह्मसूत्र के प्रसिद्ध भाष्यकार

सूत्र्या	नाम	भाष्यनाम	मत
१	शंकर (७८८-८२०)	शारीरकभाष्य	निर्विशेषाद्वैत
२	भास्कर (१०००)	भास्करभाष्य	भेदाभेद
३	गमानुज (११८०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
४	आनन्दतीर्थ (१२३८) (मध्व)	पूर्णप्रज्ञभाष्य	द्वैत
५	निम्बार्क (१२५०)	वेदान्तपारिजात	द्वैताद्वैत
६	श्रीकण्ठ (१२७०)	शैवभाष्य	शैव विशिष्टाद्वैत
७	श्रीपति (१४००)	श्रीकरभाष्य	वीरशैव विशिष्टाद्वैत
८	वल्लभ (१४७९-१५४४)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
९	विज्ञानभिक्षु (१६००)	विज्ञानामृत	अविभागाद्वैत
१०	बलदेव (१७२५)	गोविन्दभाष्य	अचिन्त्यभेदाभेद

इन भाष्यों में सिद्धान्तों का ही फर्क नहीं है, बल्कि सूत्रों और अधिकरणों की संख्या में भी बड़ा अन्तर है। शंकर के अनुसार सूत्रों और अधिकरणों की संख्या क्रमशः ५५५ और १९१ है, रामानुजमत में ५४५ और १६०; माध्वमत में ५६४ और २२३; निम्बार्कमत में ५४९ और १६१; श्रीकण्ठ के अनुसार ५४४ और १८२; तथा वल्लभमत में ५५४ और १७१ है।

ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद हैं। प्रथम अध्याय का नाम **समन्वयाध्याय** है जिसमें समग्र वेदान्त

वाक्यों का साक्षात् या परम्परया प्रत्यगभिन्न अद्वितीय ब्रह्म

ब्रह्मसूत्र

में तात्पर्य दिखलाया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद में

स्पष्ट ब्रह्मलिङ्गयुक्त वाक्यों का विचार किया गया है। इस पाद के प्रथम चार सूत्र विषयदृष्टि से नितान्त महत्त्वशाली हैं। इन्हें

‘चतुः सूत्री’ कहते हैं। द्वितीय पाद में ‘अनंता’ उपास्य-ब्रह्म-

विषयक वाक्यों का तथा तृतीय पाद में स्पष्ट-ब्रह्मलिङ्ग प्रायशः ज्ञेय-ब्रह्म-

विषयक वाक्यों का, चतुर्थ पाद में अज, अव्यक्तादि उपनिषद्गत पदों

के अर्थ का विचार किया गया है। द्वितीय अध्याय का नाम **अविरोधा-**

ध्याय है जिसमें स्मृति, तर्कादि के सम्भावित विरोध का परिहार कर

ब्रह्म में अविरोध प्रदर्शित किया गया है। इस अध्याय के प्रथम पाद

(स्मृति पाद) में साख्यादि स्मृतियों के सिद्धान्तों का खण्डन किया

गया है। द्वितीय पाद (तर्क पाद) में साख्य, वैशेषिक, जैन, सर्वास्ति-

वादी, विज्ञानवाद, पाशुपत और पाञ्चरात्र मतों का प्रबल युक्तियों से

क्रमशः खण्डन कर वेदान्तमत की प्रतिष्ठा की गई है। दोनों पादों में

वादगण ने अपनी तर्क युक्तियों की सूक्ष्मता, समर्थता तथा व्यापकता

के बल पर प्रतिपत्तियों के सिद्धान्तों की जैसी मार्मिक समीक्षा की है वह

विद्वानों के विस्मय तथा आदर का विषय है। तृतीय तथा चतुर्थ पादों

में महाभूतसृष्टि, जीव तथा इन्द्रिय-विषयक श्रुतियों का विरोधपरिहार

किया गया है। तृतीय अध्याय का नाम **साधनाध्याय** है जो वेदान्त-सम्मत साधनोंका विधान करता है। परलोकगमन, तत्त्वंपदार्थपरिशोधन, सगुणविद्या-निरूपण तथा निर्गुण-ब्रह्म-विद्या के बहिरङ्गसाधन (आश्रम-धर्म यज्ञ, दानादि) तथा अन्तरङ्गसाधन (शम, दम, निदिध्यासन आदि) का निरूपण प्रत्येक पाद में क्रमशः किया गया है। चतुर्थ अध्यायका नाम **फलाध्याय** है जिसमें सगुण निर्गुण विद्याओं के फलों का साङ्गोपाङ्ग विवेचन किया गया है।

ब्रह्मसूत्र के विषयो का यही सक्षिप्त प्रतिपादन है। ब्रह्मसूत्र के आध्यात्मिक सिद्धान्त कौन कौन से थे ? इसका यथार्थ उत्तर देना कठिन कार्य है। सूत्र इतने स्वल्पाक्षर हैं कि बिना किसी भाष्य की सहायता से उनका अर्थ लगाना दुष्कर है और साम्प्रदायिक भाष्यों में अर्थ की वैच्यता भी कम नहीं है। ऐसी स्थिति में बादरायण के मन्तव्यों का प्रकाशन एक विषम समस्या है। इस समस्या के हल करने का श्लाघनीय उद्योग डाक्टर घाटे ने 'वेदान्त' नामक अंग्रेजी पुस्तक में किया है जिसमें उन्होंने शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा वल्लभ के व्याख्याओं का तारतम्य अनुशीलन कर मूल सूत्रों के प्रतिपाद्य सिद्धान्तों को खोज निकाला है। उनकी सम्मति में वेदान्त के अनेक सिद्धान्तों की पण्डित सूत्रों से नहीं की जा सकती। सूत्रकार के सिद्धान्त सम्भवतः इस प्रकार थे—विभु ब्रह्म की अपेक्षा आत्मा अणु है ; जीव चैतन्यरूप है तथा जान इसका विशेषण या गुण भी है। ब्रह्म जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण उभयात्मक है। कार्यकारण के सम्बन्ध में सूत्रकार **परिणामवाद** के पक्षपाती प्रतीत होते हैं, विवर्तवाद के नहीं। आत्म-कृतेः परिणामात् (ब्र० सू० १।४।२६) में सूत्रकार ने परिणाम शब्द का स्पष्ट निर्देश किया है। सूत्रकार के ये मन्तव्य रामानुजादि

चारों वैष्णव भाष्यकारों के सामान्य, समभावेन माननीय, सिद्धान्त हैं। यदि किसी विशिष्ट सिद्धान्त की झलक सूत्रों में दीख पड़ती है, तो वह 'भेदाभेद' सिद्धान्त है। बादरायण के मत मध्यम कांठि के हैं।

वेदान्त के विभिन्न सम्प्रदायों का वर्णन अगले परिच्छेदों में किया जायगा। इस परिच्छेद में अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन किया जाता है। वेदान्त-साहित्य का समग्र इतिहास लिखना एक कठिन कार्य है, क्योंकि वेदान्त की ग्रन्थसम्पात्त दार्शनिक जगत् में सब से अधिक है। अतः नितान्त प्रसिद्ध आचार्यों का ही वर्णन यहाँ दिया जा रहा है।

अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य

ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि बादरायण से भी पूर्व काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त-तत्त्व की मीमांसा की थी; परन्तु इन आचार्यों की कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। इनके नाम अकारादिक्रम से नीचे दिये जाते हैं:—

(१) **आत्रेय**—इनका नाम केवल एक बार ही (ब्र० सू० ३।४।४४) निर्दिष्ट है। यज्ञ में अङ्गाश्रित उपासना यजमान के द्वारा तथा ऋत्विज् के द्वारा दोनों प्रकार से हो सकती है। यहाँ फल के विषय में सन्देह बना हुआ है। आत्रेय के मतानुसार कर्म का फल यजमान (यज्ञ स्वामी) को ही प्राप्त होता है, ऋत्विज् को नहीं।

(२) **अश्वमथ्य**—इनका निर्देश दो बार (ब्र० सू० १।२।२९, १।४।२०) मिलता है। उपनिषदों में कहीं २ सर्व व्यापक ईश्वर को प्रादेश-मात्र (एक प्रदेश में टिकनेवाला) कहा गया है। इसकी उपपत्ति ये इस प्रकार बतलाते हैं—परमेश्वर वस्तुतः अनन्त है, तथापि भक्तों पर अनुग्रह करनेके लिए प्रादेशमात्र में आविर्भूत होता है। क्योंकि कोई भी सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। हृदयादि उप-

लब्धि-स्थानों (प्रदेशों) में उसकी उपलब्धि विशेष रूप से होती है । इस कारण भी वह प्रादेशमात्र कहा गया है । इनके मत में विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध हैं । ये भेदाभेदवादी थे; श्रुति-प्रकाशिका के कर्ता सुदर्शनाचार्य का कथन है कि इन्हीं के मत को परवर्तीकाल में यादव प्रकाश ने पुष्ट किया है । मीमांसा में (६।५।१६) भी इनके नाम का निर्देश है ।

(३) औडुलोमि तीन बार निर्दिष्ट हैं (१।४।२१, ३।४।४५, तथा ४।४।६) इनके मत में भेदाभेद अवस्था की भिन्नता के कारण होता है अर्थात् संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, पर मुक्तावस्था में दोनों में अभेद है । वाचस्पति मिश्र ने भामती में इनके मत का उपपादान ब्रह्म सुन्दर ढंग से किया है ।

(४) कार्ष्णाजिनि—ब्र० सू० (३।१।९) में एक बार तथा मीमांसा सूत्र में अनेक बार इनका उल्लेख मिलता है । ब्रह्मसूत्र में 'रमणीय चरणाः' (छा० ५।१०।७) के ऊपर इनका विशिष्ट मत निर्दिष्ट हुआ है ।

(५) काशकृत्स्न—इनके मत में (ब्र० सू० १।४।२२) परमेश्वर ही इस संसार में जीव रूप से अवस्थित है । जीव परमात्मा का विकार नहीं है । आचार्य शंकर के शब्दों में इनका सिद्धान्त यह है—काशकृत्स्नस्य आचार्यस्य अविकृतः परमेश्वरो जीवो नान्य इति मतम् । आचार्य को यह मत श्रुत्यनुसारी होने से मान्य है ।

(६) जैमिनि—इनका नाम ब्र० सू० में सत्र से अधिक आता है—पूरा ११ बार । ये बादरायण के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं । कर्म मीमांसा दर्शन की रचना इन्होंने ही की है । प्रत्येक विषय में इनका मीमांसक मत स्पष्टतया प्रतीत होता है ।

(७) बादरि—इनका उल्लेख चार बार आता है (ब्र० सू०

१।२।३०, ३।१।११, ४।३।७, ४।४।१०) । उधर मीमांसा सूत्रों में भी इनका निर्देश उपलब्ध है । अनुमान किया जाता है कि इन्होंने इन उक्त मोमासाओं पर सूत्र ग्रन्थ लिखे थे ।

(क) कर्मानुष्ठान के विषय में इनका विलक्षण मत यह था कि वैदिक कर्म में सत्रका अधिकार है । जैमिनि ने इसका खण्डन कर शूद्र के अनुष्ठान का निषेध किया है ।

(ख) ईश्वर को प्रादेशमात्र कहने की इनकी व्याख्या विचित्र है । प्रादेशमात्र हृदय में रहने के कारण मन प्रादेशमात्र कहा जाता है । ईश्वर का स्मरण ऐसा ही मन करता है । अतः ईश्वर के लिए यह व्यवहृत हुआ है ।

(ग) 'रमणीयचरणाः' में चरण का अर्थ कर्म ही है । अनुष्ठान वाचक चरण का प्रयोग कर्म के लिए होता है । (घ) 'य एनान् ब्रह्म गमयति (छा० ४।१५।५) में ब्रह्म शब्द कार्य-ब्रह्म का वाचक है । जैमिनि के मत में यह परब्रह्म का वाचक है, परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि सर्व व्यापक होने से वह गन्तव्य नहीं हो सकता । (ङ) ईश्वर-भावापन्न विद्वान् के शरीर तथा इन्द्रियो की सत्ता के विषय में वादरि कहते हैं कि सत्ता नहीं रहती, तभी तो मन से कामों को देखने का वर्णन छान्दोग्य करता है (८।१२।१५) ।

आचार्य काश्यप—इनका भी कोई सूत्र ग्रन्थ था । ब्र० सू० में उल्लेख नहीं है, पर शाण्डिल्य ने भक्ति सूत्र में (तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात्—सूत्र २९) किया है । इनका मत भेदवाद था ।

शंकर—पूर्व के आचार्यों का उल्लेख स्वयं शंकराचार्य के ग्रन्थों में किया गया है । इनमें 'भर्तृप्रपञ्च' ने कठ तथा बृहदारण्यक पर भाष्य की रचना की थी । सुरेश्वराचार्य और आनन्दगिरि शङ्करपूर्व विद्वान् आचार्य के समय में भी इनका ग्रन्थ उपलब्ध था । भर्तृप्रपञ्च

का सिद्धान्त ज्ञानकर्मसमुच्चयवाद कहलाता है। शंकराचार्य ने बृहदारण्यकभाष्य में कहीं-कहीं 'औपनिषदम्मान्य' कहकर इनका परिहास किया है। दार्शनिकदृष्टि में इनका मत 'द्वैताद्वैत' नामसे प्रसिद्ध है। 'भर्तृमित्र' का प्रसंग न्याय-मञ्जरी में तथा यामुनाचार्य के सिद्धित्रय में आता है। इसमें प्रतीत होता है कि ये भी वेदान्त के आचार्य रहें होंगे। इनके मीमांसा ग्रन्थ का उल्लेख में किया जा चुका है। 'भर्तृहरि' का नाम यामुनाचार्य के ग्रन्थ में उल्लिखित है। भर्तृहरि वाक्यपदीयकार ही हैं। परन्तु इनका कोई वेदान्तग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। शब्दाद्वैत ही इनका प्रतिपाद्य सिद्धान्त है। 'उपवर्ण' का नाम आचार्य शंकर ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में (३।३।५३) निर्दिष्ट किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर उभय मीमामाओं पर वृत्ति-ग्रन्थ लिखे थे। ब्रह्मसूत्र पर 'बोधायन' की एक वृत्ति थी जिसका उद्धरण आचार्य रामानुज ने अपने भाष्य में किया है। प्रतीत होता है कि बोधायन-निर्मित वेदान्तवृत्ति का नाम 'कृतकोटि' था। 'ब्रह्मनन्दी', 'टंक' और 'भारुचि' के नाम वेदान्ताचार्य रूप से श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के ग्रन्थों में मिलते हैं। 'द्रविड़ाचार्य' एक प्राचीन वेदान्ती थे जिन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् पर अति बृहत् भाष्य लिखा था। माण्डूक्योपनिषद् के भाष्य में शंकराचार्य ने इनका 'आगमवित्' कहकर उल्लेख किया है। शंकर के पहले 'मुन्दरपाण्ड्य' नामक आचार्य ने एक कारिकात्रय वार्तिक की रचना की थी। शंकराचार्य ने इनके वार्तिक-ग्रन्थ से तीन श्लोकों को उद्धृत किया है (१।१।४ ब्रा० भा०) ये शैव वेदान्ती थे। तन्त्रवार्तिक में इनके श्लोकों के उद्धृत होने से प्रतीत होता है कि इन्होंने पूर्व तथा उत्तर-मीमांसा पर एक वार्तिक की रचना की थी। 'ब्रह्मदत्त' शंकराचार्य के पूर्व काल में एक अति प्रसिद्ध वेदान्ती थे। सम्भवतः ये सूत्र के भाष्यकार रहें हों। ब्रह्मदत्तके मत से जीव अनित्य है। एकमात्र ब्रह्म ही नित्य पदार्थ है। ये कहते हैं कि जीव तथा जगत्

दोनों ही ब्रह्म से सत्पन्न होकर ब्रह्म में ही लीन हो जाते हैं । इनकी दृष्टि से उपनिषदों का यथार्थ तात्पर्य 'तत्त्वमसि' इत्यादि महावाक्यों में नहीं है, किन्तु 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादि नियोग-वाक्यों में है । इनका कहना है कि भिन्नवत् प्रतीत होने पर भी जीव वस्तुतः ब्रह्म से भिन्न नहीं है । इनके मत से किसी अवस्था में भी साधक के कर्मों का त्याग नहीं हो सकता । ब्रह्मदत्त भी जीव की उत्पत्ति और विनाश मानते हैं । आश्चर्य के मत से इनका भेद इतना ही है कि वे भेदाभेदवादी है तथा ये अद्वैतवादी ।

शङ्कराचार्य—अलौकिक मेधासम्पन्न पुरुष थे । इनकी अलौकिक विद्वत्ता, सर्वातिशायिनी श्रेष्ठता, असाधारण तर्कपटुता देख कर किसी भी आलोचक का मस्तक गौरव से इनके सामने नत हुए बिना नहीं रहता । इनका जन्म ७८८ ई० (संवत् ८४५) तथा निर्वाणकाल ८२० ई० माना जाता है । ३२ वर्षों की स्वल्प आयु में आचार्य ने वैदिक धर्म से उद्धार तथा प्रतिष्ठा का जो महनीय कार्य सम्पादन किया वह अद्वितीय है । इसीलिए ये भगवान् शङ्कर के अवतार माने जाते हैं । मालाबार प्रांत के एक नम्बूद्री ब्राह्मण के घर जन्म लेकर इन्होंने काशी को अपना कर्मक्षेत्र बनाया था । आचार्य गौडपाद के शिष्य गोविन्द भगवत्पाद के ये शिष्य थे । इनके विषय में प्रसिद्धि है—

अष्टवर्षे चतुर्वेदो द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।

षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ॥

प्रस्थानत्रयी के आद्य उपलब्ध भाष्यकार आप ही हैं । इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं—उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य, ब्रह्मसूत्रभाष्य, माण्डूक्यकारिका-भाष्य, विष्णुसहस्रनामभाष्य, सनत्सुजातीयभाष्य, सौन्दर्यलहरी, उपदेश-साहस्री आदि । इनकी रचनाशैली इतनी रोचक है, गम्भीर विषयों को

सरल शब्दों में अभिव्यक्त करने में इनकी कला इतनी मनोरम है कि इनके 'प्रसन्नगम्भीर' भाष्य साहित्यिक दृष्टि से भी अनुपम हैं। इनके परमगुरु 'गौडपादाचार्य' अद्वैत के प्रथम आचार्य हैं जिनकी 'माडूक्य-कारिका' अद्वैततत्त्व की आधार शिला के समान महनीय मानी जाती है। शंकरोत्तर युग के विख्यात आचार्यों के नाम ये हैं:—

(१) 'मण्डनमिश्र' शंकराचार्य के समकालीन अद्वैत-प्रतिपादक आचार्य थे। इनके मीमांसाग्रन्थों का निर्देश पहले किया है। इनकी 'स्फोटसिद्धि' स्फोटविषयक ग्रन्थ है। इनकी 'ब्रह्मसिद्धि' 'शंखपाणि' की टीका के साथ मद्रास से अभी प्रकाशित हुई है। अन्य व्याख्याय 'ब्रह्मतत्त्वसमीक्षा' वाचस्पति की, 'अभिप्रायप्रकाशिका' चित्पुत्र की तथा 'भावशुद्धि' आनन्दपूर्ण (विद्यासागर) की हैं। वाचस्पति की सबसे प्राचीन व्याख्या अभी तक कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई है। मण्डन भर्तृहरि के 'शब्दाद्वयवाद' के समर्थक हैं। आचार्य के दो शिष्यों ने उनके ग्रन्थों पर व्याख्यायें लिखी हैं—(२) 'सुरेश्वराचार्य' आचार्य के उपनिषद्-भाष्य पर वार्तिकों की रचना करने के कारण 'वार्तिककार' के नाम से विख्यात हैं। इनका बृहदारण्यकभाष्य वार्तिक विपुलकाय, प्रौढ तथा पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थरत्न है। इसके अतिरिक्त इनके तैत्तिरीयभाष्यवार्तिक, नैष्कर्म्यसिद्धि, द्वाविंशतिप्रश्नोत्तर अथवा मानसोल्लास, पञ्चीकरण-वार्तिक आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। आचार्य के दूसरे शिष्य (३) 'पद्मपादाचार्य' ने शारीरिक भाष्य की प्रथमवृत्ति 'पञ्चपादिका' नाम से लिखी जिसमें चतुःसूत्री का ही विस्तृत विवेचन है। इसके अतिरिक्त प्रपञ्चसारटीका और विज्ञानदीपिका पद्मपाद के ग्रन्थ माने जाते हैं। 'पञ्चपादिका' के ऊपर अवान्तर शताब्दियों में अनेक महत्त्वशाली ग्रन्थ रचे गये। 'प्रकाशात्मयति' ने इसकी टीका 'विवरण' नाम से लिखी। यह टीका इतनी विशिष्ट है कि इसी के नाम पर 'विवरण-प्रस्थान' का नामकरण हुआ है। विवरण की दो टीकायें हैं—(क) अखण्डानन्द-

मुनि कृत 'तत्त्वदीपन', (ख) विद्यारण्य कृत 'विवरणप्रमेयसंग्रह' ।
'ग्रन्थसंग्रह' की अन्य अनेक वृत्तियाँ भी हैं ।

'मुनेश्वराचार्य' के शिष्य (४) 'सर्वज्ञात्ममुनि' ने ब्रह्मसूत्रों के ऊपर 'संक्षेप शारीरिक' नामक एक प्रख्यात पद्यबद्ध व्याख्या-ग्रन्थ लिखा है जिस पर नृमिहाश्रम की तत्त्वबोधिनी, तथा मधुसूदन सरस्वती का 'सार-संग्रह' प्रसिद्ध हैं । (५) 'वाचस्पति' की 'भामती' भाष्य पर एक भव्य टीका है जो उनकी सर्वतांगामिनी वैदुषी के नितान्त अनुरूप है । 'ब्रह्म-तत्त्वसमीक्षा' अभी तक उपलब्ध नहीं है । भामती की अपनी विशेषता है जिसके कारण उसकी पद्धति के अन्तर्भुक्त ग्रन्थ 'भामतीप्रस्थान' के नाम से प्रसिद्ध हैं । वाचस्पति मिश्र के वेदान्त सिद्धान्तों पर मण्डन-मिश्रके विचारों का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था, यह इन दोनों के ग्रन्थों की तुलना से प्रतीत होता है । अव्यक्तात्मा के शिष्य (६) 'विमुक्तात्मा' (दशम शतक) की 'इष्टसिद्धि' बड़ोदा से हाल में प्रकाशित हुई है । वेदान्त के इस गौरवमय ग्रन्थ में 'अविद्या' के स्वरूप का विवेचन ब्रह्म ऊहापोह के साथ किया गया है । नैषधचरित के रचयिता (७) महाकवि 'श्रीहर्ष' एक असाधारण वेदान्ती थे जिनका 'खण्डनखण्डखाद्य' आज भी पाण्डित्य का निकपग्रावा बना हुआ है । नैयायिक पद्धति का अवलम्बन कर द्वैतवाद का इतना विद्वत्पूर्ण खण्डन मिलना दुष्कर है । शंकरमिश्र जैसे नैयायिक का इस पर टीका लिखना हमके गौरव का परिचायक है । (८) 'अद्वैतानन्द' (१२ शतक) का 'ब्रह्मविद्याभरण' भाष्य का आभरण ही है । (९) 'आनन्दबोध' (१२ शतक) का 'न्यायमकरन्द' वेदान्त का एक माननीय-ग्रन्थ है ।

(१०) 'चित्सुखाचार्य' (१३ शतक) अपनी एक ही कृति तत्त्व-दीपिका (प्रसिद्ध नाम चित्सुखी) से विख्यात हो गये हैं । पर इनकी अन्य रचनायें—(१) शारीरिकभाष्य पर भावप्रकाशिका, (२) ब्रह्म-सिद्धि पर अभिप्रायप्रकाशिका, (३) नैष्कर्मसिद्धि पर भावतत्त्व प्रका-

शिका—कम महत्वशालिनी नहीं हैं। भामती पर 'कल्पतरु' तथा शान्मददर्पण के रचयिता (११) 'अमलानन्द' (१३ शतक) चित्सुख के समकालीन थे। माधवाचार्य संन्यास लेकर शृंगेरी मठ पर अधिष्ठित होने पर (१२) 'विद्यारण्य' के नाम से प्रसिद्ध हुये। इनकी 'पंचदशी' की लोकप्रियता का परिचय देना व्यर्थ है। यह वेदान्त तत्त्वजिज्ञासुओं के गले का हार है। इसके अतिरिक्त विवरण-प्रमेयसंग्रह, अनुभूतिप्रकाश, जीवन्मुक्तिविवेक, मृ. शा. य. न. नि. क. मार आदि ग्रन्थ वेदान्त के सिद्धान्तों के लिए विशेष उपादेय हैं। गीता पर वेदान्ततत्त्वप्रतिपादक शंकरानन्दी टीका के रचयिता (१३) 'शंकरानन्द' और दैयसिक-न्यायमाला के निर्माता 'भारतीतीर्थ' विद्यारण्य के गुरु थे। पंचदशशतक में (१४) 'आनन्दगिरि' ने शंकराचार्य के भाष्यों को सुवोध बनाने के लिए उनपर टीकायें लिखीं। शारीरक-भाष्य पर इनका 'न्यायनिर्णय' भाष्यार्थ को भलीभाँति समझाने में कृत-कार्य है। इनके समकालीन (१५) 'प्रकाशानन्दयति' ने 'वेदान्तसिद्धान्त मुक्तावली' नामक 'एक-जीववाद' के प्रतिपादक उत्तम ग्रन्थ की रचना की है और (१६) 'अखण्डानन्द' ने 'तत्त्वदीपन' में विवरण के गूढार्थ को भलीभाँति प्रकट किया है।

(१७) 'मधुसूदन सरस्वती' (१६ शतक) काशीपुरी के संन्यासियों में अग्रगण्य थे। इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थरत्न 'अद्वैतसिद्धि' है जिसके द्वारा द्वैतवादियों की युक्तियों का मार्मिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व की प्रभा का सर्वत्र विस्तार किया गया है। यह वेदान्त-ग्रन्थों में खण्डन का समकक्ष माना जाता है। वेदान्तकल्पलता, सिद्धान्तविन्दु, गीता टीका (मधुसूदनी) आज भी नितान्त लोकप्रिय हैं। अद्वैतसिद्धि पर अद्वैत चन्द्रिका (लघु तथा गुरु) के रचयिता (१८) 'ब्रह्मानन्द सरस्वती' बंगाल के रहने वाले थे। अतः इनकी टीका 'गौड़ ब्रह्मानन्दी' के नाम से विख्यात है। (१९) 'नृसिंहाश्रम सरस्वती' मधुसूदन के समकालीन काशीस्थ

संन्यासियों में विशेष विख्यात हैं। वेदान्त-तत्त्वविवेक, अद्वैतगीता, भेदधिकार, विवरणटीका आदि उद्भट ग्रंथ इनकी कीर्ति को कायम रखने के लिए पर्याप्त हैं। इनके समकालीन (२०) 'अप्पय दीक्षित' वेदान्त के एक अलौकिक विद्वान् ही न थे, प्रत्युत एक उत्कट कोटि के साधक थे। श्रीकण्ठाचार्य के ब्रह्मसूत्र भाष्यपर 'शिवार्कमणिदीपिका' इनकी एक उच्चकोटि की कृति है। शांकरमत में 'कल्पतरु परिमल' (अमलानन्दकृत 'कल्पतरु' व्याख्या की टीका) तथा 'सिद्धान्तलेशमंग्रह' प्रख्यात ग्रंथ हैं। 'सिद्धान्तलेश' अद्वैत वेदान्त के आचार्यों के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का न केवल सारभूत संग्रह है प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। (२१) 'धर्मराजाध्वरीन्द्र' (नृसिंहाश्रम के प्रशिष्य और वेंकट नाथ के शिष्य) की 'वेदान्त परिभाषा' वेदान्त प्रमाणशास्त्र पर एक अनुपम ग्रंथ है। तत्त्वचिन्तामणि की दशटीकाविभञ्जनी अभिनवा टीका के निर्माता होने से इस ग्रंथकार की तार्किक विद्वत्ता में किसी को सन्देह नहीं हो सकता। इनके पुत्र (२२) 'रामकृष्ण' ने परिभाषा को 'वेदान्त-शिखामणि' टीका से विभूषित किया है। (२३) 'सदानन्द' (१६ श०) के 'वेदान्तसार' को सरल विवेचन के कारण वेदान्त का प्राइमर कह सकते हैं और यह इसी कारण नितान्त लोकप्रिय है। (२४) 'गोविन्दा'-नन्द (१७ श०) की रत्नप्रभा शारीरकभाष्य की सरल टीका है जो काशी में लिखी गई। (२५) 'नारायणतीर्थ' तथा 'ब्रह्मानन्द' ने मधुसूदन के 'सिद्धान्तविन्दु' पर क्रमशः 'लघुव्याख्या' तथा 'न्यायरत्नावली' नामक उपयोगी टीकाएँ लिखी हैं। काश्मीर के (२६) 'सदानन्द यति' इन्हीं ब्रह्मानन्द तथा नारायण के शिष्य थे। उनको 'अद्वैतब्रह्ममिद्धि' विषय की व्यापकता तथा सुबोध शैली के कारण वेदान्त के इतिहास में प्रसिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के आदरणीय आचार्यों का यही संक्षिप्त विवरण है^१।

१ द्रष्टव्य म० म० प० गोपानाथ कविराज—ब्रह्मसूत्र के भाष्यानुवाद की भूमिका तथा स्वामी प्रज्ञानन्द सरस्वती—वेदान्तेर इतिहास (३ भाग—बंगला)।

गौडपाद

गौडपादाचार्य का नाम अद्वैत वेदान्त के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने लायक है । 'मायावाद' का आरम्भ गौडपाद से माना जाता है । इनका कीर्तिस्तम्भ मात्रा-कारिका है जो अद्वैत वेदान्त का उपनिषदों के अनन्तर अत्यन्त गौरवमय ग्रन्थ माना जाता है । उच्च गीता का भाष्य भी आप ही की कृति है । कारिकाओं की रचना बड़ी ही उदात्त तथा मर्मस्पर्शिणी है । इसमें चार प्रकरण हैं जिनमें कुल मिलाकर (२९+३८+४८+१००) = २१५ कारिकाएँ हैं । इन प्रकरणों के नाम

— (१) आगम प्रकरण, (२) वैतथ्य प्रकरण, (३) अद्वैत प्रकरण तथा (४) अलातशान्ति प्रकरण ।

आगमप्रकरण में मूल माण्डूक्य उपनिषद् की विस्तृत व्याख्या है जिसमें परमात्मतत्त्व अ, उ, म के द्वारा प्रतिपाद्य वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर से तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से पृथक्, परन्तु इनमें अनुगत, अनुष्ठान तथा साक्षीरूप है तथा ओंकार के चतुर्थपाद अमात्र 'तुरीय' नाम से वर्णित किया गया है । वैतथ्य (मिथ्यात्व) प्रकरण में प्रपञ्च का मायामयत्व युक्तियों के सहारे बड़ी कुशलता से सिद्ध किया गया है (का० २।१-३) । तत्समानता के कारण जाग्रत् जगत् भी स्वप्न के अनुरूप ही एकदम मिथ्या है । एक आत्मा ही नित्य पदार्थ है, परन्तु उसीमें तरह तरह के भावों की कल्पना होकर यह प्रपञ्च का उदय होता है । इस विकल्प की मूल 'माया' है (२।१९) । मायाकल्पित यह समस्त जगत् स्वप्न तथा गन्धर्व नगर के समान असत्य है । तत्र परमार्थ का लक्षण क्या है ? आचार्य का कहना है —

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।

न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ (२।३२)

उस एक अखण्ड चिद्धन वस्तु को छोड़कर अन्य किसी की सत्ता

नहीं है। अद्वैत प्रकरण में अद्वैततत्त्व की सिद्धि अनेक दृढ़ युक्तियों के आधार पर आचार्य ने की है। आत्मा में सुखदुःख की भावना करना नितान्त असंगत है। बालक लोंग धूलि तथा धूम के संसर्ग से आकाश को मलिन बतलाते हैं, परन्तु आकाश वास्तव में कभी मलिन नहीं होता। उसी प्रकार आत्मा को भी सुखदुःखादि भावों के संसर्ग से मलिन तथा दुःखी सुखी मानना बालकों की दुर्बुद्धि का विलास है (३।८)। आत्मा तो स्वतः असङ्ग ठहरा। द्वैत की कल्पना का आधार माया है। न अमृत पदार्थ मर्त्य होता है, न मरणशील वस्तु अमृत बनती है। अतः अमृत आत्मा की उत्पत्ति मानने से उसमें मर्त्यत्वधर्म का दोष आने लगेगा। अतः आत्मा की उत्पत्ति—जाति—नहीं होती। यहाँ है गौडपाद का विख्यात 'अजातिवाद' का सिद्धान्त।

चतुर्थ प्रकरण का नाम 'अलात शान्ति' है। 'अलात' का अर्थ होता है 'मसाल'। मसाल के धुमाये जाने पर चारों ओर प्रतीत होता है। गोल आकृति की उत्पत्ति भ्रमणजन्य व्यापार में होती है। उसी प्रकार जगत् का यह रूप मायाकल्पित है। मन के व्यापार होने से ही उनकी मत्ता है तथा मन के निगंध होते ही उनका अभाव निष्पन्न हो जाता है। अतः मन के अमर्माभाव होने प्रपञ्च का विलय हो जाता है। प्रपञ्च की उत्पत्ति तथा लय—प्रतीति तथा अप्रतीति दोनों भ्रान्ति-जनित है। वस्तुतः एक ही परमात्मतत्त्व की पारमार्थिक मत्ता है। इस प्रकरण की भाषा, पारिभाषिक शब्द (विजति आदि) तथा सिद्धान्त के अनुशीलन से अनेक आधुनिक विद्वानों की धारणा है कि गौडपाद ने बुद्धधर्म के तत्त्वों का ही प्रतिपादन वेदान्तरूप में किया है। परन्तु यह मत नितान्त भ्रान्त है। बहुत सम्भव है कि ये पारिभाषिक शब्द अध्यात्मशास्त्र के सर्वजनमान्य साधारण शब्द थे जिनका प्रयोग करना बौद्ध दार्शनिकों के समान गौडपाद के लिए भी न्याय्य था। केवल शब्दसाम्य के आधार पर महत्वपूर्ण सिद्धान्तों की उद्भावना करना

उतना उचित नहीं है। बौद्ध दर्शन के ग्रन्थों से गौडपाद के परिचित होने का हम निषेध नहीं करते, परन्तु वेदान्त के छल से बौद्धधर्म के तत्वों का प्रचार करने का दोष उनके ऊपर लगाने के भी हम पक्षपाती नहीं हैं^१।

(२) वेदान्त तत्त्वमोमांसा

अद्वैत वेदान्त का मूलमन्त्र है परमार्थ सत्ता-रूप ब्रह्म की एकता तथा अनेकात्मक जगत् की मायिकता। इस तथ्य को हृदयङ्गम करने के लिए कतिपय मौलिक सिद्धान्तों से परिचित होना आवश्यक है। अद्वैत वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है जिसे भली-भाँति समझ लेने पर ही अन्य तत्वों का अनुशीलन किया जा सकता है। वह तत्व है - आत्मप्रत्यय की स्वयंसिद्धता। जगत् अनुभूति पर अवलम्बित है। अनुभव के आधार पर जगत् के समस्त व्यवहार प्रचलित होते हैं। इस अनुभूति के स्तर में आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्धरूपेण अवस्थित रहती है। विषय के अनुभव के भीतर चेतन विषयी की सत्ता स्वयं मिद्ध है, क्योंकि आत्मा की ज्ञातरूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान नितरा दुरूपपाद है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन आचार्य ने वचं ही सौन्दर्यपूर्ण शब्दों में किया है (२।३।७) शा० भा०) :

“आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति, आगन्तुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। नहि अग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते।

१ दान्तुप—हिग्ट्री आफ इण्डियन फिलामफा भाग १ पृष्ठ ४२३-४२९ तथा उसके उक्तार के लिए देखिये, स्वामी निखिलानन्द कृत माण्डूक्यकारिका का अंग्रेजी अनुवाद (भूमिका पृ० १५-३०) ;

इस उद्धरण का तात्पर्य है कि आत्मा प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय है; अतः इन व्यवहारों से पहले ही आत्मा की सिद्धि है। आत्मा का निराकरण नहीं हो सकता। निराकरण होता है आगन्तुक (बाहर से आनेवाली) वस्तु का, स्वभाव का नहीं। क्या उष्णता अग्नि के द्वारा निराकृत की जा सकती है? ज्ञातव्य में अन्यथाभाव (परिवर्तन) सम्भव है, ज्ञाता में नहीं। 'वर्तमान को इस समय जानता हूँ' 'अतीत वस्तु को मैंने जाना' तथा 'अनागत वस्तु को मैं जानूँगा'—इस अनुभव-परम्परा में ज्ञातव्य वस्तु का ही परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है, परन्तु ज्ञाता का स्वरूप कथमपि परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि वह सर्वदा अपने स्वरूप से वर्तमान रहता है। अन्यत्र आचार्य ने इसी तत्त्व का प्रतिपादन संक्षेप में किया है कि

आत्मा के अस्तित्व में भरपूर विश्वास है; ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं है जो विश्वास करे कि 'मैं नहीं हूँ'। यदि आत्मा की अस्तित्व-प्रसिद्धि न होती, तो सब किसीको अपने अनस्तित्व में विश्वास होता; परन्तु ऐसा न होने से आत्मा की स्वतः सिद्धि स्पष्टतः प्रमाणित होती है—

“मर्वा हि आत्मास्तित्वं प्रत्येति, न नाहमस्मीति । यदि हि नात्मत्व-प्रसिद्धिः स्यात् सर्वो लाका नाहमस्तीति प्रतीयात्” (ब्र० सू० १।१।१ पर शाङ्करभाष्य) ।

अतः आत्मा के अस्तित्व के विषय में शंका करने की तनिक भी जगह नहीं है। यह उपनिषदों का ही तत्त्व है। याज्ञवल्क्य ने बहुत पहले ही कहा था कि 'विज्ञानारम्भे केन विजानीयात्' (बृह० २।४।१४) अर्थात् जो सब किसी का जाननेवाला है, उसे हम किस प्रकार जान सकते हैं? सूर्य के प्रकाश से जगत् प्रकाशित होता है, पर सूर्य को क्योंकर प्रकाशित किया जा सकता है? इसी कारण प्रमाणों की सिद्धि का कारणभूत आत्मा किस प्रमाण के बल पर सिद्ध किया जाय? अतः आत्मा की सत्ता स्वयं-सिद्ध होती है।

यतो राद्विः प्रमाणानां स कं तैः प्रसिध्यति ।

—सुरेश्वराचार्य

आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। ये दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। ज्ञेय पदार्थ के आविर्भाव होने पर ज्ञान ही ज्ञातारूप से प्रकट हो आत्मा की ज्ञानरूपता जाता है; परन्तु ज्ञेय के न रहने पर ज्ञाता की कल्पना ही नहीं उठती। जगत् की ज्ञेयरूपेण जब उपस्थिति रहती है, तभी आत्मा के ज्ञातारूप का उदय होता है। परन्तु उसके अभाव में आत्मा की ज्ञानरूपेण सर्वदा स्थिति रहती है। एक ही ज्ञान कर्ता तथा कर्म से सम्बद्ध होनेपर भिन्न सा प्रतीत होता है, परन्तु वह वास्तव में एक ही अभिन्न पदार्थ है। 'आत्मा आत्मानं जानाति' (आत्मा आत्मा को जानता है) इस वाक्य में कर्तारूप आत्मा और कर्मरूप आत्मा एक ही वस्तु हैं। रामानुज ने भो धर्मीभूत ज्ञान और धर्मभूत ज्ञान को मान कर इसी सिद्धान्त का अपनाया है। नित्य आत्मा को ज्ञानस्वरूप होने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि ज्ञान भी नित्यानित्यभेद से दो प्रकार का होता है। अनित्य ज्ञान अन्तःकरणावच्छिन्न वृत्तिमात्र है जो विषय-साम्बन्ध होने पर उत्पन्न होता है। परन्तु तदभाव में अविद्यमान रहता है। दूसरा शुद्ध ज्ञान इससे नितान्त भिन्न है। वह सर्वथा तथा सर्वदा विद्यमान रहता है। आचार्य ने ऐतरेय-उपनिषद् (२।१) के भाष्य में इस विषय का बड़ा ही रोचक वर्णन प्रस्तुत किया है। दृष्टि दो प्रकार की होती है- नेत्र की दृष्टि अनित्य है, क्योंकि तिमिर रोग के होने से वह नष्ट हो जाती है—पर रोग के अपनयन होने पर उत्पन्न हो जाती है। परन्तु आत्मा की दृष्टि नित्य होती है। इसीलिए श्रुति आत्मा की दृष्टि को द्रष्टा बतलाती है। लोक में भी आत्मदृष्टि की नित्यता प्रमाणगम्य है, क्योंकि जिसका नेत्र निकाल लिया गया हो, वह भी कहता है कि स्वप्न में मैंने अपने भाई को या किसी प्रिय को देखा।

वधिर पुरुष भी स्वप्न में मन्त्र सुनने को बात कहता है। अतः आत्मा को दृष्टि तथा ज्ञान नित्यभूत है। नित्य आत्मा के ज्ञानस्वरूप होने में संशय के उठने की गुञ्जाइश नहीं है (द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टि-नित्या चात्मनः। × × आ-दृ-त्या-दी-ना नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके। वदति हि उद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽप्य मया भ्राता दृष्ट इति—एत० भाष्य २।१)।

प्रत्येक विषयानुभूति में दो अंश होते हैं—अनुभव करने वाला आत्मा तथा अनुभव का विषयभूत ज्ञेय पदार्थ। वास्तववादी की दृष्टि में जीव और जगत् दो पृथक्भूत स्वतन्त्र सत्ताये हैं, परन्तु आत्मा का अद्वैतता सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर आत्मा ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होता है, जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिकी है—व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकृत की गई है। आचार्य जगत् की व्यावहारिकता प्रदर्शन के अवसर पर कहते हैं—‘शक्ति आत्मा का स्वरूप है। तथा नित्य है। चक्षुरादि द्वारा से परिणत होने वाली बुद्धि की जो शब्द-स्पर्शादि प्रतीतियाँ हैं, वे आत्मविज्ञान के विषयभूत ही होकर उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वे आत्मज्ञान के द्वारा व्याप्त होती हैं।’ (विषया-कारेण परिणामिन्या बुद्धेर्ये शब्दाद्याकारावभामाः त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एव आत्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते—तैत्ति० भा०, २।१) अतः जगत् की समस्त वस्तुयें आत्मविज्ञान के द्वारा व्याप्त होकर उत्पन्न होती हैं। नामरूप में विकार प्राप्त होने वाले पदार्थ अन्तर्निविष्ट कारणशक्ति के साथ ही परिवर्तित हुआ करते हैं। नामरूप की जिन जिन अवस्थाओंमें विकृति होती है, उन सब अवस्थाओंमें यह विकृति आत्मस्वरूपको परित्याग नहीं करती अर्थात् कार्यसत्ताओं में कारणसत्ता सर्वथा और सर्वदा अनुस्यूत रहती है। क्या कार्यरूप घट स्वकीय कारण मृत्तिका का परित्याग कर एक क्षण के लिए भी टिक सकता है? इस विषय में भाष्यकारकी उक्तियाँ नितान्त स्पष्ट हैं। वे कहते हैं कि जगत्के समस्त

उत्पन्न पदार्थ केवल सन्मूलक ही नहीं हैं, अपि तु स्थितिकाल में भी वे सत् ब्रह्म के अधिष्ठान पर ही आश्रित हैं (प्रजाः न केवलं सन्मूला एव, इदानीमपि स्थितिकाले सदायतनाः सदाश्रया एव—छा० भाष्य ६।४)। जगत् की कलायें उत्पत्ति, स्थिति तथा लय दशाओं में सर्वदा चैतन्य से अव्यतिरिक्त—अपृथग्भूत ही रहती हैं। चैतन्य ब्रह्म का ही स्वरूप है। अतः अपने जीवन की सब अवस्थाओं में पदार्थ ब्रह्म के साथ अभिन्नरूप से स्थित रहते हैं (चैतन्याव्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रतीयमानाश्च सर्वदा लक्ष्यन्ते—प्रश्न भाष्य ६।२) इस विशाल विश्व के भीतर देश काल से प्रविभक्त, भूत वर्तमान या भविष्यत् कोई भी वस्तु ऐसी नहीं है जो आत्मा से पृथक्—भिन्न हो (नहि आत्मनोऽन्यत्...तत्प्रविभक्तदेशकालं भूतं भवत् भविष्यद्वा वस्तु विद्यते—शारी० भा० २।१।६)। नामरूपात्मक विकारों के भीतर एक ही आत्मस्वरूप चैतन्यरूप में झलक रहा है (यदा नामरूपे व्याक्रियंते, तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाऽप्रविभक्तदेशकाले सर्वासु अवस्थामु व्याक्रियेते)। अतः प्रत्येक अनुभूति में हम आत्मा की ही—विषयी या विषयरूपसे, कर्ता या कर्मरूप से—एक अखण्डाकार उपलब्धि पाते हैं। एक ही अद्वैत सत्ता सर्वत्र लक्षित होती है; विषयी-विषय का पार्थक्य परमार्थतः न होकर व्यवहारमूलक ही है।

देश-काल की उपाधि द्वैतसत्ता को सिद्ध करती है। 'यहा'-'वहा' का भेद देशजन्य है। भूत वर्तमान की कल्पना काल के ऊपर आश्रित है। देशकाल की कल्पना अद्वैत की कल्पना को उन्मूलित सी करती है, परन्तु आपाततः ही। शंकराचार्य ने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र (श्लोक २) में स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित किया है कि देशकाल की कल्पना मायाजनित है (मायाकल्पितदेशकालः प्रतीयमानः प्रतीयमानः)। थोड़ा भी विचार करने से प्रतीत होता है कि देश-काल अद्वैतसिद्धान्त के व्याघातक नहीं है। घर की दीवाल उसे बाह्य वस्तुओं से पृथक् करती सी प्रतीत होती

है, परन्तु यह प्रतीति काल्पनिक है; क्योंकि ज्ञानरूप से आत्मा के अवभासित किये जाने के कारण दीवाल भी आत्मा से भिन्न नहीं है; तब वस्तुओं का व्यवच्छेद क्योकर हो सकता है ? विषयात्मक होने से दिक् भी आत्मा से अनन्य है, तब आत्मस्वरूप दिक् आत्मचैतन्य से अवभासित तथा व्याप्त पदार्थों को पृथक् कैसे कर सकता है ? प्राची प्रतीची आदि उपाधियों से विभक्त दिक् की एकता में किसी प्रकार व्याघात नहीं होता। उसी प्रकार भिन्न-भिन्न पदार्थों की सत्ता रहने पर भी आत्मा की एकता या अद्वैतता का व्याघात-साधन नहीं होता। कठोपनिषद् ने अद्वैततत्त्व की प्रतिष्ठा कर इसी कारण भेददृष्टि की निन्दा की है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमानोति य इह नानेव पश्यति ॥ २।१।१० ।

ब्रह्म

इसी निर्विकल्पक निरुपाधि तथा निर्विकार सत्ता का नाम ब्रह्म है। श्रौत दर्शन के परिच्छेद में हमने देखा है कि उपनिषदों ने निगुण ब्रह्म तथा सगुण ब्रह्म दोनों का प्रतिपादन किया है, परन्तु आचार्य शंकर की सम्मति में निगुण ब्रह्म ही उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय है। श्रुति का पर्यवमान निगुण की व्याख्या में है, क्योंकि निगुण ब्रह्म ही पारमार्थिक है। सगुण ब्रह्म तो जगत् के समान मायाविशिष्ट होने से मायिक सत्ता का धारण करता है। आचार्य ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप के निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों का स्वीकार किया है—(१) स्वरूप लक्षण तथा (२) तटस्थ लक्षण। 'स्वरूप लक्षण' पदार्थ के सत्य तात्त्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु 'तटस्थ लक्षण' कतिपय-कालावस्थायी आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है। लौकिक उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है। कोई ब्राह्मण किसी नाटक में एक क्षत्रिय नरेश की भूमिका ग्रहण कर रंगमंच पर अवतीर्ण होता है, जहाँ वह शत्रुओं को

परास्त कर अपनी विजयवैजयन्ती पहराता है और अनेक शोभन वृत्यों का सम्पादन कर प्रजा का अनुरञ्जन करता है । परन्तु इस ब्राह्मण के सत्य स्वरूप के निर्णय करने के लिए उसे राजा बतलाना क्या उचित है ? राजा है वह अवश्य, परन्तु कबतक ? कबतक नाटक-व्यापार चलता रहता है । नाटक की समाप्ति होते ही वह अपने विशुद्ध रूप में आ जाता है । अतः उस पुरुष को क्षत्रिय राजा मानना 'तटस्थ' लक्षण हुआ तथा ब्राह्मण बतलाना 'स्वरूप' लक्षण हुआ^१ ।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है । आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका 'तटस्थ' लक्षण है । 'सत्य ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तैत्ति० उप० २।१।१) तथा 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उप० ३।९।२८) ब्रह्म के स्वरूप-प्रतिपादक लक्षण हैं । आचार्य ने सत्यादि शब्दों के अर्थों की मार्मिक अभिव्यञ्जना की है । 'सत्य' ज्ञान तथा 'अनन्त' शब्द एकविभक्तिक होने से ब्रह्म के विशेषण प्रतीत हो रहे हैं; ब्रह्म विशेष्य है और सत्यादि विशेषण हैं । परन्तु विशेषणों की सार्थकता तभी मानी जा सकती है, जब एकजातीय अनेक-विशेषण-योगी अनेक द्रव्यों की सत्ता विद्यमान हो । परन्तु ब्रह्म के एक अद्वितीय होने से इन विशेषणों की उपपत्ति नहीं होती । इस पर आचार्य कहते हैं कि ये विशेषण लक्षणार्थ-प्रधान हैं । विशेषण और लक्षण में अन्तर होता है—समानजातीयैभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य । लक्षणं तु सर्वत एव । यथाऽवकाशप्रदातृ आकाशमिति (तैत्ति० भाष्य २।१) अर्थात् विशेषण विशेष्य को उसके सजातीय पदार्थों से ही व्यावर्तन (भेद) करने वाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभी से व्यावृत्त कर देता है । अतः ब्रह्म को एक होने के कारण 'सत्यं' 'ज्ञानं' ब्रह्म के लक्षण हैं, विशेषण नहीं ।

१ स्वरूपं सद व्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम् । कदाचित्कत्वे सति व्यावर्तकं तटस्थ-लक्षणम् ॥

‘सत्य’ का अर्थ है अपने निश्चित रूप से कथमपि व्यभिचरित न होने-वाला पदार्थ (यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरित तत् सत्यम्) अर्थात् कारण सत्ता । ब्रह्म में कारणत्व होने पर मृत्तिका के समान अचिद्रूपता प्राप्त न हो जाय, अतः ब्रह्म ‘ज्ञान’ कहा गया है । ज्ञान का अर्थ है अवबोध । जो वस्तु किसी से प्रविभक्त न सके, वही ‘अनन्त’ है । (यद्धि न कुतश्चित् प्रविभज्यते तद् अनन्तम्) । यदि ब्रह्म का ज्ञान का कर्ता माना जायगा, तो उसे ज्ञेय तथा ज्ञान में विभाग करना पड़ेगा । ज्ञान-प्रक्रिया में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेय की त्रिपुटी सदैव विद्यमान रहती है । अतः अनन्त होने से ब्रह्म ज्ञान ही है, ज्ञान का कर्ता नहीं । अतः ब्रह्म जगत् का कारण, ज्ञान स्वरूप और पदार्थान्तर में अविभक्त है । वह सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्दरूप (सच्चिदानन्द) है । यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है । परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होनेपर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है । शंकर तथा रामानुज की ब्रह्ममीमांसा में अन्तर पड़ता है । शंकर के अनुसार ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वागत—इन तीनों भेदों में रहित है, परन्तु रामानुज की सम्मति में ब्रह्म प्रथम दो भेदों से रहित होनेपर भी स्वगत-भेद-शून्य नहीं है, क्योंकि चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म में चिदंश अचिदंश से नितान्त भिन्न है । अतः अपने में इन भिन्न विरोधी अंशों के सद्भाव के कारण रामानुज-दर्शन में ब्रह्म स्वगत-भेद-सम्पन्न स्वीकृत किया गया है ।

निर्विशेष निर्लक्षण ब्रह्म से सविशेष सलक्षण जगत् की उत्पत्ति क्यों कर हुई ? एक ब्रह्म से नानात्मक जगत् की सृष्टि कैसे हुई ? इस प्रश्नके

यथार्थ उत्तर के लिए ‘माया’ के स्वरूप को जानना आवश्यक माया है । शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग

समानार्थक रूप से किया है (शारी० भा० १।४।३); परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थभेद की कल्पना की है ।

परमेश्वर की बीज शक्ति का नाम 'माया' है। मायारहित होने पर परमेश्वर में प्रवृत्ति नहीं होती और न वह जगत् की सृष्टि करता है। यह अविद्यात्मिका बीजशक्ति 'अव्यक्त' कही जाती है, यह परमेश्वर में आश्रित होने वाली महामुप्तिरूपिणी है जिसमें अपने स्वरूप को न जाननेवाले संसारी जीव शयन किया करते हैं। (अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया मायामयी महामुप्तिः यस्या स्वरूप-प्रतिबोध-रहिताः शेरते संसारिणो जीवाः १।४।३ शारी० भाष्य) अग्नि की अपृथग्भूता दाहिका शक्ति के अनुरूप ही माया ब्रह्म की अपृथग्भूता शक्ति है। त्रिगुणात्मिक माया ज्ञानविरोधी भावरूप पदार्थ है। भावरूप कहने से अभिप्राय है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्; इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे 'अनिर्वचनीय' कहते हैं। जो पदार्थ सद्रूप से या असद्रूप से वर्णित न किया जा सके, उसकी शास्त्रीय संज्ञा 'अनिर्वचनीय' है। माया को 'सत्' कह नहीं सकते, क्योंकि ब्रह्मबोध से उसका बाध होता है। 'सत्' तो त्रिकालाबाधित होता है। अतः यदि वह सत् होती, तो कभी बाधित नहीं होती अथ च उसकी प्रतीति होती है। इस दशा में उसे 'असत्' कहना भी न्यायसंगत नहीं, क्योंकि असद्वस्तु कभी प्रतीयमान नहीं होती (सच्चेन्न बाध्येत, असच्चेत् न प्रतीयेत)। इस प्रकार माया में बाधा तथा प्रतीति उभयविध विषद्व गुणों के सद्भाव रहने से माया को 'अनिर्वचनीय' ही कहना पड़ता है। प्रमाणसहिष्णुत्व ही अविद्या का अविद्यात्व है, तर्क की सहायता से माया का ज्ञान प्राप्त करना अन्धकार की सहायता से अन्धकार का ज्ञान प्राप्त करना है। सूर्योदयकाल में अन्धकार के भौति

१ अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव तु लक्षणम् ।

यत् ३०० अङ्गुली भूतं वस्तु सा भवेत् ॥ बृह० भाष्य बार्तिक १८१ ।

ज्ञानोदयकाल में माया ठिक नहीं सकती। अतः नैऋर्म्यसिद्धि^१ का कहना है कि “यह भ्रान्ति आलम्बनहीन तथा सत्र न्यायो से नितान्त विरोधिनी है। जिसप्रकार अन्धकार सूर्य को नहीं सह सकता, उसी प्रकार माया विचार को नहीं सह सकती।” इस प्रकार प्रमाणमहिष्णु और विचारासहिष्णु होने पर भी इस जगत् की उपपत्ति के लिए माया को मानना तथा उसकी अनिर्वचनीयता स्वीकार करना नितान्त युक्तियुक्त है। इसीलिए शंकराचार्य ने माया का स्वरूप दिखलाने समय लिखा है कि माया भगवान् की अव्यक्त शक्ति है जिसके आदि का पता नहीं चलता; वह गुणत्रय से युक्त अविद्यारूपिणी है। उसका पता उसके कार्य से चलता है। वही इस जगत् को उत्पन्न करती है—

अव्यक्त नाम्ना परमेश शक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या ।

कार्यानुमेया मुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते^२ ॥

माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभय रूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभय रूप है। न अंग सहित है, न अंग रहित है और न उभयात्मिका ही है, किन्तु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है—वह ऐसा है जो कही न जा सके —

सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्ना नो भिन्ना नो ।

नो महाद्भुताऽनिर्वचनीय रूपा^३ ॥

१ सेय भ्रान्तिर्निरालम्बा सर्वन्यायविरोधिनी ।

सहने न विचार सा तमो यश्च द्वादिवाक्यम् ॥ नैऋर्म्यसिद्धि २।६६ ।

२ विवेक चूडामणि, श्लोक ११०

३ वही, ,, १११

द्रष्टव्य प्रबोध सुधाकर श्लोक ८५-१०९ ।

माया की दो शक्तियाँ होती हैं^१ — आवरण तथा विश्लेष । इन्हीं के महायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तवरूप को आवृत कर उसमें अवस्तरूप जगत् की प्रतीति का उदय होता है । लौकिक माया का शक्तियाँ भ्रान्तियों में भी प्रत्येक विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों की निःसन्दिग्ध सत्ता का अनुभव हुए घिना रह नहीं सकता । अधिष्ठान के सच्चे रूप को जब तक ढक नहीं दिया जाता और नवीन पदार्थ की स्थापना उस पर नहीं की जाती, तब तक भ्रान्ति की उत्पत्ति हो नहीं सकती । भ्रमोत्पादक जादू के खेल इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं । ठीक इसके अनुरूप ही भ्रान्तिस्वरूपा माया में इन दो शक्तियों की उपलब्धि पाई जाती है । आवरणशक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढक लेती है और विश्लेषशक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है । जिस प्रकार एक छोटा-सा मेघ दर्शकों के नेत्र को ढक देने के कारण अनेक योजन-विस्तृत आदित्यमण्डल को आच्छादित मा कर देता है, उसी प्रकार परिच्छित अज्ञान अनुभवकर्ताओं को बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न अमंगरी आत्मा को आच्छादित मा कर देता है । इसी शक्ति की मंज्ञा 'आवरण' है जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को आवृत कर देती है । जिस प्रकार रज्जु का अज्ञान अज्ञानावृत रज्जु में अपनी शक्ति से सर्पादि की उद्भावना करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में

१ शक्तिद्वयं हि मायाया विश्लेषावृत्तिरूपकम् ।

विश्लेषशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्त जगत् सृजेत् ॥

अन्नदृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः ।

आवृणोत्यपरा शक्तिः सा ससारस्य कारणम् ॥

—दृग्दृश्यविवेक (श्लो० १३, १५)

इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत् प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान 'विक्षेप' है। मायोपाधिक ब्रह्म ही जगत् का रचयिता है। चैतन्य पक्ष के अवलम्बन करने पर ब्रह्म जगत् का निमित्त-कारण है और उपाधि-पक्ष की दृष्टि से वही ब्रह्म उपादानकरण है। अतः ब्रह्म की जगत्कर्तृता में माया को ही सर्वप्रधानतया कारण मानना उचित है।

ईश्वर

यही निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा अवच्छिन्न होने पर सविशेष या सगुणभाव को धारण करता है। तब उसे ईश्वर कहते हैं। विश्वकी सृष्टि, स्थिति तथा लय का कारण यहाँ ईश्वर है। परन्तु ईश्वर का जगत्-सृष्टि करने में कौन सा उद्देश्य सिद्ध होता है? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। बुद्धिपूर्वकारों चेतन पुरुष की मन्दोपक्रम भी प्रवृत्ति बिना किसी प्रयोजन के सिद्ध नहीं होती, तो इस गुरुतर-संरम्भवालो प्रवृत्ति का प्रयोजन खोज निकालना आवश्यक है। श्रुति ईश्वर को 'सर्वकामः' कहकर पुकारती है अर्थात् उसकी सब इच्छाएँ परिपूर्ण हैं। यदि ईश्वर का इस सृष्टि-व्यापार से कोई आत्मप्रयोजन सिद्ध होता है, तो परमात्मा का श्रुतिप्रतिपादित परितृप्तत्व बाधित होता है। अथ च यदि निरुद्देश्य प्रवृत्ति की कल्पना मानी जाय, तो ईश्वर की सर्वज्ञता को गहरा धक्का लगता है। जो सब वस्तुओं का ज्ञाता है वह स्वयं सृष्टि के उद्देश्य से कैसे अपरिचित रह सकता है? अतः परमेश्वर का यह व्यापार लीला-मात्र है। जैसे लोक में सकल मनोरथ की सिद्धि होनेवाले पुरुष के व्यापार, बिना किसी प्रयोजन के, लीला के लिए होते हैं, उसी प्रकार सर्वकाम तथा सर्वज्ञ ईश्वर का यह सृष्टिव्यापार लीलाविलास है (२।१।३२-३३ पर शां० भा०)।

ईश्वरकर्तृत्व के विषय में वेदान्त तथा न्याय-वैशेषिक के मत पृथक्

पृथक् हैं । न्याय ईश्वर को जगत् का केवल निमित्तकारण मानता है, परन्तु वेदान्त के मत में ईश्वर ही जगत् का उपादान ईश्वर-उपादान कारण कारण भी है । जगत् की सृष्टि इशापूर्वक है—स ईक्षांचक्रे । स प्राणममृजत (प्रश्न ६।३-४) । ईक्षण पूर्वक सृष्टिव्यापार के कर्ता होने के कारण ईश्वर निमित्तकारण निःसन्देह है, पर उसके उपादानत्व के प्रमाणों की भी कमी नहीं है । उपनिषद् में इस प्रश्न के उत्तर में कि जिस एक वस्तु के जानने पर सब वस्तुयें ज्ञात हो जाती हैं ब्रह्म ही उपदिष्ट है । जिस प्रकार एक मृत्पिण्ड के जानने से समग्र मृण्मय (मिट्टी के बने) पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है, मृण्मय पदार्थ केवल नामरूपात्मक हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म के जानने पर समस्त पदार्थ जाने जाते हैं (छान्दोग्य ६।१।२) । ब्रह्म की मृत्तिका के साथ दृष्टान्त उपस्थित किये जाने से ब्रह्म का उपादानत्व नितान्त स्पष्ट है (ब्र० सू० १।४।२३) । मुण्डक (३।१।३) ब्रह्म को 'योनि' शब्द से अभिहित करता है (कर्तारमीशं पुरुष ब्रह्म योनिम्) । अतः ब्रह्म ही इस जगत् का निमित्त कारण अथ च उपादान कारण है । वेदान्त चेतन ब्रह्म को जगत्कारण मानने में विरोधियों के अनेक तर्कों का भी समुचित खण्डन करता है । जो लोग सुखदुःखात्मक तथा अचेतन जगत् से विलक्षण होने के कारण ईश्वर को कारण मानने के लिए तैयार नहीं हैं, उन्हें स्मरण रखना चाहिये कि अचेतन गोमयपिण्ड से चेतन वृश्चिक का जन्म होता है और चेतन पुरुष से अचेतन नख-केश उत्पन्न होते हैं । अतः विलक्षणत्व हेतु से ब्रह्म की जगत्कारणता का परिहार नहीं किया जा सकता (२।१।३ शा० भा०) । जगत् भोग्य है, आत्मा भोक्ता है । परन्तु उपादानकारणत्वेन दोनों की एकता सिद्ध है, तो भोक्ताभोग्य का विभाग न्यायसंगत कैसे प्रतीत होगा ? परन्तु यह आक्षेप भी ठीक नहीं है, क्योंकि समुद्र तथा लहरियों में, मिट्टी तथा घड़ों में वास्तव एकता होनेपर भी व्यावहारिक भेद

अवश्य है, उसी प्रकार ब्रह्म और जगत् में भी वास्तव अभेद होनेपर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान है (१।१।१४ शा० भा०) ।

उपासना के भी लिए निर्विशेष ब्रह्म सविशेष ईश्वर का रूप धारण करता है । ब्रह्म वस्तुतः प्रदेशहीन है, तथापि उपाधिविशेष से सम्बन्ध होने से वही ब्रह्म भिन्न-भिन्न प्रदेशों में स्वीकृत किया जाता है । इसीलिए उपनिषदों में, सूर्य में, नेत्र में, हृदय में ब्रह्म की उपासना कहा गई है । इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि उभयविध ब्रह्म के ज्ञान तथा उपासना का फल भी वस्तुतः भिन्न होता है । जहाँ पर निर्विशेष ब्रह्म आत्मरूप बतलाया गया है वहाँ फल एकत्वरूप मोक्ष ही होता है, परन्तु जहाँ प्रतीक उपासना का प्रसंग आता है अर्थात् ब्रह्म का सम्बन्ध किसी प्रतीक (सूर्य, आकाश आदि) विशेष से बतलाया गया है, वहाँ संसारगोचर ही फल भिन्न-भिन्न होते हैं (यत्र हि निरस्त सर्वविशेषसम्बन्ध परं ब्रह्मात्मत्वेन उपदिश्यते तत्रैकरूपमेव फलं मोक्ष इत्यवगम्यते । यत्र तु गुणविशेषसम्बन्धं प्रतीक-विशेष-सम्बन्धं वा ब्रह्मोपदिश्यते, तत्र संसारगोचराण्येव उच्चावचानि फलानि दृश्यन्ते — १।१।२४ भाष्य) । उपास्यउपासक की भेददृष्टि से ही यह कल्पना है । अतः ईश्वर और जीव की कल्पना व्यावहारिक होने से दोनों मायिक हैं—उपाधि के काल्पनिक विलास के सिवा और कुछ नहीं है । इसीलिए पञ्चदशीकार कहते हैं—

मायाख्यायाः कामधेनोर्वत्सो जीवेश्वरावुभौ ।

यथेच्छं पित्रता द्वैतं तत्त्वमद्वैतमेव हि ॥ पञ्चदशी ६।२३६ ।

जीव

अन्त-करणावच्छिन्न चैतन्य को जीव कहते हैं । आचार्य की सम्मति में शरीर तथा इन्द्रियसमूह के अभ्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को

ही जीव कहते हैं (अस्ति आत्मा जीवाख्यः शरीरगन्ध्रियपञ्चराध्यक्षः कर्म-फल सम्बन्धी शा० भा० २।३।१७) । द्वितीयाध्याय के तृतीयपाद के उत्तरार्ध में आत्मा के विषय में सूत्रकार ने अनेक जातव्य विषयों का उल्लेख किया है । पहला प्रश्न है कि उपनिषदों में आत्मा के उत्पत्तिविषयक वाक्योंका क्या रहस्य है ? यदि आत्मा नित्य-शुद्ध बुद्ध-मुक्तस्वभाव माना जाता है, तो उसकी उत्पत्ति को उपपत्ति कैसी अंगीकृत हो सकती है ? इसके उत्तर में सूत्रकार का स्पष्ट कथन है कि शरीरादि उपाधियोंकी ही उत्पत्ति होती है, नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता (२।३।१७ शा० भा०) । आत्मस्वरूप के विषय में भी दार्शनिकों की विभिन्न कल्पनाये हैं । मुक्त, मूर्छित तथा ग्रहाविष्ट पुरुषों में कतिपय काल तक चैतन्यभाव को देखकर प्रत्यक्ष अनुभव का पक्षधारी वैशेषिकदर्शन चैतन्य को आत्मा का कादाचित्तिक गुण मानता है । परन्तु वेदान्त की सम्मति में आत्मा चैतन्यरूप ही है, क्योंकि परब्रह्म ही उपाधिसम्पर्कमें जीवनभाव से विद्यमान रहता है । अतः आत्मा में ब्रह्मके साथ स्वभावगत ऐक्य होने पर नित्य चैतन्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता (शा० भा० २।३।१८) । सूत्र-भाष्य में आत्मा के परिणाम का भी विशेष विचार किया गया है । अनेक श्रुतिवाक्योंके आधारपर पूर्वपक्षका कहना है कि आत्मा अणु है, भाष्यकार का उत्तर है—नहीं । परब्रह्म के विभु होनेसे तद्व्यपदेश आत्मा का भी विभु परिमाण ही युक्तियुक्त है । आचार्यने अणुत्वकल्पना की उपपत्ति यह कह कर दिखलाई है कि अत्यन्त सूक्ष्म होने कारण ही आत्मा अणु स्वीकार किया गया है (२।३।४३ शा० भा०) आत्मचैतन्य जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति—त्रिविध अवस्थाओं^१ में तथा अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय—इन पाँच कोशों में उपलब्ध होता है परन्तु आत्मा का शुद्ध चैतन्य इन कोशपञ्चक से नितान्त परे की वस्तु

है। इसी तरह स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर तथा कारणशरीर के व्यष्टि अभिमानी जीव की विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ संज्ञायें हैं और इन्हीं शरीरों के समष्टि अभिमानी ईश्वर की वैश्वानर (विराट्), सूत्रात्मा (हिरण्यगर्भ) तथा ईश्वर संज्ञायें दी गई हैं। व्यष्टि तथा समष्टि के अभिमानी पुरुष परस्पर में अभिन्न हैं। परन्तु आत्मा इन तीनों से परे स्वतन्त्र सत्ता है। निम्नलिखित कोष्ठक में यह विषय संगृहीत किया जाता है—

शरीर	अभिमानी	कोश	अवस्था
स्थूल	समष्टि—वैश्वानर (विराट्) व्यष्टि—विश्व	}	अन्नमय जाग्रत
सूक्ष्म	समष्टि—सूत्रात्मा व्यष्टि—तैजस		
		}	मनोमय प्राणमय विज्ञानमय
कारण	समष्टि—ईश्वर व्यष्टि—प्राज्ञ		
		}	आनन्दमय सुषुप्ति

जीव की वृत्तियाँ उभयमुखी होती हैं। यदि वे बहिर्मुखी होती हैं, तो विषयो को प्रकाशित करती हैं और जब वे अन्तर्मुख होती हैं, वे तो 'अहं' कर्ता को अभिव्यक्त करती हैं। जीव की उपमा नृत्यशालास्थित दीपक से बड़ी सुन्दर रूप से दी जा सकती है। जिस तरह रंगस्थल में दीपक सूत्रधार, सभ्य तथा नर्तकी को समभाव में प्रकाशित करता है, और इनके अभाव में स्वतः प्रकाशित होता है, उसी तरह साक्षी आत्मा अहंकार, विषय तथा बुद्धि को अवभासित करता है और इनके अभाव में स्वतः प्रद्योतित होता है^१। बुद्धि में चाञ्चल्य होता है और बुद्धि से युक्त होने से जीव चञ्चल सा प्रतीत होता है। वस्तुतः वह शान्त है।

१ अहंकारः प्रभुः सभ्या विषया नर्तकी मतिः।

तालादिभारीण्यक्षाणि दीपः माध्यवभासकः ॥ पञ्चदशी १० १४०।

जीव और ईश्वर

इस दोनों तत्त्वों के स्वरूप का निरूपण आचार्यों ने भिन्न भिन्न रीति से किया है। एक आचार्य की सम्मति में जीव और ईश्वर के सामान्य रूप से रहनेवाला चैतन्य विम्ब स्थानीय है। उसी का प्रतिविम्ब भिन्न भिन्न उपाधियों में पड़ने से भिन्न नाम ग्रहण करता है। चैतन्य का वह प्रतिविम्ब जो माया या अविद्या में पड़ता है 'ईश्वर चैतन्य' कहलाता है और जो अन्तःकरण में पड़ता है वह 'जीव चैतन्य' नाम से अभिहित होता है। इस मत में जीव और ईश्वर में वही अन्तर और भिन्नता है जो घट तथा जलाशय के जल में पड़ने वाले सूर्य प्रतिविम्ब में होता है।

परन्तु इस मत से परमेश्वर में अविद्या से उत्पन्न दोषों की सम्भावना बनी रहती है। उपाधि प्रतिविम्ब को प्रभावित करती है। अतः अविद्या अपने में प्रतिविम्बित चैतन्य को अवश्य ही अपने दोषों से दूषित करेगी, इसीलिए इस मत के मानने में आपत्ति है।

दूसरे मत में ईश्वर चैतन्य ही विम्ब के स्थान में माना जाता है जिसके प्रतिविम्ब को हम लोग जीव के नाम से पुकारते हैं। दोनों में चैतन्य एक ही प्रकार का है। अन्तर इतना ही है कि जब वह विम्बाकार धारण करता है तब 'ईश्वर' कहलाता है और प्रतिविम्ब से आच्छादित रहता है, तो 'जीव' नाम से अभिहित होता है। सच तो यह है कि चैतन्य एक ही अविच्छिन्न वस्तु है, उसमें विम्ब तथा प्रतिविम्ब को कल्पना उपाधिजन्य है। 'एक जीव' मानने वालों के मत में यह उपाधि अविद्या है; नाना जीववाद में यह उपाधि अन्तःकरण है। इन्हीं उपाधियों के कारण ही तो जीव और ईश्वर में भेद है। इस मत में विम्बभूत चैतन्यरूप ईश्वर में उपाधियों का दूषण कथमपि स्पर्श नहीं करता। जिस प्रकार आकाशस्थित सूर्य का प्रतिविम्ब जल में पड़ता है और इन प्रतिविम्बों में पार्थक्य है, उसी प्रकार जीव और ईश्वर में अन्तर है।

वेदान्त में जड़त्व

श्री शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने जड़त्व के विषय में उद्घा-
 तित उन सिद्धांतों का खण्डन किया है जिनके द्वारा यह जगत् (१)
 या तो अचेतन परमाणुओं के संघात का परिणाम है अथवा (२) बिना
 किसी अन्य की सहायता के स्वयं परिणामशालिनी अचेतना प्रकृति का
 विकासमात्र है अथवा (३) दो स्वतन्त्र पदार्थ — प्रकृति तथा ईश्वर —
 के द्वारा निर्मित है जिनमें एक तो उपादान कारण है और दूसरा निमित्त
 कारण है । परन्तु ये सिद्धान्त उक्त दार्शनिकों को कथमपि मान्य नहीं
 हैं । दोनों का यह परिनिर्णित मत है कि अचेतन वस्तु इस जगत् को
 पैदा करने में नितान्त असमर्थ है तथा चेतन और अचेतन पदार्थद्वय के
 परस्पर संयोग से जगदुत्पत्ति को सिद्ध मानना भी नितान्त अयुक्तियुक्त
 है, वे 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' के औपनिषद् तथ्य का अवलम्बन कर प्रकृति
 तथा मन दोनों की स्वतन्त्र सत्ता मानने के लिए उद्यत नहीं हैं, प्रत्युत
 यह समस्त जगत् के ब्रह्ममय होने से प्रकृति तथा मन दोनों ही अपनी
 सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित हैं । इस प्रकार ये दोनों आचार्य ब्रह्म
 की ही एकमात्र सत्ता स्वीकृत करने के कारण अद्वैतवादी हैं । वादरायण
 ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय (तर्क) पाद में जगदुत्पत्ति
 विषयक पूर्वोक्त सिद्धान्तों का खण्डन बड़ी सुन्दर तथा अकाश्रय युक्तियों
 से किया है । यह सिद्धान्त वेदान्त के प्रायः समस्त विभिन्न सम्प्रदायों से
 समभावेन माननीय है । अतः इन युक्तियों का प्रदर्शन संक्षेप में यहाँ
 किया जाता है :—

सांख्य दर्शन के मतानुसार सत्त्व, रज तथा तमरूप गुणत्रयात्मिका
 प्रकृति स्वयं प्रवृत्त होकर इस जगत् को उत्पत्ति करती है और इस
 कार्य में उसे किसी चेतन अध्यक्ष की सहायता की
 मांग्य मत का निगम अपेक्षा नहीं रहती । परन्तु यह मत समीचीन प्रतीत

नहीं होता। प्रकृति के जगद्रूप से परिणत होने में एक महान् उद्देश्य है—पुरुषों के भोग तथा अपवर्ग की मिद्धि। प्रकृति के परिणाम का ही यह फल है कि पुरुष अपने पूर्व कर्मानुसार सुख-दुःखरूप भोगों को प्राप्त कर लेता है तथा प्रकृति से अपने को विविक्त (पृथक्) जान लेने पर वह इस संसार से विमुक्तिलाभ कर लेता है। क्या इस प्रकार के उद्देश्य को कल्पना कोई अचेतन पदार्थ कर सकता है? लोकानुभव इसका नितान्त विरोधी है। दूसरी बात यह है कि बिना किसी चेतन अध्यक्ष के अचेतन में क्रिया की उत्पत्ति नितान्त असिद्ध है। चेतन-पुरुष के द्वारा अधिष्ठित होने पर हाथ की लेखनी लेखन व्यापार में प्रवृत्त होती है। सारथि की अध्यक्षता में रथ में गति का आविर्भाव होता है। तब अचेतन प्रकृति में प्राथमिक प्रवृत्ति का उदय क्योंकर हुआ? इसके उत्तर में साह्य का कथन है कि जिस प्रकार बछड़े के लिए गाय के स्तन से दूध आप से आप बहने लगता है, उसी प्रकार अचेतन प्रवृत्ति बिना किसी बाह्य कारण के स्वयं परिणाम उत्पन्न करती है। बत्स की विवृद्धि के लिए गो-स्तन से स्वयं प्रवृत्त होने वाले दूध का यह उदाहरण उचित नहीं है, क्योंकि गाय चेतन पदार्थ है जिस के हृदय में अपने बछड़े की पुष्टि की कामना विद्यमान है। पुरुष की सहायता भी प्रकृति को इस महत्व के कार्य में नहीं मिल सकती, क्योंकि साह्य ने पुरुष को क्रियाहीन तथा उदासीन मान कर उसे नितान्त पशु बना डाला है। प्रकृति की कल्पना भी केवल आनुमानिक है। बाद-रायण गूत्रों में सर्वत्र प्रकृति के लिए 'आनुमानिक' शब्द का प्रयोग किया गया है। श्रुति में इसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इतनी प्रतिपत्तियों के होने पर जगत् को प्रकृति का परिणाम मानना युक्तियुक्त नहीं है।

सूक्ष्म परमाणुओं के सघात से इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति सिद्ध होती है—यह वैशेषिक सिद्धान्त है जो तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं

वैशेषिक मत का
निरस्कार

उतरा^१ । परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक, त्रसरेणु आदि के क्रम से यह संसार उत्पन्न बतलाया जाता है परन्तु अचेतन परमाणु इस नियमवद्ध जगत् की उत्पत्ति में क्या कभी समर्थ हो सकता है ? वैशेषिक अदृष्ट को इस जगत् का नियामक बतलाते हैं, परन्तु अदृष्ट भी तो अन्ततोगत्वा अचेतन ही ठहरा । परमाणु में प्रथम संयोग की उत्पत्ति किसी भी युक्ति के बल पर समझाई नहीं जा सकती । यदि परमाणुओं में स्वभाव से ही गतिशीलता का सिद्धान्त मानें, तो उनमें कभी विराम न होगा, सदा गति ही विद्यमान रहेगी । तब प्रलय की कल्पना ही उच्छिन्न हो जायेगी । जगत् के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श उत्पन्न करने के लिए परमाणुओं में इन गुणों का सद्भाव माना जाता है । तब परमाणु सगुण हुए और ऐसी दशा में सगुण पदार्थ न तो नित्य हो सकता है और न सूक्ष्म । गुणान्वय उसे स्थूल, अतएव अनित्य ही बनाता है । ऐसी दशा में वैशेषिकानां परमाणुओं की स्वरूपहानि होती है । अतः परमाणु को जगत् का उपादान मानना युक्तियुक्त नहीं है ।

वास्तववादी बौद्ध—मौत्रान्तिक तथा वैभाषिक दार्शनिकों की सम्मति में वह जगत् समूहात्मक है । आन्तरजगत् पञ्चस्कन्ध—रूप, वेदना संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान—का संघातमात्र बौद्धमत का सिद्धान्त तथा बाह्य जगत् विभिन्न स्वरूपात्मक परमाणुचतुष्टय का पुञ्जमात्र है । जगत् के समस्त पदार्थ क्षणस्थायी है; परन्तु क्षणिक पदार्थों में कारणता सिद्ध हो नहीं सकती । कारण मानने के लिए किसी भी पदार्थ को उत्पन्न होना चाहिए तथा स्थित होना चाहिए । ऐसी दशा में पदार्थ क्षणद्वयस्थायी होगा । एक क्षण में उत्पन्न होगा और दूसरे क्षण में स्थित होगा । इस प्रकार क्षणिकवाद का स्वतः खण्डन

हो जाता है। चेतन की अध्यक्षता मानने पर भी यह मत सुसम्पन्न नहीं हो सकता। क्योंकि यदि चेतन स्थायी है, तो क्षणवाद का निरास होता है। यदि वह क्षणिक है, तो वह कार्य उत्पन्न ही नहीं कर सकता। एक क्षण उत्पन्न होने के लिए तथा दूसरा क्षण परमाणुओं का संयोग करने के लिए मानने से क्षणिकवाद का खण्डन हो जाता है। अचेतन कारण का दाप अभी बतलाया गया है। ऐसी दशा में जगत् को सत्तात्मक तथा क्षणिक मानना नितान्त निराश्रय सिद्धान्त है। विज्ञानवादी बौद्धों का भी सिद्धान्त इतना ही है तथा अप्रामाणिक है। शंकराचार्य ने इस मत के विरुद्ध बड़ी प्रौढ़ युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं। सबसे प्रधान युक्ति यह है कि जगत् को असत्य मानकर विज्ञानमात्र को सत्य मानना प्रति दिन के लोकानुभव के नितान्त विरुद्ध है^१। अनुभव के विषय होने पर भी घटपटादि की सत्ता का तिरस्कार करना उसी प्रकार उपाहास्यास्पद है जिस प्रकार रसभरा मिठाइयों के स्वाद का अनुभव करते हुए भी उन्हें मिथ्या (असत्य) ठहराना है। जगत् के असत्य होने पर घटपटादि का पारस्परिक विभेद किस कारण पर ठहरेगा? विज्ञानरूपेण तो ये दोनों अभिन्न ठहरे। ऐसी दशा में घट माँगने पर यदि पट लाकर उपस्थित कर दिया जाय तो लोक व्यवहार कैसे सिद्ध होगा? अतः जगत् को विज्ञान का ही विकृत रूप बतलाना नितान्त अनुचित है। जब विज्ञानवाद की ऐसी विषम दशा है तो समस्त पदार्थों के अभाव माननेवाले शून्यवादियों का सिद्धान्त किस प्रकार प्रमाण प्रतिपन्न माना जाय? अतः सौगतमत की जगदुत्पत्ति-कल्पना नितान्त तर्क-शून्य, अप्रामाणिक, अतः अविश्वसनीय है।

द्वैतवादियों—पाशुपत, शैव तथा नैयायिक आदि दार्शनिकों के मतानुसार ईश्वर जगत् का निमित्तकारणमात्र है, उपादान कारण नहीं।

द्वैतवाद का निगम यह मत भी सन्तोषप्रद नहीं है। यदि ईश्वर जगदुत्पत्ति में केवल निमित्त मात्र है, तो वह पक्षपात के दोष में बिना लाञ्छित हुए रह नहीं सकता। जगत् में कोई जीव सुखी है, और कोई नितान्त दुःखी। इस वैषम्य का क्या कारण है? यदि कर्मानुसार विषम सृष्टि की घटना मानी जाय, तो श्रुतिमूलक होने से ईश्वर का उपादान कारण होना भी अनिवार्य है। जो श्रुति ईश्वर को कर्मानुसार जगत् का स्रष्टा बतलाती है, वही उसे उपादान कारण भी बतलाती है। कोई भी पुरुष शरीर के द्वारा ही जड़ पदार्थों में क्रिया-कलाप का आविर्भाव किया करता है, परन्तु द्वैतवादीसम्मत ईश्वर न तो शरीरी है और न रागद्वेषादि भावों से मण्डित है। ऐसी दशा में केवल निमित्तकारण मानने पर ईश्वर में जगत्कर्तृत्व का सिद्धान्त उत्पन्न नहीं होता। अतः वेदान्त वाच्य होकर एक ही चेतन पदार्थ को उपादान तथा निमित्त कारण दोनों बतलाता है। श्रुति तथा युक्ति दोनों इस सिद्धान्त के पोषक हैं। इस विषय में उपनिषद् उर्णनाभि (मकड़े) का उदाहरण प्रस्तुत करता है—यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च। यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति ॥ यथा मतः पुरुषात् केशलोमानि। तथाधरात् सम्भवतीह विश्वम् (मुण्डक उप० १।१।७) मकड़ी बिना किसी उपकरण के अपने शरीर से अभिन्न तन्तुओं को स्वयं रचती है (अर्थात् उन्हें अपने शरीर के बाहर फैलाती है) और फिर उन्हें ग्रहण कर लेती है (अर्थात् अपने शरीर में मिलाकर अभिन्न बना देती है)। उसी प्रकार यह विश्व उस परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। ब्रह्म उपादानकारण है तथा निमित्तकारण भी। वेदान्त का यही परिनिष्ठित मत है। अतः जगत् की उत्पत्ति चेतन पदार्थ से ही होती है, इसमें तनिक भी शक्य नहीं है।

जगत्

जिस प्रकार इन्द्रजालिक अपनी मायाशक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होता है, वही दशा ईश्वर की भी है (मायावीव विजृ-

म्भयत्यपि महायोगीव यः स्वेच्छया-दक्षिणामूर्तिस्तोत्रं श्लोक० २) । जादू उन्हीं लोगों को व्यामोह में डाल सकता है जो उस इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानते हैं, परन्तु उसके रहस्यवेत्ता पुरुषों के लिए वह इन्द्रजाल व्यामोह का विषय नहीं होता । ठीक इसी प्रकार यह जगत् अद्वैतमत्ता से अनभिज्ञ व्यक्तियों के लिए ही अपनी मत्ता बनाये रहता है, परन्तु अद्वैत-तत्त्व के ज्ञानियों के लिए उसकी सत्ता निगधार तथा निर्मूल है । इस विषय में एक विशेष समस्या का हल करना नितान्त आवश्यक है । समस्या यह है—जगत् सत्य है या असत्य ? ‘जगन्मिथ्या’ के सिद्धान्त ने सर्वमाधारण में कौन कहे शिक्षित पुरुषों में भी यह धारणा फैला रखी है कि अद्वैतमतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है । नित्य-परिवर्तनशील या परिणम्यभाव ही जगत् है । परिणाम, प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है—जगत् का अव्यभिचारी धर्म है । एक क्षण के लिए भी जगत् प्रवृत्तिशून्य नहीं रहता ।

सत्य की जो परिभाषा शंकराचार्य ने दी है उसके अनुसार जगत् सत्य नहीं माना जा सकता । आचार्य के शब्दों में “यद् रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति तत् सत्यम्” अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह रूप सन्तत, समभाव से, विद्यमान रहे तो उसे सत्य कहते हैं । इस प्रतिक्षण-परिणामी, सतत चञ्चल, नियत-परिवर्तनशील संसार की कोई भी वस्तु इस परिभाषा के अनुसार सत्य कांटे में नहीं आ सकती, तो क्या जगत् नितान्त असत्य है ? इस प्रश्न का उत्तर विज्ञान-वादियों के मत खण्डन करते हुए आचार्य ने स्वयं दिया है । विज्ञानवादियों का मत है कि इन्द्रियार्थ-प्रतीति का मूल इन्द्रियार्थ तथा इन्द्रियमनिकर्ष सब बुद्धि में है । जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्याभूत हैं । जिस प्रकार स्वप्न, मायामरीचिका आदि प्रत्यय ब्राह्म अर्थ के बिना ही ग्राह्यग्राहक आकार वाले होते हैं, उसी प्रकार जागरित दशा के स्तम्भादि पदार्थ भी ब्राह्मार्थशून्य हैं । परन्तु आचार्य का

कहना है कि ब्राह्म्यार्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप से हमें हो रही है। प्रतिक्षण अनुभूयमान पदार्थों की सत्ता उनके बोध के बाहर न मानना उसी प्रकार उपहास्यास्पद है, जिस प्रकार स्वादु भोजन कर तृप्त होनेवाला पुरुष, जो न तो अपनी तृप्ति को ही माने, न भोजन की बात स्वीकार करे (२।२।२८ शा० भा०)। बौद्धों का यह कथन कि ब्राह्म्यपदार्थ बाहर के समान प्रतीत होता है ब्राह्म्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता सिद्ध कर रहा है। जगत् स्वप्नवत् अलीक है, इस मत का खण्डन (२।२।२९) भाष्य में आचार्य ने नितान्त स्पष्ट शब्दों में किया है। वे कहते हैं:—वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनममागम इति। नैवं जागरितोपलब्ध वस्तु स्तम्भादिक कस्याञ्चिदपि अवस्थाया बाध्यते। अपि च स्मृतिर्गया यत् स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम्। अर्थात् स्वप्न और जागरित अवस्था में स्वरूपगत भेद है। स्वप्नदशा का बाध होता है, परन्तु जागरित दशा का कभी भी बाध नहीं होता। स्वप्न में देखे गये पदार्थों का जागने पर अनुपलब्ध होने से बाधित होना प्रत्यक्ष ही है परन्तु जाग्रत अवस्था में अनुभूत स्तम्भादि पदार्थों का किसी भी दशा में बाध नहीं होता। एक और भी महान् अन्तर है। स्वप्न-ज्ञान स्मृतिमात्र है परन्तु जागरित ज्ञान उपलब्धि है—साक्षात् अनुभवरूप है। अतः दोनों की मित्रता एकदम स्पष्ट है।

ऐसे स्पष्ट प्रतिपादन के होते हुए भी जगत् को असत्य कहना कहाँ तक यथार्थ है? व्यवहार में इसका अपलाप कथमपि नहीं किया जा सकता। परन्तु ब्रह्मात्म के ऐक्य ज्ञान होने पर ज्ञानी पुरुषों के लिए यह सांसारिक अनुभव ब्रह्मात्मानुभव के द्वारा बाधित होता है। अतः उस जीवन्मुक्तावस्था में ब्रह्मज्ञानी के लिए जगत् की बाधितानुवृत्ति रहती है पर व्यवहारदशा में यह जगत् उतना ही ठोस तथा वास्तव है जितना

अन्य कोई पदार्थ । अतः जगत् की पारमार्थिकी स्थिति न होने पर भी व्यावहारिकी सत्ता मान्य है ।

तमः प्रधान, विश्वेशक्ति के युक्त, अज्ञानोपहित चैतन्य से सूक्ष्म तन्मात्रारूप आकाश की उत्पत्ति हुई, आकाश से वायुकी, वायु से अग्नि की, अग्नि से जल की और जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई । इन सूक्ष्म भूतों से सत्रह अवयव वाले (पञ्च-
 सृष्टि कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, वायुपञ्चक और बुद्धि-मन) सूक्ष्म शरीरों की और स्थूलभूतों की उत्पत्ति होती है । स्थूल भूत पञ्चीकृत होते हैं अर्थात् प्रत्येक भूत में अपना अंश आधा होता है और अन्य चारों भूतों के अष्टम अंशों को मिलाकर आधा होता है जैसे आकाश= $\frac{1}{2}$ आकाश+ $\frac{1}{2}$ पृथ्वी+ $\frac{1}{2}$ जल+ $\frac{1}{2}$ तेज+ $\frac{1}{2}$ वायु । प्रत्येक स्थूल भूत पञ्चभूतात्मक होता है (पञ्चदशी १।२७) ।

‘सत्’ वही है जो उत्तरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित न हो, और ‘असत्’ वही है जो उत्तरकालीन उपलब्धि के द्वारा बाधित हो ।

सत्यत्व अबाध्यत्व है और असत्य बाध्यत्व है । धन-
 त्रिविध मत्ता घोर अन्धकारमयी रजनी में रास्ते में पड़ी रस्सी को देखकर सर्प का ज्ञान होता है । संयोगवश हाथ में दीपक लेकर किसी पथिक के उधर से आ निकलने पर दीपक की सहायता से रस्सी को देखने पर ठीक रस्सी का ज्ञान होता है । यहाँ पूर्वकालीन सर्पज्ञान उत्तरकालीन रज्जुज्ञान के द्वारा बाधित होता है । अतः रज्जु में सर्पज्ञान बाधित होने से मिथ्या है । परन्तु यदि मेढकों की आवाज सुनकर हमें उनके खानेवाले सर्प का ज्ञान उत्पन्न हो और उसी समय बिजुली के चमकने से घासों में भागने वाला साँप दीख पड़े, तो कहना पड़ेगा कि यह ज्ञान अबाधित होने से सत्य है । सत्य के इस सामान्य परिचय का प्रामाणिक बनाने की दृष्टि से वेदान्तियों ने ‘अबाध्य’ से प्रथम ‘त्रिकाल’ शब्द की योजना की है । अतः सत्य की शास्त्राय परिभाषा ‘त्रिकाला

वाध्य सत्य' है—भूत, वर्तमान तथा भविष्य इन तीनों कालों में तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में जिसका स्वरूप बाधित न हो अर्थात् एक रूपेण अवस्थित रहे वही **सत्य** है। शंकराचार्य के शब्दों में 'एकरूपेण ह्यवस्थितो योऽर्थः स परमार्थः'। ब्रह्म ऐसा एकही तत्त्व है—जो तीनों कालमें समभाव से अवस्थित है, सर्वदा सर्वत्र निर्बाध है। वह एक है तथा अद्वितीय है। ब्रह्म से पृथक् समस्त नानात्मक जगत् मिथ्या है।

सत्ता तीन प्रकार की वेदान्तमत में मानी जाती है—(क) प्रातिभासिक या प्रातीतिक, (ख) व्यावहारिक, (ग) पारमार्थिक। (क) प्रातिभासिक, सत्ता से अभिप्राय उम सत्ता है जो प्रतीतिकाल में सत्यतया प्रतिभासित हो, परन्तु उत्तरकाल में बाधित हो जाय। जैसे रज्जु-सर्प, चुम्बिन रजत आदि। मृगतृष्णिकादि पदार्थ आधारहीन (निरास्पद) नहीं हैं (नहि मृगतृष्णिभान्योऽपि निरास्पदा भवन्ति—शा० भा०)। प्रतीति से पूर्वकाल में रज्जु सर्पज्ञान को उत्पन्न करती है, वर्तमान में उसी के आधार पर सर्पज्ञान की अवस्थिति है और भविष्य में इसी आधार में रज्जुज्ञानके उदय होने पर सर्पज्ञान अन्तर्हित हो जायगा। अतः रज्जु-सर्प का ज्ञान आकाशकुम्भ के समान निराधार नहीं है (रज्ज्वात्मनाऽवबोधोऽपि प्राक् सर्पः सन्नेव भवति। सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवत् जन्म युज्यते—... ३।२७ भाष्य)। (ख) व्यावहारिक सत्ता इस जगत् के समस्त व्यवहारगोचर पदार्थों में रहती है। जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं—अस्ति, भाति, प्रिय रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो जगत् के। सांसारिक पदार्थों का कोई न कोई

१ अग्नि भाति प्रियं रूपं नाम चैव्यशपञ्चकम्

आद्यत्रय ब्रह्मरूपं जगद्रूप ततो द्वयम् ॥ दृग्दृश्यविवेक श्लो० २० ।

नाम है और कोई न कोई रूप । इन नाम रूपात्मक वस्तुओं की सत्ता व्यवहार के लिये नितान्त आवश्यक है । परन्तु ब्रह्मात्मैक्यज्ञान की उत्पत्ति होने पर यह अनुभव बाधित हो जाता है; अतः एकान्त सत्य नहीं है । व्यवहारकाल के ही सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है (सर्व-व्यवहाराणामेव प्राग् ब्रह्मात्मता-विज्ञानात् सत्यत्वोपपत्तेः । प्राग् ब्रह्मात्मता-प्रतिबोधनात् उपपन्नः सर्वो लौकिको वैदिकश्च व्यवहारः—२।१।१४ शा० भा०) । इन समस्त पदार्थों से नितान्त विलक्षण एक अन्य पदार्थ है जो विकाल में अबाध्य होने से एकान्तिक सत्य है । वही है ब्रह्म । अतः ब्रह्म की सत्ता को (ग) 'पारमार्थिकी' सत्ता कहते हैं । जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं, तभी वह असत्य प्रतीत होता है । इसलिए जगत् हमारा इन्द्रियो के लिए अवश्य सत्य है, परन्तु वास्तविक रूपेण वह सत्य नहीं है । इन तीनों से भिन्न भी कतिपय पदार्थ हैं, जैसे बन्ध्यापुत्र, आकाशकुमुम आदि । ये निराधार या निराश्रय पदार्थ 'तुच्छ' या 'अलीक' कहे जाते हैं, क्योंकि इनमें किसी प्रकार की सत्ता दृष्टिगोचर नहीं होती ।

शुक्ति में रजत के भान की विभिन्न व्याख्याओं का उल्लेख भिन्न-भिन्न दर्शनो के वर्णन के अवसर पर हमने यथास्थान किया है । अद्वैतवेदान्त का भी अपना एक विशिष्ट सिद्धान्त है । रस्सी में अर्नवचनीयताख्याति सर्प का ज्ञान सत् नहीं है, क्योंकि दीपक के लाने रज्जुज्ञान के उदय होने पर सर्पज्ञान बाधित हो जाता है, परन्तु उसे 'असत्' भी नहीं कह सकते, क्योंकि उस रज्जु से ही भय-जन्य कम्पादि की उत्पत्ति होती है । अतः यह ज्ञान सत् तथा अमद् उभयविलक्षण होने से 'अनिर्ध्वनीय' या 'मिथ्या' कहलाता है । यह ज्ञान अविद्या से उत्पन्न

१ असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैन युज्यते ।

बन्ध्यापुत्रो न तस्मै मायया बाधि जायते ॥ माण्डूक्यकारिका ३।२८ ।

होता है। अतः वेदान्त में 'मिथ्या' का अर्थ अमन् नहीं है, प्रत्युत अनिर्वचनीय है (पञ्चपादिका पृ० ४) ।

कार्य-कारण भाव के विचार करने पर भी जगत् की कल्पना अनिर्वचनीय हो ठहरती है। अद्वैतवादियों के मत में आरम्भवाद तथा

विवर्तवाद परिणामवाद दोनों भ्रान्ति के ऊपर प्रतिष्ठित हैं।

परिणामवादी कार्य द्रव्य को कारण से अभिन्न और साथ ही साथ भिन्न स्वीकार करते हैं। परन्तु ये युक्ति-युक्त नहीं हैं। घट और शराव मृत्तिका के कार्य हैं। अतः मृत्तिका से अभिन्न हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि अभिन्न होते हुए भी पारस्परिक भेद कहाँ से आया ? यदि इसमें पारस्परिक भिन्नता प्रत्यक्ष है तो मृत्तिका भी परस्पर भिन्न हुए बिना नहीं रह सकती। इस प्रकार कार्य-कारण में एक साथ ही भेद तथा अभेद कैसे माने जा सकते हैं ? एक ही सत्य होगा और दूसरा कल्पित। अभेद या एक का परमार्थ सत् होना उचित है और भेद या नाना को कल्पित मानना ठीक है। ऐसा न करने पर अमूल्य परमार्थ वस्तुओं की सत्ता स्वीकार करनी पड़ेगी। अतः वेदान्त के अनुसार एकमात्र कारण-सत्ता अविनाशी तथा निर्विकार है तथा उसमें कल्पित होने वाला नानात्मक प्रपञ्च केवल कल्पना-मूलक है—अनिर्वचनीय है। इस तरह एकमात्र स्व-प्रकाश अखण्ड चैतन्य-सत्ता के अतिरिक्त कार्यभूत जगत् प्रातिभासिक है। अतः कारण ही एकमात्र सत्य है तथा कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है पर ब्रह्म का विवर्त है। कार्य के अनिर्वचनीय-वाद की पारिभाषिकी संज्ञा 'विवर्त' है। सिद्धान्तलेश में अप्यय दीक्षित ने दोनों का पार्थक्य भली भाँति बतलाया है। कारणमलक्षणाऽन्यथाभावः परिणामः, तद्विलक्षणो विवर्तः। उपादान कारण का समानधर्मी अन्यथाभावः परिणाम और उपादान से विलक्षण अन्यथाभाव विवर्त है (प्रथम परिच्छेद पृ० ५८)। परिणाम तथा विवर्त का भेद वेदान्तसार में इस प्रकार बतलाया गया हैः—

सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः ।

अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त इत्युदीरितः ॥

तात्त्विक परिवर्तन को विकार तथा अतात्त्विक परिवर्तन को विवर्त कहते हैं । दही दूध का विकार है परन्तु सर्प रज्जु का विवर्त है क्योंकि दूध और दही को सत्ता एक प्रकार की है । परन्तु रज्जु और सर्प की सत्ता भिन्न प्रकार की है । सर्प की सत्ता काल्पनिक है, परन्तु रज्जु की सत्ता वास्तविक है (२ । १ । ७ शां० भा०) । इस प्रकार पञ्चदशी-कारकी सम्मति में भी कार्यदशा की कल्पना अज्ञान मूलक है—

निरूपयितुमारब्धे निखिलैरपि पण्डितैः ।

अज्ञानं पुरतस्तेषा भगि कक्षावु कामुचित् ॥-पञ्चदशी ६।४३ ।

अब विचारणीय प्रश्न है कि जब आत्मा स्वभाव से ही नित्य मुक्त है, तब वह संसार में बद्ध क्यों दृष्टिगोचर हो रहा है ? निरतिशय

आनन्द रूप आत्मा इस प्रपञ्च के पञ्च में पड़कर
अध्यास विषम दुःखों के खेलने का उद्योग क्यों करता है ?

इसका एकमात्र उत्तर है—**अध्यास** के कारण । अध्यास कौनसी चीज है ? शारीरिक भाष्य के उपाद्धात में आचार्य ने अध्यास के स्वरूप का निर्णय बड़ी ही सरल सुबोध भाषा में किया है । आचार्य के शब्दों में ‘अध्यासो नाम अतस्मिन् तद्बुद्धिः’ । तत्पदार्थ में अतद् (तद्भिन्न) पदार्थ के स्वरूप का आरोप करना ‘अध्यास’ कहलाता है । जैसे पुत्र दारादिकों के सत्कृत या तिरस्कृत होनेपर अपने को मनुष्य का सत्कृत या तिरस्कृत मानना—यह हुआ बाह्य धर्मों का आरोप । इसी प्रकार अपने को स्थूल या कृश, चलनेवाला या खड़ा होनेवाला, अन्ध या बधिर मानना इन्द्रियादिकों के धर्मों के आरोप के कारण ही अभ्यन्तर धर्मों का आरोप है । यह सब अविद्या-विजृम्भित अध्यास ही है । आत्मा के विषय में यह अध्यास क्यों चला तथा कबसे चला ? इसका

भो वर्णन आचार्य ने किया है। जगत् में द्विविध पदार्थों की सत्ता अनुभूयमान है—विषयी (अस्मत्प्रत्यय) तथा विषय (युस्मत्प्रत्यय)। सामने दृष्टिगोचर विषय में अन्य विषय का आरोप 'अभ्यास' है, परन्तु आत्मा तो विषया ठहरा, अतः विषयो आत्मा में अभ्यास बनता ही नहीं। इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि आत्मा का विषयी होना तो ठीक है, परन्तु आत्मा भी अस्मत्प्रत्यय ('मैं हूँ' ऐसा जान) का विषय होता ही है। अतः उसमें भी कादाचित्क विषय की कल्पना दुरुपग्राह्य नहीं है। पुरोऽवस्थित विषय के अनिर्गुण भी अप्रत्यक्ष आकाश में तलमलिनत्व का आरोप बालकों के द्वारा किया ही जाता है। अभ्यास कबसे चला ! इसके उत्तर में आचार्य कहते हैं—“एवमयमनादिरनन्तो नैमर्गिकोऽभ्यासः भिन्न्याप्रत्ययरूपः कर्तृत्वभोक्तृत्व-प्रवर्तकः सर्वलोक-प्रत्यक्षः” कर्तृत्व भोक्तृत्व का प्रवर्तक यह अभ्यास स्वाभाविक है, अनादि है तथा अनन्त है। जगत् के समस्त प्रमाण-प्रमेय-व्यवहार की मूल भित्ति यही अभ्यास है। यह अभ्यास पशु आदि प्राणियों में भी मनुष्य के समान ही पाया जाता है। अभ्यास का ही दूसरा नाम 'अभ्यारोप' है (वस्तुनि अवस्त्वारोपः अभ्यारोपः—मदानन्द, वे० सा० पृ० ७)। इसी अभ्यारोप के निवारणार्थ आत्मविद्या का प्रतिपादन करना वेदान्त का प्रधान लक्ष्य है।

(३) वेदान्त आचारमीमांसा

जीव अपने स्वरूप के अज्ञान के ही कारण इस संसार में अनन्त क्लेशों को भोगता हुआ अपना जीवन यापन करता है। वह अपने शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव को अविद्या के कारण भूला हुआ है। वह वास्तव में सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्मस्वरूप ही है। आत्मा तथा ब्रह्म में नितान्त ऐक्य है। नानात्व ज्ञान से ही संसार है तथा एकत्व ज्ञान से ही मुक्ति है। आनन्दरूप ब्रह्म की प्राप्ति तथा शोभनि मोक्ष कहलाता

है (आनन्दात्मकब्रह्मावाप्तिश्च मोक्षः शोर्कानवृत्तिश्च—वे० प० पृ० १९७) । अब इस मोक्ष के साधनमार्ग की रूपरेखा निरूपण करना नितान्त आवश्यक है ।

भिन्न भिन्न दृष्टिकोणों से दार्शनिकों ने केवल कर्म, कर्मज्ञानसमुच्चय तथा केवल ज्ञान को साधनमार्ग बतलाया है । शंकराचार्य ने अपने भाष्यों में पूर्व दोनों मार्गों का सप्रमाण, सयुक्तिक विस्तृत खण्डन कर अन्तिम साधन को ही प्रमाणकोटि में अंगीकार किया है । उनका कहना है कि स्वतन्त्र अथच भिन्न भिन्न फलों के उद्देश्य से प्रवृत्त होने वाली दो निष्ठाये हैं—‘कर्मनिष्ठा’ तथा ‘ज्ञाननिष्ठा’ । इन दोनों का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है । मानव जीवन के दो उद्देश्य हैं—सामाजिक सुख की प्राप्ति, जिसके लिए कर्मों का विधान किया गया है और आत्मा की परमात्मरूपेण अवगति, जिस उद्देश्य की मिद्धि काम्यकर्मों से विरक्ति और ज्ञान के अनुष्ठान से होती है । ज्ञान-कर्म का गहरा विरोध है । आचार्य का कहना है कि क्या पूर्वसमुद्र को जाने वाले पुरुष तथा तत्प्रतिकूल पश्चिम समुद्र को जाने वाले पुरुष का मार्ग एक हो सकता सकता है ? प्रत्यगात्मविषयक प्रतीति के निरन्तर बनावे रखने के आग्रह को ‘ज्ञाननिष्ठा’ कहते हैं । वह पश्चिम समुद्र के गमन के समान है और उसका कर्म के साथ रहने में वैसा ही महान् विरोध है जैसा पहाड़ तथा सरसों में रहता है । अतः ऐकान्तिक विरोध के विद्यमान होने से ज्ञानकर्म का समुच्चय कथमपि सुसम्पन्न नहीं हो सकता^१ ।

कर्म के द्वारा क्या आत्मा की स्वरूपापत्ति कथमपि मिद्ध हो सकती है ? आचार्य ने इस विषय में अनेक कारणों की उद्भावना की है ।

१ न हि पूर्वसमुद्र जिगमिषोः प्रानिलोभ्ये । प्रत्यक्समुद्र जिगमिषुणा समान-मार्गत्व सम्भवति । प्रत्यगात्मविषयप्रत्यय-मन्तान-करणाभिनिर्गम्य ज्ञाननिष्ठा । सा च प्रत्यक्समुद्रगमः यः कर्मणा सहभावित्वेन विरुध्यते । पर्वतमर्षपोरिव अन्नरवान् विरोधः—गाता भाष्य १८।५५ ।

अविद्यमान किसी वस्तु के उत्पादन के लिए कर्म का उपयोग किया जाता है (उत्पाद्य); परन्तु क्या नित्य मिद्ध सद्रूप आत्मा की स्थिति कर्मों के द्वारा उत्पन्न की जा सकती है ? किसी स्थान या वस्तु की प्राप्ति के लिए कर्म किये जाते हैं (आप्य) परन्तु आत्मा तो सदा हमारे पास है, तब कर्म का उपयोग क्या होगा ? किसी पदार्थ में विकार उत्पन्न करने को इच्छा से (विकार्य) तथा मन और अन्य वस्तुओं में संस्कार उत्पादन की लालसा से (संस्कार्य) कर्म किये जाते हैं, परन्तु आत्मा के अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के निमित्त कर्मों की निष्पत्ति का प्रयाम अकिञ्चित्कर ही है । अतः आत्मा के अनुत्पाद्य, अनाप्य, अविकार्य तथा असंस्कार्य होने के कारण कर्म द्वारा उसकी निष्पत्ति हो ही नहीं सकती^१ । अतः प्रयोजनाभावात् कर्म व्यर्थ है^२ । साधारणतया मलिन चित्त आत्मतत्त्व का बोध नहीं कर सकता, परन्तु काम्यवर्जित नित्य कर्म के अनुष्ठान से चित्तशुद्धि उत्पन्न होती है जिससे बिना किसी प्रतिबन्ध के जीव आत्मस्वरूप को जान लेता है^३ । आत्मज्ञानोत्पत्ति में सहायक होने के कारण नित्यकर्म मोक्षसाधक हैं । अतः कर्मकाण्ड की ज्ञानकाण्ड के साथ एकवाक्यता का विधात नहीं होता । सकाम कर्मों का अनुष्ठान असुरत्त्व (पशुत्व) की प्राप्ति कराता है । देव तथा असुर का अन्तर

१ द्रष्टव्य ब्र० सू० १।१।४ तथा बृह० उप० ३।३।१ का शाङ्ख्यभाष्य ।

२ उत्पाद्यमाप्य संस्कार्य विकार्य च क्रियाफलम् ।

नैव मुक्तिर्यतस्तस्मात् कर्म तस्या न साधनम् ॥ नान्धर्म्यसिद्धि १।५३ ।

३ यो नित्य कर्म करोति तस्य फलगागादिना अकलुषाक्रियमाणमन्तः कण्ठम् । नित्यंश्च कर्मभिः सक्रियमाणं विशुध्यति । विशुद्धं प्रमत्तमात्मालोचनक्षमं भवति—
गीताभाष्य १८।१० ।

कर्मभिः संस्कृता हि विशुद्धात्मानः शक्नुवन्ति आत्मानं अप्रतिबन्धेन वेदितुम् । एव काम्यवर्जितं नित्यं कर्मजातं गर्भात्मज्ञानोत्पत्तिद्वारेण मोक्षसाधकत्वं प्रतिपद्यते—
बृह० उप० भाष्य ४।४।२२ ।

भी यही है। स्वाभाविक रागद्वेष-मूलक प्रवृत्तियों का दास होनेवाला अधर्म-परायण व्यक्ति 'अमुर' कहलाता है, परन्तु रागद्वेष को अभिभव कर शुभवासना की प्रबलता से धर्माचरण करनेवाला पुरुष 'देव' कहलाता है। (स्वाभाविकी रागद्वेषो अभिभूय नदा शुभवासनाप्रावल्येन धर्मपरायणो भवति तदा देवः। यदा स्वभावसिद्धरागद्वेषप्रावल्येन अधर्मपरायणो भवति तदा अमुरः—गीताव्याख्यायां मधुसूदनः)।

पद्मपादाचार्य ने 'विज्ञान दीपिका' में वेदान्त-सम्मत आचारपद्धति का विवेचन किया है। कर्म की प्रबलता सर्वतोभावेन माननीय है। कर्म से वासना उत्पन्न होती है और वासना से संसार का उदय होता है। अतः संसार के उच्छेद के लिए कर्म 'निर्हरण' (विनाश) करना नितान्त आवश्यक है। कर्म तीन प्रकार के हैं—संचित (प्राचीन), संचयीमान (भविष्य में उत्पन्न होनेवाला) तथा प्रारब्ध (वर्तमान)। संचित कर्म घर में रखे गये अन्न, संचयीमान कर्म क्षेत्र में बीजरूप अन्न, प्रारब्ध कर्म भुक्त अन्न के समान है। जिस प्रकार गृहस्थित तथा क्षेत्रस्थित अन्न का विविध रूप से नाश किया जा सकता है, परन्तु भुक्त अन्न का विनाश पाचन के ही द्वारा होता है, उसी प्रकार सञ्चित तथा संचयीमान कर्म का नाश ज्ञान के द्वारा किया जा सकता है परन्तु प्रारब्ध का क्षय भोग के द्वारा ही हो सकता है। कर्म का निर्हरण कर्म, योग, ध्यान, सत्संग, जप, अर्थ और परिपाक के अवलोकन से उत्पन्न होता है^१। फलानुसंधान-रहित निष्काम कर्म का अनुष्ठान पुण्यपापादि कार्य तथा मृश्य-स्थूल-शरीर रूपी कारण का सर्वथा विलोपक होता है। अतः यही वास्तव कर्मनिर्हार है (विज्ञानदीपिका श्लो० ३०)।

इस विवेचन से यही परिणाम निकलता है कि सत्त्वशुद्धि या अन्तः-

१ कर्मनो योगनो ध्यानात् मत्सगाज्जापतोऽर्थतः।

परिपाकावलोकच्च कर्मनिर्हरणं जगुः ॥ विज्ञानदीपिका श्लो० २२।

करण के शोधन के लिए कर्म व्यर्थ न होकर मुमुक्षु के लिये उपादेय हैं। परन्तु ज्ञान ही मुक्ति का वास्तविक साधन है। आचार्य की माननीय सम्मति में न तो कर्म से, न ज्ञान-कर्म के समुच्चय से, प्रत्युत ज्ञान से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है^१।

ज्ञानप्राप्ति की प्रक्रिया शंकराचार्य ने 'विवेक चूड़ामणि' और 'उपदेश साहस्री' में उड़ी रांचक भाषा में वर्णित की है। शिष्य को वेदा त ज्ञान की प्राप्ति के निमित्त 'साधनचतुष्टय' से सम्पन्न होना आवश्यक है। ब्रह्म ही केवल सत्य है तथा तदितर समस्त संसार अनित्य-असत्य है, इस विवेक का उदय प्रथम साधन है (नित्यानित्यवस्तुविवेक)। सामारिक और वैदिक समस्त फलों के भोग से उसे वैराग्य उत्पन्न होना चाहिए। शम (मन की एकाग्रता), दम (इन्द्रियो का वश में करना), उपरति (वृत्तियों का बाह्य विषयो का आश्रय न लेना), तितिक्षा (चिन्ता-शोक से रहित अप्रतीकार पूर्वक दुःखों को सहना), समाधान (श्रवणादि में चित्त की एकाग्रता), श्रद्धा (गुरु और वेदान्त वाक्योंमें अटूट विश्वास) तथा मुमुक्षुत्व (मोक्ष पाने की इच्छा)—इन समग्र गुणों के उदय होने पर मनुष्य वेदान्त-श्रवण का अधिकारी बनता है। तदनन्तर शिष्य श्रोत दान्त अहंतुकदयासिन्धु, ब्रह्मवेत्ता गुरु के शरण में जाकर आत्मविषयक प्रश्न करता है। गुरु को निष्प्रपञ्च ब्रह्म के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराना उद्देश्य है, इसीलिए वह 'अध्यारोप और अपवाद' विधि से ब्रह्म का उपदेश कराता है (अध्यारोपः श्रुतान्नाभ्या निष्प्रपञ्चं प्रपंच्यते)। 'अध्यारोप' निष्प्रपञ्च ब्रह्म में जगत् का आरोप कर देना है और 'अपवाद' विधि से आरोपित वस्तु का एक-एक निराकरण करना होता है। आत्मा के ऊपर प्रथमतः शरीर का आरोप कर दिया जाता है, तदनन्तर युक्तिबल से आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय

पंचकोशों से व्यतिरिक्त तथा स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरों से पृथक् सिद्ध कर उसके स्वरूप का बोध गुरु कराता है। वेदान्त की यह व्याख्या-पद्धति बड़ी प्रमाणिक और शुद्ध वैज्ञानिक है^१।

ब्रह्मवेत्ता गुरु अधिकारी और प्रपन्न शिष्य को 'तत् त्वमसि' आदि महावाक्यों का उपदेश देता है कि तुम (जीव) वही (ब्रह्म) हो। इस महावाक्य का शब्दबोध आगे बतलाया जायगा। यहाँ इसके फल का विचार करना है। फलोंदय में दो मत हैं। वाचस्पतिमिश्र मण्डनमिश्र की 'ब्रह्मसिद्धि' (पृ० १३४-१३५) का अनुसरण कर^२ शब्द से परोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति बतलाते हैं जो मनन, निदिध्यासन आदि योगप्रक्रिया के द्वारा अपरोक्षरूप में परिवर्तित हो जाता है। अतः गुरुरूपदेश के अनन्तर वाक्यार्थ का मनन तथा ध्यानधारणा का अनुष्ठान करना नितान्त आवश्यक होता है। तत्र अपरोक्षानुभूति की उत्पत्ति होती है^३। परन्तु मुंश्चराचार्य की सम्मति में शब्द से ही अपरोक्ष ज्ञान का उदय होता है। आचरणों की सहायता से यदि सद्यः ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती,

१ इसी पद्धति का प्रयोग वात्सगिरि ने किया जाता है। यदि 'क२+२क=२४' इस समाकण में अज्ञात 'क' का मूल्य जानना होगा, तो प्रथमतः दोनों ओर १ सख्या जोड़ देने हैं। और अन्त में दी गई सख्या को निकाल देने हैं। तब 'क'

का मूल्य ४ निकल आता है। समाकण का पूरा रूप यह होगा—

$$क२+२ क+१=२४+१$$

$$\therefore (क+१)२=५२$$

$$\therefore (क+१)=५$$

$$\therefore (क+१)-१=५-१$$

$$\therefore क=४$$

२ निर्विकल्पादभ्यासात् अश्रयानात्मतत्त्वस्य अनादिमिथ्यादर्शनाभ्यासोपचित-बलवत्संस्कारमामथ्यात् मिथ्यावभासानुवृत्तिः तत्रवृत्तोपेक्ष्यति अन्यदपेक्ष्यम्। तस्मात् तत्रिवृत्तयं विनिश्चितब्रह्मात्मभावनापि साधनान्यपेक्ष्याणि—ब्रह्मसिद्धि पृ० ३५।

३ श्रुतमयेन ज्ञानेन जीवात्मनः परमात्मभाव गृहीत्वा युक्तिमयेन च व्यवस्थाप्यते। तस्मात् निर्विकल्पादभ्यासात् ज्ञानसत्तत्त्वोपायनात् कर्मसहकारिण्यविद्याद्वयोच्छेदहेतुः।
-भामती त्रिशमाधिकरणे।

तो इन्हें दूर करने के लिए मनन निदिध्यासन करना चाहिए। शब्द की महिमा इसी में है कि शब्दश्रवणानन्तर ही सद्यः अपरोक्षज्ञान उत्पन्न हो जाता है। 'दशमस्त्यमसि (तुम ही दसवाँ हो) इस लौकिक वाक्य से इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का रहस्य समझा जा सकता है। नदी पार कर लेने के बाद दसो मूर्ख गिनता से नव ही आदमियों को पाकर शोक से उद्विग्न हो रहे थे। गिनने वाला गिनती करते समय अपने ही को भूल जाता था। परन्तु जब एक दूसरा व्यक्ति ने आकर उपदेश दिया कि दसवाँ तुम ही हो, तब वाक्यश्रवण करते ही उनका शोक विलीन हो गया। इसी प्रकार 'तत् त्वमसि' वाक्य सुनते ही आत्मैक्य-ज्ञान उत्पन्न होकर आनन्द का उदय सद्यः होता है'। आचार्य का अपना मत यहाँ जान पड़ता है। शब्द की इस महिमा का उल्लेख तन्त्र तथा व्याकरणागम में विशिष्टरूपेण किया गया है। भामतीप्रस्थान और विवरणप्रस्थान का मूलभेद यही से आरम्भ होता है।

आत्मा तथा ब्रह्म की एकता

अद्वैतियों के सामने प्रश्न था कि उपाधिविशिष्ट क्लेशकर्मादिकों में बद्ध जीव की निरुपाधि शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव ब्रह्म से एकता क्योंकर सिद्ध की जा सकती है? 'तत्त्वमसि' (छा० उप० ६।८।७) इसी तत्त्व का प्रतिपादन अवश्य करता है, परन्तु तत् (ब्रह्म) तथा त्वं (जीव) के विरुद्ध धर्मों के आधार होने के कारण अभेदप्रतिपादक इस वाक्य का स्वरूप क्या है? इसके उत्तर में वेदान्तियों का कथन है कि अभिधा वृत्ति के द्वारा इस वाक्य का यथार्थ बोध हो नहीं सकता, अतः अगत्या तात्पर्य की अनुपपत्ति होने से 'लक्षणा' स्वीकृत करनी पड़ती है (वे० प० पृ० १२०-१२४)।

१ सकृद्व्यवृत्त्या मृदाति क्रियाकारकसम्भूतः।

अज्ञानमागमज्ञानं साङ्गत्य नास्त्यतोऽनयोः ॥—नैष्कर्म्यसिद्धि १।६७

लक्षणा तीन प्रकार की मानी जाती है—जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा (या भोगवृत्ति-लक्षणा) । ‘गङ्गायां घोषः’ (गंगा में आभीरपन्ली है) इस वाक्य में जलप्रवाहार्थक गंगारूप अधिकरण में घोष की स्थिति उपपन्न नहीं हो सकती, अतः ‘गंगा’ शब्द अपने मुख्यार्थ का परित्याग कर (जहत्) सामीप्य सम्बन्ध से ‘तीर’ अर्थ का बोधक होता है । यह ‘जहत्-लक्षणा’ का दृष्टान्त हुआ । परन्तु महावाक्य में ‘तत्’ तथा ‘त्वं’ पद अपने अर्थ चैतन्य का परित्याग नहीं करते, अतः ‘जहती’ के द्वारा अभेद कल्पना की सिद्धि नहीं हो सकती । इसी प्रकार ‘शाणो धावति’ (लाल रंग दौड़ता है) इस वाक्य में अन्वय की उपपत्ति के लिए मुख्यार्थ का परित्याग किये बिना ही ‘अश्व’ अर्थ लक्षित होता है । ‘अजहल्लक्षणा’ का उपयोग भी प्रस्तुत वाक्य के लिए नहीं हो सकता । अतः अगत्या तृतीय प्रकार की लक्षणासे ही अर्थनिर्वाह होता है । ‘तत्’ (ब्रह्म) पद का अर्थ है, परोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य तथा त्वं (जीव) का अर्थ है अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य । यहाँ चैतन्याश में विरोध नहीं है, प्रत्युत परोक्षत्व तथा अपरोक्षत्व विशिष्ट अंशों में ही परस्पर विरोध है । अतः इन विरुद्धांशों के परित्याग (जहत्) तथा अखण्ड चैतन्यांश के परिग्रह (अजहत्) के कारण, इस लक्षण का नाम ‘जहत् अजहत् लक्षणा’ या एक भाग के ग्रहण करने के कारण ‘भागवृत्ति’ है । इसका लौकिक उदाहरण “सोऽयं देवदत्तः” है जिसका अभिप्राय कालिक विरोध को छोड़कर देवदत्त की एकता स्थापित करने में है । मुरेश्वर के मत में इस सम्बन्ध की सहायता से यह महावाक्य अखण्डार्थ का बोध कराता है - (१) पदों का समानाधिकरण्य (२) पदार्थों का विशेषणविशेष्य तथा (३) आत्म-ब्रह्म का लक्ष्यलक्षणभावः—

समानाधिकरण्यं च विशेषणविशेष्यता ।

लक्ष्यलक्षणसम्बन्धः पदार्थप्रत्यगात्मनात् ॥ नैष्कर्म्यसिद्धि ३।३

पंचदशी (७।७५) का कहना है कि इस महावाक्य का अर्थ न तो

ससर्ग है न विशेष, प्रत्युत अखण्ड एकरस चैतन्य ही इसका प्रधान लक्ष्य है। आचार्य ने ४।१।२ ब्र० सू० के भाष्य में इस महावाक्य पर विशेष विचार किया है। अतः 'तत्त्वमसि' का अर्थ है कि चैतन्यरूप से जीव ब्रह्मरूप ही है। महावाक्यों की संख्या चार है—प्रत्येक वेद का एक वाक्य। महावाक्यों का स्वरूप यह है^१—प्रज्ञानं ब्रह्म (ऐत० उप० ५।३), तत्त्वमसि (छा० उप० ६।८।७), अहं ब्रह्मास्मि (बृह० उप० १।४।१०); अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य उप० २)।

शाङ्कर मत की मौलिकता

शंकर के अद्वैत सिद्धान्त में मौलिकता की ग्योज आलोचकों ने की है। आचार्य शंकर से पहले अनेक अद्वैतवाद का प्रचार इस भारतभूमि में था। माध्यमिकों का शून्याद्वैत, योगाचार्यों का विशानाद्वैत, शाक्तों का शक्त्यद्वैत तथा भर्तृहरि और तदनुयायी मण्डनमिश्र का शब्दाद्वैत शंकर से प्राचीन हैं। शंकर से प्राचीन अद्वैत मत तदनुयायी मण्डनमिश्र का शब्दाद्वैत शंकर से प्राचीन हैं। प्रथम दो मतों का विशेष वर्णन बौद्धदर्शन के प्रसंग में किया गया है तथा शक्त्यद्वैत का विवेचन आगे किया जायगा। भर्तृहरि का सर्वमान्य ग्रन्थ वाक्यपदीय है जिसमें स्फोटरूप शब्द की ही अद्वैत कल्पना स्वीकृत की गई है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी—इन चतुर्विध भाषाभिन्नेन्द्र में 'परा वाक्' साक्षात् ब्रह्मरूपा है। अक्षर ब्रह्म से ही जगत् का परिणाम सम्पन्न होता है। मण्डनमिश्र भी भर्तृहरि के मतानुयायी प्रतीत होते हैं। अभी प्रकाशित ब्रह्मसिद्धि के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि मण्डन स्फोट का मानते थे, श्रवणसे परोक्ष ज्ञान का उदय मानकर 'उपासना' को ब्रह्मसाक्षात्कार में प्रधान कारण मानते थे तथा वे 'ज्ञान-कर्म समुच्चय' के पक्षपाती थे जिसके अनुसार अग्निहोत्रादि वैदिक कृत्यों

१ इनके अर्थ के लिए देखिए पञ्चदशी पञ्चम प्रकरण।

का भी उपयोग मोक्षोत्पादन में अवश्यमेव है। उनकी राय में कर्मनिष्ठ गृहस्थ कर्मत्यागी संन्यासी की अपेक्षा मुक्ति का विशेष अधिकारी है। शंकर शाक्तद्वैत से परिचित थे। 'सौन्दर्यलहरी' इसका उज्ज्वल उदाहरण है। स्फोटवाद तथा बौद्ध सिद्धान्तों का उन्होंने खण्डन किया है। अतः शंकर अपने मत के लिए किसी के ऋणी नहीं हैं; परन्तु कतिपय आधुनिक आलोचक भाव तथा शब्दसाम्य के बल पर ब्रह्मवाद को शून्यवाद का औपनिषद संस्करण मानते हैं तथा प्राचीन आलोचकों ने भी 'मायावादममच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव तत्' कहकर शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। परन्तु बौद्धदर्शन तथा शांकर दर्शन के तारतम्य परीक्षण से निश्चित हो जाता है कि दोनों का पार्थक्य दृढ़ आधारों पर है। 'शान्तरक्षित' ने तत्त्वसंग्रह (कारिका ३२८-३३१) में 'अद्वैतदर्शनावलम्बी' औपनिषद मत का खण्डन किया है। यदि अद्वैत में बौद्धमत की तनिक भी अलक होती, तो शान्तरक्षित तथा कमलशील जैसा बौद्ध दार्शनिक इसका बिना उल्लेख किये कैसे रहता ! बौद्धों का विज्ञान अनन्त और नाना है, शाङ्करमत में विज्ञान नित्य तथा एक है। विज्ञानवाद में जगत् स्वप्नावभास है, शाङ्करमत में ऐसा नहीं है। चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य 'सत्' रूप नहीं है, पर शाङ्करमत में 'ब्रह्म' सद्रूप है—ये अनेक मौलिक धारणायें भिन्न भिन्न हैं। अतः शाङ्करों को अद्वैतकल्पना के लिए बौद्धों का ऋणी ठहराना असंगत प्रतीत होता है।

शंकरपरवर्ती आचार्यों के मत

शंकरपरवर्ती वेदान्ताचार्यों ने अपने ग्रन्थों में वेदान्त के प्रधान सिद्धान्तों के ऊपर अपने विशिष्ट मतों की उद्भावना की है। इनका सुबोध संग्रह अप्पय दीक्षित ने अपने 'सिद्धान्तलेशसंग्रह' में किया है। अविद्या और माया का पार्थक्य, जीव-ईश्वर-स्वरूप, जगत् का उपादान-कारणत्व, आदि विषयों पर इन नव्यवेदान्तियों की युक्तिबहुल कल्पनायें

मननीय हैं। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत् का उपादान कारण बतलाया है। संक्षेपशारीरककार की सम्मति में शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का उपादान है, परन्तु विवरणकार माया शबलित ब्रह्म (सगुण ब्रह्म) को उपादान मानते हैं। तत्त्वनिर्णयकार ब्रह्म और माया दोनों को, पर सिद्धान्तमुक्तावलीकार केवल मायाशक्ति को, जगत् का उपादान बतलाते हैं। पञ्चदशी के मत से माया शुद्धसत्त्वमयी है, परन्तु अविद्या रजस्तमोह्यस्ता अर्थात् रजोगुण और तमोगुण के प्राधान्य होने पर होती है। माया के विषय में भिन्न भिन्न मत मिलते हैं। जिस प्रकार मृत्तिका की श्लक्ष्णता (चिकनाहट) घट के उत्पादन के प्रति द्वारकारण होती है, उसी प्रकार शुद्धब्रह्म के उपादान होने में माया द्वारकारण है (संक्षेप शारीरक), परन्तु वाचस्पतिमिश्र की सम्मति में जीवाश्रित माया से विषयीकृत ब्रह्म प्रपञ्चरूप से परिणत होता है। अतः ब्रह्म ही उपादान है। माया तो सहायक कारण है^१।

जीव-ईश्वर की स्वरूपकल्पना दैमत्य का प्रधान विषय है। इस विषय में (१) आभासवाद, (२) प्रतिबिम्बवाद, (६) अवेच्छदवाद, (४) जीवैक्य-वाद आदि अनेक विशिष्ट मत हैं। (१) अद्वैत मत में एक आत्मा ही सत्य है; आत्मा से भिन्न कोई वस्तु सत्य नहीं है; अतः आत्मा न अन्तर्यामी है, न साक्षी है और न जगत्-कारण है। तथापि

१ शङ्कर तथा भामतीकार के मतभेद का उल्लेख अमलानन्द ने इस प्रकार किया है—

स्वशक्त्या नटयद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत् ।

जीवभ्रान्तिर्निमित्तं तद् वभाषे भामतीपतिः ॥

अज्ञातं नटयद् ब्रह्म कारणं शङ्करोऽब्रवीत् ।

जीवाज्ञानं जगद्वीजं जगो वाचस्पतिस्तथा ॥

अज्ञान-रूप उपाधि मे युक्त आत्मा अज्ञान के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर उममें पड़े चिदाभास के अविवेक के कारण अन्तर्यामी, साक्षी और ईश्वर कहलाता है। बुद्धि-उपहित तादात्म्य को प्राप्त कर बुद्धिगत स्वकीय चिदाभास को न जानकर जीव कर्ता, भोक्ता तथा प्रमाता कहा जाता है। इस मत की संज्ञा **आभासवाद** है। इसके अनुसार जीव नाना और ईश्वर एक हैं। (२) अज्ञान में प्रतिबिम्बित चैतन्य को ईश्वर तथा बुद्धि-प्रतिबिम्बित चैतन्य को जीव कहते हैं, परन्तु अज्ञान की उपाधि मे रहित बिम्ब चैतन्य शुद्ध है (मक्षेप शारीरक); स्वतन्त्रतादि गुणों से विशिष्ट होने के कारण ईश्वर बिम्बस्थाना-पन्न है और परतन्त्रता के कारण अविद्या में चिदाभास जीव है (विवरण) अर्थात् ईश्वर बिम्बरूप है और जीव प्रतिबिम्ब रूप है। यही **प्रतिबिम्ब-वाद** है। परन्तु इस सिद्धान्त में अनेक वेदान्तियों को अरुचि है। समस्त प्रतिबिम्बस्थलों में प्रायः रूपवान् पदार्थ का रूपवान् आधार में ही प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। जैसे रूपवान् चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब रूपवान् जल में ही पड़ता है। परन्तु ब्रह्म के रूपहीन होने से न तो उसका प्रतिबिम्ब सम्भव है और न नीरूप अन्तःकरण में प्रतिबिम्ब उत्पादन की शक्ति है। (३) अतः वाचस्पति मिश्र **श्रवच्छेदवाद** को युक्तियुक्त मानते हैं। इस पक्ष में एक ही चैतन्य-अज्ञान के आश्रय और विषय के भेद से दो प्रकार का है। अज्ञान का विषयीभूत चैतन्य ईश्वर है। अज्ञान का आश्रयभूत चैतन्य जीव है। अथवा अन्तःकरण से अवच्छिन्न चैतन्य जीव है और अनिर्गुण चैतन्य ईश्वर कहलाता है। अज्ञान के नाना होने से इस मत में जीव भी नाना है। इस पक्ष में स्वाज्ञान से उपहित होने से जीव जगत् का उपादान कारण है, ईश्वर उपचारमात्र से कारण माना जाता है (सिद्धान्तप्रबन्ध पृ० ८०)। (४) वेदान्त का मुख्य सिद्धान्त **‘एक-जीव-वाद’** है। इस मत में अज्ञानरूपी उपाधि से विरहित शुद्ध चैतन्य ईश्वर और अज्ञान से उपहित चैतन्य जीव हैं।

भारतीय दर्शन

जीव ही अपने अज्ञानवश से जगत् का उपादान तथा निमित्त कारण है। देहभेद से जीवभेद की प्रतीति भ्रान्तिमयी है, क्योंकि वस्तुतः जीव एक ही है। एक ही आत्मा का गुरु की कृपा तथा शास्त्रविहित श्रवणादि उपायो से मोक्ष होता है, शृक वामदेवादिको की मोक्षवार्ता अर्थवादमात्र है। इसी मत का दूसरा नाम 'दृष्टिस्फुटिवाद' है:—

आत्मन्येव जगत् सर्वं दृष्टिमात्रं मतत्त्वकम् ।

उद्भूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहर्मुहुः ॥

वेदान्तमिद्वान्तमुक्तावली श्लोक २२ ।

(५) कुछ वेदान्तियों को सम्मति में जिस प्रकार कौन्तेय (कुन्तीपुत्र कर्ण) की ही अविद्या के कारण राव्येय (राधापुत्र) रूप से प्रतीति होती है, उसी प्रकार अविज्ञत ब्रह्म ही अविद्या से जीवभाव को प्राप्त करता है। व्याधकुलवर्धित राजपुत्र के समान जीव अविद्या के वर्शाभूत होकर अपने शुद्धबुद्ध-मुक्तस्वभाव को भुलाये हुए है। आचार्योपदेश से शुद्ध सच्चिदानन्द रूप को जानते ही वह मुक्त हो जाता है।

समीक्षा

अद्वैत वेदान्त का यह संक्षिप्त वर्णन है। इसके अनुशीलन से आचार्य शंकर की अध्यात्मविषयक अलौकिक विद्वत्ता तथा तर्कविषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय प्राप्त होता है। आचार्य ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए भगवती श्रुति का आश्रय तो लिया ही है, परन्तु उन्हें पुष्ट करने के लिए तथा अन्य मतों के निराकरण के वास्ते उन्होंने आगमरहित, पुरुषोत्प्रेक्षामात्र निबन्धन तर्क से विपरीत वेदशास्त्राविरोधी तर्क का विशेष उपयोग किया है। आचार्यप्रतिपादित साधनमार्ग भी नितान्त मनोमय है। वे कर्म का निरस्कार नहीं करते, प्रत्युत चित्तशुद्धि के लिए फलकामनाहीन, निष्काम कर्म के अनुष्ठान पर जोर देते हैं। इन्हीं कारणों से आज कल जनसाधारण में भी इसकी

इतनी लोकप्रियता है। बौद्धों को पगस्त कर वैदिक धर्म के पुनरुत्थान में कुमारिलभट्ट के साथ शंकराचार्य का भी बहुत बड़ा हाथ है। आचार्य श्रीविद्या के उपासक, परम सिद्ध पुरुष थे। इसी कारण आप भगवान् शंकर के अवतार माने जाते हैं। वैष्णव आचार्यों ने मायवाद को भक्ति से नितान्त विरोधी मान कर उसका खण्डन बड़े समारोह के साथ किया है। इतना हाने पर भी आचार्य का अद्वैत वेदान्त इस विश्व की पहेली को समझाने में जितना सफल हुआ, उतना दूसरा मत नहीं। इसी लिए अद्वैत वेदान्त का इतना गौरव है।

तावद् गर्जन्ति शाम्नाणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद् वेदान्तकेसरी ॥



चतुर्थ खण्ड

त्रयोदश परिच्छेद

वैष्णव तन्त्र

तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रम फैले हुए हैं। अशिक्षित जन-साधारण की तो बात न्यायी है, शिक्षित लोगों में भी तन्त्र के विषय में अनेक भ्रान्त धारणाये दृष्टिगोचर होती हैं। तन्त्र के नाम सुनते ही कितने लोग नाक भौंमिकोड़ने लगते हैं। यह सब तन्त्रों की उदात्त भावनायें और विशुद्ध आचारपद्धति के न जानने का विषम परिणाम है। तन्त्रों के दार्शनिक विचार उतने ही उदात्त तथा प्राञ्जल हैं जितने पङ्क्तियों के। तथा उनकी साधनपद्धति उतनी ही पवित्र तथा उपादेय है जितनी वेदों की। इन्हीं तन्त्रमूलक दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन इस चतुर्थ खण्ड का मुख्य विषय है।

‘तन्त्र’ शब्द की व्युत्पत्ति ‘काशिकावृत्ति’ में विस्तारार्थक तन्धातु से औणादिक षट्न् (सर्वधातुभ्यः षट्न्, उणादि सूत्र ६०८) के योग से बतलाई गई है। अतः ‘तन्त्र’ का अर्थ वह शास्त्र है जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार किया जाता है (तन्त्यते

तन्त्र

विस्तार्यते जानमनेन इति तंत्रम्) और जो माधकों का त्राण (रक्षा करता है) । इस लिए शैवसिद्धान्त के 'कामिक-आगम' में तन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार दी गई है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्त्वमन्त्रसमन्वितान् ।

त्राण च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

अतः 'तन्त्र' का व्यापक अर्थ शास्त्र, सिद्धान्त, अनुष्ठान, विज्ञान, विज्ञानविषयक ग्रन्थ आदि है । इस शब्द का प्रयोग इस व्यापक अर्थ में बहुशः उपलब्ध होता है । शंकराचार्य ने 'साख्य' को तन्त्र नाम से अभिहित किया है (स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षिप्रणीता — २।१।१ शा० भा०) । महाभारत में न्याय, धर्मशास्त्र, योगशास्त्र आदि के लिए 'तन्त्र' के प्रयोग उपलब्ध होते हैं^१ । परन्तु यहाँ तन्त्रों से अभिप्राय उन धार्मिक ग्रन्थों से है जो यन्त्रमन्त्रादिसमन्वित एक विशिष्ट साधनमार्ग का उपदेश देते हैं । तन्त्रों का दूसरा नाम 'आगम' है । वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्ववैशारदी (१।७) में इसकी व्याख्या यों की है—आगच्छन्ति बुद्धिमारोहन्ति यस्माद् अभ्युदयनिःश्रेयसोपायाः स आगमः । आगम वह शास्त्र है जिसके द्वारा भोग और मोक्ष के उपाय बुद्धि में आते हैं । यह व्युत्पत्ति आगम और निगम के भेद को बतला रही है । कर्म, उपासना और ज्ञान के स्वरूप को निगम (वेद) बतलाता है तथा इनके साधन-भूत उपायों को आगम सिखलाता है । दृष्टान्त के लिए शाक्तागम को लीजिये । अद्वैत वेदान्त में जिस अद्वैततत्त्व की उपपत्ति प्रबल युक्तियों के सहारे सिद्ध की गई है, उसकी व्यावहारिक योजना शाक्तागमों में की गई है । निगम तथा आगम का पारस्परिक सम्बन्ध एक बड़े शमले का

१ 'न्यायतन्त्राण्यमेकानि तैस्तैरुक्तानि वादिभिः', 'यतयो योगतन्त्रेषु यान् स्तुवन्ति दिवजायतः' ।

विषय है, परन्तु साधारण तौर से कहा जा सकता है कि अधिकांश आगमों की मूलभूति निगम ही है।

इष्टदेवता के भेद के कारण आगम तान प्रकार के होते हैं—(१) वैष्णवागम पाञ्चरात्र या भागवत, (२) शैवागम, (३) शाक्तागम तन्त्रभेद जिनमें क्रमशः विष्णु, शिव तथा शक्ति की परा देवतारूप से उपासना विहित है। दार्शनिक सिद्धान्तों के विभेद में भी आगम द्वैतप्रधान, अद्वैतप्रधान तथा द्वैताद्वैत प्रधान हैं। रामानुज की व्याख्या के अनुसार पाञ्चरात्र विशिष्टाद्वैत का प्रतिपादक है; शैव आगम में तीनों मतों की उपलब्धि होती है, परन्तु शाक्तागम सर्वथा अद्वैत का प्रतिपादन करता है। इन्हीं तन्त्रों का क्रमशः वर्णन यहाँ प्रस्तुत किया जायगा।

(१) पाञ्चरात्र की प्राचीनता

आजकल 'पाञ्चरात्र' ही वैष्णवागमों का प्रतिनिधि माना जाता है, परन्तु वैखानस आगम भी वैष्णवागमों के ही अन्तर्भूत है। पाञ्चरात्र का प्रचुर साहित्य भी उपलब्ध होता है, परन्तु वैखानस आगम आजकल लुप्तप्रायसा हो गया है। परन्तु किसी समय में वैखानसों का भी बोल-बाला था। 'पाञ्चरात्र तन्त्र कितना प्राचीन है' आवश्यक साधनों के अभाव में इस प्रश्न का यथार्थ निर्धारण करना असम्भव-सा है। महा-भारत के नारायणीयोपाख्यान (शान्तिपर्व अध्याय ३३५-अध्याय ३४६) में पहले पहल इस तन्त्र के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। जब महर्षि नारद को इसके तत्वों की जिज्ञासा उत्पन्न हुई, तब उन्होंने भारतवर्ष के उत्तर में स्थित श्वेतद्वीप में जाकर नारायण ऋषि से इसके सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त किया तथा लौटकर इस देश में उनका प्रथम प्रचार किया। इस प्रकार नारायण ऋषि इसके प्रवर्तक हैं। पाञ्चरात्र ग्रन्थों का स्पष्ट कथन है कि पाञ्चरात्र वेद का ही एक अंश है। पाञ्च-

रात्र का सम्बन्ध वेद की 'एकायन' शाखा से है^१ । छान्दोग्य उपनिषद् में 'एकायन' विद्या का नामोल्लेख है, पर इसके विवेच्य विषयों की ओर संकेत नहीं है । पर यहाँ भी 'एकायन' का सम्बन्ध नागद से है, जिन्होंने समस्त-वेदों के साथ-साथ 'एकायन' का भी अध्ययन किया था । नागेश नामक एक अर्वाचीन ग्रन्थकार का कहना है कि शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व शाखा का ही दूसरा नाम 'एकायन शाखा' है^२ । जयाग्न्य संहिता (पृ० १५) पाञ्चरात्र के प्रचारक शाण्डिल्य, भारद्वाज, मौञ्जयन, औपगान्य और कौशिक ऋषि को काण्वशाखानुयायी बतलाती है, पर अभी तक इस शाखा के ग्रन्थों का पता नहीं चलता ।

उत्पल (१० म शताब्दी) ने अपने 'स्पन्दकारिका' में पाञ्चरात्र श्रुति^३ तथा पाञ्चरात्र उपनिषद्^४ से अनेक उद्धरण दिये हैं । सम्भवतः ये उद्धरण इसी शाखा के हैं । उत्पलकृत निदर्शों से पता चलता है कि दशम शताब्दी तक 'पाञ्चरात्र श्रुति' 'पाञ्चरात्र उपनिषद्' तथा 'पाञ्चरात्र संहिता'—इस प्रकार इस तन्त्र के ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त थे । यामुनाचार्य (११ वीं शताब्दी) ने अपने 'आगमप्रमाण्य' में पाञ्चरात्र संहिताओं का नामोल्लेख किया है ।

इन निदर्शों से स्पष्ट है कि यह तन्त्र उपनिषत्काल में विद्यमान था ।

१ (क) ण्य एकायनो वेदः प्रख्यातः सर्वतो भुवि । ईश्वर संहिता (१।४३)

(ख) वेदमेकायन नाम वेदानां शिखि स्थितम् ।

तदर्थक पाञ्चरात्र मोक्षदं तत्क्रियावताम् ॥ श्रीपटन संहिता

२ ऋग्वेद भगवोऽध्येमि वाकोवाक्यमेकायनम्—(छान्दोग्य ७।१।२)

३ द्रष्टव्य काण्वशाखामहिमामग्रह (मद्राम हस्तलिखित पुस्तक सूची भाग ३)

४ पाञ्चरात्रश्रुतावपि-यद्वन् सोपानेन प्रामादमावहेत्, प्लवनेन वा नदी तरेत्, तद्वन् शास्त्रेण हि भगवान् शास्ता अवगन्तव्यः । स्पन्दकारिका पृ० २ ।

५ पाञ्चरात्रोपनिषद च—ज्ञाता च ज्ञेयश्च वक्ता च वाच्यश्च भोक्ता च भोज्यश्च । स्पन्दकारिका पृ० ४० ।

कम से कम महाभारत से प्राचीन तो अवश्यमेव है। भगवान् ही उपेय (प्राप्य) हैं तथा वे ही उपाय (प्राप्तिसाधन) हैं। बिना भगवान् के अनुग्रह हुए जीव भगवान् को नहीं पा सकता। भगवान् की 'शरणागति' ही केवलमात्र उपाय है। इस शरणागति-तत्त्व पर आग्रह दिखलाने के कारण इस तन्त्र का 'एकायन' नाम अन्वर्थ सिद्ध होता है^१। पाञ्चरात्र का ही दूसरा नाम 'भागवतधर्म' और 'मात्त्वधर्म' था। भागवत धर्म का उल्लेख विक्रम पूर्व के शिलालेखों में मिलता है। विक्रमपूर्व द्वितीय शताब्दी में बेसनगर के शिलालेख में यूनानी हेलिओडोरस को भागवत उपाधि धारण करने तथा गरुडस्तम्भ की स्थापना का वर्णन मिलता है^२। महाभारत में 'मात्त्वत विधि' का उल्लेख किया गया है^३। इतना ही नहीं, 'सत्त्वन्' शब्द ऐतरेयब्राह्मण में भी आता है^४। यदि इसका प्रयोग इसा प्रसंग में हो तो सान्त्वत तन्त्र की प्राचीनता निःसन्दिग्ध है।

पाञ्चरात्र के मूल मिद्धान्त श्रुति में प्रतिपादित हैं। शतपथ ब्राह्मण (१३।६।१) में 'पाञ्चरात्र सत्र' का वर्णन मिलता है जिसे नारायण ने समस्त प्राणियों के ऊपर आधिपत्य प्राप्त करने के लिए पाँच दिनों तक किया था। इस सत्र के आध्यात्मिक रहस्यों का पता नहीं चलता, पर इतना तो निश्चित है कि विष्णु भक्तों के यज्ञ हिंसात्मक न होते थे, पशु के स्थान पर यव-घृत की

१ शृणुश्च मुनयः सर्वे पदमेकायनाभिधम् ।

मोक्षायनाय नै पन्था एतदन्यो न विद्यते ॥

तस्मादेकायन नाम प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ईश्वर महिता ।

२ इण्डियन एण्टाक्वेरी १९११ पृ० १३ ।

३ मात्त्वत विधिभास्थाय गीतः सकर्षण यः ।

दवापस्य युगस्यान्ते आदो कलियुगस्य च ॥—महाभारत भागपर्व ।

४ एतस्यां दक्षिणस्यां दिशि ये के च सत्त्वतां राजानो भोज्यार्यव ते अभिषिच्यन्ते,
भोजित एनान् अभिषिक्तान् आचक्षते ऐतरेय ब्राह्मणा ८।३।१४

ही आहुति दी जाती थी । नारायणीयोपाख्यान के आधार पर नारायण भक्त राजा उपरिचर ने इस प्रकार का यज्ञ सत्तर्पियों के उपदेश से सर्व-प्रथम किया । पाञ्चरात्र के वैदिकत्व को लेकर श्रीवैष्णव आचार्यों ने बड़ी सूक्ष्म मीमांसा प्रस्तुत की है । पाञ्चरात्रों के 'चतुर्व्यूह' सिद्धान्त के अनुसार वायुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध (अहंकार) की । शंकराचार्य ने शारीरिक भाष्य (२।२।४२-४५) में इस मत की कड़ी आलोचना की है और स्पष्ट शब्दों में इसे अवैदिक स्वीकार किया है, परन्तु रामानुज के मत में बादरायण ने उक्त उत्पत्त्यसम्भवाधिकरण में पाञ्चरात्र का मण्डन ही किया है, खण्डन नहीं (द्रष्टव्य श्रीभाष्य) । महाभारत तथा पुराण के अनेक प्रमाणवाक्यों को उद्धृत कर रामानुज ने पाञ्चरात्रागम को भी वेदों के समान ही प्रमाणभूत माना है^१ । रामानुज से पहले श्रीयामुनाचार्य ने 'आगम-प्रामाण्य' में पाञ्चरात्रतन्त्र की प्रामाणिकता को प्रबल युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया है । रामानुज के अनन्तर वेदान्तदेशिक ने 'पाञ्चरात्र रक्षा' में और भट्टारक वेदोत्तम ने 'तन्त्रशुद्ध' में इस विषय को मीमांसा पद्धति से विचार कर पाञ्चरात्रों को वेदसम्मत सिद्धान्तों का ही प्रतिपादक सिद्ध किया है ।

पाञ्चरात्र का दूसरा नाम 'भागवत या सात्त्वत' है । सत्त्वत् का यादव क्षत्रियों के लिए प्रयोग होता है । अतः ऐतिहासिक विद्वानों की सम्मति में यादवों में इसके विपुल प्रचार होने के कारण यह सज्ञा इस तन्त्र को दी गयी थी । परन्तु पराशर की सम्मति में सात्त्वत भागवत का पर्यायवाची है । सातयति, मुखयति, आश्रितानिति सात् परमात्मा । स एग्रामस्तीति वा सात्त्वताः सात्त्वन्तो वा महाभागवताः (पराशरभट्ट—

१ सांख्य योगः पाञ्चरात्रं वेदाः पाशुपत तथा ।

आत्मप्रमाणान्येतानि न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥ श्रीभाष्य २।२।४२।

विष्णुसहस्रनामभाष्य—वैकटेश्वर प्रेस संस्करण पृ० ४६५) भगवान् विष्णु के परमाराध्य होने के कारण इन नामों की अन्वर्थकता स्पष्ट ही है, पर पाञ्चरात्र शब्द की व्याख्या भिन्न भिन्न प्रकार से मिलती है। महाभारत के अनुसार चारों वेद तथा सांख्य योग के समाविष्ट होने के कारण इस मत की संज्ञा पाञ्चरात्र थी। ईश्वर संहिता (अ० २१) के कथनानुसार शाल्विज्य, अंगिरस, मौञ्जयन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाँच रातों में उपदेश दिया गया था, तथा पद्मसंहिता (ज्ञानपाद अ० १) का कथन है कि इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गये थे। अतः पाञ्चरात्र नामकरण हुआ। नारद पाञ्चरात्र के अनुसार इस नामकरण का कारण विवेच्य विषयों की संख्या है। रात्र का अर्थ होता है ज्ञान^१। परमतत्त्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (मसार) इन पंचविषयों के निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाञ्चरात्र' पड़ा है^२। अहिर्बुध्न्यसंहिता (११।६४) इसी मत को स्वीकार करती है।

पाञ्चरात्र तन्त्र विषयक साहित्य नितान्त विशाल, प्राचीन तथा विस्तृत है, परन्तु दुःख में कहना पड़ता है कि उसका प्रकाशित अंश अत्यन्त स्वल्प है। कपिञ्जल संहिता आदि प्राचीन साहित्य ग्रन्थों में, निर्दिष्ट सूचना के अनुसार अगस्त्य संहिता, काश्यप संहिता, नारदाय संहिता, महासनत्कुमार संहिता, वाशिष्ठ संहिता, वामुदेव संहिता, विश्वामित्र संहिता, विष्णुरहस्य संहिता आदि पाञ्चरात्र संहिताओं की संख्या दो सौ पन्द्रह है^३, परन्तु निम्नलिखित १३ संहितायें ही अबतक प्रकाशित हो सकी हैं:—(१) अहिर्बुध्न्य संहिता (अड्यार

१ सत्रञ्च ज्ञानवचनं ज्ञानं पञ्चविधं स्मृतम्—नारद पाञ्चरात्र १.४४।

२ नारद पाञ्चरात्र १।४५।५३।

३ द्रष्टव्य डॉ० श्रादर (Dr. Schrader) इन्डोलोकेशन दू दी पाञ्चरात्र पृ०

लाइब्रेरी, मद्रास) (२) ईश्वर संहिता (मुदर्शन प्रेस काञ्ची) (३) कपि-
ञ्जल संहिता; (४) जयाख्य संहिता (गायकवाड़ ओरियन्टल सीरिज
नं० ४५) (५) पराशर संहिता, (६) पाद्मतन्त्र, (७) बृहद् ब्रह्मसंहिता
(आनन्दाश्रम ग्रन्थमाला) (८) भारद्वाज संहिता, (९) लक्ष्मीतन्त्र, (१०)
विष्णुतिलक, (११) श्रीप्रश्न संहिता, (१२) विष्णुसंहिता (अनन्त शयन
ग्रन्थमाला) तथा (१३) सान्वत संहिता (काञ्ची) । इन तैरहों में भी
केवल वे ही ६ संहितायें नागराक्षरों में लपी हैं जिनके प्रकाश-स्थान का
यहाँ निर्देश है । अन्य सात संहितायें आन्त्रलिपि में हैं । अन्य संहितायें
भी विषयगौरव के कारण प्रकाशनयोग्य होने पर भी हस्तलिपिरूप में ही
मिलती हैं, समस्त पाञ्चरात्र संहिताओं में 'पौष्कर', 'सान्वत' तथा
'जयाख्य' संहितायें प्राचीनतम माना जाती हैं । जयाख्य संहिता ३३
पटलों में समाप्त है, पर पण्डित अभ्यायात्मक अहिर्बुध्न्य संहिता, जयाख्य
संहिता से लगभग दुगुनी है । बृहद् ब्रह्मसंहिता परिमाण में कम है ।
जयाख्य संहिता में दार्शनिक तत्व का विवेचन मश्रुत है परन्तु अहि-
र्बुध्न्य संहिता का विवेचन मूल्य विस्तृत है । इन्हीं संहिताओं के आधार
पर इस तन्त्र के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जायगा ।

पाञ्चरात्र संहिताओं के विषय चार हैं:—(१) 'ज्ञान'—ब्रह्म, जीव
तथा जगत् तत्त्व के आध्यात्मिक रहस्यों का उद्घाटन तथा मृष्टितत्त्व का
विशेष निरूपण । (२) 'योग'—मुक्ति के साधनभूत योग तथा योग-
सम्बद्ध प्रक्रियाओं का वर्णन । (३) 'क्रिया'—देवालय का निर्माण,
मूर्ति का स्थापन, मूर्ति के विविध आकार-प्रकार का सांगोपांग वर्णन ।
(४) 'चर्या' - आह्निक क्रिया, मूर्तियों तथा यन्त्रों के पूजन का विस्तृत
विवरण, वर्णाश्रम धर्म का परिपालन, पर्व तथा उत्सव के अवसर पर
विशिष्ट पूजा का विधान । इनमें 'चर्या' का वर्णन आधे से अधिक है ।
आधे में सबसे अधिक क्रिया, क्रिया से कम ज्ञान और सबसे कम योग
का विवेचन है । अतः चर्या और क्रिया की व्यावहारिक विवेचना ही

पाञ्चरात्र मंदिताओं का मुख्य प्रयोजन है। प्रमेयो की मीमांसा गौण तथा प्रासंगिक है। तन्त्रों की शैली के अनुसार सृष्टि और अध्यात्मतत्त्व का वर्णन एक साथ मिश्रित रूप में मिलता है।

(२) पाञ्चरात्र की तत्त्वमीमांसा

पाञ्चरात्र मत में परब्रह्म अद्वितीय, दुःख-रहित, निःसीम सुखानुभवरूप, अनादि, अनन्त है। सब प्राणियों में निवास करनेवाला, समस्त जगत् को व्याप्त होकर स्थित होनेवाला, निरवयव तथा निर्विकार है। इस विषय में उसकी समता उम महासागर से दी जाती है जो तरङ्गरहित होने से नितान्त प्रशान्त है (अतरगार्णवोपमम्)। वह प्राकृत-गुणस्पर्शहीन तथा अप्राकृत गुणों का आस्वाद है। वह आकार, देश तथा काल से अनवच्छिन्न होने के कारण पूर्ण, नित्य तथा व्यापक है। वह हेय-उपादेय-विवर्जित है तथा इदन्ता (स्वरूप), ईदक्ता और इयत्ता (परिमाण) इन तीनों से अनवच्छिन्न है (अहि० सं० २।२२-२५)। पाङ्-गुण्य-योग से 'भगवान्' है; समस्त भूतवासी होने से वही 'वामुदेव' है तथा समस्त आत्माओं में श्रेष्ठ होने के कारण यही 'परमात्मा' है। इसी प्रकार गुणों की विशेषता के कारण यह अव्यक्त, प्रधान, अनन्त, अपरिमित, अचिन्त्य, ब्रह्म, हिरण्यगर्भ तथा शिव आदि नामों से विख्यात है। पाञ्चरात्र में परब्रह्म के उभय निर्गुण तथा सगुण भाव स्वीकृत हैं। परमात्मा त्रिविध परिच्छेद शून्य है—वह न भूत है न वर्तमान न भविष्य। न ह्रस्व है न दीर्घ। न स्थूल न अणु। न आदि है न मध्य न अन्त। इस प्रकार वह सब द्वन्द्वों से त्रिनिर्मुक्त, सर्व उपाधि से विवर्जित, सब कारणों का कारण पाङ्गुण्य रूप परब्रह्म है। पाञ्चरात्र की यह ब्रह्मभावना औपनिषद कल्पना के नितान्त अनुरूप है—

सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तं सर्वोपाधिविवर्जितम्।

पाङ्गुण्यं तत् परं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् ॥ अहि०सं० २।५३।

नारायण निगुण होकर भी सगुण हैं। अप्राकृत गुणों से हीन होने से निगुण तथा षड्गुण-युक्त होने से सगुण हैं। जगत् व्यापार के लिए कल्पित इन छ गुणों के नाम ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, पाङ्गुण्य बल, वीर्य तथा तेज हैं। अजड, स्वात्मसंबोधी (स्वप्रकाश), नित्य, सर्वावगाही गुण को 'ज्ञान' कहते हैं। ज्ञान ब्रह्म का स्वरूप भी है तथा उसका गुण भी है (अ० सं० २।५६)। शक्ति से अभिप्राय है जगत् का उपादान कारण तथा ऐश्वर्य का अर्थ है स्वातन्त्र्यपरिवृद्धित जगत्-कर्तृत्व। जगत् के निर्माण करने में भगवान् का तनिक भी परिश्रम नहीं होता। इस श्रमाभाव को 'बल' कहते हैं तथा जगत् के उपादान होने पर भी विकार-राहित्य को 'शान्तीय संज्ञा' 'वीर्य' है। जगत् के समस्त उपादान कारणों में कार्यावस्था में विविध विकार दृष्टिगोचर होते हैं, परन्तु निर्विकार भगवान् में जगदुपादान होने पर भी किसी प्रकार का विकार उदय नहीं होता। जगत् सृष्टि में सहकारी का अनपेक्षा (अनावश्यकता) को 'तेज' कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्म में जगत् की उभयविध कारणता है—उपादान कारणता तथा निमित्त कारणता। ब्रह्म बिना किसी सहायता से स्वतन्त्रता पूर्वक अपने से ही इस सृष्टि का उत्पादक है। 'मर्त्य कारणकारण' विशेषण इसी सर्वशक्ति-मत्ता तथा स्वतन्त्रता को द्योतित करता है (अहि० सं० अध्याय २।५५-६२) वामुदेव का ज्ञान ही उत्कृष्ट रूप है, शक्त्यादि अन्य पाँच गुण ज्ञान के गुण होने से सर्वदा तत्सम्बद्ध रहते हैं।

भगवान् की शक्ति का सामान्य नाम लक्ष्मी है। भगवान् शक्तिमान् है तथा लक्ष्मी उनकी शक्ति है। भगवान् तथा लक्ष्मी का पारस्परिक सम्बन्ध आपाततः अद्वैत प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः भगवान् की शक्तियाँ दोनों में अद्वैतता नहीं है। प्रलय दशा में जब प्रपञ्च का लय निष्पन्न हो जाता है, तब भी भगवान् तथा लक्ष्मी का नितान्त ऐक्य नहीं होता। उस समय भी नारायण तथा नारायणी शक्ति 'मानों'

एकत्व धारण करते हैं (व्यापकावति **संश्लेषादेकं तत्त्वमिव** स्थितौ—अहि० सं० ४।७८) । धर्म तथा धर्मी, अद्वन्ता तथा अहं, चन्द्रिका तथा चन्द्रमा, आतप तथा सूर्य के समान ही शक्ति तथा शक्तिमान् में अविनाभाव या समभाव सन्बन्ध स्वीकृत किया गया है, पर मूल में भेद रहता ही है । अहिर्बुध्न्य संहिता (३।२५) ने दोनों का भेद स्पष्टाक्षरों में उल्लिखित किया है—देवाकृष्टिमतता भिन्ना ब्रह्मणः परमेष्ठिनः । (अहि० सं० ३।२५।२७) ।

भगवान् की आत्मभूता शक्ति आरम्भकाल में किसी अचिन्त्य कारण के वश से कहीं उन्मेष प्राप्त करती है; जगद्रचना-व्यापार में प्रवृत्त होती है^१ । विष्णु की स्वातन्त्र्यरूपी शक्ति भिन्न-भिन्न गुणों के कारण विभिन्न नामों से पुकारी जाती है । आनन्दा, स्वतन्त्रा, लक्ष्मी, श्री, पद्मा आदि उसी के नामान्तर हैं । इसी लक्ष्मी के सृष्टिकाल में दो रूप हो जाते हैं—(१) 'क्रियाशक्ति' तथा (२) 'भूतशक्ति' । भगवान् की जगत् सिसृक्षा, जगत् उत्पन्न करने के संकल्प को 'क्रियाशक्ति' कहते हैं^२ और जगत् की परिणति (भवनं भूतिः) की संज्ञा 'भूतशक्ति' है । अहिर्बुध्न्य संहिता (३६।५५) में ही लक्ष्मी को इच्छाशक्ति तथा सुदर्शन को क्रियाशक्ति कहा गया है । इन दोनों शक्तियों के अभाव में भगवान् स्वयं अकिञ्चित्कर हैं । शक्तिद्वय के सद्भाव में भगवान् जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा संहति व्यापार के उत्पादक है । लक्ष्मी शक्ति के प्रथम आविर्भाव को 'शुद्ध सृष्टि' या गुणान्मेष कहते हैं जब तरंग रहित प्रशान्त समुद्र में प्रथम बुद्बुद के समान परब्रह्म में ज्ञानादि पट् गुणों का प्रथम उदय होता है । इसी शक्ति के विकाम से जगत् की सृष्टि सम्पन्न होती

१ स्वातन्त्र्यादेव कस्माच्चिन् क्वचित् मोऽन्मेषमृच्छति ।

आत्मभूता हि या शक्तिः परस्य ब्रह्मणो हरेः ॥ अहि० सं० ५।४ ।

२ क्रियाख्यो योऽयमुन्मेषः स भूतिपरिवर्तकः ।

लक्ष्मीमयः प्राणरूपो विष्णोः सङ्कल्प उच्यते ॥ अहि० सं० ३।२१ ।

है । सृष्टि दो प्रकार की शुद्ध और शुद्धेतर भेद से होती है । इसी के भीतर जयाख्य संहितानुसार शुद्ध सर्ग, प्राधानिक सर्ग तथा ब्रह्म सर्ग का अन्तर्भाव किया जाता है ।

भगवान् जगत् के परम मंगल के लिए अपने ही आप चार रूपों की सृष्टि करते हैं—(१) व्यूह, (२) विभव, (३) अर्चावतार तथा (४) अन्तर्यामी अवतार । पूर्वर्कथित षड्गुणों में से शुद्धसृष्टि दो दो गुणों की प्रधानता होने पर तीन व्यूहों की सृष्टि होती है—‘संकर्षण’ में ज्ञान तथा बल गुण का प्राधान्य रहता है, ‘प्रद्युम्न’ में ऐश्वर्य तथा वीर्य गुणों का आधिक्य रहता है तथा ‘अनिरुद्ध’ में शक्ति तथा तेज का उद्रेक विद्यमान रहता है । इन तीनों के सर्जनात्मक तथा शिक्षणात्मक द्विविध कार्य होते हैं (अटि० सं० ५।१७-६०) । संकर्षण का कार्य जगत् की सृष्टि करना तथा ऐकान्तिक मार्ग (पाञ्चरात्र तत्त्व) का उपदेश देना है, प्रद्युम्न का कार्य ऐकान्तिक मार्गसम्मत क्रिया की शिक्षा देना है तथा अनिरुद्ध का काम क्रियाफल (मोक्ष) के तत्त्व का शिक्षण है । वैपम्य दशा में गुण प्रधान भाव से षड्गुणों की व्यवस्था की जाती है । षड्गुण्य चारों व्यूहों में सामान्यतः विद्यमान रहता है, परन्तु प्रतियूह में दो दो गुणों का ही प्राधान्य रहता है । वामुदेव को मिलाकर इन्हें ‘चतुर्व्यूह’ कहते हैं । चतुर्व्यूह भगवद्रूप ही है । परन्तु शंकराचार्य के उल्लेख (शांकरभाष्य २।२।४२।४५) के अनुसार वामुदेव से संकर्षण (जीव) की उत्पत्ति होती है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उससे अनिरुद्ध (अहंकार) की । यही ‘चतुर्व्यूह सिद्धान्त’ पाञ्चरात्र का विशिष्ट सिद्धान्त माना जाता है । जयाख्य आदि संहिताओं में यह मत नहीं मिलता, परन्तु नारायणीयोपाख्यान और लक्ष्मी तन्त्र (५।९-१४) में निर्दिष्ट होने से यह पाञ्चरात्र का एकदेशीय मत जान पड़ता है ।

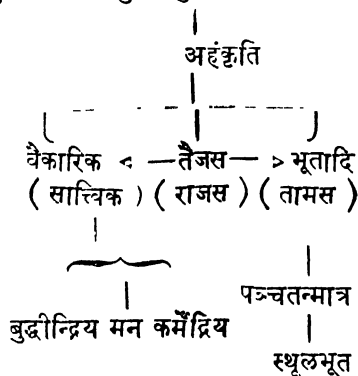
(२) **विभव**— विभव का अर्थ अवतार है जो संख्या में ३९ माना जाता है । विभव दो प्रकारो के होते हैं (क) 'मुख्य', जिनकी उपासना भुक्ति के लिए की जाती है तथा (ख) 'गौण', जिनकी पूजा भुक्ति के वास्ते की जाती है । (अहि० स ५।५०) । पद्मनाभ, ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि की गणना विभव में की जाती है ।

(३) **अर्चावतार**—पाञ्चरात्र विधि में पवित्रित किये जाने पर प्रस्तरादि की मूर्तियाँ भी भगवान् के अवतार मानी जाती हैं । सर्वसाधारण का पूजा में इनका उपयोग होता है । इनका नाम है 'अर्चा अवतार' ।

(४) **अन्तर्यामी**—भगवान् सब प्राणियों के हृत्पुण्डरीक में वास करते हुए उनके समस्त व्यापारी के नियामक हैं । इस रूप का नाम अन्तर्यामी रूप है । यह कल्पना उपनिषदों के आधार पर ही है^१ ।

शुद्धेत्तर सृष्टि शुद्ध श्रष्टि के आधार पर शुद्धेतर सृष्टि की सत्ता है । इस सृष्टि का क्रम निम्नलिखित प्रकार से है—

प्रद्युम्न—> कुटस्थपुरुष—> मायाशक्ति—> नियति—> काल—>
सत्त्वगुण—> रजोगुण—> तमोगुण—> बुद्धि—>



१ यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, य पृथिवी न वेद, यन्म पृथिवी शरीर,
यः पृथिवीमन्तरो यमयतत्येष न आत्माऽन्तर्याम्यमृतः । बृह० उप० ३।७।३।

यह क्रम अहिर्बुध्न्य संहिता (६।५।१८) के अनुसार है । जयाख्य संहिता का क्रम इसमें भिन्न है । सांख्य से माह्व्य होने पर भी यह क्रम उससे अनेक सिद्धान्तों में भिन्न है । पाञ्चरात्र के अनुसार प्रकृति पुरुष की अव्यक्षता में सृष्टि करती है । सांख्य प्रकृति को स्वतः मानता है, पर इस तन्त्र में चुम्बक के सानिध्य से लोहे की गति के भाँति आत्म-च्छुरण से यह प्रकृति कार्यकरण में प्रवृत्त होती है । पाञ्चरात्रमत में तीनों गुणों की सृष्टि क्रमशः एक से दूसरे की होती है परन्तु सांख्य में इस मत का कहीं उल्लेख नहीं है ।

इस जगत् के अधिपति नारायण का स्वातन्त्र्य अलौकिक होता है । समस्त कामनाओं को प्राप्त कर लेने पर भी वशी वामुदेव राजा के समान लीलापूर्वक क्रीड़ा किया करते हैं । यह जगत् भगवान् की लीला का विलास है । भगवान् के 'मकल्प' या इच्छाशक्ति का ही नाम 'सुदर्शन' है जो अनन्तरूप होने पर भी प्रधानतया पाँच प्रकार का होता है:—उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश-कारिणी शक्तियाँ, निग्रहशक्ति (माया, अविद्या आदि नामधारिणी तिरोधानशक्ति) तथा अनुग्रहशक्ति (अहि० सं० १४।१३-१४) । जीव स्वभावतः सर्वशक्तिशाली, व्यापक तथा सर्वज्ञ तो है, परन्तु सृष्टिकाल में भगवान् की तिरोधानशक्ति जीव के विभुत्व, सर्वशक्तिमत्त्व और सर्वज्ञत्व का तिरोधान कर देती है जिससे जीव क्रमशः अणु किञ्चित्कर तथा किञ्चित्ज्ञ बन जाता है । इन्हीं अणुत्वादिकों का 'मल' कहते हैं । इन्हीं से जीव बद्ध बन जाता है और पूर्व कर्मों के अनुसार जाति, आयु तथा भोग की प्राप्ति करता है । इस विकट भवचक्र में वह निरन्तर घूमता रहता है । जीव के क्लेशों को देख कर भगवान् के हृदय में 'कृपा' का स्वतः आविर्भाव होता है, इसी का नाम है—'अनुग्रहात्मिका शक्ति' जिसे आगम में 'शक्तिपात' कहते हैं । जीवों की दीन-हीन दशा को देखकर करुणावरुणालय भगवान् का हृदय द्रवीभूत हो जाता है

जीवनत्व

और वह जीवों पर अपनी नैसर्गिक करुणा की वर्षा करने लगते हैं। अब जीव के शुभ अशुभ कर्म सम होकर फलोत्पादन के प्रति व्यापारहीन हो जाते हैं। जीव इस दशा में वैराग्य तथा विवेक को प्राप्त कर मोक्ष की ओर स्वतः प्रवृत्त हो जाता है (अहि० सं० १४-१४-२०)।

(३) पाञ्चरात्र का साधनमार्ग

साधनमार्ग का प्रतिपादन करना ही पाञ्चरात्र ग्रन्थों का प्रधान लक्ष्य है। यथाशाम्ना मन्दिर की रचना कर इष्टदेवता को विधिवत स्थापन करना चाहिये और तदनन्तर उनकी मात्त्वविधि से अर्चना करना चाहिए। योग का अभ्यास भी इसमें सहायक होता है। परन्तु भक्ति ही इस दुःखद संसार से जीव को मुक्त करने का मुख्य साधन है। भक्तवत्सल करुणा-निकेतन भगवान् की अनुग्रहशक्ति ही जीवों को भवपंक से उद्धार कर सकती है। शरणागति (पारिभाषिकी संज्ञा 'न्यास') ही अनुग्रहशक्ति को प्रोद्बुद्ध करने के लिए प्रधान उपाय है। भगवान् से निष्कपटरूप से यह प्रार्थना करना कि मैं अपराधों का आलम हूँ, अकिञ्चन तथा निराश्रय हूँ तथा आप ही केवल मात्र उपाय बनिये 'शरणागति' कहा जाता है—

अहमस्म्यपराधानामालयोऽकिञ्चनोऽगतिः ।

त्वमेवोपायभूतो मे भवेति प्रार्थनामतिः ।

शरणागतिरित्युक्ता सा देवेऽस्मिन् प्रयुज्यताम् ॥अहि० सं० ३७।३१
यह शरणागति छः प्रकार की होती है—(१) आनुकूल्यस्य संकल्पः, (२) प्रातिकूल्यस्यवर्जनम् (भगवान् के अनुकूल रहने का संकल्प और प्रातिकूलता को छोड़ना), (३) रक्षिष्यतीति विश्वासः ('भगवान् रक्षा करेंगे' इसमें विश्वास), (४) गान्त्ववरणं (भगवान् को रक्षक मानना), (५) आत्मनिश्चयः (आत्मसमर्पण) और (६) कार्पण्यं (नितान्त दीनता) (अहि० सं० ३७।२८; ५२।१५-२५) वैष्णवभक्त को 'पञ्चकालज्ञ' कहते

हैं, क्योंकि वह अपने समय को पाँच विभागों में बाँटकर भगवत्पूजा में निरन्तर लगा रहता है। **पञ्च फालों** के नाम हैं—(क) अभिगमन—कर्मणा मनसा वाचा, जप-ध्यान-अर्चन के द्वारा भगवान् के प्रति अभिमुख होना; (ख) उपादान—पूजानिमित्त फलपुष्पादि का संग्रह. (ग) इज्या—पूजा, (घ) अध्याय—आगमग्रन्थों का श्रवण, मनन तथा उपदेश (ङ) योग-अष्टागयोग का अनुष्ठान (जयाख्या संहिता पटल २०, श्लोक ६५-७५)।

इस उपासना के बल पर साधक को मोक्ष की प्राप्ति होती है। मुक्ति का नाम 'ब्रह्माभावापत्ति' है, क्योंकि इस दशा में जीव ब्रह्म के साथ एकाकार हो जाता है। वह पुनः लौटकर इस मंसार में नहीं आता। उस दशा में वह निरतिशय आनन्द का उपभोग करता है। जयाख्यसंहिता का कहना है कि यह भगवत् संपत्ति नदियों की समुद्रप्राप्ति के समान है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न नदियों का जल समुद्र में प्रवेश कर तद्रूप बन जाता है तथा जल में भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, योगियों की परमात्मा की प्राप्ति होने पर वैसी दशा हो जाती है^१। जिस प्रकार अग्नि में क्षिप्त काष्ठ के टुकड़े दग्ध होने पर लक्षित नहीं होते, उसी प्रकार भगवत्प्राप्ति में भक्तों की दशा होती है। उस काल में जीव भगवान् के 'पर' रूप के साथ परमव्योम में (शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ में) आनन्द से विहार किया करता है। यह 'पर वामुदेव' 'व्यूह वामुदेव' से भिन्न है। वैकुण्ठ

१ यथाऽनेकेन्धनादीनि सप्रविष्टानि पावके।

अलक्ष्याणि च दग्धानि तद्वत् ब्रह्मण्युपासकाः ॥

सरितमघात् यथा तोयं सप्रविष्टं महोदधौ ।

अलक्ष्यश्चोदके भेदः परस्मिन् योगिनां तथा ॥

में अनन्त, गरुड़ तथा विष्वक्सेन आदि नित्यजीव भी निवास करते हैं । त्रसरणुके परिमाणवाला मुक्त जीव कोटि कोटि रश्मि से विभूषित होकर अपने इष्ट देवताका यहाँ दर्शन करता है तथा कालचक्र से रहित होकर भगवान् की निरन्तर सेवा तथा भजन में निरत रहता है । वह काल-कल्लोल-संकुल जगन्मार्ग में फिर अवतारण नहीं हंता । यही है पांचरात्रों की मुक्ति-कल्पना (अहि० सं० ६।२७-३०) । पाञ्चरात्र सिद्धान्त जीव ब्रह्म के ऐक्य का प्रतिपादन अवश्य करता है, परन्तु वह विवर्तवाद को न मान-कर परिणामवाद का पक्षपाती है ।

२

वैखानस आगम

वैष्णव आगमों में वैखानस आगम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है जो पांचरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी उतना प्रख्यात नहीं है । किसी समय में इसका बोलबाला था, परन्तु किसी कारणवश इसकी लोकप्रियता का हास हो गया और आज तो इसका नाम भी सुनने को नहीं मिलता । मन्दिर और मूर्ति के निर्माण विषय को लेकर

परिचय पाञ्चरात्रों तथा वैखानसों में प्राचीन समय में काफी मतभेद था और इसी प्रसंग में इनके मत पांचरात्र ग्रन्थों में उल्लि-

खित हैं । वैखानस कृष्णयजुर्वेद की एक स्वतन्त्र, पृथक् शाखा थी । चरण-व्यूह में वर्णित कृष्णयजुः की चार प्रधान शाखाओं—आपस्तम्ब, बौधायन, सत्यापाठ-हिरण्यकेशी तथा औखेय—में 'औखेय' अन्तिम शाखा है । 'वैखानस श्रौतसूत्र' के भाष्यकार वेंकटेश के कथनानुसार वैखानसों का सम्बन्ध इसी 'औखेय' शाखा के साथ था—

येन वेदार्थविज्ञेयो लोकानुग्रहकाम्यया ।

प्रणीतं सूत्रमौखेयं तस्मै विखनसे नमः ॥

गौतम धर्मसूत्र (३।२), बौधायन धर्मसूत्र (२।६।१७), वसिष्ठ धर्मसूत्र (९, १०) में वानप्रस्थ यतियों के लिए 'वैखानस' का प्रयोग किया गया है। मनु ने भी वानप्रस्थों को 'वैखानस शास्त्र का अनुयायी' बतलाया है (वैखानसमते स्थितः ६।४१)। इसका मुख्य कारण यह है कि 'वैखानस धर्मप्रश्न' (१।६-७) में वानप्रस्थों के आचार विधान का मार्गोपाग वर्णन किया गया है जिनका अक्षरशः पालन करना तृतीय आश्रम के वनस्थ पुरुषों का प्रधान कर्तव्य था।

इस शास्त्रा के केवल चार ग्रन्थ अवतक उपलब्ध हुए हैं—(क) वैखानसीया मन्त्रसंहिता, (ख) गृह्यसूत्र (सात प्रश्नों या अध्यायों में विभक्त), (ग) धर्मसूत्र (या धर्मप्रश्न तीन प्रश्नों में विभक्त), (घ) श्रौतसूत्र। मन्त्रपाठ आठ अध्यायों में विभक्त है जिसके प्रथम चार अध्यायों में गृह्य तथा धर्मसूत्रों में निर्दिष्ट मन्त्रों का संग्रह है और अन्तिम चार अध्यायों में विशिष्ट विष्णुपूजा का विधान है। अतः इन्हें 'अर्चनाकाण्ड' के नाम से पुकारते हैं।

वैखानसों की विशिष्टता का परिचय उनके गृह्यसूत्रों के अनुशीलन से ही हमें मिल जाता है। वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के, दशम, एकादश तथा द्वादश खण्ड में विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा तथा अर्चना का विशेष वर्णन है। नित्य प्रातःकाल तथा सायंकाल में हवन के अनन्तर विष्णु की 'पूजा करना गृहस्थ के लिए आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अँगुली से परिमाण में कम न होती थी। विशेष विधि से उसकी घर में प्रतिष्ठा की जाती थी तथा विष्णुसूक्त और पुरुषसूक्त से उनकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रों के जप का विधान था। नारायण-त्रलि का उल्लेख ही नहीं है, प्रत्युत नारायण की सत्र देवताओं में प्रधानता स्पष्टाक्षरों में मानी गई है (नारायणादेव सर्वार्थ-सिद्धिः—वैखानस धर्मप्रश्न ३।९।१)। पांचरात्रों की वैदिकता सिद्ध

करने के लिए अनेक उद्योग किये गये हैं, परन्तु वैखानसों की वेदिकता में किसी प्रकार की विप्रतिपत्ति नहीं है ।

हाल ही में मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम' अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावलि (नं० १२१) में प्रकाशित हुआ है । इस विस्तृत ग्रन्थ में ७०

पटल हैं । इसके अनुशालन करने से वैखानसों के लुप्त-सिद्धान्त

प्रायः प्राचीन सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त होता है । किसी माधवाचार्य के पुत्र वाजपेययाजी श्रीनरसिंह यज्वा-विरचित 'प्रतिष्ठाविधिदर्पण' में नारायण—विश्वनाथ मुनि—काश्यप—मरीचि इस वैखानस-आचार्यपरम्परा का उल्लेख किया गया है । वैखानसागम का विषय क्रिया तथा चर्या है । मन्दिर के विभिन्न अंगों का निर्माण, विविध मूर्तियों की रचना, रामकृष्ण आदि मूर्तियों की विशेषता, मूर्तियों की प्रतिष्ठा, अर्चना, बलि आदि का इतना साङ्गोपाङ्ग विवेचन एकत्र मिलना कठिन है । आध्यात्मिक बातें बहुत कम हैं । परमात्मा से इस जगत् की उत्पत्ति ठीक उपनिषत्क्रम से होती है । परमात्मा की चार मूर्तियाँ होती हैं—विष्णु, महाविष्णु, सदाविष्णु तथा सर्वव्यापी । भगवान् की इन्हीं चारों मूर्तियों के अंश से चार अन्य मूर्तियों की उत्पत्ति होती है । विष्णु के अंश से 'पुरुष' जिसमें धर्म की प्रधानता रहती है, महाविष्णु के अंश से ज्ञानात्मिक 'सत्य', सदाविष्णु के अंश से अपरिमित-ऐश्वर्यात्मक 'अच्युत' (श्रीपति) तथा सर्वव्यापी के अंश से 'अनिरुद्ध' की सत्पत्ति होती है जिसमें वैराग्य या सहार की प्रधानता रहती है (७० वाँ पटल) । इन चारों मूर्तियों से युक्त होने से नारायण पञ्चमूर्तिरूप माने जाते हैं । भगवान् की माया से जीव बन्धन में है और उसी की कृपा से वह मुक्त होता है । जीवका मुख्य कर्तव्य भगवान् विष्णु का अर्चना है । विष्णु के समाराधन के चार प्रकार हैं:—(१) 'जप'—भगवान् का ध्यान करते हुए अष्टाक्षर या द्वादशाक्षर मन्त्र का जपना, (२) 'हुत'—अग्निहोत्रादि हवन; (३) 'ध्यान'—अष्टाङ्ग-

यागमार्ग से परमात्मा का चिन्तन; (४) 'अर्चना'—प्रतिमा-पूजन । इन साधनों में 'अर्चना ही मुख्य मानी जाती है । अर्चना विधिपूर्वक विशुद्ध होनी चाहिए । श्री देवी और भूमिदेवी के साथ विष्णु की मूर्ति मन्दिर के मध्य में स्थापित की जाती है । उनके दक्षिण ओर 'पुरुष' तथा 'सत्य' मूर्तियों की तथा वाम ओर 'अच्युत' और 'अनिहृद्ध' मूर्तियों की स्थापना की जाती है । पूजा वेदिक मन्त्रों से होती है । सम्यक् आराधना के अनुष्ठान में जीव आमोद नामक विष्णुलोक में मालोक्य मुक्ति, प्रमोद (महाविष्णुलोक) में सामीप्य, सम्मोद (सदाविष्णुलोक) में सारूप्य और अन्तर्गतत्वा सर्वश्रेष्ठ वेंकुण्ठ (सर्वव्यापी नागयण के लोक) में सायुज्य मुक्ति प्राप्त करता है (वैखानसागम पृ० २३०) । वहीं जीव इष्ट देवता से अभिन्नरूपत्वेन सम्पन्न हो जाता है । इस प्रकार वैखानसों की दृष्टि में सायुजरूपा मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है ।

आनन्दगिरि के शंकर विजय में भी इस मत के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है (प्रकरण ९, पृ० ५८-६४)

३

श्रीमद्भागवत

श्रीमद्भागवत संस्कृत साहित्य का एक अनुपम रत्न है । भक्तिशास्त्र का तो वह सर्वस्व है । यह निगम-कल्पतरु का अमृतमय स्वयं गलित फल है । वैष्णव आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी के समान भागवत को भी अपना उपजीव्य माना है । वल्लभाचार्य भागवत को महर्षि व्यासदेव की 'समाधिभाषा' कहने हैं अर्थात् भागवत के तत्त्वों का वर्णन व्यास ने समाधि-दशा में अनुभूत कर के किया था । भागवत का प्रभाव वल्लभ-सम्प्रदाय और चैतन्यसम्प्रदाय पर बहुत अधिक पड़ा है । इन सम्प्रदायों ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों का निरूपण अपनी २ पद्धति से किया है । इन ग्रन्थों में आनन्दतीर्थ कृत 'भागवततात्पर्यनिर्णय' से जीव

गोस्वामी का 'पट्सन्दर्भ' व्यापकता तथा विशदता की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। भागवत के गूढार्थ को व्यक्त करनेके लिए प्रत्येक वैष्णव-सम्प्रदाय ने इस पर स्वमतानुकूल व्याख्याएँ लिखी हैं, जिनमें कुल टीकाओं के नाम यहाँ दिये जाते हैं--रामानुज मत में मुद्दर्शनमूरि का 'शुकपक्षीय' तथा वीररावाचार्य की 'भागवतचन्द्रचन्द्रिका'; माध्वमत में विजयध्वज की 'पदरत्नावली'; निम्बार्कमत में शुकदेवाचार्य का 'सिद्धान्त-प्रदाप'; वल्लभमत में स्वयं आचार्य वल्लभ की 'मुवोधिनी' तथा गिरि-धराचार्य की आध्यात्मिक टीका; चैतन्यमत में श्रीमनातन की 'बृहद्वैष्णवतोषिणी' (दशमस्कन्ध पर), जीवगोस्वामी का 'क्रमसन्दर्भ', विश्वनाथ चक्रवर्ती की 'सारार्थदर्शिनी'। सब में अधिक लोकप्रिय श्रीधरस्वामी की श्रीधरी है। श्री हरि नामक भक्तवर का 'हरिभक्ति-रसायन' पूर्वार्ध दशम का श्लोकात्मक व्याख्यान है। इन सम्प्रदायों की मौलिक आध्यात्मिक कल्पनाओं का आधार यही अष्टादश सहस्र-श्लोकात्मक भगवद्विग्रहरूप भागवत है।

श्रीमद्भागवत अद्वैततत्त्व का ही प्रतिपादन स्पष्ट शब्दों में करता है। श्री भगवान् ने अपने तत्त्व के विषय में ब्रह्मा जी को इस प्रकार उपदेश दिया है:--

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद् यत् सदसत्परम् ।

पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम् ॥ भाग० २।९।३२।

'सृष्टि के पूर्व मैं ही था--मैं केवल था, कोई क्रिया न थी। उस समय सत् अर्थात् कार्यात्मक स्थूल भाव न था, असत्--कारणात्मक सूक्ष्मभाव न था। यहाँ तक कि इनका कारणभूत प्रधान भी अन्तर्मुख होकर मुझमें लीन था। सृष्टि का यह प्रपञ्च मैं ही हूँ और प्रलय में सब पदार्थों के लीन हो जाने पर मैं ही एकमात्र अवशिष्ट रहूँगा'। इससे स्पष्ट है कि भगवान् निगुण, सगुण, जीव जगत् सब वही हैं।

अद्वयतत्त्व सत्य है। उसी एक, अद्वितीय, परमार्थ को ज्ञानी लोग ब्रह्म, योगीजन परमात्मा, और भक्तगण भगवान् के नाम से पुकारते हैं^१। वही जय सत्त्वगुणरूपी उपाधि से अवच्छिन्न न होकर अव्यक्त, निराकाररूप से रहते हैं, तब 'निर्गुण' कहलाते हैं और उपाधि से अवच्छिन्न होने पर 'सगुण' कहलाते हैं। "परमार्थभूत^२ ज्ञान सत्य, विशुद्ध, एक, बाहर-भीतर-भेदरहित, परिपूर्ण, अन्तर्मुख तथा निर्विकार है— वही भगवान् तथा वासुदेव शब्दों के द्वारा अभिहित होता है। सत्त्वगुण की उपाधि से अवच्छिन्न होने पर वही निर्गुण ब्रह्म प्रधानतया विष्णु, रुद्र, ब्रह्मा तथा पुरुष चार प्रकार का सगुणरूप धारण करता है। शुद्धसत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'विष्णु' कहते हैं, रजोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'ब्रह्मा', तमोमिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'रुद्र' और तुल्य-त्रय रज-तम से मिश्रित सत्त्वावच्छिन्न चैतन्य को 'पुरुष' कहते हैं। जगत् के स्थिति, सृष्टि तथा संहार व्यापार में विष्णु, ब्रह्मा और रुद्र निमित्त कारण होते हैं; 'पुरुष' उपादान कारण होता है। ये चारो ब्रह्म के ही सगुणरूप हैं। अतः भागवत के मत में ब्रह्म ही अभिन्न-निमित्तोपादान कारण है।

पर-ब्रह्म ही जगत् के स्थित्यादि व्यापार के लिए भिन्न भिन्न अवतार धारण करते हैं। आद्योऽवतारः पुरुषः परस्य (भाग० २।६।४१)। परमेश्वर का जो अंश प्रकृति तथा प्रकृतिजन्य कार्यों का वीक्षण, नियमन, प्रवर्तन आदि करता है, मायासम्बन्ध रहित हुए भी माया से

१ वदन्ति तत् तत्त्वविदस्तत्त्व यज्ज्ञानमद्वयम् ।

ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दयते ॥ भाग० १ । २ । ११.

२ ज्ञान विशुद्धं परमार्थमेकमनन्तरं त्वबहिर्ब्रह्म सत्यम् ।

प्रत्यक् प्रशान्त भगवच्चब्दसज्ञ यद् वासुदेव कवयो वदन्ति ॥

भाग० ५ । १२ । ११,

युक्त रहता है, सर्वशक्ति से समन्वित रहता है, उसे 'पुरुष' कहते हैं। इस पुरुष से ही भिन्न भिन्न अवतारों का उदय होता है:—

भूतैर्यदा पञ्चभिरात्ममृष्टैः पुरं विराजं विरचय्य तस्मिन् ।

स्वांशेन विष्टः पुरुषाभिधानमवाप नारायण आदिदेवः॥ भाग० ११।४।३

ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र पर ब्रह्म के गुणावतार हैं। इसी प्रकार कल्पावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार आदि का वर्णन भागवत में विस्तार के साथ दिया गया है।

भगवान् अरूपी होकर भी रूपवान् हैं (भाग० ३।२४।३१)। भक्तों की अभिरुचि के अनुसार वे भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं (भाग० ३।९।११)। भगवान् की शक्ति का नाम 'माया' है जिसका स्वरूप भगवान् ने इस प्रकार बतलाया है—

ऋतेऽर्थं यत् प्रयीयेत न प्रतीयेत चात्मनि ।

तद् विद्यादात्मनो माया यथा भासो यथा तमः ॥२।९।३३

वास्तव वस्तु के बिना भी जिसके द्वारा आत्मा में किसी अनिर्वचनीय वस्तु की प्रतीति होती है (जैसे आकाश में एक चन्द्रमा के रहने पर भी दृष्टिदोष से दो चन्द्रमा दीख पड़ते हैं) और जिसके द्वारा विद्यमान रहने पर भी वस्तु की प्रतीति नहीं होती (जैसे विद्यमान भी राहु नक्षत्रमण्डल में दीख नहीं पड़ता) वही 'माया' है। भगवान् अचिन्त्यशक्तिसमन्वित हैं। वह एक समय में भी एक होकर भी अनेक हैं। नारदजी ने द्वारिका पुरी में एक समय में ही श्रीकृष्ण को ममस्त रानियों के महलों में विद्यमान भिन्न-भिन्न कार्यों में मंगल देखा था। यह उनकी अचिन्तनीय महिमा का विलास है। जीव और जगत् भगवान् के ही रूप हैं।

साधनमार्ग—इस भगवान् की उपलब्धि का सुगम उपाय बतलाना भागवत की विशेषता है। भागवत की रचना का प्रयोजन भी भक्तितत्त्व का निरूपण है। वेदार्थोपवृंहित विपुलकाय महाभारत की

(१०।१४।४)। अतः भक्ति की उपादेयता मुक्तिविषय में सर्वश्रेष्ठ है। भक्ति दो प्रकार की मानी जाती है—‘साधनरूपा भक्ति’ ‘साध्यरूपा भक्ति’। साधनभक्ति नव प्रकार की होती है—विष्णु का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन। भागवत में सत्संगति की महिमा का वर्णन ब्रह्म मुन्दर शब्दों में किया गया है। साध्यरूपा या फलरूपा भक्ति प्रेममयी होना है जिसके सामने अनन्य, भगवत्पादाश्रित भक्त ब्रह्मा के पद, इन्द्रपद, चक्रवर्तीपद, लोकाधिपत्य तथा योग की विविधविलक्षण सिद्धियों को कौन कहे, मोक्ष को भी नहीं चाहता। भगवान् के साथ नित्य वृन्दावन में ललित विहार की कामना करने वाले भगवच्चरणचञ्चरीक भक्त शुष्क नाग्न्य मुक्ति को प्रयासमात्र मानकर तिग्स्कार करते हैं।

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।

न योगसिद्धिारपुनर्भव वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्भिन्नान्यत् ॥

भाग० ११।१०।१४

भक्त का हृदय भगवान् के दर्शन के लिए उसी प्रकार छटपटाया करता है जिस प्रकार पक्षियों के पंखरहित बच्चे माता के लिए, भूख से व्याकुल बच्चे दूध के लिए तथा प्रिय के विरह में व्याकुल मुन्दरी अपने प्रियतम के लिए छटपटाती है—

अजातपक्षा इव मानरं खगाः स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधाताः ।

प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा मनोऽरविन्द दिदृक्षते त्वाम् ॥६।११।२६

भक्ति की ज्ञान से श्रेष्ठता प्रतिपादित करनेवाला यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वशाली है, क्योंकि आचार्य शंकर के दादा गुरु श्रीगोडपादाचार्य ने ‘उत्तरगीता’ का अपनी टीका में ‘तदुक्त भागवते’ कहकर इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः भागवत का समय गौडपाद (सप्तम शतक) से कहीं अधिक प्राचीन है। त्रयोदशशतक में उत्पन्न बोधदेव को भागवत का कर्ता मानना एक भयङ्कर ऐतिहासिक भूल है।

इस प्रेमाभक्ति की प्रतिनिधि ब्रज की गोपिकायें थीं जिनके विमल प्रेम का रहस्यमय वर्णन व्यास जी ने रामपञ्चाध्यायी में किया है। इस प्रकार भक्तिशान्त्र के सर्वस्व भागवत से भक्ति का रसमय स्रोत भक्तजनों के हृदय को आप्यायित करता हुआ प्रवाहित हो रहा है। भागवत के श्लोको में एक विचित्र अलौकिक माधुर्य है। अतः भाव तथा भाषा उभयदृष्टि से श्रीमद्भागवत का स्थान हिन्दुओं के धार्मिक साहित्य में अनुपम है। 'सर्ववेदान्तसार' भागवत (१२।१३।१८) का कथन यथार्थ है:—

श्रीमद् भागवतं पुराणममलं यद् वैष्णवानां प्रियं ,
यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते ।
तत्र ज्ञानविरागभक्तिसहितं नैष्कर्म्यमाविष्कृतं ,
तच्छृण्वन् विपठन् विचारणपरो भक्त्या विमुच्येन्नरः ॥



चतुर्दश परिच्छेद

वैष्णव दर्शन

नारायण ही भक्ति-ज्ञान के मूल स्रोत हैं। ज्ञान और भक्ति की धारार्यें नारायण से आरम्भ होकर जगन्मांगल्य के लिए प्रवृत्त होती हैं। भगवान् ही अद्वैत दर्शन तथा वैष्णवदर्शनो के उद्गम स्थान हैं। शुकदेव के द्वारा अद्वैत ज्ञानधारा प्रवृत्त हुई। शुक—१ गोंडपाद १ गोंविन्द भगवत्पाद— शंकराचार्य यह अद्वैतमार्ग की मुख्य आचार्य-परम्परा है। वैष्णवधर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं—श्रीवैष्णव सम्प्रदाय ब्रह्म सम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय तथा सनक सम्प्रदाय। इन समस्त सम्प्रदायों का उदय भगवान् से ही लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र तथा सनत्कुमार के द्वारा हुआ। नारायण से लेकर गुरु परम्परा का क्रम प्रत्येक सम्प्रदाय में मिलता है। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज 'विशिष्टाद्वैत' के, 'ब्रह्मसम्प्रदाय' के आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) 'द्वैत' के, 'रुद्र-सम्प्रदाय' के आचार्य विष्णुस्वामी तथा तदनुयायी आचार्य वल्लभ 'शुद्धाद्वैत' के, 'सनक सम्प्रदाय' के आचार्य निम्बार्क 'द्वैताद्वैत' सिद्धान्त के प्रचारक हैं। चैतन्यसम्प्रदाय माध्वमत की ही एक शाखा है, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैतवाद से पृथक् 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त को अपनाया है। पांचरात्र का प्रामाण्य सबको माननीय है, परन्तु श्री वैष्णवमत पर पांचरात्र का विशेष प्रभाव है। वैष्णवपुराणों में विष्णु

पुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को बल्लभ तथा चैतन्य ने अपनाया है। इस परिच्छेद में इन्हीं निगमागममूलक पाँचों वैष्णव दर्शनो का परिचय संक्षेप में क्रमशः दिया जायेगा।

(१) रामानुज दर्शन

दक्षिण भारत के तामिल प्रान्त को अपने भक्तिभय पद्यों तथा गायनो से आनन्दविभोर बनाने वाले वैष्णव सन्तों का नाम 'आलवार' है। 'आलवार' शब्द तामिल भाषा का शब्द है जिसका अर्थ आध्यात्मज्ञानरूपी समुद्र में गहरा गोता लगाने वाला पुरुष होता है। ये सन्त भगवान् नारायण के सच्चे भक्त थे। इन्होंने अपनी मातृभाषा तामिल में भक्तिरस से आप्लावित सहस्रो पद्यों की रचना कर साधारण जनता में भगवद्भक्ति का प्रचुर प्रचार किया। प्रसिद्ध 'आलवारों' में अनेक नीच जाति के पुरुष थे। मत्र से प्रसिद्ध नम्मालवार (शठकोपाचार्य) अद्भूत जाति के थे, 'तिरुमंगे' आलवार जाति से नीच, और कर्म से बड़े भारी डोक थे। गोदा या आण्डाल स्त्री थी। भगवान् के दरबार में जातिपाँति का आदर नहीं होता, वहाँ पहुँचने में केवल भक्तिमय हृदय की आवश्यकता होती है। 'आलवारों' ने अपने जीवन से इस सत्य को यथार्थ प्रमाणित कर दिया। 'आलवार' संख्या में १२ माने जाते हैं। इनकी स्तुतियों का संग्रह 'नालायिर प्रबन्धे' (चतुः सहस्र पद्यात्मक) कहा जाता है जो भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य, आनन्द से ओतप्रोत आध्यात्मज्ञान का एक अनमोल खजाना है। इनका आविर्भात काल सप्तम शताब्दी से लेकर नवम शताब्दी तक माना जाता है।

आलवारों के नाम दो प्रकार के मिलते हैं। एक तो तामिल नाम और दूसरा संस्कृत नाम। इनके जीवन की घटनायें बड़े विस्तार के साथ

लिखी गई है। इन भक्तों का आदर इतना अधिक है कि इनकी मूर्तियों की स्थापना वैष्णव मन्दिरों में की गई है जहाँ इनके मधुर पद्य आज भी गाये जाते हैं तथा इनकी प्रभावशालिनी जीवनघटनायें नाटक के रूप से सर्वसाधारण के उपदेश के लिए दिखलाई जाती हैं। इनके पद्य वेदमन्त्रों के समान पवित्र तथा मुक्तिरूपी गंगा के बहाने वाले हैं। पवित्रता और आध्यात्मिकता के कारण इन पद्यों का पूर्वोक्त संग्रह 'तामिलवेद' के महनीय नाम से पुकारा जाता है। इनके नाम पराशर-भट्ट ने एक सुन्दर श्लोक में दिया है—

भूतं सरञ्च महदाह्वयभट्टनाथ-

श्रीभक्तिसारकुलशेखरयोगिवाहान् ।

भक्ताङ्घ्रिरेणु-परकाल-यतीन्द्रमिश्रान्

श्रीमत्पराकुशमुनि प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥

आरम्भ के तीन आळवारों के नाम पोयगै' आळवार (सरोयोगी), 'भूतत्ताळवार' (भूतयोगी), 'पेयाळवार' (महत्योगी) है। ये प्रायः सम-कालीन तथा सबसे प्राचीन माने जाते हैं। चौथे भक्त का नाम 'तिरु-मडिसै' आळवार (भक्तिसार) है जो उनकी जन्मभूमि तिरुमडिसै के कारण है। पञ्चम आळवार इन भक्तों की श्रेणी के मुकुटमणि माने जाते हैं। इसका नाम 'नम्माळवार' या पराकुशमुनि या शटकोपाचार्य है। इन्होंने चार मुप्रसिद्ध भक्तिज्ञानप्रपूरित ग्रन्थरत्नों की रचना की है—(क) तिरुविरुत्तम्, (ख) तिरुवाशिरियम्, (ग) पेरियतिरुवन्दादि, (घ) तिरुवैयमोळि। साहित्यिक सौन्दर्य से समन्वित ये ग्रन्थ आध्यात्मिकतत्त्वों के प्रदर्शक होने के कारण श्रीवैष्णव ग्रन्थों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। ये चारों ग्रन्थ चारों वेदों के समकक्ष स्वीकृत किये गये हैं। वेदान्तदेशिक ने अन्तिम ग्रन्थ को 'द्रविडोपनिषद्' कहा है तथा उसका संस्कृत भाषा में अनुवाद किया है। श्रीवैष्णवों के मौलिक सिद्धान्त—

मूलमन्त्र, द्वय तथा चरम श्लोक—का प्रतिपादन होनेसे ये वैष्णव समाज में समधिक आदर के भाजन हैं। योगी शठकोपाचार्य के शिष्य (६) 'मधुरकवि' ने अपने गुरुदेवका पवित्र चरित्र लिखकर गुरुभक्ति को ईश्वर-भक्ति के समान ही आदरणीय बतलाया है। (७) 'कुलशेखर' आळ्वार मालावार प्रान्त के प्रजारञ्जक राजा थे। राज्यवैभव को लात मारकर ये श्रीरंगम् में एक साधारण निर्धन भक्त के समान जीवनयापन करते थे। इन्होंने 'पेरुमाल तिरामोळि' की रचना तामिलभाषा में और 'मुकुन्द-माला' की रचना संस्कृत में की है जो भाषा और भाव के सौन्दर्य के कारण रसिक समाज में नितान्त प्रख्यात है। (८) 'पेरिय आलवार' का दूसरा नाम 'विष्णुचित्त' है जिन्होंने दक्षिण के एक बड़े राजा को वैष्णव बनाया था। (९) 'गोदा' या आण्डाल को विष्णुचित्त अपना पुत्री के समान मानते थे। आण्डाल कृष्ण के प्रेम में सदा मस्त रहती थी। वह श्रीरंगम् के रंगनाथजी को अपना पति मानती थी। गोपीप्रेम की झलक आण्डाल के जीवन तथा काव्य में भरपूर मिलती है। इनके 'तिरुप्पावै' तथा नाच्चियार तिरामोळि' नामक काव्यग्रन्थ भक्तिरस से विभोर भक्तजन के हृदयोद्गार हैं। (१०) 'तोण्डरडिप्पोलि' (विप्र-नारायण) की उपाधि 'भक्तपदरेणु' है, क्योंकि वे श्रीरंगम् के मन्दिर में आने वाले समस्त भक्तजनों का चरणामृत लिया करते थे। (११) 'तिरुप्पन' (मुनिवाहन, योगवाहन) जाति से अछूत थे, पर भक्ति में पहुँचे हुए भक्त थे। (१२) 'तिरुमंगैआ' आलवार (नीलन्, परकाल) अछूत जाति के एक बड़े भयानक डाकू थे और लूट से मिले द्रव्य से भगवान् के मन्दिरों को बनवाते थे। इन्होंने ६ पद्यग्रन्थों का निर्माण किया है जो तामिलभाषा के 'वेदांग' माने जाते हैं। ग्रन्थरचना की दृष्टि से नीलन् का स्थान शठकोपाचार्य से कुछ ही घटकर है। इन्हीं आलवारों के उद्योग का फल था कि परवर्तीकाल में रामानुज को श्री वैष्णव मत के प्रचार करने में इतनी सफलता प्राप्त हुई।

(क) विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य

दशम शताब्दी में तामिलग्रान्त में वैष्णवधर्म की विशेष उन्नति हुई। इस समय से संस्कृतज्ञ विद्वानों ने तामिल जनता में विष्णुभक्ति के प्रचार करने का श्लाघनीय उद्योग किया। ये 'आचार्य' कहलाते हैं। इन आचार्यों ने आलवारों की भक्ति के साथ वेद-प्रतिपादित ज्ञान तथा कर्म का सुन्दर समन्वय किया; तामिल वेद तथा संस्कृत वेद का गहरा अध्ययन कर इन लोगों ने तामिलवेद के सिद्धान्तों का वैदिक सिद्धान्तों से पूरा सामञ्जस्य दर्शाया। इस कारण ये 'उभयवेदान्ती' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त की और 'प्रपत्ति' मार्ग की प्रतिष्ठा कर एक नवीन वैष्णव मत को चलाया जो 'श्री' या 'लक्ष्मी' के आद्य प्रवर्तक होने के कारण 'श्रीवैष्णव' के नाम से विख्यात है। इन आचार्यों के आद्य आचार्य (१) रंगनाथ मुनि (८२४-९२४) 'नाथ मुनि' के नाम से वैष्णव जगत् में विख्यात हैं। ये शठकोपाचार्य का शिष्यपरम्परा में थे। इन्होंने लुप्तप्राय 'तामिलवेद' का पुनरुद्धार किया, श्रीरंगम् के प्रसिद्ध मन्दिर में भगवान् के सामने इनके गायन की व्यवस्था की तथा वैदिक ग्रन्थों के ही समान इन ग्रन्थों का भी अध्यापन प्रारम्भ किया। इनके 'योगरहस्य' का उल्लेख वेदान्तदेशिक ने किया है। इनका 'न्यायतत्त्व' विशिष्टाद्वैत का प्रथम ग्रन्थ है जिसमें न्याय के तत्त्वों का विवेचन है। (२) यामुनाचार्य का विख्यात नाम 'आल-वन्दार' है। ये नाथमुनि के पौत्र थे। ९७३ ई० के लगभग ये आचार्य की गद्दी पर श्रीरंगम् में प्रतिष्ठित हुए। नाथमुनि के बाद 'पुण्डरीकाक्ष' और 'राममिश्र' आचार्य पद पर आरूढ़ थे। राममिश्र के उद्योग करने पर यामुन ने राजसी वैभव का तिरस्कार कर वैष्णवमत के प्रचार में अपना शेष जीवन बिताया। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं—(२) गीतार्थ संग्रह, (२) श्री चतुःश्लोकी (लक्ष्मी की स्तुति), (३) सिद्धित्रय (आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, मायाग्वण्डन तथा आत्म-विषयमन्त्रन्ध प्रति-

पादक सवित्-सिद्धि) (४) महापुरुषनिर्णय (विष्णु की श्रेष्ठता का प्रति-पादन), (५) आगमप्रामाण्य (पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता का विवेचन) (६) आलवन्दारस्तोत्र (स्तोत्ररत्न) यामुन के ग्रन्थों में सब से अधिक लोकप्रिय इस स्तोत्र के ७० पद्यों में 'आत्मसमर्पण' के सिद्धान्त का मनोरम वर्णन है। कविहृदय की भक्ति-भावना इन सरस पद्यों में फूट कर बह रही है।

(३) **रामानुजाचार्य** - (१०३७-११३७ ई०)-ये यामुनाचार्य के पौत्र श्रीशैलपूर्ण के भागिनेय थे। आचार्य यादवप्रकाश से पहले वेदान्त पढ़ते थे, परन्तु गुरु के अद्वैतमत में विपुल दोष देखकर इन्होंने पढ़ना छोड़ दिया तथा अन्य आचार्यों से वैष्णवशास्त्र का अध्ययन किया। ये यामुनाचार्य के अनन्तर प्रधान आचार्य बने। पत्नी से मतभेद, संन्यासग्रहण, शैवमतानुयायी चोल नरेश के अत्याचारों से तंग आकर मैसूर में भाग आना, मेलकोंट में लगभग १२ वर्ष तक निवास तथा त्रिष्टिदेव (विष्णुवर्धन) को वैष्णव मत में दीक्षित करना—आदि इनकी जीवनघटनायें नितान्त प्रसिद्ध हैं। ब्रह्मसूत्र के ऊपर विशिष्टाद्वैतमतानुयायी 'श्रीभाष्य' (रचनाकाल ११०० के आसपास) की स्वयं रचना कर, अपने शिष्य कुरेश के पुत्र पाराशर भट्ट के द्वारा विष्णुसहस्रनाम पर पाण्डित्यपूर्ण 'भगवद्गुणदर्पण' भाष्य और अपने मानुलपुत्र कुरुकेश के द्वारा नम्माळ्वार के 'तिरुवायमोळि' पर तामिल भाष्य का निर्माण कराकर रामानुज ने यामुन के तीनों मनोरथों की पूर्ति कर दी। आपके सुप्रसिद्ध ग्रंथ हैं—(१) वेदार्थसंग्रह (शांकर मत, भास्कर मत का खण्डनात्मक मौलिक ग्रंथ—सुदर्शनसूरि की 'तात्पर्यटीका' विख्यात व्याख्या है); (२) वेदान्तसार—ब्रह्मसूत्र की लघ्वक्षर टीका, (३) वेदान्तदीप—यह भी ब्रह्मसूत्र की टीका है, पर सार से विस्तृत है; (४) गद्यत्रय—(ईश्वर तथा प्रपत्ति विषयक सुन्दर ग्रन्थ) (५) गीताभाष्य (वेदान्तदेशिक कृत तात्पर्यचन्द्रिका टीका); (६) श्रीभाष्य—रामानुज के पाण्डित्य का उत्कृष्ट

उदाहरण है। इसमें विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्तों का विस्तृत, प्रामाणिक विवेचन है।) इन्होंने ब्रोधायन, टंक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि, भारुचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यों के व्याख्यानो पर इस विशिष्टाद्वैत मार्ग का अवलम्बित होना बतलाया है (वेदार्थसंग्रह पृ० १४८)।

परवर्ती आचार्यों ने श्रीभाग्य के गूढार्थ को प्रकट करने के लिए अनेक वृत्तिग्रंथों की रचना की है—(१) 'सुदर्शनसूत्रि' (१३ श०) की 'श्रुतप्रकाशिका' भाष्यवृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ मानी जानी है। (२) इनके पहले भी 'राममिश्र देशिक' ने 'श्रीभाग्यविवृत्ति' लिखी थी, (३) 'वात्स्य-वरद' कृत 'तत्त्वमार', (४) वेदान्तदेशिक' कृत 'तत्त्वटीका' (५) 'वीर-राघवदाम' (१४ श०) की 'तात्पर्यदीपिका', (६) 'मेघनादारि' कृत 'नयप्रकाशिका', (७) 'परकालयति' की 'मितप्रकाशिका'—आदि टीकाएं श्रीभाग्य के गौरव को बढ़ाने वाली हैं।

आचार्य रामानुज की मृत्यु के डेढ़ सौ वर्षों के भीतर ही श्रीवैष्णवों में दो बड़े स्वतन्त्र मत उठ खड़े हुए। एक पक्ष तामिल वेद की ही प्रामाणिकता अक्षुण्णभावेन स्वीकार करता था तथा संस्कृत के दो मत निबन्ध ग्रंथों में आस्था न रखता था। तामिल के पक्षपाती इस मत का नाम 'टंकलै' है। दूसरा पक्ष दोनों को प्रमाण कोंटि में मानता था पर संस्कृताभिमानि था। इस मत का नाम 'वडकलै' है। दोनों में भाषाभेद के साथ अठारह सिद्धान्तगत पार्थक्य भी हैं, (जिनमें 'प्रपत्ति' के विषय में पार्थक्य विशेष है। टंकलै मत के अनुसार प्रपत्ति के लिए जीव को कर्म करने की आवश्यकता नहीं रहती। शरणापन्न होते ही भगवान् स्वयं जीव का उद्धार करते हैं। परन्तु 'वडकलै' मत में जीव को प्रपत्ति के लिए भी कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है। मार्जार किशोर (बिल्ली का बच्चा) और कपिकिशोर (बन्दर का बच्चा) के दृष्टान्त इन मतों के भेद को समझाने के लिए क्रमशः दिये जाते हैं। टंकलै

मत के प्रतिष्ठापक **श्रीलोकाचार्य** (१३ शतक) थे जिन्होंने 'श्रीवचन-भूषण' ग्रंथ में इस प्रपत्तिपन्थ का विशद शास्त्रीय विवेचन किया है। 'वडकलै' मत के प्रतिष्ठापक विख्यात 'वेदान्तदेशिक' थे जो लोकाचार्य के समकालीन थे। लोकभाषा पर पक्षपात दिखलाने के कारण आजकल वडकलै मत का प्रचार, प्रसार तथा प्रभाव दक्षिण भारत में विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

रामानुज सम्प्रदाय की ग्रन्थसम्पत्ति शाङ्करमत से कम नहीं है, परन्तु प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या बहुत नहीं है। विख्यात परिशिष्टग्रन्थ-साहित्य ग्रन्थकारों का ही यहाँ निर्देश करना पर्याप्त होगा:—

(१) **सुदर्शनसूरि**—ये वरदाचार्य (१२००-१२७५) के शिष्य थे। इन्होंने अपने गुरु के व्याख्यानों के आधार पर श्रीभाष्य की प्रसिद्ध व्याख्या 'श्रुत-प्रकाशिका' लिखी है। इसके अतिरिक्त श्रुतदीपिका, उपनिषद्-व्याख्या, वेदार्थसंग्रह पर तात्पर्यदीपिका, भागवत पर शुक्ल-पञ्चांग टीका प्रसिद्ध हैं।

(२) **वैकटनाथ** (१२६९-१३६९ ई०)—वेदान्ताचार्य के नाम से विख्यात है। इनकी कोटि का विद्वान् श्रीवैष्णवपन्थ में दूसरा कोई नहीं हुआ। इनकी 'कवितार्किकसिंह' तथा 'सर्वतन्त्रस्वतन्त्र' उपाधि यथार्थ हैं। ये कवि, तार्किक, विचारक, शास्त्रार्थवादक रूप में सम-भावेन आदरणीय हैं। इनके काव्यग्रन्थों में संकल्पसूर्योदय, हंसदूत, गमाभ्युदय, यादवाभ्युदय, पादुकामहन्त्र काव्यदृष्टि से अनुपम हैं। दार्शनिक ग्रन्थों में श्रेष्ठ रचनायें ये हैं—तत्त्वटीका (श्रीभाष्य पर विस्तृत व्याख्या), अधिकरणसारावली (ब्र० मृ० के अधिकरणों का पञ्चमय विवेचन), तत्त्वमुक्ताकलाप (सर्वार्थसिद्धि टीका के साथ), न्यायपरिशुद्धि और न्यायमिद्धाञ्जन में विशिष्टाद्वैत मत की प्रमाण-गीमामा वर्णित है; गीतार्थतात्पर्यचन्द्रिका (रामानुज के गीताभाष्य की

टीका), ईशावास्यभाष्य, द्रविडोपनिषद्तात्पर्यरत्नावली, शतदूषणी (रामानुजदास कृत 'चण्डमारुत' टीका; अद्वैत का विविध प्रकार से प्रचण्ड खण्डन)। 'सेश्वरमीमामा' का परिचय पहले दिया गया है। पाञ्चरात्ररक्षा, मन्त्ररित्ररक्षा, निक्षेपरक्षा, न्यामविंशति आदि निबन्ध 'प्रपत्ति' और धर्म विषयक महत्त्वशाली ग्रन्थ हैं। इनके मामा **आत्रेय रामानुज** का 'नयकुलिश' तर्क विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। (३) **लोकाचार्य**—१३२७ ई० में श्रीरंगम् की यवनो के द्वारा नष्ट जाने पर मन्दिर की रक्षा में इन्होंने प्राण गँवाया। 'श्रीवचनभूषण' के अतिरिक्त १६ रहस्यों की रचना की थी जिनमें 'तत्त्वत्रय' तथा 'तत्त्वशेखर' प्रकाशित हैं। (४) **वरवरमुनि** (१५ श०) टेकलै मत के सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने जाते हैं जिन्होंने लोकाचार्य के ग्रन्थों पर टीकायें लिखी तथा 'तामिलवेद' के भाष्यों का प्रचुर प्रचार किया। (५) **श्रोनिवास** (१६ श०) की 'यतीन्द्रमतदीपिका' रामानुजमत का लोकप्रिय ग्रन्थ है। (६) **रङ्गरामानुज** (१६ श०) ने ब्रह्मसूत्र पर, श्रीभाष्य पर, न्याय-सिद्धाञ्जनपर टीकायें लिखीं। बृहदारण्यक तथा छान्दोग्य पर विशिष्टा-द्वैती भाष्य तथा रामानुजसिद्धान्तसार नामक प्रकरणग्रन्थ की रचना की है।

(ख) रामानुज की पदार्थ मोमांसा

रामानुजमत में पदार्थ तीन हैं—चित्, अचित् और ईश्वर। चित् ने अभिप्राय भोक्ता जीव से, अचित् का तात्पर्य भोग्य जगत् से तथा ईश्वर से अभिप्राय सर्वान्तर्यामी से है। रामानुज की यह पदार्थत्रैविध्य कल्पना श्वेताश्वतर के भोक्ता, भोग्य तथा प्रेरिता ब्रह्म के आधार पर प्रतिष्ठित है (भोक्ता भोग्य प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्म एतत्—श्वेता० १।१२)। जीव तथा जगत्, वस्तुतः नित्य तथा स्वतन्त्र पदार्थ हैं, तथापि वे ईश्वर के अधीन रहते हैं, क्योंकि अन्तर्यामी रूप से

वह ईश्वर दोनों की भीतर विराजमान रहता है^१ (परमेश्वरस्यैव भोक्तृ-
भोग्ययोरुभयोरन्तर्यामिरूपेणावस्थानम्-स० प० सं० पृ० ४०) । इसलिए
चित् तथा अचित् ब्रह्म के शरीर या प्रकार माने जाते हैं । ईश्वर
प्राकृत-गुण-रहित, निखिलहेयप्रत्यनीक, कल्याणगुण-गुणाकर, अनन्त
ज्ञानानन्दस्वरूप, ज्ञानशक्त्यादि-कल्याणगुणविभूषित तथा सकल-जगत्-
सृष्टिस्थितिसंहारकर्ता है । अतः रामानुज के मत में सगुण या सविशेष
ब्रह्म ही उपनिषदप्रतिपाद्य है, क्योंकि जगत् में निगुण वस्तु की कल्पना
ही असम्भव है । मसार के समस्त पदार्थ गुणविशिष्ट ही होते हैं,
निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी सविशेष वस्तु का ही प्रतीति होता है (सर्व-
प्रमाणस्य सविशेषविपतया निर्विशेषवस्तुनि न किमपि प्रमाणं समस्ति ।
निर्विकल्पकप्रत्यक्षेऽपि सविशेषमेव वस्तु प्रतीयते-स० द० सं० पृ०
६३) । यह ईश्वर सजातीय-विजातीय भेद शून्य होने पर भी स्वागत-
भेदसम्पन्न है । ईश्वर के समान सजातीय तथा विजातीय पदार्थ की
सत्ता नहीं है, अतः वह द्विविधभेद शून्य है, परन्तु चिदचिद् ईश्वर के
शरीर हैं जिनमें चिदंश अचिदंश से सर्वथा भिन्न रहता है । अतः ईश्वर
स्वगतभेद से शून्य नहीं है ।

ईश्वर--ईश्वर के साथ चिद् अचिद् का सम्बन्ध किस प्रकार का
है ? इस प्रश्न की मीमांसा के लिए आचार्य श्रीरामानुज ने द्रव्य तथा
गुण अथवा द्रव्य तथा अन्य द्रव्य में विद्यमान रहने वाला 'अपृथक्
सिद्धि' नामक सम्बन्ध स्वीकृत किया है । यह सम्बन्ध न्याय-वैशेषिकसम्मत
समवाय के अनुरूप होने पर भी उससे भिन्न है । समवाय बाह्य सम्बन्ध
है, परन्तु अपृथक्सिद्धि आन्तर सम्बन्ध है । चिदचिद् का सम्बन्ध ईश्वर
के साथ शरीर तथा आत्मा के परस्परसम्बन्ध के नितरां अनुरूप है ।

१ ईश्वरश्चिदचिच्चेति पदार्थत्रितय हरिः

ईश्वरश्चिदिति प्रोक्तो जीवो दृश्यमचित् पुनः ॥ स० द० सं० पृ० ३८ ।

शरीर वही है जिसमें आत्मा के लिए नियमेन आधेयत्व, नियमेन विधेयत्व तथा नियमेन शेषत्व हो अर्थात् जिसे आत्मा धारण करता है, नियमन करता है तथा अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कार्य में प्रवृत्त करता है। ठीक इसी प्रकार ईश्वर चिदचिद् को आश्रित करता है तथा कार्य में प्रवृत्त करता है^१। इनमें जो प्रधान होता है वह नियामक होता है तथा 'विशेष्य' कहलाता है। जो गौण होता है वह नियम्य होता है तथा उसे 'विशेषण' कहलाता है। यहाँ नियामक तथा प्रधान होने से ईश्वर विशेष्य है। नियम्य तथा अप्रधान होने से जीव तथा जगत् विशेषण है। आत्मभूत ईश्वर के चिदचिद् शरीर हैं। विशेष्यभूत ईश्वर के चिदचिद् विशेषण हैं। विशेषण पृथक् न हो कर विशेष्य के साथ सदैव सम्बद्ध रहते हैं। अतः विशेषणों से युक्त विशेष्य अर्थात् विशिष्ट की एकत्व कल्पना युक्तियुक्त है। ब्रह्म अद्वैतरूप है, क्योंकि अगभूत चिदचिद् को अग्री से पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती। 'विशिष्टाद्वैत' नामकरण का यही रहस्य है।

यही ईश्वर सकल जगत् का अभिन्ननिमित्तापादन कारण है^१। यह कारण व्यापार न तो अविद्याकर्मनिबन्धन है और न परनियोगमूलक है, अपि तु स्वेच्छाजन्य है। रचना का प्रयोजन केवल लीला है, अन्य कुछ नहीं। बालक जिस प्रकार खिलौनों से खेलता है, उसी प्रकार वह लीलाधाम भगवान् जगत् उत्पन्न कर खेल किया करता है। संहारदशा में लीला की विरति नहीं होती, क्योंकि संहार भी उसकी एक लीला ही है। जीव और जगत् दोनों नित्यपदार्थ हैं। अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूलरूप और सूक्ष्मरूप धारण करने से हैं। प्रलयकाल^२ में

१ सर्वं परमपुरुषं सर्वान्मात्रा स्वार्थं नियाम्य धार्यं तच्छेषैकस्वरूपमिति सर्वं तन्नाचेतनं तस्य शरीरम्—२।१।९ श्रीभाष्य।

२ गुरुगुरुभगिनिप्राणकारकं ब्रह्मैव कार्यं कारणं त्वेन ब्रह्मोपादानं जगत्।

जीवजगत् के सूक्ष्मरूपात्म होने पर सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कारणावस्थ ब्रह्म' कहलाता है, और सृष्टिकाल में स्थूलरूप धारण करने पर स्थूल चिदचिद्विशिष्ट ईश्वर 'कार्यावस्थ ब्रह्म' कहलाता है। वह निर्विशेष किसी भी अवस्था में नहीं रह सकता। अद्वैतपरक श्रुतियों का तात्पर्य इसी कारणावस्थ ब्रह्म से है। ब्रह्म समस्त हेयगुणों से शून्य है। इस लिए वह 'निर्गुण' कहलाता है (निर्गुणवादश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणसम्बन्धादुपपद्यते—श्रीभाष्य पृ० ८३)। 'एकमेवाद्वितीयम्' आदि वाक्यों का विषय वही अव्याकृत ब्रह्म है जिसमें प्रलयकाल में जीव तथा जगत् सूक्ष्मरूप को धारण कर लेते हैं। विशिष्टाद्वैतवादियों का कथन है—वस्त्वन्तर्गविशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं श्रुत्यभिप्रायः। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्टस्य ब्रह्मणः तदानीं सिद्धत्वात् विशिष्टस्यैव अद्वितीयत्वं सिद्धम् (वेदान्ततत्त्वसार)। इसी कारण इस मत का 'विशिष्टाद्वैत' नामकरण नितान्त सार्थक है। भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने तथा जगत् की रक्षा करनेके पवित्र उद्देश्य से ईश्वर पाँच प्रकार के—पर, व्यृह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चावतार—रूपों को धारण करता है (तत्त्वत्रय पृ० १२२-१४१)। ईश्वर के इस पञ्चविधरूप की कल्पना रामानुज ने प्राचीन भागवत सम्प्रदाय से ग्रहण की है।

इस प्रकार रामानुज की ईश्वर कल्पना शांकरमत की कल्पना से भिन्न है। शांकरमत में (१) एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त दृश्यमान प्रपञ्च कुछ नहीं हैं, (२) ब्रह्म अद्वैत मत से पार्थक्य सजातीय-विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य है, (३) ब्रह्म निर्विशेष तथा निर्गुण है, परन्तु रामानुज मत में (१) चिदचिदरूप शरीर विशिष्ट ब्रह्म सत्य है, इसके तथा उसके शरीर (जीव और

सूक्ष्मचिदचित्तोः सर्वावस्थावस्थितयोः परमपुरुषशरीरत्वेन तत्प्रकारतया पदार्थत्वात् तत्प्रकारः परमपुरुषः सर्वदा सर्वशब्दवाच्य इति विशेषः। श्रीभाष्य पृ० ८२ ।

जगत्) मे भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है। (२) मजातीय-विजातीय शून्य होने पर भी वह स्वगत भेद मे शून्य नहीं है (३) ब्रह्म सविशेष ही है, स्वभाव से ही उसमें अपहृतपाप्मत्वादि कल्याण गुणों की मत्ता है, प्राकृतहेय गुणों से वह सर्वथा हीन है। शाकर मत में (४) ब्रह्म ही मायोपाधि से ईश्वर और अवियोपाधि से जीव कहलाता है, परन्तु जड़ जगत् प्रतिभासिक (मिथ्या) ही है। अतः तत्त्व एक ही है। रामानुज के अनुसार (४) ब्रह्म ही ईश्वर है, उसके शरीरभूत जीव और जगत् उससे भिन्न हैं तथा नित्य हैं। अतः पदार्थ तीन हैं एक नहीं।

अब 'चित्' के स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिए। वह देहेन्द्रिय-मनः प्राणबुद्धि से विलक्षण, अजड, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, चित् निरवयव, निर्विकार, ज्ञानाश्रय है (तत्त्वत्रय पृ० ५)। ज्ञान के बिना स्वयमेव प्रकाशित होने से वह अजड है। मुमुक्षु के अनन्तर जागने पर मुखपूर्वक निद्रित होने का लौकिक अनुभव ज्ञान का आनन्दरूप सिद्ध करता है। हृदयदेश में निवास करने के कारण वह अणु है। मुण्डक (३।१।९) और श्वेताश्वर के आधार पर^१ ममग्र वैष्णव सम्प्रदाय जीव को अणु मानते हैं। जीव ईश्वर के द्वारा नियमित किया जाता है। जीव में एक विशेष गुण 'शेषत्व' विद्यमान है अर्थात् वह अपने कार्यकलापो के लिए ईश्वर पर सर्वतोभावेन अवलम्बित है। ईश्वरानुग्रह के बिना वह अपने कर्तव्यों का मुच्चास सम्पादन नहीं कर सकता। जीव की विशिष्टाद्वैतवादी कल्पनाये अद्वैतवादियों से अनेक बातों में नितान्त भिन्न ठहरती हैं। जहाँ अद्वैती आत्मा को विभु बतलाते हैं, वहाँ विशिष्टाद्वैती उसे अणु मानते हैं। अद्वैतमत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नाना प्रतीत होता है। पर रामानुज मत में जीव अनन्त हैं, वे एक दूसरे से नितान्त पृथक् हैं।

१ बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्याय कल्पते ॥ श्वेता० ५।९ ।

देह तथा देहों के समान जीव भी ब्रह्म में कथमपि अभिन्न नहीं है । ब्रह्म से जीव नितान्त भिन्न है । जीव आध्यात्मिकादिदुःखत्रय से नितरा पीड़ित है ऐसी दशा में उसकी ब्रह्म के साथ अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है ? “ब्रह्म जगत् का कारण तथा करणाधिप (जीव) का अधिपति है (स कारण करणाधिपाधिपः—श्वेता० उप० ६।९) ; “जो आत्मा के भीतर संचरण करता है वही अन्तर्यामी अमृत तुम्हारा आत्मा है” (य आत्मानमन्तरं यमयति स त आत्मा अन्तर्याम्यमृतः—बृह० उप० ३।६।३) । दोनों अज हैं—एक ईश है दूसरा अनीश । एक प्राज्ञ है दूसरा अज्ञ (शाश्वतं ज्ञानं प्राज्ञाज्ञानौ श्वेता० १।९)—आदि भेदमूलक श्रुतियाँ जीव को ब्रह्म से नितान्त पृथक्, स्वतन्त्र बतलाती हैं । अतः दोनों का अभेद बतलाना वास्तव नहीं है । ब्रह्म अखण्ड वस्तु है, तब जीव को उसका खण्ड बतलाना कहाँ तक उचित है ? रामानुज का कहना है कि चिन्तगारी जिस प्रकार अग्नि का अंश है, देह देही का अंश है, उसी प्रकार जीव ब्रह्म का अंश है । अभेदश्रुतियों का भी यही तात्पर्य है कि जीव ब्रह्मव्याप्य तथा ब्रह्म का शरीर है । अतः जीव ब्रह्म में अशाशीभाव या विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध है ।

इस प्रसंग में ‘तत् त्वमसि’ महावाक्य की रामानुजीय व्याख्या भी ध्यान देने योग्य है । ‘त्वं’ पदार्थ साधारणतया जीव का प्रतीक माना जाता है, पर विशिष्टाद्वैत मत में ‘त्वं’ का अर्थ है, ‘तत्त्वमसि’ का अर्थ अचिद्विशिष्ट जीवशरीरवाला ब्रह्म । ‘तत्’ पद से अभिप्राय सर्वज्ञ, सत्यसंकल्प जगत्काण्ण ईश्वर से है । इस प्रकार इस महावाक्य का अभिप्राय है कि अन्तर्यामी ईश्वर तथा विश्वप्रपञ्च का निर्माता ईश्वर दोनों की तात्त्विक एकता है अर्थात् एक विशेषण से विशिष्ट ईश्वर तदन्यविशेषण से विशिष्ट ईश्वर के साथ नितान्त अभिन्न है—अतः एकता विशिष्ट ईश्वर की है (विशिष्टयोरैक्यम्) । इसी

कारण रामानुजसिद्धान्त का 'विशिष्टाद्वैत' सज्ञा दी गई है [तत्पदं हि सर्वज्ञ सत्यमकल्प जगत्कारणं ब्रह्म परामृशति । तदैक्षत बहुस्याम् (छा- ६।२।३)] इत्यादिषु तस्यैव प्रकृतत्वात् । तत्समानाधिकरणं त्वं पदं च अचिद्विशिष्टजीवशरीरकं ब्रह्म प्रतिपादयति । प्रकारद्वयावस्थितैकवस्तुपगत्वात् समानाधिकरण्यस्य--श्रीभाष्य (पृ० ८०)] ।

ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु को 'अचित्' कहने हैं । लोकाचार्य ने (तत्त्वत्रय पृ० ४१) अचित् तत्त्व के तीन भेद माना है:--शुद्धसत्त्व,

अचिद् तत्त्व

मिश्रसत्त्व और सत्त्वशून्य । शुद्धसत्त्व का दूसरा नाम नित्यविभूति है । इस तत्त्व की कल्पना रामानुज दर्शन

की विशेषता है । मिश्रसत्त्व तमोगुण तथा रजोगुण से मिश्रित होने के कारण प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है । इसी का दूसरा नाम माया, अविद्या या 'प्रवृत्ति' है । सत्त्वशून्य तत्त्व 'काल' कहलाता है । शुद्धसत्त्व को शुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का लेशमात्र भी समावेश नहीं रहता । यह नित्य, ज्ञानानन्द का जनक, निरवधिकतेजोरूप द्रव्यविशेष है । इससे ईश्वर, नित्यपुरुषो तथा मुक्त पुरुषो के शरीर, भोगसाधन चन्दनकुमुमादि तथा भोगस्थान स्वर्गादिको की उत्पत्ति ईश्वर के संकल्पमात्र से होती है । ईश्वर तथा नित्यपुरुषो के शरीर भगवान् की नित्येच्छा से सिद्ध हैं, मुक्त पुरुषो का शरीर भगवान् के संकल्प से उत्पन्न होता है । भगवान् के व्युद्भविवभादिरूप इसी शुद्धासत्त्व के उपादान से निर्मित होते हैं । वे प्रकृतिजन्य न होने से अप्राकृत हैं । रामानुज का यह मुख्य सिद्धान्त है कि आत्मा बिना शरीर के किसी भी अवस्था में अवस्थित नहीं रह सकता, अतः मुक्तावस्था में भी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है । परन्तु शुद्धसत्त्व का बना हुआ वह शरीर अप्राकृत होता है और भगवान् की सेवा करने के निमित्त धारण किया जाता है । इसी नित्यविभूति का नाम त्रिपाद्विभूति, परमपद, परमव्योम, अमृत, वैकुण्ठ, अयोध्या आदि है । 'यतीन्द्रमतदीपिका'

(पृ० २४-२५) में श्रीनिवासदाम ने इस तत्त्व का वर्णन बड़े विस्तार के साथ किया है ।

(ग) साधन-मार्ग

सकल-कल्याणगुणनिधान भगवान् नारायण के अनुग्रह से ही जीव इस विषम संसार में मुक्तिलाभ करता है । मुक्ति के लिए कर्म भी उपा-
साधनमार्ग देय हैं । वेदविहित कर्म के अनुष्ठान से चित्त की शुद्धि होती है । अतः वर्णाश्रमविहित कर्मों का विधान मानवमात्र का कर्तव्य है । चित्तशुद्धि होने पर ही ब्रह्म की जिज्ञासा उत्पन्न होती है । अतः कर्ममीमांसा का अध्ययन ज्ञान-मीमांसा के लिए आवश्यक तथा पूर्ववर्ती है । ज्ञान कर्म के साथ भक्ति के उदय होने में सहकारी कारण है । यामुनाचार्य ने इसीलिए कहा है—उभयपरिकर्मित-स्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः अर्थात् ज्ञानयोग और कर्मयोग से विशुद्ध अन्तःकरणवाला पुरुष एकान्तिक भक्तियोग से भगवान् का प्राप्ति करता है । मुक्ति के उदय होने में भक्ति ही प्रधान कारण है^१ और भक्ति में भी परा प्रपत्ति—शरणागति । जबतक जीव भगवान् के शरण में नहीं जाता, तबतक उसका परम कल्याण हो नहीं सकता । परन्तु शरणागति के लिए कर्मों का अनुष्ठान उचित है या अनुचित ? इस पर श्रीवैष्णव आचार्यों में पर्याप्त मतभेद है । ‘टंकलइ’ मत के मस्थायक श्रीलोकाचार्य प्रपत्ति के वास्ते कर्मानुष्ठान को आवश्यक नहीं मानते । मार्जारकिशोर की ओर दृष्टिपात कीजिए । बिल्ली का बच्चा निःसहायभाव से माता के शरण में उपस्थित होता है, तब बिल्ली उसे अपने मुँह में रखकर एक स्थान से लेकर दूसरे स्थान पर पहुँचा देती है । भक्त के प्रति भगवान् की कृपा भी इसी प्रकार ‘अहेतुकी’ होती है । नारायण की अनुग्रहशक्ति का उदय भक्तों की दीनदशा के निरीक्षण से

आपसे आप होता है। अहिर्बुध्न्य संहिता के इस कथन^१ को शठकोपाचार्य ने भी 'अकाण्डमेव कृपा करोति' कह कर स्वीकृत किया है^२। 'बड़-कलै' मत के आचार्य वेदान्तदेशिक कपिकिशोर के दृष्टान्त से प्रपत्ति के लिए भक्तों के कर्मानुष्ठान करने पर जोर देते हैं। जो कुछ भी हो, प्रपत्ति से ही भगवान् गम्य हैं, उन्हें पाने का दूसरा उपाय है ही नहीं। 'मामेक शरण ब्रज'—यह गीता का उपदेश नितान्त माननीय है। अकिञ्चन, दीनभाव से भगवान् के शरण में प्राप्त होनेवाले भक्त के समस्त दुःख भगवदनुग्रह से छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। यामुनाचार्य ने आलवन्दार स्तोत्र (पद्य २५) में बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस शरणागति-तत्त्व का प्रतिपादन किया है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मवेदी न भक्तिमास्त्वच्चरणारविन्दे ।

अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य त्वत्पादमूल शरण प्रपद्ये ॥

प्रपत्ति के वशीभूत भगवान् जीव को पूर्णज्ञान की प्राप्ति करा देते हैं जिसका फल ईश्वर का अपरोक्षज्ञान होता है। मुक्ति के लिए ईश्वर का साक्षादनुभव ही अन्तिम साधन है, परन्तु उस अवस्था तक समस्त वर्णाश्रमविहित कर्मों का सम्पादन होना ही चाहिये। अद्वैतियों के कल्पनानुसार कर्म का मन्याम न्याय्य नहीं है अविद्या (कर्म) के द्वारा मृत्यु को दूर कर विद्या (अभिरूपायन ध्यान) के द्वारा अमृत (ब्रह्म) पाने का सिद्धान्त ईशोपनिषद् (श्लो० ११) में वर्णित (वेदार्थ संग्रह पृ० १४५)।

अद्वैतवेदान्त के अनुसार मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ अभिन्नरूप हो जाता है, परन्तु विशिष्टाद्वैत के अनुसार वह ईश्वर के 'समान' होता है। ईश्वर के साथ उसका 'ऐकात्म्य' सम्पन्न नहीं हो

१ एवं ससृतिचक्रस्थे भाग्यमाणे स्वकर्मभिः ।

जीवे दुःखाकुले विष्णोः कृपा काप्युपजायते ॥ अहि० स० १४ २९ ।

२ द्रष्टव्य—श्रीवचनभूषण पृ० ६२७ ।

जाता । वह ब्रह्म के स्वरूप तथा गुण का अवश्य भा लेता है, परन्तु ब्रह्म के साथ मिलकर एक नहीं हो जाता । मुक्तजीव में सर्वज्ञत्व तथा सत्यमकल्पत्व गुण अवश्य आ जाते हैं, परन्तु सर्वकर्तृत्वगुण ईश्वर के ही साथ रहता है^१ । जीव में अविद्या के आश्रित होने की योग्यता सदा वर्नी रहती है, परन्तु ईश्वर में ऐसा नहीं है । अतः जीव का परमात्मा के साथ ऐक्य सम्पन्न नहीं होता^२ । मुक्तजीव स्वराट्, अनन्याधिपति तथा सकल्पसिद्ध हो जाता है, परन्तु उसे जगत् की सृष्टि, स्थिति तथा लय में तनिक भी अधिकार नहीं रहता (जगद्व्यापारवर्जम् ४।४।१७ पर श्राभाष्य) । सकलबन्धननिवृत्तिरूपा मुक्ति जीवित दशा में नहीं हो सकती; अतः अन्य गैरात्म्यप्रदायो के अनुकूल रामानुज के मत में भी 'जावन्मुक्ति' मान्य नहीं है । केवल 'विदेहमुक्ति' ही सम्भव है । वेंकुण्ठ में भगवान् का किकर बनना ही—कैकर्म ही परममुक्ति है ।

श्रीकण्ठाचार्य (१३ श० का उत्तरार्ध) का सिद्धान्त रामानुज के सिद्धान्त के नितान्त अनुकूल है । अन्तर इतना ही है कि यहाँ ईश्वर शिवरूप में माने गये हैं । श्रीकण्ठ ने इस 'शैव-विशिष्टाद्वैत' का समर्थन ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखकर किया है जिसपर अप्ययदाश्रित ने 'शिवार्क-मणिदीपिका' नामक महत्त्वपूर्ण टीका लिखी है । अतः आपके मत में सत्त्व ब्रह्म ही परमार्थभूत है (निरस्तसमस्तोपप्लवकलंकनिरतिशयज्ञानानन्दादिशक्तिमहिमातिशयवत्त्वं हि ब्रह्मत्वम्—श्रीकण्ठभाष्य १।१।१) तथा चित् अचिद् उसके प्रकार है । परब्रह्म की ही शिव, महादेव, उग्र आदि संज्ञायें हैं ।

१ एव गुणाः समानाः स्युर्मुक्तानामीश्वरस्य च ।

सर्वकर्तृत्वमेवैक तेभ्यो देवं विशिष्यते ॥ स० द० स० पृ० ४७

२ नापि साधनानुष्ठानेन निरस्ताविद्यस्य परेण स्वरूपैक्यसम्भवः अविद्याश्रयत्वयोग्यस्य तदनन्यत्वाम्भवात् ।

१—श्रीभाष्य (१।१।१)

२

माध्वमत

माध्वमत का दूसरा नाम 'ब्रह्म सम्प्रदाय' है। वायु से यह मत हनुमान् को प्राप्त हुआ, हनुमान् से भीम को तथा अन्त में आनन्दतीर्थ को।

आनन्दतीर्थ का ही प्रसिद्ध नाम मध्व, पूर्णबोध या पूर्णप्रज्ञ है। दक्षिण में 'उडुपी' नामक प्रसिद्ध स्थान के पास इनका जन्म ११९९ ई०

में हुआ था तथा मृत्यु १३०३ ई० में मानी जाती है।
आचार्य भारत के प्रमुख तीर्थों में पर्यटन कर आपने अपने

द्वैतमत का प्रचुर प्रचार किया। आपके ३७ ग्रन्थों में से कतिपय प्रसिद्ध ग्रन्थ ये हैं: (१) ब्रह्मसूत्र भाष्य; (२) अनुव्याख्यान (सूत्र की अल्पधरा वृत्ति; जिसपर 'न्यायविवरण' स्वयं आचार्य ने, 'न्यायमुधा' जयतीर्थ ने तथा न्यायमुधा की परिमलनाम्नी टीका राघवेन्द्रयति ने लिखी है); (३-७) इंद्र०, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदों पर भाष्य; (८) गीताभाष्य, (९) भागवत-तात्पर्यनिर्णय (टीका—यदुपति की); (१०) महाभारत-तात्पर्यनिर्णय (११) विष्णुतत्त्वनिर्णय (१२) प्रपञ्चमिथ्यात्व निर्णय, (१३) गीता तात्पर्यनिर्णय, (१४) तन्त्रसारसंग्रह आदि। नारायण पण्डित ने 'मध्वविजय' तथा 'मणिमञ्जरी' में मध्व का प्रामाणिक जीवन-चरित लिखा है। **जयतीर्थ** (१४ शा०) प्रकाण्ड पांडित्य के लिए प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मध्व के भाष्यों पर विद्वत्पूर्ण वृत्ति-ग्रन्थों की रचना कर द्वैतसिद्धान्त को परिपुष्ट किया। माध्वमत में जयतीर्थ के समान आलौकिकशेमुपीसम्पन्न विद्वान् विरला ही हुआ। इसलिए इनकी यह प्रशंसा सर्वथा सत्य है—

चित्रैः पदैश्च गम्भीरैर्वाक्यैर्मनैरखण्डितैः।

गुरुभावं व्यञ्जयन्ती भाति श्रीजयतीर्थवाक्॥

जयतीर्थ ने मध्व के सूत्रभाष्य पर 'तत्त्वप्रकाशिका' और तत्त्वोद्योत, तत्त्वविवेक, तत्त्वसंख्यान, प्रमाणलक्षण तथा गीताभाष्य (टीका न्याय-दीपिका) के ऊपर अन्य सुबोध टीकायें ही न लिखी, प्रत्युत 'प्रमाण-पद्धति' और 'वादावली' जैसे मौलिक ग्रन्थों की रचना से अद्वैत का खण्डन कर द्वैतमत की स्थापना पर्याप्तमात्रा में की। 'प्रमाणपद्धति' की अष्ट टीकायें इसके महत्त्व को स्पष्टतः प्रदर्शित करती हैं। **व्यासतीर्थ** (१५ श०) - माध्वमत के उद्भूत विद्वान् । इनका सर्वश्रेष्ठ मौलिक ग्रन्थ 'न्यायमृत' है जिसका खण्डन मधुसूदन सरस्वती ने 'अद्वैतसिद्धि' में किया है। इसी न्यायामृत ने द्वैत-अद्वैत सम्प्रदाय में घनघोर वाक्युद्ध की अवतारणा की जो आज भी खण्डन-मण्डनरूप से वन्द नहीं हुआ है। इनके अन्य प्रामाणिक ग्रन्थ तर्कताण्डव, तात्पर्यचन्द्रिका (जयतीर्थ की तत्त्वप्रकाशिका की टीका), मन्दार-मञ्जरी, भेदोज्जीवन, मायावाद-खण्डनटीका आदि हैं। इनके 'न्यायामृत' के ऊपर कम से कम १० विख्यात टीकायें हैं जिनमें रामाचार्य की 'तरंगिणी' तथा विजयीन्द्रतीर्थ का 'कण्ठकोट्टार' अद्वैतसिद्धि के खण्डन होने से विशेष प्रसिद्ध हैं। **रघूत्तमतोर्थ** (१५५७-१५९६)—माध्वग्रन्थकारों में भावबोधोपाचार्य या भावबोधकार के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्होंने विष्णु-तत्त्वनिर्णय तथा जयतीर्थ के तत्त्वप्रकाशिका पर 'भावबोध' नामक व्याख्यायें लिखी हैं, पर इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ मध्वाचार्य के बृहदारण्यकभाष्य को टीका 'परब्रह्मप्रकाशिका' है। इनके शिष्यों में तरंगिणीकार **रामाचार्य** तथा **वेदेश भिच्चु** मुख्य हैं। वेदेश माध्वमत के विद्वान् व्याख्याकारों में माने जाते हैं, जिन्होंने 'तत्त्वोद्योतपञ्चिका', ऐतरेय, छान्दोग्य, केन पर माध्व-भाष्य की टीका तथा 'प्रमाणपद्धति' पर सुन्दर व्याख्या निर्माण कर विपुलकीर्ति प्राप्त की है। न्यायामृत पर 'आमोद' और 'तात्पर्यचन्द्रिका' टीका के लेखक **विजयीन्द्र** ने गीता की मधुसूदनी टीका की आलोचना 'तत्त्वप्रकाशिका' में किया है। वे रामाचार्य के समकालीन

थे। **वनमाला मिश्र** (१७ श०) मथुरा के आमपास के निवार्मा एतद्देशीय ब्राह्मण थे। द्वैतसाहित्य में इनका नाम गौरव के साथ लिया जाता है। इनके विपुल ग्रन्थों में से 'माध्वमुखालंकार' अप्ययर्दाक्षित के 'भगवन्मत्तमनन्दन' का तथा 'न्यायामृतसौगन्ध्य' और 'तर्गिणीमौगम' अद्वैतसिद्धि और गोड़ ब्रह्मानन्दी के पाण्डित्यपूर्ण खण्डन है। 'वेदान्त सिद्धान्त मुक्तावली' ब्रह्मसूत्र की टीका है। अप्ययर्दाक्षित के ग्रन्थ के खण्डन में 'अभिनवगदा' 'अभिनवतर्कताण्डव', तथा तात्पर्यदीपिका का टीका 'अग्निनयनिका' के निर्माता **सत्यनाथ यति** (१६५० ई०) वनमाला मिश्र के समकालीन थे। **वेणुदत्त** की 'भेदजयश्री' तथा 'वेदान्तसिद्धान्तकण्ठक' इसी काल की रचनाये हैं। बंगाल के **पूर्णानन्द-चक्रवर्ती** की तत्त्वमुक्तावली (या मायावादशतद्वर्णी) ने अद्वैतमत के खण्डन में एक नई दिशा खोज निकाली है। अद्वैतवेदान्त के समान द्वैतमत की साहित्यिक सम्पत्ति भी बहुत है, परन्तु अधिकांश ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही हैं।

माध्व पदार्थम मांसा

माध्वमत में दस पदार्थ माने जाते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, विशिष्ट, अंशी, शक्ति, सादृश्य और अभाव। इन पदार्थों का विशेष वर्णन पद्मनाभ ने अपने 'मध्वसिद्धान्तसार' में पदार्थभेद विशदरूपेण किया है। इनमें कतिपय पदार्थों के वर्णन में न्याय-वैशेषिक के साथ साम्य होने पर भी अधिकांश में माध्वमत की विशेषता है। 'द्रव्य' बीस प्रकार का माना जाता है—परमात्मा, लक्ष्मी, जीव, अव्याकृत आकाश, प्रकृति, गुणत्रय, महत्तत्त्व, अहंकारतत्त्व, बुद्धि, मन, इन्द्रिय, मात्रा, भूत, ब्रह्माण्ड, अविद्या, वर्ण, अन्धकार, वासना, काल और प्रतिविम्ब। 'गुण' के अनेक प्रकार हैं जिसमें वैशेषिक गुणों के अतिरिक्त शम, दम, कृपा, तितिक्षा, सौन्दर्य

आदि की भी गणना है। 'कर्म' तीन प्रकार का है—विहित, निषिद्ध तथा उदासीन। उदासीन कर्म परिस्पन्दात्मक है जिसके भीतर उत्क्षेपण, अपक्षेपण आदि नानाविध कर्मों का अन्तर्भाव होता है। नित्यानित्य भेद, तथा जाति-उपाधि भेद से 'सामान्य' दो प्रकार का होता है। भेद के अभाव होने पर भी भेद-व्यवहार के निर्वाहक पदार्थ का 'विशेष' कहते हैं (भेदाभावेऽपि भेदव्यवहारनिर्वाहका अनन्ता एव विशेषाः म० सि० सा० पृ० ७) परमात्मा में भी विशेष को स्वीकार करना पड़ता है। विज्ञानानन्दरूप परमात्मा में इस विशेष के कारण भेद दृष्टिगोचर होता है। यह विशेष जगत् के समस्त पदार्थों में रहता है, अतएव अनन्त है। विशेषण से संयुक्त पदार्थ को 'विशिष्ट' कहते हैं। हस्त, पादादि से व्यतिरिक्त समग्रावयवविशिष्ट पदार्थ 'अंशी' है। 'मादृश्य' तथा 'अभाव' की कल्पना में कोई नवीनता नहीं है। 'शक्ति' चार प्रकार की है—(१) अचिन्त्यशक्ति; (२) आधेयशक्ति, (३) सहजशक्ति; (४) पदशक्ति। 'अचिन्त्यशक्ति' अव्यति-घटना-परीयसी होती है और भगवान् विष्णु में ही निवास करता है। भगवान् में ही विचित्र-कार्य-सम्पादन का अलौकिक सामर्थ्य रहता है। विषमगुणों की परमात्मा में मार्वाकालिक स्थिति इसी शक्ति के कारण है। लक्ष्मी, वायु आदि की शक्तियाँ परमात्मा की अपेक्षा कांतिगुण न्यून होती हैं। (२) दूसरे के द्वारा स्थापित शक्ति को 'आधेयशक्ति' कहते हैं (अन्याहितशक्तिराधेयशक्तिः) विधिवत् प्रतिष्ठा करने से प्रतिमा में जो देवता का सान्निध्य उत्पन्न होता है वही आधेयशक्ति है। कामिनी-चरणाघात से अशोक का पुष्पित होना और औषध लेप से कास्यपात्र का स्वच्छ हो जाना इसी शक्ति से सम्पन्न होता है। (३) कार्यमात्र के अनुकूल स्वभावरूपाशक्ति 'सहजशक्ति' है। यह सर्व पदार्थनिष्ठ होती है। पदार्थ-भेद से यह नित्य भी होती है तथा अनित्य भी। (४) पद-पदार्थ में वाचकवाच्य सम्बन्ध 'पदशक्ति' कहलाता है। मुख्या और

परममुख्या भेद से दो प्रकार की है। 'इन्द्र' शब्द का 'पुरन्दर' अर्थ मुख्या वृत्ति से और 'परमेश्वर' अर्थ परममुख्य वृत्ति से होता है।

परमात्मा - साक्षात् विष्णु हैं। परमात्मा अनन्तगुण परिपूर्ण है अर्थात् भगवान् के गुण अनन्त हैं तथा उनमें प्रत्येक गुण निरवधिक और निरतिशय है। उनमें साजातीय और विजातीय उभयविध आनन्द्य है। उत्पत्ति, स्थिति, संहार, नियमन, ज्ञान, आवरण, बन्ध और मोक्ष—इन आठों के कर्ता भगवान् ही हैं। वे सर्वज्ञ हैं तथा परममुख्या वृत्ति में समस्तपद-वाच्य हैं। वे जीव, जड़ और प्रकृति में अत्यन्त विलक्षण हैं। ज्ञान आनन्द आदि कल्याणगुण ही भगवान् के शरीर हैं। अतः शरीर होने पर भी नित्य तथा सर्वस्वतन्त्र हैं। वे एक होकर भी नानारूप धारण करते हैं। इनके समस्तरूप स्वयं परिपूर्ण है अर्थात् उनके मत्स्यादि अवतार स्वयं परिपूर्ण हैं^१। मत्स्यकूर्मादि स्वरूपों से, कर-चरणादि अवयवों से, ज्ञानानन्दादि गुणों से भगवान् अत्यन्त अभिन्न हैं। अतएव भगवान् तथा भगवान् के अवतारों में भेददृष्टि रखना नितान्त अनुचित है।

लक्ष्मी—परमात्मा की शक्ति है। वह परमात्मा के ही केवल अर्धांश रहती है; अतः उससे भिन्न है (परमात्मभिन्ना लक्ष्मीः म० सि० सा० पृ० २६)। इस प्रकार माध्वमत में तन्त्रमत के विपरीत शक्ति और शक्तिमान् में पूर्ण सामञ्जस्य या अभेद का भाव नहीं रहता। लक्ष्मी भगवान् से गुणादिकों में कुछ न्यून रहती ही है। परमात्मा के समान ही लक्ष्मी नित्यमुक्ता है, नानारूपधारिणी भगवान् की भार्या है। जिस प्रकार परमात्मा अप्राकृत दिव्य-शरीर-सम्पन्न है, लक्ष्मी भी उसी

१ अवतारादयो विष्णोः सर्वे पूर्णोः प्रकीर्तिताः।

पूर्णं च तत् परं पूर्णं पूर्णोत् पूर्णा, समुद्गताः।

न देशकालसामर्थ्यं पागवयं कथञ्चन ॥ माध्ववृद्धभाष्ये।

प्रकार अप्राकृत-देह-धारिणी है। ब्रह्मा, रुद्रादि अन्य देवतागण शरीर के क्षरण (नाश) होने से 'क्षर' है, परन्तु लक्ष्मी दिव्यविग्रहवती होने से 'अक्षरा' है (लक्ष्मीरक्षरदेहत्वात् अक्षरा तत्परो हरिः—मध्वकृत ऐतरेय-भाष्य)। परमात्मा देश, काल, तथा 'गुण' इन तीनों वस्तुओं के द्वारा अपरिच्छिन्न है, परन्तु लक्ष्मी गुण में न्यून है परन्तु देश और काल की दृष्टि से परमात्मा के समान व्यापक है^१।

जीव—अज्ञान, मोह, दुःख, भयादि दोषों से युक्त तथा मसारशील होते हैं। ये प्रधानतया तीन प्रकार के होते हैं—मुक्तियोग्य, नित्यसंसारि और तमोयोग्य। मुक्ति प्राप्त करने के अधिकारी जीव देव, ऋषि, पितृ, चक्रवर्ती तथा उत्तममनुष्यरूप में पाँच प्रकार के होते हैं। नित्यसंसारि जीव सदा सुख-दुःख के साथ मिश्रित रहता है और स्वीय कर्मानुसार ऊँच-नीच गति को प्राप्त कर स्वर्ग, नरक तथा भूलोक में विचरण करता है। इस कोटि के जीव 'मध्यम मनुष्य' कहे जाते हैं (मध्यमा मानुषा ये तु मूर्तियोग्याः सदैव हि—मागवततात्पर्यनिर्णय) और वे कभी मुक्ति नहीं पाते। तमोयोग्य जीव चार प्रकार के होते हैं जिनमें दैत्य, राक्षस तथा पिशाचों के साथ अधम मनुष्यों की गणना है। इस प्रकार मनुष्य गुणों के तारतम्य के कारण तीन श्रेणियों में अन्तर्भुक्त किया गया है। संसार में प्रत्येक जीव अपना व्यक्तित्व पृथक् बनाये रहता है। वह अन्य जीवों से भिन्न है तथा सर्वज्ञ परमात्मा से तो सुतरा भिन्न है। संसार दशा में ही जीवों में तारतम्य नहीं है, प्रत्युत मुक्तिवस्था में भी वह विद्यमान रहता है (मानुषादि विरिञ्चान्तं तारतम्यं विमुक्तिगम्—ईशावास्य-भाष्य)। मुक्तपुरुष आनन्द का अनुभव अवश्य करता है, परन्तु माध्व-

१ द्वावेव नित्यमुक्तौ तु परमः प्रकृतिस्तथा।

उशनः कालतश्चैव समव्याप्तावुभावर्जौ ॥ मागवततात्पर्यनिर्णय।

मत में आनन्दानुभूति में भी परस्पर तारतम्य है। मुक्तजीवों के ज्ञानादि गुणों के समान उनके आनन्द में भी भेद है। यह सिद्धान्त माध्वमत की विशेषता है। 'मुक्तावस्था में जीव परमसाम्य को प्राप्त कर लेता है' ('निरंजनः परमं साम्यमुपैति' मुण्डक ३।१।३) इस श्रुति का तात्पर्य प्राचुर्यविषयक है, अभेदविषयक नहीं है। भगवान् के साथ चैतन्याश को लेकर ही जीव की एकता प्रतिपादित की जाती है, परन्तु समस्त गुणों पर दृष्टिपात करने से दोनों का पृथक्त्व ही प्रमाणसिद्ध है। इसी-लिए मध्वाचार्यने 'अनुव्याख्यान' में लिखा है (म० सि० सा० पृ० ३२) —

जीवस्य तादृशत्वं च चिन्ममात्रं न चापरम् ।

तावन्मात्रेण चाभासो रूपमेवा चिदात्मानाम् ॥

'अव्याकृत आकाश' न्याय वैशेषिकका दिक् है जो सृष्टि और प्रलय में भी विकारशून्य रहता है। यह भूताकाश से सर्वथा भिन्न है, क्योंकि उत्पन्न होने से भूताकाश अनित्य है, परन्तु अव्याकृत आकाश नित्य, एक तथा व्यापक है। इसके अभाव में समस्त जगत् एक निविड़ पिण्ड बन जाता। लक्ष्मी इसकी अभिमानिनी देवता है। 'प्रकृति' साक्षात् या परम्परया विश्व का उपादान कारण है। यह जड़रूपा, नित्या, व्याप्ता, सर्वजीवलिंगशरीर-रूपा है। रमा इसकी अभिमानिनी देवता है। इस प्रकार द्वैतवादी माध्वों के मत में इस जगत् के जन्माद व्यापार में परमात्मा केवल निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण। 'गुणत्रय' प्रसिद्ध है। अन्य वैष्णवमतों के अनुरूप माध्व मत भी शुद्ध सत्त्व की सत्ता स्वीकार है जिससे मुक्त जीवों के लीलामय विग्रह निर्मित होते हैं।

१ मुक्ताः प्राप्य परं विष्णु तद्देहं सश्रिता अपि ।

तारतम्येन निष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ॥ गातामध्वमाध्वे ।

दुःखाभावः परानन्दो लिङ्गभेदः समा मताः ।

अपि परमानन्दो ज्ञानभेदात् भिद्यते ॥ म० सि० सा० पृ० ३२

सत्त्वाभिमाना श्री, रजोऽभिमाना भू तथा तमोभिमानिनी दुर्गा होती हैं। महत्तत्त्वादि अन्य द्रव्यों की कल्पना मांख्य तथा पुगणों के अनुरूप है।

साधनमार्ग—श्रवण, मनन, ध्यान के साथ तारतम्य-परिज्ञान तथा पञ्चभेद ज्ञान का होना अत्यावश्यक है। जगत् के समस्त पदार्थ एक दूसरे से बढ़कर हैं। ज्ञान सुखादि का अवसान भगवान् में ही होता है। यही तारतम्य-ज्ञान है। भेद पाँच प्रकार का होता है—(१) ईश्वर का जीव से भेद, (२) ईश्वर का जड़ से भेद, (३) जीव का जड़ से भेद (४) जीव का दूसरे जीव से भेद तथा (५) एक जड़ पदार्थ का दूसरे जड़पदार्थ से भेद। इन पञ्चविधभेदों का परिज्ञान माध्वमत में मुक्ति-साधक है। उपासना दो प्रकार की होती है—मन्त्र-शाम्बा-न्यासरूपा और ध्यानरूपा। अधिकारी भेद से उपासना का उपयोग होता है। 'ध्यान' से तात्पर्य इतर विषयों के तिग्स्कारपूर्वक भगवद्विषया खण्डस्मृति से है (ध्यानं च इतर-तिरस्कार-पूर्वक-भगवद्विषया-खण्डस्मृतिः—म० मि० सा० पृ० १३९)। जीव मोक्ष के लिए भी परमात्मा के अधीन रहता है। भगवान् के बिना नैसर्गिक अनुग्रह हुए परतन्त्र जीव साधारण कार्यों का भी सम्पादन नहीं कर सकता, मुक्ति की कथा तो दूर ठहरी। अपराध ज्ञान के अनन्तर परमभक्ति उत्पन्न होती और उसके बाद परम अनुग्रह का उदय होता है। तब मोक्षका जन्म होता है। मोक्ष चार प्रकार का है—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अर्चि-रादिमार्ग और भोग। भोग सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य भेद से चार प्रकार का है। भगवान् में प्रवेश कर उन्हीं के शरीर से आनन्द भोग करना 'सायुज्य' है (सायुज्य नाम भगवन्त प्रविश्य तच्छरीरेण भोगः) जो समग्र भोगों में श्रेष्ठ माना जाता है। इन मुक्त-जीवों में भी आनन्द का तारतम्य मानना माध्वमत की एक विशिष्ट कल्पना है।

हनुमान् और भीम के अनन्तर वायु के तृतीय अवतारभूत मध्वा-

चार्य के मत का संक्षिप्त परिचय इस पद्य में बड़ा सुन्दरता के साथ दिया गया है—

श्रीमन्मध्वमते हरिः परतमः, सत्यं जगत्, तत्त्वतो
भेदो, जीवगणा हरेरनुचरा, नीचोच्चभावं गताः ।
मुक्तिर्नैजमुत्रानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधन-
मक्षादिप्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

३

निम्बार्कमत

‘हरिगुरुस्तत्र माला’ में उल्लिखित गुरुपरम्परा के अनुसार निम्बार्क मत के आद्य आचार्य^{आचार्य} हंस नारायण हैं जो राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के प्रतीक हैं । उन्होंने इस मत का दीक्षा सनत्कुमार को दी जो मनन्दनादि रूप से चतुर्व्यूहात्मक हैं । सनत्कुमार के शिष्य त्रेता युग में प्रेमाभक्ति के सर्वश्रेष्ठ उपदेशक नारदजाय जिन्होंने इस तत्त्व को सुदर्शन चक्र के अवतारभूत निम्बार्क को बतलाया ।

निम्बार्क—तैलङ्ग ब्राह्मण थे । ‘सिद्धान्तजान्दर्वा’ (प्रथम श्लोक) के अनुसार इनका असली नाम नियमानन्द था; निम्ब के वृक्षपर अर्क (सूर्य) को रात के समय साक्षात् दर्शन कराने के कारण इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा । इनके प्रधान ग्रन्थ हैं:—(१) वेदान्त-पारिजातं सौरभ (ब्रह्मसूत्र का नितान्त स्वल्पकाय भाष्य) (२) ‘दशश्लोकी’ (सिद्धान्त प्रतिपादक दस श्लोकों का संग्रह) हरिव्यास आचार्य की टीका प्रार्चान तथा मानी जाती है । (३) ‘श्रीकृष्णस्तवराज’ निम्बार्कतत्त्वप्रकाशक पच्चीस श्लोकों का है जिसकी श्रुत्यन्तसुरद्रुम, श्रुतिसिद्धान्तमञ्जरी तथा श्रुत्यन्तकल्पवल्ली नामक

विस्तृत व्याख्यायें प्रकाशित हुई हैं। अप्रकाशित ग्रन्थोंमें मध्वमुख्य-मर्दन, वेदान्त तत्त्वबोध, वेदान्त सिद्धान्तप्रदीप, श्रीकृष्णस्तव मुख्य हैं। **श्रीनिवासाचार्य**—निम्बार्क के साक्षात् शिष्य थे। इन्होंने पारिजातमौरम के ऊपर 'वेदान्तकौस्तुभ' नामक विस्तृत व्याख्या लिखकर भाष्य के संक्षिप्त तथा गूढार्थों का रहस्य भली भाँति समझाया है। **केशवभट्ट** काश्मीरी (१५ श०)—इस दर्शन के विशिष्ट ग्रन्थकार हैं। (१) इनकी 'कौस्तुभप्रभा'—वेदान्तकौस्तुभ की पाण्डित्यपूर्ण विस्तृत व्याख्या (२) 'तत्त्वप्रकाशिका'—गीता की निम्बार्क मतानुसारिणी व्याख्या; (३) 'तत्त्वप्रकाशिकावेदस्तुति'—टीका दशम स्कन्ध भागवत की टीका; (४) 'क्रमदीपिका'—पूजा पद्धति का विवरणात्मक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। प्रभा के अवलोकन से इनकी गाढ़ विद्वत्ता तथा अगाध पाण्डित्य का परिचय स्फुटरीति से उपलब्ध होता है। चैतन्य के साथ जिस केशवभट्ट के शास्त्रार्थ करने का वर्णन 'चैतन्य-चरितामृत' में दिया गया है, वे ये ही व्यक्ति प्रतीत होते हैं।

श्री पुरुषोत्तमाचार्य—निम्बार्कमत के एक अत्यन्त प्रतिष्ठित विद्वान् आचार्य हैं। ये हरिव्यासदेवाचार्य के शिष्य थे। इनकी रचनाओं में दो ग्रन्थों की समधिक प्रसिद्धि है—(१) वेदान्तरत्नमञ्जूषा—(दशश्लोकी की विस्तृत सिद्धान्त-प्रतिपादक व्याख्या) तथा (२) श्रुत्यन्तमरद्भुत—(आचार्य के श्रीकृष्णस्तवराज के श्लोकों की पाण्डित्यपूर्ण टीका)। देवाचार्य के 'सिद्धान्तजाह्नवी' (पृ० ५६) में वेदान्तरत्नमञ्जूषा के उल्लेख उपलब्ध होते हैं। अतः इनका समय देवाचार्य से पहले होना चाहिए। कृपाचार्य के शिष्य **श्रीदेवाचार्य** की सर्वश्रेष्ठ रचना का नाम है 'सिद्धान्तजाह्नवी' (मुन्दर भट्ट की 'सिद्धान्तसेतु' टीका युक्त) जो ब्रह्मसूत्र की चतुःसूत्री का विस्तृत समीक्षात्मक भाष्य है। **अनन्तराम** कृत वेदान्ततत्त्वबोध तथा **पुरुषोत्तम प्रसाद** वैष्णवकृत 'श्रीकृष्णस्तवराज' की श्रुत्यन्तकल्पवल्ली टीका इस मत के तत्त्वों की परीक्षा के लिए नितान्त

उपयोगी हैं। **माधवमुकुन्द** ने, जो बंगाल के अरुणघटी नामक ग्राम के निवासी बतलाये जाते हैं, 'हार्दसंचय' (हार्दसंचय) नामक नितान्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है जिसमें वेदान्त के अद्वैतमत का खण्डन प्रचल-युक्तियों के बल पर विस्तार के साथ किया गया है।

(क) भेदाभेद का ऐतिहासिक परिचय

आचार्य निम्बार्क ब्रह्म तथा जीव के सम्बन्ध में भेदाभेद या द्वैताद्वैत के प्रतिपादक हैं। उनकी मान्य सम्मति में जीव अवस्थाभेद से ब्रह्म के साथ भिन्न भी है तथा अभिन्न भी। भारतीय दार्शनिक जगत् में यह भेदाभेद सिद्धान्त नितान्त प्राचीन है। शंकराचार्य के पहले ही नहीं, अपि तु बादरायण के पूर्व भी इस मत के पोंपक आचार्य विद्यमान थे। बादरायण से पूर्व आचार्य औडुलोमि तथा आचार्य आश्वमरथ्य भेदाभेद-वादी थे। औडुलोमि के मत में अवस्थाविशेष से ब्रह्म-जीव में भिन्नत्व तथा अभिन्नत्व की उभयविध कल्पना सघटित होती है। संसारदशा में नानात्मक जीव तथा एकात्मक ब्रह्म में नितान्त भेद है, परन्तु मुक्तिदशा में चैतन्यात्मक होने से जीव और ब्रह्म अभिन्न हैं (ब्र० सू० १।४।२१)। आचार्य आश्वमरथ्य का सिद्धान्त है कि कारणात्मना जीव तथा ब्रह्म की एकता है, परन्तु कार्यात्मना दोनों की अनेकता है, जिस प्रकार कारणरूपी सुवर्ण की एकता बनी रहने पर भी कार्यरूप कटक, कुण्डलादिरूप में दोनों में भिन्नता रहती है (ब्र० सू० १।४।२०)। 'श्रुतिप्रकाशिका' के रचयिता के कथन से प्रतीत होता है कि आश्वमरथ्य के भेदाभेद का परवर्ती काल में यादवप्रकाश ने ग्रहण कर पुष्ट किया। निम्बार्क के साक्षात् शिष्य श्रीनिवासाचार्य ने अपने 'वेदान्तकौस्तुभ' में काशकृत्स्न को भी भेदाभेदी बतलाया है (तदेवं मुनित्रयमतद्वारा प्रसंगात् भेदाभेद-प्रकारो भगवता दर्शितः १।४।२२) पर शंकराचार्य के कथनानुसार ये

अद्वैतवादी सिद्ध होते हैं (तत्र काशकृस्नीयं मतं नृत्यनुमार्गिति गम्यते १।४।२३ शां० भा०) ।

भर्तृप्रपञ्च—आचार्य शंकर से पूर्व वेदान्ताचार्यों में भर्तृप्रपञ्च भेदाभेद सिद्धान्त के पक्षपाती थे । आचार्य ने इनके मत का उल्लेख तथा खण्डन बृहदारण्यक के (२।३।६, २।५।१, ३।४।२, ४।३।३०) भाष्य में किया है । इनका मत है कि परमार्थ एक भी है तथा नाना भी है - ब्रह्मरूप में एक है और जगद्रूप में नाना है । जीव नाना तथा परमात्मा का एक-देशमात्र है । काम, वासनादि जीव के धर्म हैं । अतः धर्म तथा दृष्टि के भेद से जीव का नानात्व औपाधिक नहीं है, अपि तु वास्तविक है । ब्रह्म एक होने पर समुद्र-तरङ्ग-न्याय से द्वैताद्वैत है । जिस प्रकार समुद्र-रूप से समुद्र की एकता है, परन्तु विकाररूप तरंग, बुद्बुद् आदि को दृष्टि से वही समुद्र अनेक है—नानात्मक है^१ । आचार्य ब्रह्म के परिणाम मानते हैं । यह परिणाम तीन प्रकार से निष्पन्न होता है (१) अन्तर्यामी—जीवरूप में, (२) अव्याकृत—मूत्र, विराट तथा देवतारूप में (३) जाति तथा पिण्डरूप में । जीव और जगत् की सत्ता भी काव्य-कि न होकर वास्तविक है । साधनपक्ष में ये ज्ञानकर्मसमुच्चयवादी हैं । कर्मजन्य फल अनित्य है, परन्तु ज्ञान के द्वारा विमलीकृत कर्म से आत्यन्तिक श्रेय की उपलब्धि अवश्य होती है । फलस्वरूप मोक्ष भी दो प्रकार का माना गया है—(१) इसी शरीर के ब्रह्म-साक्षात्कार होने पर उत्पन्न मुक्ति को अपरमोक्ष अथवा अपवर्ग कहते हैं जो 'जीवन्मुक्ति' के समान है । (२) ब्रह्म साक्षात्कार के अनन्तर देहपात होने पर जीव की ब्रह्मभावापत्ति को पर मोक्ष (श्रेष्ठमुक्ति) कहते हैं जिसमें जीव अविद्यानिवृत्ति के सम्पन्न होने पर ब्रह्म में लय प्राप्त कर लेता है । जान पड़ता है कि भर्तृप्रपञ्च के मतसे ब्रह्मसाक्षात्कार होने पर भी अविद्या की

पूर्णनिवृत्ति नहीं होती, क्योंकि जीव तबतक देह के साथ सम्बन्ध रखता है। परन्तु परामुक्ति की दशा में अविद्या की पूर्ण निवृत्ति होने पर वह ब्रह्म में सर्वतोभावेन लीन हो जाता है। इनके मत से परमात्मा तथा जीव में अंशांशिभाव अथवा एकदेश-एकदेशिभाव सिद्ध होता है। इस प्रकार बादरायण-पूर्व आचार्यों की भेदाभेद परम्परा का अनुसरण भर्तृप्रपञ्च ने अपने ग्रन्थों में किया है।

भास्कर--शंकरोत्तर युग के वेदान्ताचार्यों में भास्कर का नाम प्रमुख है। रामानुज ने वेदार्थसंग्रह (पृ० १४-१५) में, उदयनाचार्य (९८४ ई०) ने न्यायकुमुदाञ्जलि में और वाचस्पति ने भामती में इनके मत का खण्डन किया है। अतः इनका समय अष्टमशतक मानना चाहिये। इनके मत में ब्रह्म सगुण, सल्लक्षण, बोधलक्षण और सत्य-ज्ञानानन्त लक्षण है। चैतन्य तथा रूपान्तररहित अद्वितीय है। प्रलयावस्था में समस्तविकार ब्रह्म में लीन हो जाते हैं। ब्रह्म कारणरूप में निराकार तथा कार्यरूप में जीव रूप और प्रपञ्चमय है। ब्रह्म की दो शक्तियाँ भोग्यशक्ति तथा भोक्तृशक्ति होती हैं (२।१।२७ भास्कर-भाष्य)। भोग्यशक्ति ही आकाशादि अचेतन जगतरूप में परिणत होता है। भोक्तृशक्ति चेतन जीवरूप में विद्यमान रहती है। ब्रह्म की शक्तियाँ पारमार्थिक हैं, वह सर्वज्ञ तथा समग्रशक्तियों से सम्पन्न है^१।

भास्कर ब्रह्म का स्वाभाविक परिणाम मानते हैं। जैसे सूर्य अपनी रश्मियों का विक्षेप करता है, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी अनन्त और अचिन्त्य शक्तियों का विक्षेप करता है^२। ब्रह्म के स्वाभाविक परिणाम से ही यह

१ ब्रह्म स्वत एव परिणमते तत्त्वाभान्यात् । यथा श्रोत्रं दधिभावाय अम्भो हिम-
भावाय न तु तथाप्या । ननमाधारभूतं च द्रव्यमपेक्ष्यते ।

—२।१।२४ भा० भा० ।

२ अप्रच्युतस्वरूपस्य शक्तिविक्षेपलक्षणः ।

परिणामो यथा तन्तुनाभस्य पटतन्तुवत् ॥ —भा० भा० पृ० ९६ ।

जगत् है। भास्कर का स्पष्ट मत है कि निग्वयव पदार्थ का ही परिणाम होता है, सावयव का नहीं। अच्युतस्वभाव तन्तु का परिणाम पट है तथा अच्युतस्वभाव आकाश से वायु उत्पन्न होता है, उसी प्रकार अच्युतस्वभाव ब्रह्म से यह जगत् उत्पन्न होता है (चेतनस्य सर्वज्ञस्य सर्वशक्तेः स्वतन्त्रस्य शास्त्रैकसमधिगम्यस्य परिणामो व्यवस्थाप्यते। स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणमयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणमयति—२।१।१४ भा० भा०)। जीव अणुरूप है तथा ब्रह्म का अग्निविस्फुल्लिगवत् अंश है। यह जीव ब्रह्म से अभिन्न है तथा भिन्न भी। इन दोनों में अभेदरूप स्वाभाविक है, भेद उपाधिजन्य है (स च भिन्नाभिन्नस्वरूपः अभिन्नरूप स्वाभाविकम्, औपाधिकं तु भिन्नरूपम्—२।३।४३ भा० भा०)। उपाधि के निवृत्त हो जाने पर भेदभाव छूट जाता है—यही मुक्ति अथवा शुद्ध परमात्मरूप में स्थिति है। कार्यकारणों में भी यह भेदाभेद सम्बन्ध रहता है। समुद्ररूपेण एकत्व है, तरङ्गरूपेण नानात्व है। भास्कर ने १।१।४ के अपने भाष्य में इस सिद्धान्त का स्पष्ट प्रतिपादन किया है—

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।

हेमात्मना यथाऽभेदः कुण्डलाद्यात्मना भिदा ॥

भास्कर मुक्ति के लिए ज्ञान-कर्म समुच्चयवाद को मानते हैं। शुष्क ज्ञान से मोक्ष का उदय नहीं होता, परन्तु कर्म-संवलित ज्ञान से। उपासना या योग-यान के बिना अपरोक्षज्ञान का लाभ नहीं होता। इन्हें सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति दोनों अभीष्ट हैं।

यादव—ये भी भेदाभेदवादी हैं। यदि ये रामानुज के गुरु यादव प्रकाश से अभिन्न हों, तो इनका समय ११ वीं शताब्दी का अन्तिम भाग होगा। रामानुज ने 'वेदार्थ-संग्रह' (पृ० १५) में, वेदान्तदेशिक ने 'परमतभंग' में और व्यासतीर्थ ने 'तात्पर्यचन्द्रिका' में इनके मत का उल्लेख किया है। इन्होंने ब्रह्मसूत्र और गीता पर भेदाभेदसम्मत भाष्य

का निर्माण किया था। ये निर्गुणब्रह्म तथा मायावाद नहीं मानते। उनके मत में ज्ञानकर्मसमुच्चय मोक्ष का साधन है। ब्रह्म भिन्नाभिन्न है। भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं, पर यादव उपाधिवाद नहीं मानते। ये परिणामवादी हैं तथा जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करते हैं।

यादव के लगभग सौ वर्ष के अनन्तर निम्बार्क का जन्म हुआ और इन्होंने भेदाभेद के लुप्त गौरव को पुनः प्रतिष्ठित किया। भास्कर तथा यादव के मिद्धान्त लुप्त प्रायः हो गये हैं, परन्तु निम्बार्क का कृष्णोपासक सम्प्रदाय भक्तिभाव का प्रचार करता हुआ आज भी भक्तजनों के विपुल समुदाय का भाजन बना हुआ है।

(ख) निम्बार्क पदार्थमोमांसा

निम्बार्क-सम्मत चित्, अचित् तथा ईश्वर का स्वरूप रामानुज मत के अनुरूप है। चित् या जीव ज्ञानस्वरूप है, उसका स्वरूप जानमय है। इन्द्रियो की सहायता बिना, इन्द्रियनिरपेक्ष जीव विषय के ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ है और 'प्रज्ञान-यनः' 'स्वयं जोतिः' तथा 'जानमयः' आदि शब्दों का जीव के विषय में प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। जीव ज्ञान का आश्रय - ज्ञाता भी है। अतः वह ज्ञानस्वरूप तथा ज्ञानाश्रय दोनों एक ही काल ही इसी प्रकार है^१, जिस प्रकार सूर्य प्रकाशमय है तथा प्रकाश का आश्रय भी है। जीव का स्वरूपभूत ज्ञान तथा गुणभूत ज्ञान यद्यपि ज्ञानाकारतया अभिन्न ही हैं, तथापि इन दोनों में धर्मधर्मिभाव से भिन्नता है।

जीव कर्ता है। प्रत्येक दशा में जीव में कर्तृत्व का सद्भाव है। संसारी दशा में कर्ता होना तो अनुभवगम्य है, परन्तु मुक्त हो जानेपर भी कर्तृत्व की सत्ता जीव में श्रुतिप्रतिपादित है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि

१ ज्ञानस्वरूप च हरेर्गन्धान् शरीरसयोगवियोगयोग्यम्।

अणु हि जीव प्रतिदेहभिन्नं ज्ञातृत्ववन्त यदनन्तमाहुः। दशश्लोकां १.

त्रिर्जावेच्छतं समाः” ‘स्वर्गकामो यजेत्’—आदि श्रुतियों जिस प्रकार समार दशा में आत्मा में कर्तृत्व प्रतिपादित करती है, उसी प्रकार ‘मुमुक्षुर्ब्रह्मोपासीत्’, ‘शान्त उपासीत’ आदि श्रुतियों मुक्तावस्था में भी उपासना को प्रतिपादिका होने से उक्त आत्मा को कर्ता बतलाती हैं^१ ।

जीव अपने ज्ञान तथा भोग की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र न होकर ईश्वर पर आश्रित रहता है । अतः चैतन्यात्मक तथा जानाश्रय रूप से ईश्वर के समान होने पर भी जीव में एक विशेष व्यावर्तक गुण रहता है—नियम्यत्व । ईश्वर नियन्ता है । जीव नियम्य है । ईश्वर के वह सदा अधीन है, मुक्त दशा में भी यह ईश्वर के आश्रित रहता है ।

जीव परिमाण में अणु तथा नाना है । वह हरि का अंशरूप है । अश शब्द का अर्थ अवयव—विभाग नहीं है, प्रत्युत कौस्तुभ के अनुसार अंश का अर्थ शक्तिरूप है (अंशो हि शक्तिरूपा ग्राह्यः—२।३।४२ पर कौस्तुभ) । ईश्वर सर्वशक्तिमान् है अतः वह अशा है । जीव उसका शक्तिरूप है । अतः वह अशरूप है । अघटनघटनापटीयमी, गुणमयी प्रकृतिरूपिणी माया से आवृत होने के कारण जीव का धर्मभूतज्ञान मकुचित हो जाता है । भगवान् के प्रसाद से जीव के सच्चे स्वरूप का ज्ञान हो सकता है^२ (वेदान्तरत्नमञ्जूषा पृ० २०-२३) । बद्ध जीव मुमुक्षु (मुक्ति का इच्छुक) तथा बुमुक्षु (विषयानन्द का इच्छुक) भेद से दो प्रकार का है । मुक्त जीव भी नित्यमुक्त (अनन्तादि भगवत्पार्षद) तथा मुक्तरूप से दो प्रकार का होता है ।

अचित् चेतनाहीन पदार्थ को कहते हैं । यह तीन प्रकार का होता

१ कता शान्त्वार्थत्वात् । ब० सू० २।३।३२ पर ‘परिजातमौग्ध’ ।

२ अनादिमायापरियुक्तरूपत्वेन विदुर्न भगवत्प्रसादात्—इ. ज्योती २

है' (१।१।१ पर वेदान्तकौस्तुभ)--(१) 'प्राकृत'-महत्तत्त्व से लेकर महाभूत तक प्रकृति से उत्पन्न जगत् । (२) 'अप्राकृत'—प्रकृति के गत्य से बहिर्भूत जगत्, जिसमें प्रकृति का सम्बन्ध किसी भी प्रकार से नहीं है जैसे भगवान् लोक जिसकी श्रुतियों में 'परम व्योमन्' 'विष्णुपद' 'परमपद' आदि भिन्न भिन्न संज्ञायें हैं । (३) 'काल'—काल अचेतन पदार्थ माना जाता है । जगत् के समस्त परिणामों का जनक काल उपाधियों के कारण अनेक प्रकार का होता है । काल जगत् का नियामक होने पर भी परमेश्वर के लिए नियम्य ही है । काल अखण्डरूप है । स्वरूप से वह नित्य है, परन्तु कार्यरूप से अनित्य है । काल का कार्य औपाधिक है । इसके लिए सूर्य की परिभ्रमणरूप क्रिया उपाधि है ।

ईश्वर—निम्नार्क के मत में ब्रह्म की कल्पना सगुणरूप से की गई है । वह समस्त प्राकृत दोषों (अविद्यास्मितादि) से रहित और अशेष ज्ञान, बल आदि कल्याणगुणों का निधान है^१ । इस जगत् में जो कुछ दृष्टिगोचर है या श्रुतिगोचर है, नारायण उसके भीतर तथा बाहर व्याप्त होकर विद्यमान रहता है^२ । नियम्य तथा परतन्त्र सन्वाधाय चिद्चिद्रूप विद्य ईश्वर के ऊपर अवलम्बित होनेवाला है । परमात्मा की ही परब्रह्म, नारायण, भगवान्, कृष्ण, पुरुषोत्तम आदि संज्ञायें हैं । जीव और ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध स्वाभाविक और प्रत्येक

१ अप्राकृत प्राकृतरूपक च कालस्वरूप तदचेतन मतम् ।

मायाप्रधानाऽपदप्रवाच्य शुक्लादिभेदाश्च समेऽपि तत्र ॥ दशश्लोकी ३ ।

२ स्वभावतोऽपान्तमस्तदोपमशेषकल्याणगुणकगतिम् ।

ब्यूहाङ्गिनः परं वरेण्यं ध्यायेम कृष्णं कमलेक्षणं हरिम् ।—दशश्लोकी ४ ।

३ यच्च किञ्चिज्जगत् यस्मिन् दृश्यते श्रूयतेऽपि वा ।

अन्तर्बहिश्च ताः सर्वा व्याप्य नारायणः स्थितः ॥

—मिद्वान्तजाह्नवा ५० ५३ में उद्धृत ।

दशा में नियत है। ब्रह्मावस्था में व्यापक, अप्रच्युतस्वभाव तथा सर्वज्ञ ब्रह्म से अणुपरिणाम, अल्पज्ञ जीव के भिन्न होने पर भी वृक्ष से पत्र, प्रदीप से प्रभा, गुणों से गुण तथा प्राण से इन्द्रिय के समान पृथक् स्थिति और पृथक् प्रवृत्ति न होने के कारण वह उससे अभिन्न भी है। मोक्ष-दशा में भी इसी प्रकार ब्रह्म से अभिन्न होने पर भी जीव स्वरूप की प्राप्ति करता है (स्वेन रूपेणाभिनिष्यद्यते छा० ८।३।४) और अपने व्यक्तित्व को खो नहीं डालता (१।४।२१ पर वेदान्तकौस्तुभ)।

प्रपत्ति के द्वारा भगवदनुग्रह जीवों पर होता है। अनुग्रह से भगवान् के प्रति नैमर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति का उदय होता है। यह भक्ति भगवत्प्राप्ताकार का उत्पन्न करती है जिससे जीव भगवद्भावापन्न होकर समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है। शरीर सम्बन्ध रहने पर भगवद्भावापत्ति असम्भव है। इसीलिए निम्नार्कमत में भी जीवन्मुक्ति की कल्पना मान्य नहीं है ('दशश्लोकी' के ९ पद्य पर वेदान्तरत्न-मञ्जूषा)।

५

वल्लभमत

पद्मपुराण के वर्णानुसार रुद्रसम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे^१। नामादासजी के भक्तमाल^२ से पता चलता है कि विष्णुस्वामी के

१ गमानुज श्री. स्वाचक्रो मध्वाचार्य चतुर्मुखः।

श्रीविष्णुस्वामिन रुद्रो निम्बादित्य चतुःसनः ॥ पद्मपुराणे

२ नाम तिलोचज सियाय मूर मसि मदस उजागर।

गिरा गग-उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर ॥

आचरज हरिदाम अतुलबल आनन्द दाइन।

निहि माग वल्लभ विद्रित पृथु पथित पराइन ॥

सम्प्रदाय में ही ज्ञानदेव, नामदेव, त्रिलोचन आदि सन्त थे तथा वल्लभ ने ईसा मार्ग का अनुसरण कर अपना शुद्धाद्वैतमूलक पुष्टिमार्ग चलाया। ऐतिहासिक दृष्टि से महन्वशाला यह कथन बतलाता है कि विष्णुस्वामा का समय ज्ञानदेव (१२७५-१२९६) से पहले है। रसेश्वरदर्शन में माधवाचार्य ने इनके एक श्लोक को उद्धृत किया है। 'सकलाचार्यमत संग्रह' में श्रीनिवास के कथनानुसार ये शुद्धाद्वैत के प्रतिपादक थे।

वल्लभ (जन्म १४७९ ई०) का जीवन घटनाये काशी, अरैल (प्रयाग) तथा वृन्दावन में सम्बद्ध हैं। विजयनगराधोश श्रीकृष्णराय (१५००-१५२५) के दरबार में द्वैतमत के आचार्य व्यासतीर्थ की अध्यक्षता में इन्होंने अद्वैतवादियों को परास्त कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया था। निम्गार्कमत के आचार्य केशव काश्मीरी तथा चैतन्य महाप्रभु से वल्लभाचार्य की घनिष्टता की बात कही जाती है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—(१) ब्रह्मसूत्रभाष्य (अणुभाष्य) (२) तत्त्वदीप-निबन्ध (भागवत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रन्थ), (३) सुबोधिनी (श्रीमद्भागवत के १, २, ३, १० स्कन्धों पर उपलब्ध विख्यात टीका), (४) भागवत सूक्ष्मटीका, (५) पूर्वमीमांसा भाष्य (त्रुटित) तथा सिद्धान्तमुक्तावली आदि १६ लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थ। **विठ्ठलनाथ** (१५१६-१५८६) आचार्य के द्वितीयपुत्र थे। इन्होंने पिता के ग्रन्थों पर टीकाटिप्पणी लिखकर पुष्टिमार्ग की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में निबन्धप्रकाश, विद्वन्मण्डन, शृंगार रसमण्डन, सुबोधिनीटिप्पणी हैं। अन्तिम डेढ़ अध्यायों पर भाष्य लिखकर इन्होंने वल्लभकृत अणुभाष्य की पूर्ति की। इनके सातपुत्रों ने अलग अलग गद्दियों की स्थापना कर इस मत का विपुल प्रचार किया।

नवधा प्रधानसेवा गुरुद मनोवच क्रम हरिचरणरति ।

विष्णुस्वामिसम्प्रदाय दृष्ट ज्ञानदेव गम्भीर मति ॥ ४८ छ०

कृष्णचन्द्र ने ब्रह्मसूत्र पर 'भावप्रकाशिका' नाम्नी टीका लिखी है। इनके शिष्य **पुरुषोत्तमजी** बल्लभसम्प्रदाय के एक विशेष विद्वान् टीकाकार हैं। इन्होंने 'भाष्य प्रकाश' नामक टीका लिखकर अणु-भाष्य के गूढार्थ को खूब अभिव्यक्त किया है। अन्य भाष्यों का तुलनात्मक विवेचन इस ग्रन्थरत्न की विशिष्टता है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं— (१) सुबोधिनीप्रकाश, (२) उपनिषदीपिका, (३) आवरणमंग, (४) प्रस्थानरत्नाकर, (५) सुवर्णमूत्र (विद्वन्मण्डल का पाण्डित्यपूर्ण विवृति) (६) गीता की अमृततरंगिणी टीका तथा (७) षोडशग्रन्थ-विवृति। इस भाष्यप्रकाश पर विस्तृत 'रश्मि' नामक व्याख्या **गोपेश्वरजी** (१८ शतक) ने लिखी है।

गिरिधर महाराज गोस्वामी विट्ठलनाथ के पुत्र थे। इनका 'शुद्धाद्वैत मार्तण्ड' बल्लभमत का विवेचक प्रख्यात ग्रन्थ है। **हरिराय** (हरिदाम) ने अनेक छोटे-मोटे ग्रन्थों का निर्माण किया है जिनमें ब्रह्मवाद, भक्तिरसवाद आदि विख्यात हैं। **ब्रजनाथभट्ट** की 'मरीचिका' ब्रह्मसूत्रों की विवृति है और 'लाट्भट्ट' के नाम से प्रसिद्ध और पुरुषोत्तम तथा अप्पयदीक्षित के समकालीन **बालकृष्णभट्ट** का 'प्रमेयरत्नार्णव' नितान्त प्रौढ ग्रन्थ है। अधिकांश बल्लभसाम्प्रदाय का प्रकाशन अवध तथा काशी (चौखम्भा कार्यालय) से हुआ है।

सिद्धान्त

श्रीबल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त 'शुद्धाद्वैत' के नाम से विख्यात है। इनके मत से ब्रह्ममाया से अलिप्त, अतः नितान्त शुद्ध है। यह मायासम्बन्धरहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ ही है।

१ शुद्धाद्वैतपदे धेयः भगवतः कर्मधारयः।

अद्वैत शुद्धयोः प्राहुः पठान्त्पुरुष तथाः ॥२७॥

ब्रह्म—इस मत में ब्रह्म निर्धर्मविशिष्ट अंगीकृत किया गया है। अतः उसमें विरुद्ध धर्मों की स्थिति भी नित्य है। अद्वैतवादियों के मतानुसार निर्धर्मक, निर्विशेष तथा निर्गुण ब्रह्म माया के सम्पर्क में सगुण के समान प्रतीत होता है, यह कथन ठीक नहीं है, क्योंकि अहिकुण्डल के लौकिक दृष्टान्त से ब्रह्म में उभयरूपता का होना श्रुतिसिद्ध है (उभयव्यपदेशात् त्वहिकुण्डलवत् ब्र० सू० ३।२।२७ पर अणु भाष्य)। यह विरुद्धधर्मों की सत्ता माया से प्रतिभासित नहीं होती है, प्रत्युत स्वाभाविक है। भगवान् की महिमा अनवगाह्य है। अतः जो अणोरणीयान् हैं, वे ही महतो महीयान् हैं। वे अनेक रूप होकर भी एक हैं, स्वतन्त्र होने पर भी भक्तपराधीन हैं। यह समार लीलानिकेतन ब्रह्म की ललित लीलाओं का विलसमात्र है। यह जगत्कर्तृत्व वास्तव है, मायाकल्पित नहीं। अखिलरसामृतमूर्ति निखिल लालाधाम श्रीकृष्ण ही यह परमब्रह्म है। आचार्यवल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है — (१) आधिदैविक=परब्रह्म; (२) आध्यात्मिक=अक्षरब्रह्म; (३) आधिभौतिक=जगत्। अतः जगत् ब्रह्मरूप ही है। कार्यकारण में भेद न होने से कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्म ही है। जिस प्रकार लपेटा गया कपड़ा फैलाने पर वही रहता है, उसी प्रकार आदि-अद्वैत में जगत् तथा तिरोभावरूप में ब्रह्म एक ही है, भिन्न नहीं। जगत् का आविर्भाव कार्य केवल लीलामात्र है। अतः अनवगाह्य-महिमामण्डित भगवान् की लीला का पसारा यह जगत् ब्रह्मरूप अतएव नित्य है।

अक्षरब्रह्म क्षरपुरुष (प्रकृति) से श्रेष्ठ है, परन्तु परब्रह्म उससे भी श्रेष्ठ है (गीता ८।२१)। अक्षरब्रह्म में आनन्दाद्य का किञ्चिन्मात्र में तिरोधान रहता है, पर पुरुषोत्तम आनन्द से परिपूर्ण रहता है। क्षर से अतीत तथा

मायामन्वधरहित शुद्धमित्युच्यते त्रुथः।

कार्यकारणरूप हि शुद्ध ब्रह्म म मायिकम् ॥२८॥ शुद्धाद्वैतमार्तण्ड।

अक्षर से उत्तम होने के कारण परब्रह्म को गीता 'पुरुषोत्तम' नाम से पुकारती है। अक्षरब्रह्म विशुद्ध-ज्ञानैकगम्य है परन्तु 'पुरुषोत्तम' की प्राप्ति तो केवल 'अनन्यभक्ति' के द्वारा ही हो सकती है। 'पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया' (गीता ८।२२) इस गीतावाक्य के आधार पर आचार्य का यह सिद्धान्त है (तेन ज्ञानमार्गीयाणां न पुरुषोत्तम-प्राप्तिरिति सिद्धम् । यस्यान्तःस्थानीत्यनेन परस्य लक्षणमुक्तम् । तच्च मृत्सादिप्रसंगे श्रीगोकुलेश्वरे स्पष्टमुच्यते ब्र० सू० ३।३।३३ अणुभाष्य) ।

भगवान् को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादिगुणों के अंशों को तिरोहित कर स्वयं **जावकूप** ग्रहण कर लेते हैं। इस व्यापार में क्रीड़ा की इच्छा ही प्रधान कारण है, तीव्र माया का सम्बन्ध तनिक भी नहीं रहता। ऐश्वर्य के तिरोधान से जीव में दोनता उत्पन्न होती है और यश के तिरोधान से हीनता। श्री के तिरोधान से वह समस्त विपत्तियों का आस्पद है; ज्ञान के तिरोधान से अनात्मरूप देहादिकों में आत्मबुद्धि रखता है तथा आनन्द के तिरोधान से दुःख को प्राप्त करता है ('पराभिध्यानात्' ब्र० सू० ३।२।५ पर अणुभाष्य) । ब्रह्म से आविर्भूत जीव अग्निस्फुल्लिगवत् नित्य है। यह व्युच्चरण उत्पत्ति नहीं है। अतः व्युच्चरण होने पर भी जीव की नित्यता में ह्रास नहीं होता। बल्लभमत में भी जीव ज्ञाता, ज्ञान-स्वरूप तथा अणुरूप है। भगवान् के अविकृत सदंश से जड़ का निर्गमन और अविकृत चिदंश से जीव का निर्गमन होता है। जड़ के निर्गमन-काल में चिदंश तथा आनन्दांश दोनों का तिरोधान रहता है, परन्तु जीव के निर्गमनकाल में केवल आनन्दांश का ही तिरोभाव रहता है (प्रमेयरत्नार्णव पृ० ७-९) ।

जीव अनेक प्रकार का होता है—(१) शुद्ध, (२) मुक्त, (३) भंसारि। स्फुल्लिगवत् व्युच्चरण के समय आनन्दांश का तिरोधान होने

पर अविद्या से सम्बन्ध होने से पूर्व जीव 'शुद्ध' कहलाता है। अविद्या के साथ सम्बन्ध होने वाला जीव 'मसारी' कहलाता है। ये भी दो प्रकार के होते हैं—दैव और आमुर। दैव जीव भी मर्यादामार्गीय और पृष्टि-मार्गीय भेद से भिन्न भिन्न होता है। मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। मंसारी दशा में जब पृष्टिमागं के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है, तब उनमें तिरोहित आनन्द के अंश का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंश को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है। 'तत् त्वमसि' महावाक्य इसा अद्वैत सत्ता को प्रतिपादित करता है। जिस प्रकार सुवर्ण के कटक कुण्डलादि अंश सुवर्ण से अभिन्न हैं, उसी प्रकार चिदंश जीव भी ब्रह्म के साथ अभिन्न है (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० १५-१६)।

जगत् जगत् के विषय में आचार्य 'अविकृत परिणामवाद' को स्वीकार करते हैं। कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि के समान निर्गुण सच्चिदानन्दात्मक ब्रह्म ही अविकृत भाव से जगद्रूपेण परिणत होता है। जिस प्रकार कुण्डलादि-रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। श्रीमद्भागवत् एकादश स्कन्ध में इसी तत्त्व का सुन्दर प्रतिपादन करता है :-

यथा सुवर्णं मुकृतं पुरस्तात् पश्चाच्च सर्वस्य हिरण्यस्य ।

तदेव मध्ये व्यवहार्यमाणं नानापदेशैरहमस्य तद्वत् ॥

आचार्य जगत् का उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते, प्रत्युत आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं। अनुभवयोग्य होने पर जगत् का आविर्भाव होता है और अनुभव योग्य न होने पर जगत् का तिरोभाव

होता है (अनुभवविषयत्वयोग्यता आविर्भावः । तदविषयत्वयोग्यता तिरोभाव—विद्वन्मण्डन पृ० ७) । बल्लभमत में जगत् और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता है । ईश्वरेच्छा के विलास से सदंश में प्रादुर्भूत पदार्थ को 'जगत्' कहते हैं, परन्तु पञ्चपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममत्तरूप पदार्थ की सजा 'ससार' है । अविद्या के पाँच पर्द होते हैं—स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास । इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है अतः ज्ञान के उदय होने पर 'ससार' का तो नाश हो जाता है । परन्तु ब्रह्मरूप होने से 'जगत्' का कभी विनाश सम्भव नहीं है । यह तो ब्रह्म तथा जीव के समान ही नित्य पदार्थ है ।

पुष्टिमार्ग - भगवान् को प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है । भगवान् के त्रिविधरूप के अनुसार मार्ग भी तीन हैं । आधिभौतिक कर्ममार्ग है; ज्ञानमार्ग आध्यात्मिक है । ज्ञान के बल पर ज्ञानी जन अक्षर ब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु भक्ति के ही द्वारा परब्रह्म सच्चिदानन्द की उपलब्धि होती है । आचार्य का आचारमार्ग 'पुष्टि-मार्ग' कहलाता है । भागवत में पुष्टि या पोषण का अर्थ 'भगवान् का अनुग्रह' है (पोषणं तदनुग्रहः—भाग० २।१०) । अतः भगवदनुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने से यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है । यह मार्ग मर्यादामार्ग से नितान्त विलक्षण है । मर्यादामार्ग वैदिक है, जो अक्षरब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परन्तु पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम के शरीर में निकला है । मर्यादामार्ग में ज्ञान तथा श्रवणादि साधनों के द्वारा सायुज्यमुक्ति ही ध्येय होती है, परन्तु पुष्टिमार्ग में सर्वात्मना आत्मसमर्पण तथा विप्रयोग रसात्मिका प्रीति की सहायता से आनन्दधाम भगवान् का साक्षात् अधरामृत का पान ही मुख्य फल है । हरिरायजी ने पुष्टिमार्ग की विशेषता सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त की है (प्रमेयगन्तार्णव पृ० १९) :—

अनुग्रहेणैव मिलितैः किंकी यत्र वैदिकी ।

न यत्नादन्यथा वि नः पृष्टिमार्गः स कथ्यते ॥

आचार्य ने अणुभाष्य में ठीक ही कहा है 'पुष्टिमागोऽनुग्रहेणैव विनादिनैरेव, मर्यादायामर्गाकृतस्य तु तदपेक्षितत्वं च युक्तमेव (अणुभाष्य ३।३।२९); पृष्टिमार्गोऽनुग्रहेणैव साध्यः प्रमाणमार्गाद् विलक्षणः (अणुभाष्य ४।४।९) ।

भक्ति भी दो प्रकार की होती है—'मर्यादाभक्ति' तथा 'पृष्टिभक्ति' । इन दोनों का पार्थक्य भी वल्लभमत में सूक्ष्मरीति से किया गया है । भगवान् के चरगारविन्द का भक्ति मर्यादाभक्ति है, परन्तु भगवान् के मुखारविन्द का भक्ति पृष्टिभक्ति है । मर्यादाभक्ति में फल की अपेक्षा घना रहता है, परन्तु पृष्टिभक्ति में किसी भी प्रकार के फल का आकांक्षा नहीं रहती । मर्यादाभक्ति से साधुज्य का प्राप्ति होती है, परन्तु पृष्टिभक्ति से अमेदबोधन ही प्रधानतया सिद्ध होता है । इस प्रकार इस क्लेशविपुल समार से उद्धार पाने का एक ही सुगम उपाय है पृष्टिमार्ग का अवलम्बन, जो वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदभाव के बिना सब प्राणियों के लिए उपादेय है । यह 'पृष्टि' श्रीमद्भागवत का प्रधान रहस्य है । वल्लभाचार्य ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर ही इस पृष्टित्व को पुष्ट किया है । इस मत के प्रस्थान-चतुष्टयी में उपनिषद्, गीता तथा ब्रह्मसूत्र के साथ श्रीमद्भागवत ('समाधिभाषा व्यासस्य') की भी गणना है । भागवत का इस सम्प्रदाय में इतना अधिक आदर है कि आचार्य के ग्रन्थों में अणुभाष्य की अपेक्षा 'मुञ्चोधिना' की ख्याति कहीं अधिक है । हरिराय का यह कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड पृ० ५५):—

नाश्रितो वल्लभाधीशो न च दृष्टा मुञ्चोधिनी ।

नाराधि राधिकानाथो वृथा तज्जन्म भूतले ॥

विज्ञानभिक्षु बल्लभ के समकालीन प्रतीत होते हैं। 'विज्ञानामृत' माध्य में इन्होंने "अविभागाद्वैत" का प्रतिपादन किया है। इनके मत में जगत् के समस्त पदार्थों से अविभक्त ब्रह्म एक अद्वैत तत्त्व है।

५

चैतन्यमत

बंगदेश को अपने रसमय कार्तियों से भक्ति-विभोर बना देने वाले निखिलरसामृतमूर्ति श्री महाप्रभु **चैतन्यदेव** (१४८५ ई० — १५३३ ई०), बल्लभाचार्य जी के समसामयिक थे। नवद्वीप में जन्म ग्रहणकर आने वैष्णवधर्म के उत्थान के लिए जो प्रयत्न किया वह सर्वसाधारण से अविदित नहीं है। आपके युगल शिष्य **श्रीरूपगोस्वामी** तथा **श्रीसनातन** गोस्वामी ने प्रामाणिक ग्रन्थों का निर्माण कर गौड़ीय वैष्णवमत की प्रकृष्ट प्रतिष्ठा का है। श्रीरूपगोस्वामी ने दानकेलिकौमुदो, ललितमाधव तथा विदग्धमाधव नाटकों में श्रीकृष्ण का ललित वृन्दावन-लीलाओं का रसमय वर्णन ही नहीं किया है, प्रभुत 'लघुभागवतामृत', 'उज्ज्वलनालमणि' 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' में भक्तिरस का सागां पाग विवेचना की है। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—पद्यावली, हंसदूत, उद्धवसन्देश। रूप के ज्येष्ठ भ्राता सनातन ने 'बृहद्भागवतामृत', भागवत दशमस्कन्ध की 'वैष्णवतोषिणी' नाम्नी टीका तथा 'हरिभक्तिविलास' में चैतन्यमत के सिद्धान्त तथा आचार का सविस्तर वर्णन किया है। सनातन के छोटे भाई बल्लभ के पुत्र **भोजोगोस्वामी** का नाम चैतन्यमत के इतिहास में मुवर्णाक्षरों से लिखने लायक है। इन्होंने भक्तिरसामृतसिन्धु पर 'दुर्गमसंगमनी' तथा भागवत पर 'क्रमसन्दर्भ' व्याख्या लिखने के अतिरिक्त 'भागवतसन्दर्भ' या पट्सन्दर्भ में भागवत-सम्मत भक्ति तथा भगवान् का स्वरूप विस्तृतरूप से दिखलाया है। भागवत का सर्माक्षात्मक

यह ग्रन्थरत्न जीवगोस्वामी की भक्तिभावना तथा प्रचुर पाण्डित्य का सर्वदा विद्योतित करता रहेगा। 'सर्वसंवादिनी' टीका से मण्डित यह पट्सन्दर्भ अचिन्त्यभेदाभेद का सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। **विश्वनाथ चक्रवर्ती** का समय १७ वे शतक का अन्त तथा १८ वे का आदिम काल है। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ भागवत की 'मारार्थदर्शिनी' टीका रचना काल (१७०४ ई०) है। इनकी उज्जवनीलमणि की 'आनन्दचन्द्रिका' टीका तथा कविकर्णपूर के 'अलंकार कौस्तुभ' की व्याख्या भी महत्वपूर्ण हैं। **कृष्णदास कविराज** के 'चैतन्यचरितामृत' (बगला) में चैतन्य की प्रामाणिक जीवनी के साथ-साथ उनके भक्तिमिद्धान्तों का भी प्रतिपादन है। **बलदेव विद्याभूषण** (१८ शतक का उत्तमार्ध) की सर्वोत्तम कृति है ब्रह्मसूत्र का चैतन्यमतसम्मत 'गोविन्द भाष्य'। इसका उपोद्घात रूप सिद्धान्तरत्न (या भाष्यपाठक), प्रेमसरत्नावली, गीताभूषण (गीता-व्याख्या), रूप गोस्वामी की स्तवमाला तथा लघुभागवतामृत का टीका आदि ग्रन्थ नितान्त विख्यात हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से चैतन्यमत माध्वमत से सम्बद्ध है तथा इसके अनेक सिद्धान्त उस मत से गृहीत भी हैं, परन्तु इसकी दार्शनिक दृष्टि द्वैतवाद से नितान्त भिन्न है। गोडीय वैष्णवमत 'अचिन्त्यभेदाभेद' का समर्थक है।

सिद्धान्त

भगवान् विज्ञानानन्दविग्रह हैं। ये अनन्त गुणों के निवासस्थान हैं। सत्यकामत्व, सत्यमकम्पत्व, सर्वज्ञत्व, सर्वविद्यत्व, आदि अनन्त अपरिमित गुण श्रीभगवान् में सदा निवास करते हैं। भगवान् गुण और गुणों का वास्तव अभेद रहता है इसीलिए सत्यकामत्वादि अनन्तगुण भगवत्स्वरूप से पृथक् नहीं हैं। इस अभेद-दृष्टि को ध्यान में रख कर विष्णुपुराण ज्ञान बलादि गुणों को भगवत्-शब्दवाच्य बतलाता है (.. यानि बिना

हेयैर्गुणादिभिः) तथा श्रीमद्भागवत भगवान् को गुणात्मा मानता है (गुणात्मनस्तेऽपि गुणान् विमातुम्—भाग० १०।१४।७) । भगवान् का विग्रह उनके स्वरूप से एकाकार ही है । अतः भगवद्विग्रह नित्य तथा अप्राकृत है । इस प्रकार भगवान् के स्वरूप, विग्रह तथा गुणों में किसी प्रकार का भेद या पार्थक्य नहीं है, तथापि पार्थक्य का वर्णन (जैसे भगवान् के गुण, भगवान् का स्वरूप) भाषा की दृष्टि से ही किया जाता है । चैतन्यमत में भेद का समर्थन जलकल्लोल न्याय से किया जाता है ।

शंकराचार्य के मत के अनुकूल चैतन्यमत में भी ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत भेद से शून्य है । वह अग्वण्ड सच्चिदानन्दात्मक पदार्थ है । नारद पांचरात्र का स्पष्ट कथन है—सर्वत्र च स्वगतभेदविवर्जितात्मा । भगवान् में अचिन्त्य अपरिमेय शक्ति रहती है जिसके कारण नानात्मक प्रतीत होने पर भी वह एकात्मक ही बना रहता है । भक्तों ने इसीलिए भगवान् को वैदूर्य मणि के समान बतलाया है । इस शक्ति की परिभाषिकी संज्ञा 'विशेष' है जिसकी कल्पना साध्व्यमत में ग्रहण की गई है । जहाँ पर भेदाभाव होकर भी भेदकार्य की प्रतीति होती है, वहाँ 'विशेष' माना जाता है (यत्र भेदभावो भेदकार्यं च प्रमिते तत्रैव भेद-प्रतिनिधिर्विशेषः कल्प्यते—सिद्धान्तरत्न पृ० २३) । 'विशेष' भेदव्यवहार का निर्वाहकमात्र होता है, पर 'भेद' वास्तव होता है । भगवान् का जीव तथा प्रकृति से पृथक् होना भेद-साध्य है, परन्तु भगवान् का अपने गुणों तथा विग्रहों से पृथक् होना 'विशेषजन्य' है, क्योंकि वस्तुतः उनके गुण तथा विग्रह भगवान् से एकाकार ही हैं (विशेषेण भेदेऽपि तत्त्वे भेदव्यवहारो विशेषवलात्—सिद्धान्तरत्न पृ० २३) । इसी अचिन्त्य-शक्ति के कारण भगवान् मूर्त होकर भी विभु हैं । इस परिच्छिन्नत्व तथा विभुत्व की भगवान् में युगपदस्थिति का वर्णन ब्रह्मसंहिता (५।४३) में स्पष्ट शब्दों में किया गया है—

पन्थास्तु कोटिशतवत्सरसप्रगम्यो

वायोरथापि मनसो मुनिपृङ्गवानाम् ।

मोऽप्यस्ति यत् प्रपदसाम्बन्धविचिन्त्यतन्त्रं

गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि ॥

भगवान् अचिन्त्याकार अनन्त शक्तियों से सम्पन्न हैं, परन्तु उनका तीन ही शक्तियाँ मुख्य हैं—स्वरूपशक्ति, तत्त्वशक्ति और मायाशक्ति^१। स्वरूपशक्ति को चित्शक्ति तथा अन्तरंगाशक्ति भी कहते हैं, क्योंकि यह भगवद्द्रष्टृणा ही है। मत्, चित् तथा आनन्द के कारण भगवान् का यह स्वरूपशक्ति एकात्मिका होने पर भी त्रिविध रूपों में अभिव्यक्त होती है^२—(१) 'सन्धिना'—इसके बलपर भगवान् स्वयं सत्ता धारण करते हैं, दूसरों का सत्ता प्रदान करते हैं और समस्त देशकाल तथा द्रव्यों में व्याप्त रहते हैं (सदात्मापि यया सत्ता धत्ते ददाति च सा सर्व-देशकालद्रव्यव्याप्तिहेतुः सन्धिना) (२) 'सन्धित्'—चिदात्मा भी भगवान् इसा से स्वयं जानते हैं तथा दूसरों का ज्ञान प्रदान करते हैं। (३) 'ह्लादिनी'—इसमें भगवान् स्वयं आनन्दित होते हैं और दूसरों का आनन्द प्रदान करते हैं (मिद्धावरत्न पृ० ३९-४०)। जो शक्ति परिच्छिन्न-स्वभाव, अगुत्वविशिष्ट जीवों के आविर्भाव का कारण बनती है वह 'तटस्था' या जीवशक्ति कहलाती है। मायाशक्ति से प्रकृति तथा जगत् का आविर्भाव साधन होता है। इन तीनों शक्तियों के समुच्चय को 'पराशक्ति' कहते हैं। भगवान् 'स्वरूप शक्ति' से जगत् के निमित्त कारण और माया-जीव-शक्तियों से उपादान कारण हैं। इसी प्रकार

१ विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथाऽपरा ।

अविद्याकर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरित्यने ॥ वि० पु० ६।७।६१ ।

२ ह्लादिनी सन्धिना सन्धित् त्वय्येका सर्वसत्त्वे ।

ह्लादनापकर्ग मिथ्या त्वयि नो गुणवर्जिते ॥ विष्णुपुराणे

माध्वमत के विपरीत वे केवल निमित्त न होकर अभिन्ननिमित्तोपादान कारण हैं। जगत् में धर्म की अभिवृद्धि तथा अधर्म के विनाश के लिए, भक्तों की रुचि के अनुसार ये ही भगवान् भिन्न-भिन्न अवतार धारण कर प्रकट होते हैं। श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् ही हैं, अवतार नहीं (कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्—श्रीभाग० १।३।२८)।

जगत्—चैतन्यमत में जगत्प्रपञ्च नितरां सत्यभूत पदार्थ है क्योंकि यह सत्यमंकल्प सर्वविद् हरि की बहिरङ्गा शक्ति का विलास है। श्रुति तथा स्मृति एक स्वर से जगत् की सत्यता प्रतिपादित करती हैं। 'याथा-तथ्यतोऽर्थान् व्यदधात् शाश्वतीभ्यः समाभ्यः' (ईशावास्य श्लो० ८) श्रुति सासारिक पदार्थों को यथार्थ तथा विष्णुपुराण (१।२२।५८) इन्हें 'अक्षयं' 'नित्यं' कहता है। प्रलयकाल में भी भगवान् के साथ जगत् की सूक्ष्मरूपेण अवस्थिति उन्नी प्रकार रहती है जिस प्रकार रात के समय वन में लीन विहङ्गम की स्थिति (वनलीनविहङ्गवत्-प्रमेयगत्नावली ३।२) अचिन्त्यशक्ति के कारण भगवान् के साथ न तो यह प्रपञ्च एकान्ततया भिन्न ही प्रतीत होता है और न अभिन्न ही। अतः चैतन्यमत की आध्यात्मिकदृष्टि 'अचिन्त्यभेदाभेद' के नाम से प्रसिद्ध है^१।

साधनमार्ग—भगवान् को अपने वश में करने का सर्वश्रेष्ठ साधन भक्ति ही है। कर्म का उपयोग चित्त की शुद्धि कर उसे ज्ञान तथा भक्ति के उपयुक्त आधार बनाने में है। ज्ञान की प्रकाररूपा भक्ति 'केवल ज्ञान' से नितान्त विलक्षण है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—केवलज्ञान तथा विज्ञान। त्वं पदार्थ के ज्ञान से कैवल्य ज्ञान का उदय होता है, तत्पदार्थ के चिन्तन से भगवत्प्रसाद का लाभ होता है और

१ स्वरूपादिभिरन्तरेण चिन्तयितुमशक्यत्वाद् भेदः, भिरन्तरेण चिन्तयितुमशक्यत्वादभेदश्चप्रतीयते इति शक्तिशक्तिमतोभेदाभेदावकीकृत्वा तौ च अचिन्त्यौ। स्वमते तु अचिन्त्यभेदाभेदायैव अचिन्त्यशक्तिवत्।

—भगवत्सन्दर्भस्य सर्वसवादिन्यां जीवगोस्वामी।

सायुज्यादि मुक्ति की ही उपलब्धि होती है; परन्तु विज्ञान अर्थात् भक्ति के द्वारा भक्त न केवल भगवत्प्रसाद को ही प्राप्त कर लेता है, अपितु भगवान् को अपने वश में कर लेता है (भगवद्दशोक्त) । अतः भगवद्दशोक्त को उत्पन्न करने के कारण भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है (सिद्धान्तरत्न पृ० २९-३१) । सवित् तथा ह्यादिनी शक्तियों का सम्मिश्रण भक्ति का सार है । ये दोनों शक्तियाँ भगवान् के ही स्वरूप हैं, अतः भक्ति भगवद्रूपिणी है । यह भक्ति स्वरूपात्मक होने से भगवान् का अपृथग्विशेषण है, परन्तु भक्तों का पृथग्विशेषण है । **भगवान्** के दो रूप होते हैं—ऐश्वर्य, जिसमें उनके परमैश्वर्य का विकास होता है तथा माधुर्य, जिसमें नरतनुधारी भगवान् मनुष्य के समान ही चेष्टा किया करते हैं । ऐश्वर्य का ज्ञान माधुर्य के ज्ञान से भिन्न है । ऐश्वर्यज्ञान से सम्पन्न जीव भगवत्सान्निध्य में स्वर्गीय भाव को भूल कर सम्भ्रम तथा आदर के भाव से अभिभूत हो जाता है, परन्तु माधुर्य ज्ञान से सम्पन्न होने पर वह वात्सल्य, सख्य आदि स्वीय भावों का खो नहीं बैठता । **भक्ति** भी दो प्रकार की होती है—‘विधिभक्ति’ और ‘रुचिभक्ति’ या राग । विधिभक्ति में भक्तिशास्त्र-निर्दिष्ट उपायों का अवलम्बन नितान्त उपादेय है । दृष्ट भक्त अपने प्रयत्न से ‘देवयान’ का आश्रय कर सिद्धि-लाभ करते हैं, परन्तु आर्तभक्तों पर भगवान् की अहंतुकी कृपा होती है । वह स्वयं उन्हें अपने वाहन के द्वारा स्वेच्छा से परमधाम की प्राप्ति करा देते हैं । विधिभक्ति से रागात्मिका नितान्त श्रेयस्कर है । इसमें भक्त भगवान् को अपने प्रियतमरूप से ग्रहण करता है तथा अलौकिक आनन्द का आस्वादन करता हुआ भगवत्-धाम को प्राप्त करता है । ब्रज-गोपिकाओं में प्रत्यक्ष दृष्ट इसी उत्तमा भक्ति का सुन्दर वर्णन नारद-पाञ्चरात्र ने किया है:—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।

हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥

भगवत्प्रीति भगवान् की आनन्दरूपा ह्लादिनी शक्ति ही है (भगवत् प्रीतिरूपा वृत्तिर्मायादिमयी न भवति, किन्तर्हि स्वरूपशक्त्यानन्दरूपा, यदाऽऽनन्दपराधीनः श्रीभगवान्प्रीति — प्रीतिसन्दर्भ पृ० ७२४) । यह भक्ति अन्य दर्शनो के समान उपायभूता न होकर उपेयभूता है । मुक्तात्माओं के लिए यही भक्ति 'सेवानन्द' का रूप धारण कर प्रकट होती है । भगवान् श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की सेवा करते हुए आनन्दलाभ ही मोक्ष से भी बढ़कर होने से 'पञ्चम' पुरुषार्थरूप से गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय में ग्रहण किया गया है । इस भक्तिरस की सागापांग कल्पना चैतन्यमत की विशिष्टता है जिसका पाण्डित्यपूर्ण विवेचन रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिन्धु में किया है ।

चैतन्यमत का संक्षिप्त वर्णन भक्तवर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ने बड़ी सुन्दरता के साथ किया है:—

आराध्यो भगवान् ब्रजेशतनयस्तडाम वृन्दावनं

रम्या काचिदुपासना ब्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।

शान्त्रं भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्

श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

उपसंहार

प्रसिद्ध वैष्णव दर्शनो का यही संक्षिप्त परिचय है । इसके अनुशीलन से पता चलता है कि इनमें कतिपय सिद्धान्त सामान्य रूप से मान्य हैं । वैष्णव दर्शनों में ज्ञान की अपेक्षा मोक्षसाधन में भक्ति की ही प्रधानता है । भगवान् का साकार, सगुण, सविशेष भाव ही मान्य है । भगवान् अनन्तकल्याणगुणनिकेतन, समस्त प्राकृतगुण-विहीन, हेयप्रत्यनीक हैं तथा भक्तों की रसमयी भक्ति के परवश होकर विग्रह धारण करने वाले हैं । जीव का अणुत्व सर्वत्र समभावेन सिद्ध है । भक्तिमार्ग में जीव की विभुत्वकल्पना कथमपि सुसंगत नहीं हो सकती । विदेह मुक्ति की कल्पना ही सर्वत्र आदरणीय है; जीवन्मुक्ति की नहीं । देहधारण के समय जीव

के दुःख क्षय होने पर भी सर्वदा के लिए क्षीण नहीं हो जाते । विदेह-मुक्ति होने पर ही जीव भगवान् के संनिधान में उनकी सेवा करता हुआ आनन्दमय जीवन विताता है । मुक्त आत्माओं को भी देहप्राप्ति भजन के लिए अवश्यमेव हंती है, परन्तु यह देह शुद्धसत्त्व के उपादान से निर्मित होने के कारण अप्राकृत होता है । नित्य देह के आश्रय से ही जीव भगवान् के साथ नित्यलीलायें कर सकता है । सामीप्यादि चतुर्विध मुक्ति की कल्पना में भगवान् तथा भक्त का किञ्चिदंश में भेद बना ही रहता है । ग्ग १. १. १. १ में दोनों की एकरूपता होने पर भी किञ्चित्मात्र भेद उसी प्रकार रहता है जिस प्रकार दो वृत्तों में एक दूसरे के ऊपर रखने से एकाकार होने पर भी उनमें परस्पर भेद किञ्चिन्मात्र में अवश्यमेव रहता है ।

इस प्रकार जीव, ईश्वर तथा मुक्ति की कल्पना में साम्य होने पर भी जीवेश्वरसम्बन्ध विषय में इन विभिन्न वैष्णवसम्प्रदायों में पार्थक्य है । चैतन्यमत भगवान् में अचिन्त्यशक्ति के कारण 'अचिन्त्यभेदाभेद' सिद्धान्त का पोषक है, तो वल्लभमत मायामन्वयरहित शुद्ध ब्रह्म की एकता में विश्वास करता है । माध्वमत स्पष्टतः जीवेश्वर में द्वैतभाव का समर्थक है । रामानुजमत तथा निम्बार्क में परस्पर सिद्धान्तगत विपुल साम्य है । रामानुज चित् अचित् को भगवान् के गुण या प्रकार मानकर उभयविशिष्ट ब्रह्म की अद्वैतता मानते हैं, परन्तु निम्बार्क चिदचित् को ईश्वर से भिन्न तथा अभिन्न मानकर 'भेदाभेद' का समर्थन करते हैं । ईश्वर के लिए किसी व्यावर्त्य पदार्थ की सत्ता न होने से चिदचित् को विशेषण मानना निम्बार्क को न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता^१ । मायावाद का खण्डन भक्ति विरोधी होने से सर्वत्र समभावेन किया गया है ।

१ व्यावर्त्यमात्रात् न्यायवर्तकत्वविशेषण-लक्षणत्वाभावः तदभावे च ब्रह्मणो विशिष्टत्वाभावः सृताः सिद्धः ।—वेदान्ततत्त्वबोध पृ० २७, सिद्धान्तजान्हवा पृ० ४३-४५ ।

पञ्चदश परिच्छेद शैव-शाक्त तन्त्र

१

तन्त्र—सामान्य परिचय

हमने त्रयोदश परिच्छेद के आरम्भ में आगम या तन्त्र का सामान्य परिचय दिया है। अब इस परिच्छेद में इस विषय का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया जा रहा है। आगम की उत्पत्ति तथा प्रतिपाद्य विषय का वर्णन अनेक तन्त्रग्रन्थों में दिया गया है। इस कलियुग के लिए आगम की उपयोगिता विशेषरूप से मानी गई है। चारों युगों में चार प्रकार की पूजा का विधान मिलता है। सत्ययुग में वेद तथा वैदिक उपासना का, त्रेता में स्मृति तथा स्मार्त पूजा का, द्वापर में पुराण तथा पुराणसम्मत पद्धति का तथा कलि में तन्त्र तथा तान्त्रिकी उपासना का विशेष महत्त्व है^१। महानिर्वाण तन्त्र के अनुसार कलि में मेध्यामेध्य के विचार से हीन मानवजनों के कल्याणार्थ शंकर ने तन्त्रों का उपदेश पार्वती को स्वयं दिया है। अतः कलियुग में इन्हीं आगमों के अनुसार पूजाविधान से मानवों को सिद्धि प्राप्त होती है (विना ह्यागममार्गेण

१ कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृतिसम्भवः ।

द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागमसम्मतः ॥

—कुर्वाणवतन्त्रे ।

कलो नास्ति गतिः प्रिये—महानिर्वाण) । तन्त्रों का स्वरूप भली भाँति पहचाना जा सकता है । देवता के स्वरूप, गुण, कर्म आदि का जिनमें चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मन्त्रों का उद्धार किया गया हो, उन मन्त्रों को यन्त्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पाँचों अंग—पटल, पद्धति, कवच, नामसहस्र और स्तोत्र—व्यवस्थितरूप से दिखलाये गये हो, उन ग्रन्थों को 'तन्त्र' कहते हैं । वागहीतन्त्र के अनुसार सृष्टि, प्रलय, देवतार्चन, सर्वसाधन, पुरश्चरण, षट्कर्म (शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मार्ग) साधन, तथा ध्यान-योग—इन सात लक्षणां से युक्त ग्रन्थों को आगम कहते हैं—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम् ।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च ॥
षट्कर्मसाधनं चैव ध्यानयोगश्चतुर्विधः ।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः ॥

तन्त्रों की विशेषता 'क्रिया' है । वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट 'ज्ञान' का क्रियात्मकरूप या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है । भारतीय धर्म निगमागममूलक है । जिस प्रकार भारतीय धर्म तथा सभ्यता निगम-वेद-पर अवलम्बित है, उसी प्रकार वह आगम-तन्त्र पर भी आश्रित है । आगम तथा निगम के परस्पर सम्बन्ध को सुलझाना एक विषय समस्या है । तन्त्र ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि तन्त्र दो प्रकार के हैं—वेदानुकूल तथा वेदवाह्य । कतिपय तन्त्रों के सिद्धान्त तथा आचार का मूलस्रोत वेद से ही प्रवाहित होता है । पाञ्चरात्र तथा शैवागम के कतिपय सिद्धान्त वेदमूलक अवश्य हैं, यद्यपि प्राचीन ग्रन्थों में इन्हें वेदवाह्य ही माना गया है । शाक्त आगम की वेदमूलकता के विषय में जनसाधारण का विशेप सन्देह है । शाक्तों के पञ्चविध आचारों में से केवल एक ही आचार—वामाचार—की घृणित

पूजापद्धति के बल पर पूरे शाक्त आगम को लोग अवैदिक ठहराते हैं, परन्तु शाक्तों के सिद्धान्त और आचार के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उनमें भी महती संख्या वेदानुकूल तन्त्रों की है। वेदब्राह्म तन्त्रों की भी कमी नहीं है जिनके आचार, पूजा-प्रकार वैदिक पद्धति से एकदम विपरीत ठहरते हैं।

शाक्तधर्म का ध्येय जीवात्मा की परमात्मा के साथ अमेद-सिद्धि है। तांत्रिक उपासना का प्रथम सिद्धांत है कि उपासक अपने उपास्य देव के साथ तादात्म्य स्थापित करे (देवो भूत्वा यजेद् देवम्)। शाक्तधर्म अद्वैतवाद का साधन मार्ग है। शाक्तों की प्रत्येक साधना में अद्वैतवाद अनुस्यूत रहता है। सच्चे शाक्त की यही धारणा रहती है—

अहं देवी न चान्योऽस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।

सच्चिदानंदरूपोऽहं नित्यमुक्तस्वभाववान् ॥

शाक्तों की आध्यात्मिक कल्पना के अनुसार परब्रह्म निष्कल, शिव, सर्वज्ञ, स्वयं-ज्योतिः, आद्यन्त-विरहित, निर्विकार तथा सच्चिदानन्द स्वरूप है (कुलार्णव १।६-१०)। जीव अग्नि-विस्फुल्लिगवत् ब्रह्म से आविर्भूत हुआ है—तंत्रों के ये सिद्धान्त निःमंशय उपनिषन्मूलक हैं। तंत्रों में परमतत्त्व मातृरूप से स्वीकृत किया जाता है। तंत्रों में शक्तिकी कल्पना वैदिक सिद्धान्तों के ही आधार पर है। ऋग्वेद के वागाम्भृणीसूक्त (१०।१२५) में जिस शक्तितत्त्व का प्रतिपादन है, शक्ततंत्र उसी के भाष्यभूत माने जा सकते हैं। अतः आगमों के सिद्धांतों में निगमों के सिद्धांतों से किसी प्रकार का मतभेद दृष्टिगोचर नहीं होता। शाक्त आचारका भी विचार आगे किया जा रहा है। सिद्धान्ततः अनेक शाक्ताचार भी नितांत वैदिक हैं। निगम तथा आगम में यही पार्थक्य दृष्टिगत होता है कि जहाँ निगम अपने सिद्धान्तों तथा क्रियाकलापों को ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य—

त्रिवर्ण के लिए सीमित करता है, वहाँ आगम ने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिए, शूद्र तथा स्त्रोजनों के लिए भी, उन्मुक्त कर रखा है। निगम जहाँ विशेषतः ज्ञानप्रधान है, वहाँ आगम मुख्यतः क्रियाप्रधान है।

तात्रिक आचार एक नितान्त रहस्यपूर्ण व्यापार है। गुरु के द्वारा दीक्षाग्रहण करने के समय शिष्य को इसका रहस्य समझाया जाता है। वैदिकी तथा तान्त्रिकी पूजा में अन्तर यह है कि जहाँ वैदिक पूजापद्धति सर्वसाधारण के उपयोग के लिए है, वहाँ तान्त्रिकी पूजा केवल चुने हुए

प्राचीनता कतिपय अधिकारी व्यक्तियों के लिए ही है। अतः

वह सर्वदा तथा सर्वथा गोप्य रखी जाती है। वैदिक काल में भी वैदिक पद्धति के साथ-साथ तान्त्रिक पद्धति का प्रचार कम न था। उपनिषदों में वर्णित विभिन्न विद्याओं की आधारभूति तान्त्रिक प्रतीत होती है। बृहदारण्यक (६।२) तथा छान्दोग्य (५।८) में वर्णित पञ्चाग्निविद्या के प्रसंग में 'योपा वाव गौतमाग्निः' आदि रूपक का क्या स्वारस्य है? छान्दोग्य (३।१-१०) में उल्लिखित मधुविद्या का रहस्य क्या है? सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ मधुनाड़ियाँ हैं, गुह्य आदेश मधुकर हैं, ब्रह्म ही पुष्प है, उसमें निकलनेवाले अमृत को 'साध्य' नामक देवता उपभोग करते हैं; इस पञ्चम अमृत के वर्णन में जिन गुह्य आदेशों को मधुकर बतलाया गया है वे गोपनीय तान्त्रिक आदेशों के अतिरिक्त क्या हो सकते हैं? अतः वैदिकी पूजा के संग में गुह्य तान्त्रिक पद्धति की कल्पना करना निगधार नहीं है।

शाक्तमत में तीन भाव तथा सात आचार होते हैं। पशुभाव, वीर-भाव और दिव्यभाव—ये तीन भाव हैं। वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवा-

भाव और आचार चार, दक्षिणाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार तथा

कौलाचार—ये सात आचार पूर्वोक्त तीनों भाव से सम्बद्ध हैं। भाव मानसिक अवस्था है और आचार बाह्य आचरण।

जिन जीवों में अविद्या के आवरण के न हटने से अद्वैत-ज्ञान का लेशमात्र भी उदय नहीं हुआ है, इनकी मानसिक अवस्था 'पशुभाव' कहलाती है। पशु के समान ये भी अज्ञानरज्जु के द्वारा संसार से दृढरूप में बँधे रहते हैं। संसारमोह में पड़नेवाला जीव 'अधम' पशु और सत्कर्मपरायण भगवद्भक्त 'उच्चम' पशु कहलाता है। जो मानव अद्वैतज्ञानरूपी अमृतहृद की कणिकामात्र का भी आस्वादन कर अज्ञानरज्जु के काटने में कुछ मात्रा में भी कृतकार्य होते हैं, वे 'वीर' कहलाते हैं। जो साधक वीरभाव की पुष्टि से द्वैतभाव के दूरीकरण में सर्वथा समर्थ होते हैं तथा उपास्य देवता की सत्ता में स्वीय सत्ता को डुबा कर अद्वैतानन्द का आस्वादन करते हैं वे 'दिव्य' हैं तथा उनकी मानसिक दशा 'दिव्यभाव' कहलाती है। पूर्वोक्त आचारों में प्रथम चार आचार—वेद वेण्णव, शैव तथा दक्षिण—पशुभाव के लिए, वाम तथा सिद्धान्त वीरभाव के लिए तथा आचारो में सर्वश्रेष्ठ कौलचार पूर्ण-अद्वैत-भावनाभावित दिव्यसाधक के लिए है। कौलचार का रहस्य नितान्त निगूढ है। भास्करराय ने 'कुल' शब्द के अनेक अर्थ बतलाये हैं। 'कुल' शब्द के 'सौभाग्य-भास्कर' भाष्य में भास्करराय ने लिखा है—कुल सजातीयसमूहः। स च एक विज्ञानविषयत्वरूप—साजात्यापन्न-ज्ञातृज्ञेय-ज्ञानरूपत्रयात्मकः। ततः सा त्रिपुटी कुलम्। इस अर्थ में कालिदासकृत 'चिदगगनचन्द्रिका' का प्रामाण्य भी है—मेयमातृमितिलक्षणं कुलं प्रान्ततो व्रजति यत्र विश्रमम्। अर्थात् जिस साधक को अद्वैतभावना पूर्ण तथा विशुद्ध है वही वास्तविक कौलपद वाच्य है। तभी तो उसे कर्दम तथा चन्दन में, शत्रु तथा प्रिय में, श्मशान तथा भवन में, काञ्चन तथा तृण में, तनिक भी भेद-बुद्धि नहीं रहती। यह कौलसाधना वेदागम-

१ कर्दमे चन्दनेऽभिन्न पुत्रे शत्रौ तथा प्रिये ।

श्मशाने भवने देवि ! तथैव काञ्चने तृणे ।

न भेदो यस्य देवेशि ! स कौलः परिकीर्तितः ॥ भावचूडामणि-तन्त्रे ।

महोदधि का सार बतलाई गई है। इस नितान्त दुष्कर साधना के रहस्य न जानने से लोगो में अनेक भ्रान्तियाँ फैली हुई है। कौल कभी अपने स्वरूप को प्रकट होने नहीं देता। निम्नलिखित कथन वस्तुतः यथार्थ है, निन्दात्मक नहीं है :—

अन्तः शाक्ता वहिः शैवा सभामध्ये च वैष्णवाः ।

नानारूपधराः कौला विचरन्ति महीतले ॥

कौलसम्प्रदाय—कौलमार्ग के विभिन्न सम्प्रदाय भी प्राचीनकाल में थे जो 'कौलज्ञाननिर्णय' तन्त्र के १४ वें पटल में रोमकृपादिकौल, वृष्णोत्थकौल, वह्निकौल, कौलसद्भाव, पदात्थितकौल के नाम से उद्दिष्ट हैं। इसी प्रकार १७ वें पटल में महाकौल, मिदकौल, ज्ञाननिर्णतिकौल, सिद्धामृतकौल, योगिनीकौल, नाम से जिन कौलों का वर्णन उपलब्ध होता है वे कौलों के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय प्रतीत होते हैं। इससे कौलों की व्यापकता तथा महत्ता का स्पष्टतः परिचय मिलता है। कौलज्ञान-निर्णय की पुष्पिका से प्रसिद्ध चौरासा सिद्धों में अन्यतम **मत्स्येन्द्रनाथ** का सम्बन्ध 'योगिनीकौल' से जान पड़ता है जिसकी उत्पत्ति 'कामरूप' में हुई थी (कामरूपे इदं शास्त्रं योगिनीना गृहे-गृहे—पृ० ७८)। इस प्रकार 'नाथसम्प्रदाय' का सम्बन्ध कौलमत से निःसन्दिग्धरूप से सिद्ध होता है। अतः **गोरक्षनाथ** आदि हठयोग के आचार्यों का भी सम्बन्ध कौल मार्ग से ही है। इस सम्प्रदाय के प्राचीन ग्रन्थों में 'कौलज्ञान-निर्णय', 'अकुलवीगतन्त्र', 'कुलानन्दतन्त्र', 'ज्ञानकारिका' का प्रकाशन कलकत्ता संस्कृत सोराज (नं० ३) में तथा 'गोरक्षसिद्धान्त संग्रह' और 'सिद्ध-सिद्धान्त संग्रह' का काशी से हुआ है।

समयाचार—कौलाचार के अतिरिक्त 'श्रीविद्या' के उपासकों का एक अन्य ही आचार है, जो 'समयाचार' के नाम से विख्यात है।

आचार्य शंकर इसी आचार के अनुयायी थे। 'लक्ष्मीधर' ने सौन्दर्यलहरी (४१ श्लोक) की टीका में और 'भास्करराय' ने 'समयान्तस्था' और 'समयाचारतत्परा' आदि शब्दों के भाष्य में (ललितासहस्रनाम पृ० ५४) इस मत के अनेक रहस्यमय तत्त्वों का वर्णन किया है। समयमार्ग में अन्तर्यामि का ही प्राधान्य है। 'समय' का अर्थ है हृदयाकाश में चक्र की भावना कर पूजाविधान (दहराकाशावकाशे चक्रं विभाव्य तत्र पूजादिकं समय इति ब्रूया उच्यते) या शक्ति के साथ अधिष्ठान, अनुष्ठान, अवस्थान, नाम तथा रूपभेद से पञ्च प्रकारके साम्यधारण करनेवाले शिव (शिवशक्ति का सामरस्य)। समयाचार में मूलधार में मुक्त कुण्डलिनी को जाग्रत कर स्वाधिष्ठानादि चक्रों से होकर सहस्रार चक्र में विराजमान सदाशिव के साथ संयोग करा देना प्रधान आचार है। समयाचार का तत्त्व नितरां गूढ़ तथा गुरुमुखाकवेद्य है। समयमार्गी लक्ष्मीधर ने कौलमार्ग की बड़ी निन्दा की है, परन्तु साधना के रहस्य-वेत्ता विद्वज्जनों की सम्मति में आरम्भ में दोनों मार्ग में अन्तर होने पर भी अन्ततः दोनों में नितान्त घनिष्टता है। जो परम कौल है, वही सच्चा समयमार्गी है। यही मन्त्रशास्त्र का यथार्थ तात्त्विक सिद्धान्त है।

तान्त्रिक आचार के रहस्यों से अनभिज्ञ पठित समाज का विश्वास है कि उसमें अनेक घृणित और कुत्सित विधि-विधानों को प्रश्रय दिया गया है। इस आक्षेप की मीमांसा भी आवश्यक है। तन्त्रों की भाषा का साकेतिक होने के कारण तत्प्रतिपाद्य पूजा-प्रकार का यथार्थ निरूपण करना एक दुरूह व्यापार है। तान्त्रिक आचार्य मार्ग भी अनेक हैं जिनमें समयाचार तथा कौल-आचार दो प्रधान तथा स्वतन्त्र मार्ग हैं। भास्करराय ने ललितासहस्रनाम भाष्य के आरम्भ में ही 'कुल' शब्द का अर्थ दिया है 'मूलधारचक्र (कुः पृथिवीतत्त्वं लीयते यस्मिन् तदाधारचक्रं कुलम्)' जिसकी त्रिकोण या योनि भी अन्यतम संज्ञा है। लक्ष्मीधर के कथनानुसार आधारचक्र या योनि की प्रत्यक्षरूपेण पूजा करनेवाले तान्त्रिक 'कौल'

तथा उसकी भावना करनेवाले उपासक 'समयमार्गी' कहे जाते हैं। इन तान्त्रिकों की पूजा में 'पञ्चतत्त्व'-साधन एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। इन पञ्चतत्त्वों में मकारादि पञ्च वस्तुओं की गणना है—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन। समयमार्ग में अन्तर्याग (आन्तरिक उपासना) को महत्त्व दिया जाता है। अतः इन पाँचों के 'अनुकल्प' का प्रयोग किया जाता है अर्थात् इन पदार्थों का प्रत्यक्ष उपयोग न करके इनके स्थान पर तत्प्रतिनिधिभूत अन्य वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है^१, परन्तु कौल मत में ऐसा नहीं होता। लक्ष्मीधर ने 'तवाधारं मूले सह समयया लास्यपरया' (सौन्दर्यलहरी श्लोक ४१) के भाष्य में कौलों के दो मतों का उल्लेख किया है—पूर्वकौल तथा उत्तरकौल। पूर्वकौल 'श्राचक्र' के भीतर स्थित योनि की पूजा करते हैं, परन्तु उत्तरकौल सुन्दरी तन्त्री के प्रत्यक्ष योनि के पूजक हैं तथा अन्य मकारों का भी प्रत्यक्ष प्रयोग करते हैं। सर्वसाधारण में तान्त्रिक विधिविधानों को कुत्सापूर्ण वतलाने की कल्पना का मूल यही उत्तरकौलों का वामाचार है। तन्त्र के अनुशीलनकर्ता कतिपय विद्वानों की यह सम्मति है कि शाक्तमार्ग इन पञ्चतत्त्वों के लिए भी वैदिक अनुष्ठानों का ऋणी है, क्योंकि वाम-देव्यादि अनेक विधानों में परयोपा आदि का प्रयोग मान्य था^२। बहुत सम्भव है इन कौलों के आचार पर बाहरी अनार्य, विशेषतः तिब्बती, तन्त्रों का प्रभाव पड़ा हो। क्योंकि कौलों के प्रधान तन्त्र 'कुलार्णव' में मद्य-मांसादि के प्रत्यक्ष प्रयोग की बड़ी कड़ी निन्दा है (२ उल्लास, श्लो० ११७-१३६)। कौलाचार का मुख्य केन्द्र कामाख्या है जो

१ समयिनी मन्त्रस्य पुरश्चरणं नास्ति। जपो नास्ति। बाह्यहोमोऽपि नास्ति। बाह्यपूजाविधयो न सन्त्येव। हृत्कमलमेव यावत् सर्वमनुष्ठेयम्।

लक्ष्मीधर—सौन्दर्यलहरीटीका (श्लो० ४१)।

२ द्रष्टव्य उदरफ—शक्ति ऐण्ड शाक्त (अं०) पृ० ४४०-४४६।

भारतवर्ष के बिलकुल पूरबी प्रान्त आसाम में स्थित है। सम्भवतः यहीं तिब्बती तन्त्रों का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। गान्धर्वतन्त्र, तारातन्त्र (१।२) रुद्रयामल (१७ पटल) विष्णुयामल (१-२) पटल के आधार पर महाचीन (तिब्बत) से पञ्चमकार-विशिष्ट पूजा का प्रचार वसिष्ठ के द्वारा किया गया माना जा सकता है। इस उल्लेख से पूर्वोक्त मत का कुछ आधार मिल सकता है।

कुलाचार

कौलाचार के विषय में बड़ी भ्रान्त धारणायें फैली हुई हैं। तन्त्रों के प्रति लोगों के हृदय में जो एक अवहेलना तथा तिरस्कार का भाव बना हुआ है उसका प्रधान कारण इस आचार का अपर्याप्त ज्ञान है। 'कौल' शब्द का अर्थ ध्यान देने योग्य है। कौल वही है जो शक्ति को शिव के साथ मिलन करने में समर्थ होता है। 'कुल' का अर्थ है शक्ति या कुण्डलिनी और 'अकुल' का अर्थ है शिव। जो योगक्रिया से कुण्डलिनी का अभ्युत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ सम्मेलन कराता है वही कौल है। स्वच्छन्दतन्त्र का कहना है—कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते। कुलेऽकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ॥ कुल या कुण्डलिनी शक्ति ही कुलाचार का मूल अवलम्ब है। कुलाचार ही कौलाचार या वामाचार के नाम से प्रसिद्ध है। यह आचार मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पञ्च 'म' कार या पञ्चतत्त्व या पञ्चमुद्रा के सहयोग से अनुष्ठित होता है—

मद्यं मांसं च मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च ।

मकारपञ्चकं प्राहुर्योगिनां मुक्तिदायकम् ॥

इन पञ्च मकारों का रहस्य नितान्त गूढ़ है। वास्तव बात यह है कि ये अभ्यन्तर अनुष्ठान के प्रतीक हैं। जो कोई इन्हे बाह्य तथा भौतिक अर्थ में प्रयोग करता है वह यथार्थ बात से बहुत ही दूर है। मद्य का

अर्थ यह बाहरी शराव नहीं है, प्रत्युत ब्रह्मरन्त्र में स्थित जो सहस्र दल कमल है उससे मुधाश्रित होती है, उसे ही मद्य कहते हैं। उसी को पीनेवाला व्यक्ति मद्यप कहलाता है। यह खेचरी मुद्रा के द्वारा सिद्ध होता है। इसीलिए तन्त्रों का कथन है—

व्योमपंकज - निस्यन्दमुधापानरतो नरः ।
 मधुपार्या समः प्रोक्तत्वितरे मद्यपायिनः ॥
 जिह्वया गलमयोगात् पिबेत् तदमृतं तदा ।
 योगिभिः पोयते तच्च न मद्यं गोडपैष्टिकम् ॥

इनमें पहला 'कुलार्णव' का और दूसरा 'गन्धर्वतन्त्र' का वचन है।

मांस—जो पुरुष पुण्य और पापरूपी पशुओं को ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा मार डालता है और अपने मन को ब्रह्म में लीन करता है वही मासाहारी है। कुलार्णव का कथन है—

पुण्यापुण्य पशुं हत्वा ज्ञान-खड्गेन योगवित् ।
 परं लयं नयेच्चित्तं मासाशो स निगद्यते ॥

मत्स्य—शरीरस्थ ईडा तथा पिंगला नाड़ियों का नाम गंगा तथा यमुना है। इनमें प्रवाहित होनेवाले श्वास और प्रश्वास दो मत्स्य हैं। जो साधक प्राणायाम द्वारा श्वास-प्रश्वास बन्द कर कुम्भक के द्वारा प्राणवायु को मुपुम्ना के भीतर संचालन करता है वही यथार्थ मत्स्य-साधक है। 'आगमसार' कहता है—

गंगायमुनयोर्मध्ये द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा ।
 तौ मत्स्यो भक्षयेत् यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः ॥

मुद्रा—सत्संग के प्रभाव से मुक्ति मिलती है और असत् संग के प्रभाव से बन्धन प्राप्त होता है। इसी असत् संग के त्याग का ही नाम मुद्रा है। 'विजयतन्त्र' का यही मत है—

सत्संगेन भवेन्मुक्तिरसत्संगेषु बन्धनम् ।
असत्संगमुद्रणं यच्च तन्मुद्राः परिकीर्तिताः ॥

मैथुन का अर्थ है मिलाना । किसका ? मह्वार में स्थित शिव का तथा कुण्डलिनी का अथवा सुषुम्ना तथा प्राण का । स्त्री-सहवास से वीर्यपात के समय जो मुख मिलता है उससे शतकोटिगुणित अधिक मुख सुषुम्ना में प्राणवायु के स्थित होने से होता है । यही वास्तव मैथुन है—

ईडापिंगलयोः प्राणान् सुषुम्नायां प्रवर्तयेत् ।
सुषुम्ना शक्तिरुद्दिष्टा जीवांश्च तु परः शिवः ।
तयोस्तु संगमे देवैः सुरतं नाम कीर्तितम् ॥

इन अर्थों से स्पष्ट है कि इनका सम्बन्ध अन्तर्याग से है । इसका अधिकारी भी साधारण व्यक्ति नहीं होता, प्रत्युत उच्च कोटि का साधक ही इसका उपयुक्त पात्र है जो परद्रव्य के विषय में अन्धतुल्य, परस्त्री के विषय में नपुंसकतुल्य, परनिन्दा में मूकतुल्य तथा जितेन्द्रिय है—

परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः ।
पराप्रवादे यो मूकः सर्वदा विजितेन्द्रियः ॥
तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्याधिकारिता ।

इतनी उच्च साधनाको निन्दनीय मानना कथमपि उचित नहीं है ।

तन्त्रो भी प्रामाणिकता के विषय में दो मत हैं । भास्करराय तथा राघवभट्ट की सम्मति में श्रुत्यनुगत होने से तन्त्रो का परतः प्रामाण्य है, तन्त्र की प्रामाणिकता परन्तु श्रीकण्ठाचार्य तन्त्रो को श्रुति के समान स्वतः प्रमाण मानते हैं । कुलार्णव तन्त्र का स्पष्ट कथन है (२।१४०) तस्माद् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये । कुलार्क भट्ट ने मनुस्मृति (२।१) की टीका में हारीत ऋषि का एक वाक्य उद्धृत किया है—श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च—जिसके

अनुसार तन्त्र की प्रामाणिकता श्रुति के समक्ष मानी गई है। परन्तु प्रसिद्ध शाक्त-दार्शनिक भास्करराय ने तन्त्र शास्त्र को स्मृति शास्त्र के अन्तर्भूत मानकर उसका प्रामाण्य अंगीकार किया है^१। मन्वादि स्मृतियों से तन्त्रों की विशेषता यही है कि स्मृतियाँ कर्मकाण्ड के अन्तर्गत हैं और तन्त्र ज्ञानकाण्ड के। शारदातिलक के टीकाकार राघवभट्ट ने भी तन्त्रों को स्मृति शास्त्र मानकर उन्हें वेद के तृतीयकाण्ड उपासना काण्ड के अन्तर्गत माना है। श्रीकण्ठाचार्य ने ब्रह्मसूत्र के अपने शैवभाष्य (२।२।३८) में तन्त्रों का वेदवत् प्रामाण्य माना है, क्योंकि वेद 'तथा तंत्र शिवजी के द्वारा निर्मित होने के कारण समभावेन प्रामाणिक हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि वेद केवल त्रैवर्णिक है--ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य इन द्विज वर्णों के लिए है परन्तु तंत्र सबके लिए माननीय हैं, परन्तु हैं दोनों आदरणीय और प्रामाणिक। (वयं तु वेदशिवागमयोर्भेदं न पश्यामः । वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्तः, तस्य तत्कर्तृत्वात् । अतः शिवागमो द्विविधः त्रैवर्णिक-विषयः सर्वविषयश्चेति । उभयोरेकः शिवः कर्ता । उभावपि प्रमाणभूतौ वेदागमौ - श्रीकण्ठभाष्य २।२।३८) । इस भाष्य की 'शिवार्कमणिदीपिका' व्याख्या में अप्पयदीक्षित ने आगम दो प्रकार का माना है--वैदिक और अवैदिक। वैदिक तंत्र वेदाधिकारियों के लिए और अवैदिक तंत्र वेद के अनधिकारियों के वास्ते है। अतः अधिकारीभेद से व्यवस्था होने से आगम का प्रामाण्य सर्वथा सुव्यवस्थित है।

तन्त्र भेद --तन्त्रों के तीन प्रधान विभाग हैं--ब्राह्मण तंत्र, बौद्ध तंत्र और जैन तंत्र। ब्राह्मण तंत्र भी उपास्य देवता की भिन्नता के कारण अनेक

१ तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भावः (वरविस्थाग्रहस्य-प्रकाश) ; परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतिव्यतिरेकेऽपि मन्वादिस्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्व तन्त्राणां ब्रह्मकाण्डशेषत्वमिति सिद्धान्तात् (सौभाग्यभास्कर का उपक्रम) ।

प्रकार का होता है—सौर तंत्र, गाणपत्य तंत्र, वैष्णव तंत्र, शैव तंत्र तथा शाक्त तंत्र । इनमें प्रथम दो तंत्रों का प्रचार बहुत ही न्यून है । परन्तु अन्य तीनों तंत्रों की लोकप्रियता तथा प्रचार बहुल मात्रा में है । वैष्णव तंत्र का वर्णन किया है । अन्य तंत्रों का आगे वर्णन किया जायगा ।

२

बौद्ध-जैन तन्त्र

शून्यताबोधितो वीजं वीजाद् विभ्यं प्रजायते ।

विभ्ये च न्यासविन्यासो तस्मात् सर्वं प्रतीत्यजम् ॥ अद्वयवज्र ।

बौद्ध तंत्रों के उदय की कहानी बड़ी मनोरंजक है । शाक्य सिंह ने जादू टोना आदि जिन अन्धविश्वासों से दूर रहने के लिए अपने शिष्यों को सतत उपदेश दिया उन्हीं अन्धविश्वासों ने बुद्ध की निर्वाण प्राप्ति के कतिपय शताब्दियों के अंदर ही उस धर्म में अपना सिक्का जमा लिया । हमने बुद्धधर्म के विकास की चर्चा करते हुए दिखलाया है कि महायान में ही तांत्रिक बुद्ध धर्म के बीज मूक्ष्मरूपेण निहित थे । तांत्रिक बुद्धधर्म का नाम वज्रयान है । अद्वयवज्र के कथनानुसार अभेद्य, अदाह्य, अच्छेद्य होने के कारण 'शून्यता' वज्रशब्द के द्वारा अभिहित की जाती है । मंत्र, यत्र, धारिणी, मण्डल, मुद्रा आदि से संचलित धर्म का ही नाम 'वज्रयान' है । तथागत के धर्म में शक्तिपूजा का प्रचार करना वज्रयान की महती विशेषता है । पञ्च ध्यानी बुद्धों तथा उनकी शक्तियों की कल्पना इसी युग में की गई । इन ध्यानी बुद्धों के नाम वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि तथा अशोभ्य हैं । ये रूप-संज्ञादि पञ्च स्कन्धों की पूजा-अर्चना के लिए कल्पित प्रतीक रूप हैं !

१ इत् सागर्सीशीर्यमच्छेद्याभेद्यलक्षणम् ।

अदाहि अविनाशि च शून्यता वज्रमुच्यते ॥ वज्रशेखर पृ० २३ ।

विज्ञान-स्कन्ध की प्रधानता होने से अन्य चार ध्यानी बुद्धों के सिर पर इसी विज्ञान-स्कन्ध की मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं, विज्ञान स्कन्ध का प्रतीकमूर्ति के सिर पर वज्रसूत्र की मूर्ति स्थापित की गई मिलती है। इसी वज्रसूत्र की उपासना कर मुगम मार्ग से ऐहिक सिद्धियों और निर्वाण को उपलब्ध करना वज्रयान का चरम लक्ष्य है।

वज्रयान की पूजापद्धति तान्त्रिक थी। वह अनेक प्रकार से गोपनीय रखी जाती थी। 'गुह्यममाज', 'प्रज्ञोपायविनिश्चयमिद्धि' तथा 'ज्ञानमिद्धि' के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वज्रयानीय दीक्षा ग्रहण करने के लिए साधक को सिद्ध गुरु या वज्राचार्य के पास जाना होता था तथा 'बोधिचित्ताभिषेक' नामक अभिषेक का ग्रहण करना आवश्यक था। कौलों की 'चक्रपूजा' के समान वज्रयानियों को विशिष्ट पूजा का विधान था जिसमें मद्य, मांस, मुद्रा (स्त्री) आदि का विपुल प्रयोग किया जाता था। गुह्यममाज^१ का तो यहाँ तक आदेश है कि वज्रमार्ग के अनुयायियों के लिए प्राणियों को हिंसा, मृषामाषण, अदत्त-वस्तु का ग्रहण तथा सुन्दरियों का सेवन कर्तव्य कर्म है। जो मिद्धि कठिन व्रत नियमादि के पालन से प्राप्य नहीं हैं, वही सर्वकामोपभोग से प्राप्त हो सकती हैं। परन्तु इस आचारमार्ग का प्रधान लक्ष्य बड़ा ऊँचा था। वज्रयान के परम सिद्धाचार्य अनन्तवज्र का स्पष्ट कथन है कि मुक्तिकाम पुरुषों को प्रज्ञापारमिता की सेवा करनी चाहिए और वह पारमिता उच्चकुलोत्पन्न या अन्त्यजोद्भव ललनारूप में सर्वत्र प्रतिष्ठित है। अतः तात्त्विक दृष्टि से ललना की कामना करने से साधक शीघ्र हा

१ प्राणिनश्च त्वया धान्या वक्तव्यं च मृषा वचः ।

अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषिनामपि ॥

अनेन वज्रमागणं वज्र-सत्त्वान् प्रचोदयेत् ।

एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः ॥ गुह्यममाज पृ० १२०

चरमसिद्धि को प्राप्त कर लेता है। ललना (वज्रयानीय संकेत 'मुद्रा') प्रज्ञापारमिता की भूतल पर प्रतिनिधि है, परन्तु ललना की पूजा के अवसर पर चित्त में तनिक भी श्रोम उत्पन्न न होना चाहिये। चित्त-विकार उत्पन्न होते ही साधक का सद्यः अधःपात अवश्यभावी है (प्रज्ञोपायविनिश्चय ५।४०) :—

तथा तथा प्रवर्तते यथा न क्षुभ्यते मनः ।

संशुब्धे चित्तरत्ने तु सिद्धिर्नैव कदाचन ॥

वज्रयान की तत्त्वभावना बड़ी उदात्त थी। तत्त्वभावना में भावक, भावना तथा भाव्यमान की त्रिपुटी का सर्वथा अभाव होता था (प्रज्ञोपाय ४।१२) । इसीलिए इसे अद्वय, बोधिचित्त, वज्रतत्त्व या प्रज्ञान्यामिता के नाम से पुकारा जाता था। इसी अद्वय तत्त्व की पूजा से 'महामुख' की प्राप्ति वज्रयान का प्रधान लक्ष्य था, परन्तु वास्तव तत्त्व से अनभिज्ञ बौद्धजनता में मद्यमासादि के प्रयोग ने अनेक कुत्सित आचरणों की उत्पत्ति की और इसने विशुद्ध ब्राह्मण तन्त्रों को भी अपने प्रभाव से अञ्चूता नहीं छोड़ा। वज्रयान में कुरुकुल्ला, वज्रवाराही, वज्रगान्धारी, ताग, उष्णीपविजया, वज्रचर्चिका, हेरुक, जम्भल, महाकाल आदि अनेक नूतन देवताओं की कल्पना ही न की गई, प्रत्युत सिद्धि प्राप्ति के लिए इनकी विशिष्टपूजा के लिए अनेक मन्त्र-यन्त्र समन्वित साधनों का भी निर्माण हुआ जिनका विस्तृत संग्रह 'साधनमाला' में उपलब्ध होता है। तिब्बत तथा चीन में इसी तान्त्रिक बौद्ध-धर्म का प्रचार भारतीय भिक्षुओं ने किया था।

इस तान्त्रिक मार्ग की उत्पत्ति कब और कहाँ हुई ? इसका यथार्थ विवेचन एक विषम समस्या है। बौद्ध ग्रन्थकारों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि भगवान् बुद्ध ने स्वयं मन्त्र, तन्त्र, मण्डल का उपदेश उन शिष्यों के लिए दिया था जो निर्वाण की कामना न कर ऐहिक अभ्युदय के

लिए ही लालाशित थे^१ । इन्द्रभूति, शानरक्षित तथा कमलशील के एतद्विषयक कथन निःसार नहीं माने जा सकते, तथापि तान्त्रिक धर्म का उदय दक्षिण के 'श्रीपर्वत' के प्रदेश में द्वितीय शतक में मानना इतिहास-विरुद्ध न होगा । तिब्बती इतिहास लेखक तारानाथ तथा मञ्जुश्रीमूल-कल्पके आधार पर 'श्रीपर्वत' मन्त्रमिद्धि का प्रधान केन्द्र था । महाकवि वाणभट्ट श्रीपर्वत की आश्चर्य-वार्ताओं से अनभिज्ञ न थे । (सकल-प्रणयिमनोरथमिद्धिश्रीपर्वतो हर्ष, — हर्षचरित १ उच्छवास; श्रीपर्वताश्चर्य-वार्तासहस्रमिज्ञेन..... जरद् द्राविडधार्मिकेन — कादम्बरी पृ० ३९९); महाकवि भवभूति ने मालती माधव में मौदामिनी भिक्षुणी के सिद्धि प्राप्ति के लिए 'श्रीपर्वत' पर तपश्चर्या करने का अनेकशः उल्लेख किया है । अति प्राचीनकाल में तन्त्र के परमाचार्य सिद्ध नागार्जुन ने इसी पर्वत पर अपनी सिद्धियाँ प्राप्त की थीं, ऐसा प्रमाण बहुलता से मिलता है । अतः बौद्ध तन्त्र की उत्पत्ति इसी 'श्रीपर्वत' से मानना उचित है । इसके अनन्तर ओडियान, कामरूप, सिरिहट्ट, जालन्धर भी तान्त्रिक मत के प्रधान पीठ माने गये । (साधनमाला पृ० ४५५) । बौद्ध तन्त्र की उत्पत्ति ब्राह्मण शाक्त तन्त्रों के ही आधार पर हुई । दोनों का पूजा-पद्धति में नितान्त अनुरूपता से हम इसी सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि शाक्त तन्त्र का प्रभाव वज्रयान पर बहुत अधिक है ।

तिब्बत के बौद्ध लोग बुद्ध-तन्त्र का प्रथम प्रचार योगाचारमत के आद्यप्रवर्तक असंग (तृतीय शतक) से मानते हैं जिन्होंने नृपित स्वर्ग में स्थित आर्य मैत्रेय से इनकी शिक्षा लेकर भूतल पर विपुल प्रचार किया । परन्तु असंग से भी प्राचीन

१ यदुक्तमन्त्रयोगादिनियमाद् विधिवत्कृतात् ।

प्रजारोग्यत्रिभुन्वाद् दृष्टधर्माऽपि जायते ॥ तत्त्वसंग्रह पृ० १०५ ।

तेन भगवतोक्तश्चार्यः मन्त्रयोगादिनियमश्चेति विग्रहः योगः समाधिः ।

आदि शब्देन मुद्रामण्डलादि परिग्रहः—कमलशील ।

नागार्जुन को बौद्धतन्त्र का आदि उपदेशक मानना ही इतिहास-सम्मत है। इन्हीं के समय का 'मञ्जुश्री मूलकल्प' (२ श०) बौद्धतन्त्रों में नितान्त प्राचीन है। 'गुह्यसमाज' या 'तथागत गुह्यक' की रचना तृतीय या चतुर्थ शतक की प्रतीत होती है। बौद्ध तान्त्रिक पूजा का प्रधान प्रतिनिधि यही ग्रन्थरत्न है जिसका प्रभाव अवान्तर वज्रयान-साहित्य पर विशेष मात्रा में पड़ा है। इस ग्रन्थ की पच्चीसो टीकाएँ कालान्तर में लिखी गईं जिनके नाम आज भी तिब्बती 'तञ्जूर' में उल्लिखित हैं। 'साधनमाला' में तान्त्रिक देवताओं के ३१२ साधनों का संग्रह संकलित किया गया है। चौरासी सिद्धों ने अष्टम शताब्दी से लेकर १२ शताब्दी तक लोकभाषा—मागधी हिन्दी—का आश्रय लेकर तन्त्रों को लोकप्रिय बना डाला। इन चौगसी सिद्धों ने कविताओं तथा वानियों में बड़े ऊँचे तत्त्वों का सरस दिग्दर्शन कराया है। इन सिद्धों में सरहपा (पाद) शत्रुपा, कण्णरीपा, दूहिपा, भूमिक, वीणापा, कम्बलपा, कुक्कुरिपा, मीनपा, तिलोपा आदि के नाम विशेष-रूपेण उल्लेख-योग्य हैं। इनमें से अनेक सिद्धों ने संस्कृत भाषा में तंत्र ग्रन्थों की भी रचना की है। पद्मवज्र या सरोरुहवज्र ने 'गुह्यसिद्धि' तथा 'हेवज्रतंत्र' की रचना की है। इन्हीं के शिष्य अनंगवज्र ने (जिन्हें तिब्बत ग्रन्थों में योगीश्वर, श्रीपाद, महाचार्य आदि उपाधियों से विभूषित किया गया है) प्रज्ञापायविनिश्चयसिद्धि (बड़ोदा से प्रकाशित), श्री-हेवज्र-शासन, हेवज्र नामसाधनोपायिका, आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है। इनके शिष्य इन्द्रभूति उड्डियान के महाराजा थे जिनके मङ्गलसिद्धि, चक्रसवर आदि तञ्जूर में निर्दिष्ट २३ ग्रन्थों में 'ज्ञानसिद्धि' ही (बड़ोदा से) प्रकाशित हुई है। इनकी भगिनी श्रीलक्ष्मीकरा देवी ८४ सिद्धों में गिनी जाती हैं। इन्होंने 'अद्वयसिद्धि' नामक ग्रन्थ में अनेक विचित्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है (साधनमाला, भूमिका पृ० ५४-५५)। इन्द्रभूति के पुत्र गुरु पद्मसंभव शान्तगतिन के साथ तिब्बती नरेश के

निमंत्रण पर वहाँ गये थे, तथा ७५० ई० में 'सभ्ये' विहार की स्थापना कर तान्त्रिक बुद्ध धर्मका प्रचार किया, जहाँ आज भी यह धर्म अपनी सत्ता और महत्ता बनाये हुए है। नालन्दा के विश्वविद्यालय में 'तंत्र' का विशेष अध्यापन होता था और कमलशील उस विद्यालय में तंत्र के अध्यापक बतलाये जाते हैं। अठ्ठमशताब्दी (१० शतक) एक विख्यात वज्रयानी सिद्धाचार्य थे जिनके प्रकाशित २१ ग्रंथों में कुहट्टिनिर्घातन, तत्त्वरत्नावली, चतुर्द्रा, सेकतान्वयसंग्रह नितान्त प्रसिद्ध हैं। इन आचार्यों ने तान्त्रिक बुद्धधर्म का प्रचार तिब्बत में किया। वज्रयानीय माहिल्य की विपुलता का परिचय तिब्बती 'कञ्जूर' तथा 'तन्जूर' नामक ग्रन्थसंग्रहों से भलीभाँति चलता है जिसमें तथागततरश्चित, तिलक कलश, दानशील, दान श्रीज्ञान, दारिकपाद, दीपंकर श्रीज्ञान, प्रज्ञाश्रीज्ञान-कीर्ति आदि सैकड़ों आचार्यों की सहस्राधिक तान्त्रिक कृतियों का उल्लेख किया गया है^१।

जैन तंत्र

क्षीराम्बोर्वेविनिर्यान्तीं प्लावयन्तीं मुधाम्बुभिः ।

भाले शशिकला ध्यायेत् सिद्धिसोपानपद्धतिम् ॥ — हेमचन्द्र ।

जैनधर्म में भी शक्ति पूजा तथा शाक्त तन्त्रों की सत्ता है, परन्तु इनके अत्यन्त गुह्य होने के कारण जैनियों ने अपने तन्त्रों को अभी तक प्रकाशित नहीं किया है। आचार्य हेमचन्द्र रचित योगशास्त्र (सप्तम तथा अष्टम प्रकाश) के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि धर्मध्यान के अन्तर्गत 'पदस्थ' नामक ध्यान में हिन्दुओं के पट्चक्रवेध की पद्धति

१ इस बौद्ध तान्त्रिक वाङ्मय का पूर्ण संग्रह महामहोपाध्याय हर्षप्रसाद शास्त्री ने 'वाङ्मय गान ओ दोहा, नामक विख्यात बंगला ग्रन्थ के अन्त में लगभग एक सौ पृष्ठों में दिया है।

के अनुसार वर्णमयी देवता का चिन्तन किया जाता है। यहाँ 'मातृका ध्यान' का बड़ा सुंदर वर्णन है तथा अनेक मंत्रों की परम्परा से शक्ति-युक्त आत्म स्वरूप की भावनाओं का विधान किया गया है। जैन मंत्रों में प्रणव (ॐ), माया (ह्रीं) आदि बीजाक्षर शक्ति तंत्रों के जैसे-के-तैसे स्वीकृत किये गये हैं। केवल मुख्य-देवता-स्वरूप में 'अरिहं ताणम्' यह जैन पञ्चाक्षरी ली गई है। श्वेताम्बर मतानुसार प्रत्येक तीर्थंकर की शासन देवता (यथा चक्रेश्वरी, अजितवला, दुरितारी, कालिका, महाकाली आदि) मानी जाती है^१। जैन कविगण शाक्त सम्प्रदाय के 'सरस्वती कल्प' को मानते हैं। सरस्वती के १६ विद्याव्यूह माने गये हैं जिनके नाम रोहिणी, प्रज्ञप्ति, शृंगला आदि हैं। इससे स्पष्ट है कि शक्ति उपासना जैन धर्म में इष्ट है^१। लक्ष्मीधर (श्लोक ३१) ने तान्त्रिक दिग्गम्यों की गणना कापालिकों के साथ की है।

जैन साहित्य में अनेक मौलिक ग्रन्थ इस मन्त्र शास्त्र के विषय में उपलब्ध होते हैं। इनमें कतिपय ग्रन्थ ये हैं—(१) ज्वालिनी मत

तन्त्र साहित्य [२) विद्यानुशासन (३) ज्वालिनी कल्प (४) भैरव पद्मावती कल्प (५) भारती कल्प (६)

नमस्कार मन्त्र कल्प (७) काम चाण्डालिनी कल्प (८) प्रतिष्ठा कल्प (९) चक्रेश्वरी कल्प (१०) सूर्य मन्त्र कल्प (११) श्री विद्या कल्प (१२) ब्रह्मविद्या कल्प (१३) रोगापहारिणी कल्प (१४) वर्धमान कल्प (१५) सरस्वती कल्प (१६) गणधर वलय कल्प (१७) श्री देवता कल्प (१८) वाक्वादिनी कल्प (१९) घण्टा करण कल्प आदि। इनके अति-रिक्त पद्मावती, ज्वालिनी, पार्व्वनाथ, कुष्माण्डिनी, सरस्वती, ब्रह्मदेव, आदि देव, देवियों के विषय में कई मन्त्र-स्तोत्र भी पाये जाते हैं। जैनाचार्यों ने मन्त्र-व्याकरण ए. मन्त्र कोश (बीज कोश) की भी

रचना की है। सुनते हैं कि आचार्य समन्त चन्द्र ने भी एक 'मन्त्र-व्याकरण' की रचना की थी। उपलब्ध दिगम्बर-साहित्य में इस विषय के सबसे अधिक ग्रन्थ **मल्लिषेण** आचार्य के बनाये पाये जाते हैं। ये बड़े भारी मन्त्रवादी थे। इन्होंने अपने विषय में 'गरुड़ मन्त्र वादवेदी' तथा 'सरस्वती लब्धवर प्रसादः' लिखा है। इनका समय विक्रम के ११ वें शतक का अन्त तथा १२ वें शतक का आदि है। ये जिनसेनाचार्य के शिष्य तथा अजित सेनाचार्य के प्रशिष्य थे। तन्त्र विषयक इनके ग्रन्थ ये हैं।—भैरव पद्मावती कल्प—यह मन्त्र शास्त्र का प्रसिद्ध है। जिसमें ४०० अनुष्टुप् तथा १० अधिकार हैं। इन अधिकारों के नाम से ही इस ग्रन्थ का परिचय चलता हैः—मन्त्र लक्षण, सकली करण, देवी अर्चन, द्वादश रत्निका मन्त्रोद्धार, क्रोधादि स्तम्भन, अङ्गनाकर्षण, वशीकरण मन्त्र, निमित्त, वशीकरण तन्त्र, तथा गरुड़ तन्त्र। वधुपेण के संस्कृत विवरण के साथ यह ग्रन्थ बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

(२) विद्यानुशामन—यह मन्त्र शास्त्र का बड़ा ग्रन्थ है जिसमें २४ अधिकार तथा पाँच हजार मन्त्र बतलाये जाते हैं।

(३) सरस्वती मन्त्र कल्प (४) ज्वालिनी कल्प (५) बाल-गृह-चिकित्सा (६) काम चाण्डालिनी कल्प ये इनके अन्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

इन्द्रनंदि योगोद्ग ने जो वष्पनंदि के शिष्य तथा वासवनंदि के शिष्य थे, इसमें भी एक शताब्दि पहिले ज्वालिनी मत की रचना की थी। जैन तंत्र साहित्य का यही सामान्य परिचय है ^१।

— — — —

३

शैव-शाक्त तन्त्र

(इतिहास तथा साहित्य)

शिव या रुद्र की उपासना वैदिककाल से ही इस भारतभूमि में चलित है। यजुर्वेद में शतरुद्रीय अध्याय की पर्याप्त प्रसिद्धि है। तैत्तिरीय आरण्यक (१०। १६) में समस्त जगत् रुद्ररूप बनलाया गया है (सर्वो वै रुद्रः तस्मै रुद्राय नमो अस्तु)। श्वेताश्वतर में (३।११) भगवान् शिव सर्वाननशिरोघ्नीव, सर्वभूत-गुहाशय, सर्वव्यापी तथा सर्वगत माने गए हैं, परन्तु इन उपनिषदों में तन्त्रशास्त्र-निर्दिष्ट पशुपति का स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। अथर्वशिरस् उपनिषद् में पाशुपतव्रत, पशु, पाश, आदि तन्त्र के पारिभाषिक शब्दों की उपलब्धि सर्वप्रथम होती है (तस्मात् ब्रह्म तदेतत् पाशुपत पशुपाशविमोक्षणाय अथर्व० खण्ड ५)। इससे पाशुपतमत का प्राचीनता स्पष्टतः प्रतीत होती है। महाभारत में शैवमतो का वर्णन है। वामन पुराण (६।८६-९१) में शैवों के चार विभिन्न सम्प्रदाय बतलाये गये हैं:—शैव, पाशुपत, कालदमन तथा कापालिक। शंकराचार्य ने २।२।३७ के भाष्य में माहेश्वरो का तथा उनके प्रसिद्ध पञ्च पदार्थों का उल्लेख किया है। इस सूत्र की भामती और रत्नप्रभा ने पुराणोक्त तृतीय नाम के स्थान पर 'कारुणिक-सिद्धान्ती', भास्कर ने 'काठक सिद्धान्ता', यामुनाचार्य ने 'कालामुख' नाम दिया है (आगम प्रामाण्य पृ० ४८-४९)। इस प्रकार माहेश्वर सम्प्रदाय चार हैं:—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। इन्हीं धार्मिक मतों के मूल ग्रन्थों को 'शैवागम' के नाम से पुकारते हैं। 'शैवतन्त्र' की वैदिकता के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में बड़ा विवेचन है। महिम्नः-स्तोत्र (त्रयी सारख्य योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति) तथा ब्रह्मसूत्र के तर्कपाद (२।२।३७) में पाशुपत मत वेदब्राह्म माना गया है, परन्तु श्रीकण्ठाचार्य

ने वेद तथा शिवागम को समभावेन माननीय तथा प्रामाणिक बतलाया है। अप्ययदीक्षित 'शिवार्कमणिदीपिका' (२।१।२८) में शिवागम को वैदिक तथा अवैदिक दो प्रकार का मानते हैं। वैदिक तन्त्र वेदाधिकारियों के लिए हैं तथा अवैदिक तन्त्र वेदाधिकारहीन व्यक्तियों के लिए हैं। अतः दोनों की प्रामाणिकता न्यायमगत है।

माहेश्वर तन्त्रों के दार्शनिक दृष्टि की विभिन्नता के कारण तीन प्रधान भेद हैं—द्वैतपरक (शिवतन्त्र), द्वैताद्वैतपरक (रुद्रतन्त्र), अद्वैत (भैरवतन्त्र) पूर्वोक्त माहेश्वर मतों का प्रचार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में था। पाशुपतमत का केन्द्र गुजरात और राजपुताना था, शैव सिद्धान्त का प्रचार तामिल देश में और वीरशैव मत का प्रचार कर्नाटक प्रान्त में है। स्पन्द या प्रत्यभिज्ञा मत का केन्द्रस्थल काश्मीर देश है। इन्हीं शैवमतों का वर्णन क्रमशः आगे किया जायगा।

पाशुपत मत

इस मत के ऐतिहासिक संस्थापक का नाम नकुलीश, या लकुलीश है। शिवपुराणान्तर्गत 'कारवण माहात्म्य' से इनका जन्म भड़ौंच के पाम 'कारवन' नाम स्थान में होना प्रतीत होता है। राजपुताना, गुजरात आदि नाना देशों में नकुलीश की मूर्तियाँ मिलती हैं जिनका मस्तक केशों से ढका रहता है, दाहिने हाथ में व्रीजपूर के फल और बाये हाथ में लगुड या दण्ड रहता है। लगुड धारण करने के कारण ही इनका नाम लगुडेश या लकुलीश होना प्रतीत होता है। भगवान् शंकर के इन १८ अवतारों में अकुलीश आद्य अवतार माने जाते हैं—लकुलीश, कौशिक, गार्ग्य, मैत्र्य, कौरुप, ईशान, पारगार्ग्य, कपिलाण्ड, मनुष्यक, अपर कुशिक, अत्रि, पिङ्गलाक्ष, पुष्पक, बृहदार्य, अगस्ति, सन्तान, राशीकर और विद्यागुरु (अपना आचार्य)। ये तीर्थेश कहे जाते हैं। गुप्तनरेश विक्रमादित्य द्वितीय के राज्यकाल में ६१ गुप्त संवत् (३८० ई०) का एक महत्त्वपूर्ण शिला-

लेख मथुरा से मिला है जिसमें उदिताचार्य नामक पाशुपत द्वारा गुरु-मन्दिर में उपमिहेश्वर और कपिलेश्वर नामक शिवलिंगों की स्थापना वर्णित है। उदिताचार्य ने अपने को भगवान् कुशिक से दशम वतलाया है (भगवत्-कुशिकाद् दशमेन) लकुलीश कुशिक के गुरु थे। इस प्रकार एक पीढ़ी के लिए २५ वर्ष मानकर लकुलीश का समय १०५ ई० के आसपास सिद्ध होता है और यह वही समय है जब कुपाणनरेश ह्रुविष्क के सिक्को पर लगुडधारी शिव की मूर्तियाँ मिलती हैं। पाशुपतों का सम्बन्ध न्याय-वैशेषिक से नितान्त घनिष्ठ है। गुणरत्न ने नैयायिकों को 'शैव' और वैशेषिकों को 'पाशुपत' कहा है। न्यायवार्तिक के रचयिता उद्योतकर ने 'पाशुपताचार्य' उपाधि से अपना परिचय दिया है। कभी इस मत का पश्चिमी भारत में विशेष प्रचार था तथा सम-धिक ख्याति थी।

पाशुपतसाहित्य—पाशुपतों का साहित्य बहुत ही कम उपलब्ध है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में 'नकुलीश पाशुपत' नाम से इसी मत के आध्यात्मिक सिद्धान्तों का वर्णन किया है। जैन ग्रन्थकारों में राज-शेखर सूरि ने अपने पङ्कदर्शन समुच्चय में 'यौगमत' से इसी का उल्लेख किया है। न्यायमार के रचयिता, काश्मीरक भास्वर्ज (८०० ई०) की 'गणकारिका' में पाशुपतों के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवरण है। इसकी विस्तृत 'रत्नटीका' व्याख्या वास्तव में रत्नरूपा है जिसके अज्ञात-नामा लेखक ने 'सत्कार्य-विचार' नामक ग्रन्थ की भी रचना कर इस मत की पर्याप्त पुष्टि की है। सौभाग्यवश पाशुपतों का मूल सूत्रग्रन्थ 'महेश्वररचित पाशुपत सूत्र' अनन्तशयन ग्रन्थमाला में (न० १४३) कौण्डिन्यकृत 'पञ्चार्याभाष्य' के साथ अभी प्रकाशित हुआ है। सर्व-दर्शनसंग्रह में निर्दिष्ट राशीकर-विरचित भाष्य यही है। इस पञ्चा-ध्यायी (१६८ सूत्र) में पाशुपतों के पाँचों पदार्थों का विस्तृत तथा नितान्त प्रामाणिक विवेचना है।

शैव सिद्धान्तमत

शैव सिद्धान्तका प्रचार दक्षिण देश के तामिल प्रदेश में है। यह प्रदेश शैवधर्म का प्रधान दुर्ग है। यहाँ के शैवभक्तों ने भगवान् भूत-भावन शंकर की आराधना कर भक्तिरसपूरित भव्य स्तोत्रों तथा सिद्धान्त प्रतिपादक ग्रन्थों की रचना अपनी मातृभाषा तामिल में की है जो श्रुति के समान आदरणीय माने जाते हैं। इन ८४ शैव सन्तों में चार प्रमुख आचार्य हुए, सन्त अपार, सन्त ज्ञानसम्बन्ध, सन्त सुन्दरमूर्ति तथा सन्त माणिक्यवाचक जो शैवधर्म के चार प्रमुख मार्ग चर्या, (दासमार्ग), क्रिया (तत्पुत्रमार्ग), योग (महमार्ग) और ज्ञान (सन्मार्ग) के तामिल-देशमें संस्थापक हैं। इन सन्तों का आविर्भावकाल सप्तम तथा अष्टम शताब्दी है। इनके पहले सन्त नक्कीर (प्रथमशतक), सन्त कण्णप्प (द्वितीयशतक), तिरुमूलर ने शैवमत का विपुल प्रचार किया था। इनकी तामिल रचनाये 'सिद्धान्त' की मूलभित्ति हैं^१। इन भक्तों ने जिन शैव-तन्त्रों के तत्त्वों का प्रचार किया है वे संस्कृत में धीरे धीरे प्रकाशित हो रहे हैं। इस आगमों का 'शैवसिद्धान्त' के नाम से पुकारते हैं। भगवान् शंकर ने अपने भक्तों के उद्धार के लिए अपने पाँचों मुखों से २० तन्त्रों का आविर्भाव किया। सद्योजात नामक मुख से उत्पन्न आगम हैं—१ कामिक, २ योगज, ३ चिन्त्य, ४ कारण, ५ अजित। वामदेव-मुख से—६ दीप्त, ७ सूक्ष्म, ८ सहस्र, ९ अंशुमान्, १० सुप्रभेद। अघोरमुख से ११ विजय, १२ निश्वाम, १३ स्वायम्भुव, १४ अनल, १४ वीर। तत्पुरुष मुख से—१६ रौरव, १७ मुकुट १८ विमल, १९ चन्द्र ज्ञान, २० विष्णु। ईशान मुख से—२१ प्रोद्गीत, २२ ललित, २३ सिद्ध, २४ संतान, २५ सर्वोत्तर, २६ परमेश्वर, २७ किरण, २८ वातुल। जयरथ ने 'तत्रालोक' की टीका में इन तन्त्रों का नाम दिया

है। दोनों में कहीं-कहीं अन्तर है। इनमें १० द्वैतमूलक (शैव) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने प्रणवादि दश शिवों को पढ़ाया तथा १८ द्वैताद्वैत प्रधान (रुद्र) तन्त्र हैं जिन्हें परमशिव ने अघोरादि अठारह रुद्रों को पढ़ाया। यही उपदेश 'महौघक्रम' तथा 'प्रतिमं हिताक्रम' से दो प्रकार का है। अनेक उपागमों से युक्त होकर इन आगमों की संहिताओं की संख्या २०८ है। सिद्धान्तियों के अनुसार अपर-ज्ञानरूप वेद केवल भुक्ति का साधन है, परन्तु परज्ञान रूप यही शिवशास्त्र भुक्ति का एकमात्र उपाय है। कामिक के उपागमों में 'मृगेन्द्र' तन्त्र नारायणकण्ठ की वृत्ति और अघोरशिवाचार्य की दीपिका के साथ प्रकाशित हुआ है।

शैवाचार्य—अवान्तर काल में अनेक विद्वान् शिवाचार्यों ने इन तन्त्रों के सिद्धान्त को प्रतिपादन करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इनमें आठवीं शताब्दी में आविर्भूत 'आचार्य सद्योज्योति' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इनके गुरु का नाम 'उग्रज्योति' था। 'सद्योज्योति' के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—नरेश्वरपरीक्षा' रौरवागम की वृत्ति, स्वायम्भुव आगम पर उद्योत तथा तन्त्रसंग्रह, तत्त्वत्रय, भोगकारिका, मोक्षकारिका, परमोक्षनिरासकारिका। **हरदत्त शिवाचार्य** (११ शतक)—एक विशिष्ट आचार्य थे जिनकी 'श्रीमन्नभ्यास' या 'चतुर्वेदतात्पर्य-संग्रह' में वेदवेदान्त का तात्पर्य शिवमहिमा के प्रतिपादन में बतलाया गया है। इसकी 'शिवलिंग भूष' (१५ श०) ने रमणीय टीका लिखी है। श्रीकण्ठ तथा अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ को अपना उपजीव्य माना है। बृहस्पति, शंकरनन्दन, विद्यापात, देववल्लभद्वैताचार्यों की स्थिति अभिनवगुप्त से पहले थी, क्योंकि तन्त्रालोक में इनका उल्लेख मिलता है। नारायणकण्ठ के पुत्र **रामकण्ठ** (१२ श० का आरम्भ) ने सद्योज्योति के ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्याएं तथा मौलिक ग्रन्थ लिखा है जिनमें (१) प्रकाश (नरेश्वरपरीक्षाटीका) (२) मातङ्ग-वृत्ति, (३) नागार्जुन, (४) मोक्षकारिका वृत्ति, (५) परमोक्षनिरास-

कारिकावृत्ति प्रकाशित हो गई हैं। रामकण्ठ के अन्तर्वामी श्रीकण्ठ मूरि ने 'रत्नत्रय' लिखा है। उत्तुङ्गशिवाचार्य के शिष्य भोजराज रचित 'तत्त्वप्रकाशिका' एक माननीय ग्रन्थ है जिसका निर्देश 'मृतमंहिता' की टीका में अमात्य माधव ने किया है। रामकण्ठ के शिष्य अघोरशिवाचार्य (१२ श० का मध्यकाल) ने तत्त्वप्रकाशिका तथा नादकारिका पर वृत्तियाँ लिखकर इन ग्रन्थों को बांधगम्य बनाया है। सद्योज्योति के अन्तिम पाँच ग्रन्थ, भोजराज की तत्त्वप्रकाशिका, रामकण्ठ की नादकारिका, श्रीकण्ठ का रत्नत्रय—ये आठ ग्रन्थ 'अष्टप्रकरण' के नाम से विख्यात हैं। दक्षिण का शैवागमसङ्घ इन 'मिद्धान्त' ग्रन्थों को नागराक्षर में प्रकाशित कर हमारा बड़ा उपकार कर रहा है।

वीर शैवमत

वीर शैवमत के अनुयायियों का नाम लिगायत या जंगम है। इनके विलक्षण आचार हैं। ये वर्णव्यवस्था को नहीं मानते, यद्यपि इसके आद्य प्रवर्तक ब्राह्मण थे। ये लोग शंकर की लिगात्मक मूर्ति को गले में हर समय लटकाये भये रहते हैं। कर्नाटक देश में वीर शैव धर्म का बहुल प्रचार है। इस मत के आद्य प्रचारक का नाम 'वसव' (१२ श०) था जो कलबुरी नरेश विज्जल के मन्त्रो वतलाये जाते हैं। वीर शैवों का कथन है कि यह मत नितान्त प्राचीन है। पाँच महापुरुषों ने इस मत का भिन्न-भिन्न समयों में उपदेश दिया है। इनके नाम रेणुकाचार्य, दारुकाचार्य, एकारामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य हैं जिन्होंने क्रमशः सोमेश्वर, सिद्धेश्वर, रामनाथ मल्लिकार्जुन तथा विश्वनाथ नामक प्रसिद्ध शिवलिंगों से आविर्भूत होकर शैव धर्म का प्रचार किया। इन्होंने क्रमशः 'वीर' सिंहासन को रम्भापुरी (मैसूर) में, 'सद्धर्म' सिंहासन को उज्जयिनी में, 'वैराग्य' सिंहासन को केदारनाथ के पास ऊर्ली मठ में, 'सूर्य' सिंहासन को 'श्रीशैल' में तथा

‘ज्ञान’ सिद्धामन को काशी (जंगमवाड़ी—विश्वाराध्यमहासंस्थान) में स्थापित किया । सिद्धान्त के २८ आगम इन्हे भी मान्य हैं । श्रीपति (१०६० ई०) ने ब्रह्मसूत्र पर ‘श्रीकर’ भाष्य लिखकर इस मत की उपनिषन्मूलकता प्रदर्शित की है । श्रीशिवयोगी शिवाचार्य का ‘सिद्धान्त शिखामणि’ वीर शैव का माननीय ग्रन्थ है ।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन

काश्मीर-देश में प्रचलित शैव आगम का प्रत्यभिज्ञा, स्पन्द या त्रिक दर्शन के नाम से पुकारते हैं । प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द नामकरण का कारण इस तन्त्र के विशेष आध्यात्मिक तत्त्व के कारण है । ‘त्रिक’ या ‘प्रडर्भ’ शान्त्र नाम देने का कारण यह है कि इस दर्शन में पशु-पति-पाश तीन तत्त्वों का प्रधानतया वर्णन है अथवा ९२ आगमों में से **सिद्धा, नामक** तथा **मालिना तन्त्र** सबसे अधिक महत्त्वशाली हैं^१ । तन्त्रालोक की टीका में इस दर्शन के आविर्भाव तथा प्रचार का इतिहास संक्षेप रूप से उल्लिखित है । भगवान् परम शिव ने अपने पञ्चमुखों से उत्पन्न शिवा गमों का द्वैतपरक व्याख्या देखकर अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार के लिए इस मत का आविर्भाव किया तथा दुर्वासा ऋषि को इस शैवशासन के प्रचारार्थ आदेश दिया । **व्यम्बक, आमर्दक** तथा **श्रीनाथ** नामक मानस पुत्रों को उत्पन्न कर दुर्वासा ने क्रम से अद्वैत, द्वैत तथा द्वैताद्वैत दर्शनों का उपदेश दिया । अतः व्यम्बक द्वारा प्रचारित होने से इसका नाम **वैयम्बक** दर्शन है । गोमानन्द (८५० ई०) अपने को व्यम्बक से १९वीं पीढ़ी में बतलाते हैं । अतः एक पीढ़ी के लिए २५ साल का समय मानने पर त्रिक दर्शन का आविर्भाव काल पञ्चम शतक में सिद्ध होता है ।

इस अद्वैतवादी त्रिकदर्शन का साहित्य बड़ा विशाल है और काश्मीर

संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित हो रहा है। काश्मीर में प्राचीनकाल में मालिनीविजय, स्वच्छन्द, विशानभैरव, नेत्र आदि अनेक शैवागम प्रचलित थे जिनको परवर्ती आचार्यों ने इस अद्वैत मत का उपजीव्य माना है। त्रिक के मूल प्रवर्तक आचार्य **वसुगुप्त** (८०० ई० के आसपास) हैं। शिवसूत्रविमर्शिणी के आरम्भ में क्षेमराज का कथन है कि भगवान् श्रीकण्ठ ने स्वयं वसुगुप्त को स्वप्न में आदेश दिया कि महादेव-गिरि के एक विशाल शिलाखण्ड पर लिखे गये 'शिवसूत्रो' का उद्धार तथा प्रचार करो। जिस चट्टान पर ये सूत्र उद्घुहित मिले थे उसे आज भी 'शिवपल्' (शवोपल=शिवशिला) के नाम से पुकारते हैं। ये ही ७७ सूत्र इस दर्शन के मूल आधार हैं। वसुगुप्त ने स्पन्दकारिका (५२ कारिकायें) में शिवसूत्रों के सिद्धान्तों का ही विशदीकरण किया है। गीता की (वसुगुप्त कृत) वामनो टीका अभी तक अप्रकाशित है।

वसुगुप्त के दो शिष्यों ने दो प्रकार की दार्शनिक चिन्ता की धारायें चलाईं। महामाहेश्वराचार्य (२) **कल्लट** (नवम शतक का उत्तरार्द्ध) ने स्पन्द सिद्धान्त को अग्रसर किया तथा (३) **सोमानन्द** ने प्रत्यभिज्ञामत का आविर्भाव तथा प्रचार किया। दोनों मतों को दार्शनिक दृष्टि एक ही है, यद्यपि छोटे-मोटे सिद्धान्तों में पार्थक्य है। कल्लट की सबसे श्रेष्ठ कृति स्पन्द कारिका की वृत्ति है जो 'स्पन्दमयस्य' के नाम से विख्यात है। सोमानन्द के महत्त्वशाली ग्रन्थों के नाम 'शिवदृष्टि' और 'परात्रिंशिका-विवृति' हैं। (४) **उत्पलाचार्य** (९०० ई०) सोमानन्द के शिष्य थे। इनका 'ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकारिका' त्रिक सम्प्रदाय का मनन-शास्त्र है जिसमें परमेश का प्रामाणिक खण्डन कर अद्वैततत्त्व का मण्डन है। वृत्ति के साथ इस ग्रन्थरत्न के नाम पर ही यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञा' नाम से व्यवहृत किया जाता है। 'सिद्धित्रयी' में अजडप्रमातृ सिद्धि, ईश्वर सिद्धि तथा सम्बन्ध सिद्धि की गणना है। 'शिवस्तोत्रावली' भक्ति-रस से पूरित बड़ा ही

सुन्दर स्तोत्र-संग्रह है । (५) अभिनवगुप्त—(९५०—१००० ई०)—उत्पल के प्रशिष्य तथा लक्ष्मण गुप्त के शिष्य अभिनव का नाम दर्शन तथा साहित्य संसार में सबसे अधिक प्रसिद्ध है । 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' ने इनका नाम साहित्य जगत् में जिस प्रकार अमर कर दिया है, उसी प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, मालिनीविजयवार्तिक, परमार्थसार, पराविशिका-विवृति ने त्रिकदर्शन के इतिहास में इन्हें अमर बना दिया है । विपुलकाव्य 'तन्त्रालोक' को मन्त्रशास्त्र का विश्वकोश कहना चाहिए । साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय महामाहेश्वरानाथ अभिनवगुप्ताचार्य का है । सर्वतन्त्रस्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे । ये अर्ध-व्यम्बकमत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल थे । (६) योगराज (९७५—१०२५)—अभिनव जैसे गुरु के सुयोग्य शिष्य थे । व्यायकता की दृष्टि से इनके ग्रन्थ अभिनव से कुछ ही न्यून हैं । इनके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं:—(१) शिवसूत्र-विमर्शिणी, (२) स्वच्छन्द तन्त्र, विज्ञान-भारव तथा नेत्र तन्त्र पर उद्योत टीका (५) प्रत्यभिज्ञाहृदय, (६) स्पन्दसद्बोद्ध, (७) शिवस्तोत्रावली की टीका आदि । इनके अतिरिक्त उत्पल वैष्णव की 'स्पन्द प्रदीपिका', भास्कर तथा वन्दराज का 'शिवसूत्र वार्तिक', रामकण्ठ की स्पन्द कारिका विवृति योगराज की 'परमार्थ सारवृत्ति, तथा जयरथ का विपुलकाव्य तन्त्रालोक की टीका और गोरक्ष (महेश्वरानन्द) की 'परिमल' सहित 'महार्थमञ्जरी' विख्यात ग्रन्थ हैं ।

शाक्त तन्त्र

शाक्ततन्त्रों की संख्या बहुत ही अधिक है । शाक्त पूजा-पद्धति के नितान्त गोपनीय तथा गुरुमुखैकगम्य होने के कारण शाक्तों की यह धारणा अनेकांश में सत्य है कि शाक्त तन्त्रों के प्रकाशित होने पर अनर्थ

होने की ही अधिक सम्भावना है। इसलिए शाक्ततन्त्रों का प्रकाशन बहुत ही कम हुआ है, तथापि इन प्रकाशित तन्त्रों के ही अनुशीलन से शाक्तों की विपुल साहित्यिक सम्पत्ति तथा उदात्त मिद्धान्तों का भली-भाँति परिचय मिलता है। आगमों के गुण, देश, काल, आम्नाय आदि की भिन्नता से अनेक भेद प्रदर्शित किये जाते हैं। सांख्यिक आगमों को 'तन्त्र', राजस को 'यामल' तथा तामस को 'डामर' कहते हैं। भगवान् शंकर के मुखपञ्चको से उत्पन्न होने से आगमों के प्रधानतया पाँच 'आम्नाय' होते हैं^१—पूर्वाम्नाय, दक्षिणाम्नाय, पश्चिमांम्नाय, उत्तराम्नाय तथा ऊर्ध्वाम्नाय। निम्नतर तथा गुप्तमुख से उत्पन्न अधाम्नाय छठों आम्नाय माना जाता है। कुलार्णवतन्त्र के तृतीय उल्लास में इन आम्नायों का वर्णन है। पूर्वाम्नाय सृष्टिरूप तथा मन्त्र योग है, दक्षिणाम्नाय स्थिति-रूप और भक्तियोग है, पश्चिमांम्नाय संहार रूप तथा कर्मयोग है; उत्तराम्नाय अनुग्रहरूप और ज्ञानयोग है। ऊर्ध्वाम्नाय की कुलार्णय में बड़ी प्रशंसा की गई है। चतुर्गाम्नायविज्ञानादूर्ध्वाम्नायः पर प्रिये। × × ऊर्ध्वत्वात् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशस्यते—कुलार्णव ३।१६-१७) यह ऊर्ध्वाम्नाय कौलों के अनुसार कौलाचार में गृहीत है, पर सामयिकों के मत में यह आम्नाय समयमत से सम्बद्ध है। भौगोलिक दृष्टि से समस्त भारत तथा, एशिया महाद्वीप तीन भागों में बाँटा जाता है। भारत का उत्तर-पूर्वीय प्रदेश विन्ध्य से लेकर चित्तल (चट्टग्राम) तक 'विष्णुक्रान्ता' कहलाता है। उत्तर पश्चिमीय भाग 'रथक्रान्ता' के नाम से प्रसिद्ध है जिसमें विन्ध्य से लेकर महाचीन (तिब्बत) तक के देश अन्तर्भुक्त माने जाते हैं। तृतीय भाग 'अश्वक्रान्ता' के विषय में कुछ मतभेद है। 'शाक्तमंगल' तन्त्र के अनुसार विन्ध्य से लेकर दक्षिण समुद्र पर्यन्त का समस्त प्रदेश की

तथा 'महासिद्धि सार' के अनुसार करतोया नदी से लेकर जावा तक के समग्र देशों की गणना 'अश्वक्रान्ता' में की जाती है। इन तीनों क्रान्ताओं में ६४ प्रकार के तन्त्र प्रचलित बनलाये जाते हैं। शाक्त पूजा के तीन प्रधान केन्द्र हैं—काश्मीर, काञ्ची और कामाख्या। इनमें प्रथम दोनों स्थान 'श्रीविद्या' के केन्द्र थे और कामाख्या कौलमत का मुख्य स्थान आज भी है। कामाख्या में अनार्य तिब्बती तन्त्रों के विशेष प्रभाव पड़ने के कारण पञ्चतत्त्वों का इतने उग्ररूप में प्रचार दृष्टिगोचर होता है। इस त्रिकोण का मध्य बिन्दु काशी है जिसमें इन सिद्धान्तों का मुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। इन शाक्त तन्त्रों का सम्बन्ध अथर्ववेद के 'सौभाग्यकाण्ड' के साथ माना जाता है, परन्तु यजुः तथा ऋग्वेद से सम्बद्ध तान्त्रिक उपनिषद् भी उपलब्ध हैं। इन तन्त्रमत-प्रतिपादक उपनिषदों में ये नितान्त प्रसिद्ध हैं—कौल, त्रिपुरामहोपनिषद्, भावना, बह्वृच, अरुणोपनिषद्, अद्वैतभावना, कालिका और तारा उपनिषद्। इनमें से प्रथम तीन उपनिषदों का भाष्य भास्कर राय ने लिखा है तथा त्रिपुरा तथा भावना का अप्पय दीक्षित ने। ये सब उपनिषद् कलकत्ते की तान्त्रिक टेस्ट ग्रन्थमाला (न० ११) में प्रकाशित हुए हैं।

लक्ष्मीधर ने 'चतुःषष्ट्या तन्त्रैः सकलमतिसन्धाय भुवनं (सौन्दर्य लहरी पद्य ३१) की व्याख्या करते समय तीनों मार्गों (कौल, मिश्र तथा समय) के तन्त्रों का विशेष परिचय दिया है। कौल मार्ग के अनुसार महामाया, शम्बर, ब्रह्मयामल, रुद्रयामल आदि तन्त्रों की संख्या ६४ है, जिनके नाम तथा विषय का उल्लेख 'वामकेश्वर' 'कुलचूड़ामणि', 'सर्वोल्लास तन्त्र' तथा लक्ष्मीधर की टीका में किया गया है। इन ग्रन्थों में विशेष पार्थक्य मिलता है। समय मार्ग के अनुसार ये समस्त तन्त्र अवैदिक हैं तथा ऐहिक सिद्धि-प्रतिपादक होने से वैदिक मार्ग से कोसों दूर हैं (एवं चतुःषष्टितन्त्राणि परिगन्तुगानि वञ्चकानि । ऐहिकसिद्धि-परत्वात् वैदिकमार्गदूराणि)। मिश्रमार्ग के तन्त्र आठ प्रकार के हैं—

चन्द्रकला, ज्योत्स्नावती, कलानिधि, कुलार्णव, कुलेश्वरी, भुवनेश्वरी, ब्राह्मर्षत्य तथा दुर्वास-मत । ये तन्त्र उच्च ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक होने पर भी लौकिक अभ्युदय के भी माधक हैं; अतः कौल और समय उभय-मार्गों के मिश्रण होने से यह 'मिश्रमार्ग' कहलाता है । समय मत का मूलग्रन्थ 'शुभागमपञ्चक' कहलाता है जिसमें वमिष्ट, सनक, शुक, मनन्दन और सनत्कुमार द्वारा विरचित संहितापञ्चक की गणना है । लक्ष्मीधरने इन संहिताओं का उद्धरण भी टीका में दिया है । तन्त्र-साहित्य नितान्त विशाल, व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है । शाक्त तन्त्रों की संख्या हजार में ऊपर है, परन्तु इस विशाल साहित्य का बहुत ही थोड़ा अंश प्रकाशित हुआ है । इन प्रकाशित तन्त्रों में कुलचूड़ामणि; कुलार्णव, तन्त्रराज (टीका सुदर्शन, प्राणमजरी रचित), शक्तिसंगम तन्त्र (कालीखण्ड तथा ताराखण्ड) कालीविलास, जानार्णव वामकेश्वर, महानिर्वाण, रुद्रयामल, त्रिपुरारहस्य, दक्षिणामूर्तिसंहिता आदि विशेष विख्यात हैं । शंकराचार्य ने भी 'प्रपञ्चसार' नामक तन्त्र का निर्माण किया है जिसकी टीका आचार्य के शिष्य पद्मपादाचार्य ने लिखी है । लक्षणदेशिक (११ शतक) का 'शारदा तिलक' राघवभट्ट की टीका के साथ तान्त्रिक गृहस्थों का आकर है । इन सामान्य तन्त्रों के अतिरिक्त भिन्न-भिन्न आचार्यों के भी अपने विशिष्ट ग्रन्थ हैं ।

श्रीविद्या के १२ उपासक प्रसिद्ध हैं—मनु, चन्द्र, कुबेर, लोपामुद्रा, मन्मथ (कामदेव), अगस्ति, अग्नि, सूर्य, इन्द्र, स्कन्द, शिव और क्रोध-भट्टारक (दुर्वासामुनि) । श्री नटनानन्द कृत कामकलाविलास की टीका (श्लो० ५२) से पता चलता है कि श्रीविद्या के दो सन्तान सुप्रसिद्ध हैं—कामराजसन्तान और लोपामुद्रा सन्तान, जिनमें कामराजसन्तान ही अविच्छिन्न रूपसे विद्यमान है, लोपामुद्रा सन्तान तो विच्छिन्न होगया है । कामराज में दिव्यौघ गुरुओं के नाम भी वहाँ दिये गये हैं । श्रीविद्या के प्रधान आचार्यों में तीन आचार्यों की गणना में उपलब्ध हैं । श्रीनरनाथ

ने त्रिपुरातन्त्र के उद्घाटन के लिए अष्टादशमाहर्षी 'दत्तसंहिता' की रचना की थी, परन्तु दुर्घोष होने के कारण परशुराम ने इसका संक्षेप ५० खण्डों और ६ हजार सूत्रों में किया। इसका भी संक्षेप हारितायन मुमेधा ने दशखण्डात्मक 'परशुराम कल्पमृत्र' में किया है। गायकवाड संस्कृत ग्रन्थमाला में यह अपूर्व ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। **अगस्त्य** के शक्तिसूत्र कविगत्रजी को मिले हैं। उन्होंने इन्हें मरुस्वर्ताभवन स्टडीज (१०।म भाग) में प्रकाशित किया है। 'अथातः शक्तिजिज्ञासा' प्रथम-मृत्र है। इन निगूढ ११३ मृत्रों की एक अल्पाधरा अधूरी वृत्ति भी प्रकाशित हुई है, परन्तु विस्तृत व्याख्या के अभाव में इन सूत्रों का रहस्य प्रकट नहीं होता। **दुर्वासा** में मृत्र नहीं मिलते, 'शक्तिमहिम्नः स्तोत्र' ही उनकी एकमात्र उपलब्ध रचना है। इधर के आचार्यों में **गौडपाद** श्रीविद्या के बड़े भारी उपासक थे जिनका 'सुभगोदय' (स्तोत्र) तथा 'श्रीविद्यारत्नमृत्र' (शंकराग्र्य को विस्तृत व्याख्या-सवलित) एतद्विषयक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। गौडपाद के प्रशिष्य **शंकराचार्य** श्रीविद्या के एक विशेष आचार्य थे जिनको 'सौन्दर्यलहरी' तथा 'ललितात्रिशती-भाष्य' रहस्यपूर्ण रचनाएँ हैं। '**सौन्दर्यलहरी**' में कवित्व तथा तान्त्रिकत्व का अनुपम सम्मिलन है। इसकी ३५ टीकायें उपलब्ध हैं जिनमें कैवल्यश्रम, नरसिंह, अच्युतानन्द, कामेश्वरमूर्ति की महत्त्वशालिनी टीकायें अर्थात्क अप्रकाशित हैं। लक्ष्मोदर (१२६८-१३७९ ई०) की प्रकाशित टीका समयमार्ग के रहस्यों के जानने के लिए नितान्त उपयोगी है। **पुण्यानन्दनाथ** का 'कामकलाविलास' नटनानन्द की 'चिदवल्ली' व्याख्या के साथ शाक्ततत्त्व का प्रकाशक है। इन्हीं के शिष्य **अमृतानन्दनाथ** की 'योगिनीहृदयदीपिका' वामकेश्वरतन्त्र के एक भाग की बड़ी सुन्दर व्याख्या है। शाक्तदार्शनिक श्री **भास्करराय** (१८ वे शतक का पूर्वार्ध) का नाम शाक्तसम्प्रदाय के इतिहास में सुवर्णाक्षरों में लिखने योग्य है। इनके ग्रन्थ शाक्तविद्या के

आध्यात्मिक रहस्यों के उद्घाटन के लिए कुञ्जी हैं। इनकी रचनाओं में वरिवस्यारहस्य, सौभाग्यभास्कर (ललितासहस्रनाम का भाष्य), सेतु (नित्याष्टोडशिकार्णव की टीका) गुप्तवती (दुर्गासप्तसती की व्याख्या) तथा कौल, त्रिपुरा, भावना उपनिषदों की टीकायें विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके शिष्य **उमानन्दनाथ** ने 'नित्यांस्त्व' नामक पद्धतिग्रन्थ की रचना १७५५ ई० में तथा प्रशिष्य **गमेश्वरसूति** ने 'परशुराम कल्पसूत्र' की टीका 'सौभाग्यभोग्य' का निर्माण १८३१ ई० में किया। ये ग्रन्थ बड़ोदा से प्रकाशित हैं। **लक्ष्मण रानडे** की परशुराम कल्पसूत्र की टीका (सूत्र तत्त्वविमर्शिणी) अभी तक अप्रकाशित ही है। भास्करराय का सम्प्रदाय महाराष्ट्र तथा सुदूर दक्षिण में आज भी जागरूक है। कौलमत के आचार्यों में **पूर्णानन्द** (जगदानन्द; १४४८-१५२६) का नाम प्रसिद्ध है। विख्यात 'पट्टचक्रनिरूपण' इनके विस्तृत 'श्री तत्त्वचिन्तामणि' का एक प्रकरणमात्र है। ये ब्रह्मानन्द के शिष्य थे और बंगाल के रहने वाले थे। इनके अन्य ग्रन्थों में श्यामारहस्य, शक्तिक्रम, तत्त्वानन्द-तरंगिणी प्रसिद्ध हैं। कौलाचार्य **सदानन्द** का ईशावास्य ग्रन्थ का भाष्य और **सर्वानन्द** का 'सर्वोद्विकास' तन्त्र प्रसिद्ध हैं।

४

शैवतन्त्र-सिद्धान्त

(क) पाशुपत मत

ज्ञानमात्रे यथाशास्त्र साक्षाद्दृष्टिस्तु दुर्लभा ।

पञ्चार्थाद यतो नास्ति यथा शास्त्रेऽभिहितः ॥—सर्वदर्शन संग्रहे ।

पाशुपतों के मतानुसार पाँच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त । (१) कार्य उसे कहते हैं जिसमें स्वातन्त्र्य शक्ति न हो । यह तीन प्रकार का होता है—विद्या, कला और पशु । जीव और जड़ दोनों

का अन्तर्भाव कार्य में होता है, क्योंकि दोनों परतन्त्र होने से परमेश्वरके अधीन हैं। जीवों की गुणरूपा विद्या दो प्रकार की होती है—बोध और अबोध। बोधध्वभावा विद्या का ही नाम चित्त है; पशुत्व की प्राप्ति करनेवाले धर्माधर्म से युक्त विद्या अबोध-रूप है। चेतन के अधीन, स्वयं अचेतन पदार्थ 'कला' कहलाता है (चेतनपरतन्त्रत्वे सति अचेतना कला)। कार्यरूपा कला में पृथिवी आदि पञ्चो भूत तथा उनके गुणों का और कारणरूपा कला में त्रयोदश इन्द्रियों का अन्तर्भाव होता है। पशु का अर्थ है जीव। कौण्डिन्य भाष्य में इस शब्द की बड़ी सुन्दर व्युत्पत्ति दी गई है—पश्यनात् पाशनाच्च पशवः। पाशा नाम कार्य-करणाख्याः कलाः। तामिः पाशिताः बद्धा सन्निरुद्धा शब्दादिविषयपर-वशा भूत्वाऽवतिष्ठन्ते—(कौण्डिन्य भाष्य पृ० ५) अर्थात् कार्यकरणरूपा कला से बद्ध होकर शब्दादि विषयों में सदा परवश होने से जीव 'पशु' संज्ञा से अभिहित किया जाता है। शरीरेन्द्रिय सम्बद्ध जीव 'साञ्जन' तथा शरीरेन्द्रिय-विरहित जीव 'निरञ्जन' कहलाता है।

(२) कारण—महेश्वर ही जगत् की सृष्टि, संहार तथा अनुग्रह करने के हेतु 'कारण' पद वाच्य हैं। इनकी शास्त्रीय संज्ञा 'पति' है (आप्ति पाति च तान् पशून्वित्यतः पतिर्भवति—कौण्डिन्य भाष्य) महेश्वर अपरिमित ज्ञानशक्ति से जीवों का प्रत्यक्ष करते हैं और अपरिमित प्रभुशक्ति से जीवों का पालन करते हैं। अतः ज्ञानशक्ति तथा प्रभुशक्ति के आश्रय होने से सर्व शक्तिमान् महेश्वर 'पति' पदवाच्य है। यह स्वतन्त्र, ऐश्वर्ययुक्त, आद्य, एक तथा कर्ता है। वह अनुग्रह-शक्ति का भी आश्रय है। उसकी इच्छा से जीवों की इष्ट-अनिष्ट स्थान-शरीर-विषयेन्द्रियों की प्राप्ति होती है। 'स्वतन्त्रः कर्ता'^१। शिव में

१ कर्मकामिनश्च महेश्वरमपेक्षन्ते, न तु भगवान् ईश्वरः कर्म पुरुष वा अपेक्षते। अतो न कर्मापेक्ष ईश्वरः—कौण्डिन्य भाष्य २।६।

ज्ञानशक्ति के निवास होने से वह परमेश्वर कहलाता है। समस्त जगत् का उत्पादक होने के कारण वह 'कारण' पद-वाच्य है। वह क्रीड़ा के लिए जगत् का आविर्भाव तथा तिरोभाव करता है। इसी कारण 'देव' और निरपेक्ष होने से 'सार्धकामिक' कहा जाता है।

(३) **योग**—चिन् के द्वाग आत्मा तथा ईश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं (पाशुपत सूत्र ५।२) यह दो प्रकार का होता है—
—क्रियात्मक, जिसमें जप, ध्यानादि की गणना है तथा क्रियोपरम—
क्रिया की निवृत्ति अर्थात् भगवान् में ऐकान्तिकी भक्ति, ज्ञान तथा शर गति। पातञ्जल योग का फल कैवल्य की प्राप्ति होती है, परन्तु पाशुपतयोग का फल दुःख की निवृत्ति के साथ परमैश्वर्य का लाभ है।

(४) **विधि**—महेश्वर की प्राप्ति कर्गनेवाला साधक-व्यापार विधि कहलाता है। मुख्य विधि की सज्ञा 'चर्या' है जो व्रत और द्वार भेद से दो प्रकार की होती है। हस्ति, गीत, नृत्य, हुडहुक्कार, नमस्कार तथा जय भेद से उपहार (नियम) ६ प्रकार का है। साधक को महेश्वर की पूजा के समय हँसना, गाना, नाचना, जीभ और तालु के संयोग से चैल की आवाज के समान हुडहुड शब्द करना, नमस्कार आदि का अभ्यास करना चाहिए। इसी उपहार के साथ भस्मस्नान, भस्मशयन, जप तथा प्रदक्षिणा को पञ्चविध व्रत कहते हैं (पाशुपत सूत्र १।८)। भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए इनका पालन आवश्यक है। द्वार के प्रकार ये हैं:—(१) 'क्राथन'—असुप्त पुरुष का सुप्त पुरुष के समान चिन्ह धारण करना; (२) 'स्पन्दन'—वात व्याधि से ग्रस्त पुष्प के समान शरीर के अंगों का कम्पन; (३) 'मदन'—लँगड़ाते हुए के समान चलना; (४) 'शृङ्गारण'—रूपयौवनसम्पन्न सुन्दरी का निरीक्षण कर कामीजनसदृश चेष्टा करना; (५) 'अवितत्करण'—अविवेकी के समान निन्दित कर्मों का करना; (६) 'अवितत्भाषण'—ऊटपटाँग बोलना (पाशुपत

सूत्र ३।१२-१७) अनुस्नान, निर्मात्य धारण आदि को 'गौण' विधि कहते हैं ।

(५) दुःखांत—अन्तिम पदार्थ का नाम दुःखान्त - दुःखों की आत्यन्तिका निवृत्ति या मोक्ष है । पशु पाँच प्रकार के दोषों से बन्धन में पड़ा हुआ है । ये दोष 'मल' कहे जाते हैं जिनके नाम मिथ्या ज्ञान, अधर्म, सक्तिहेतु (विषयामक्ति के कारणभूत विषयमम्पर्क), च्युति (रुद्रतत्त्व से चित्त का तनिक भी च्युत होना) तथा पशुत्व (अल्पज्ञत्वादि पशुत्वोत्पादक धर्म) हैं—

मिथ्याज्ञानमधर्मश्च सक्तिहेतुश्च्युतिस्तथा ।

पशुत्वं मूलं पञ्चैते तन्त्रे हेयाधिकारतः ॥—गणकारिका ८

ऊपर वर्णित योग तथा विधि के अनुष्ठान से मलों का सर्वथा नाश हो जाता है । गणकारिका में वर्णित मोक्ष लाभ करने के पंचविध उपायों में 'प्रपत्ति' अन्तिम उपाय है । भगवान् पशुपति के शरणागत होने से जब उनके नैसर्गिक प्रसाद का उदय होता है तब जीव इस क्लेशचक्रुल संसार से सर्वदा के लिए मुक्ति लाभ करता है । दुःखान्त दो प्रकार का होता है अनात्मक तथा सात्मक । अनात्मक दुःखान्त केवल दुःखों की आत्यन्तिकी निवृत्तिमात्र है, परन्तु सात्मक में पारमै-वर्य का लाभ होता है । दृक् शक्ति तथा क्रिया शक्ति का उदय होता है । मुक्तात्मा सूक्ष्म-भ्यवहित तथा विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है (दर्शन), उसे अशेष शब्दों का ज्ञान होता है (श्रवण), चिन्तित समस्त विषयों की सिद्धि हो जाती है (मनन), समस्त शान्त्रों का ग्रन्थतः तथा अर्थतः परि-ज्ञान हो जाता है (विज्ञान), सर्वज्ञता की स्वतः सिद्धि होती है (सर्वज्ञत्व) इस प्रकार दृक्शक्ति पंचविधा है । क्रियाशक्ति तीन प्रकार की है:— (१) मनोजवित्व—किसी कार्य के अत्यन्त शीघ्र करने का सामर्थ्य; (२) कामरूपित्व—कर्मादि के बिना ईप्सितरूप का धारण करना; (३) विकरण-

धर्मित्व—इंद्रिय की सहायता के बिना सब पदार्थों का जानना और करना अर्थात् निरतिशय ऐश्वर्य का लाभ । इन पाँचों पदार्थों को विशिष्टता पर ध्यान देना आवश्यक है । अन्य दर्शनों में कार्य उत्पत्ति-विनाशशील तथा कारण अन्यमापेक्ष रहता है, परन्तु पाशुपत में पञ्चादि कार्य नित्य हैं तथा कारण निरपेक्ष भगवान् ही हैं । पातजल योग का फल कैवल्य का लाभ है, पाशुपतयोग का फल पारमैश्वर्य तथा दुःखान्त का लाभ है । अन्यत्र विधि का फल पुनरावृत्ति-सहित स्वर्ग है, परन्तु पाशुपतविधि का फल पुनरावृत्ति-रहित समीप्यादि है । इसी प्रकार अन्यत्र मोक्ष दुःखात्यन्तिकी निवृत्तिरूप है, परन्तु पाशुपत में मोक्ष परमैश्वर्य-प्राप्तिरूप है ।

कापालिक और कालामुख—इन सम्प्रदायों का इस समय नितान्त उच्छेद-सा प्रतीत होता है, परन्तु कभी भारत में इन सम्प्रदायों का बोलबाला था । यामुनाचार्यने 'आगमप्रामाण्य' (३० ४८) में इनका संक्षिप्त वर्णन किया है । कापालिकों के मत में निम्नलिखित छः मुद्राओं के धारण करने से ही अपवर्ग की उपलब्धि होती है—कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म और यज्ञोपवीत । इनके साथ अनेक गुप्त क्रियाओं का भी विधान किया जाता था । कालामुख सम्प्रदाय में कपाल-पात्र-भोजन, शव-भस्म-स्नान, तत्प्राशन, लगुङ्गधारण, मुराकुम्भस्थान-आदि अनेक विधियों का अनुष्ठान दृष्ट और अदृष्ट सिद्धियों का कारण माना जाता था । गुप्त रखने के कारण धीरे-धीरे इन सम्प्रदायों की लोकप्रियता जाती रहा और अब तो इनके अनुष्ठानों का रहस्य समझना कठिन कार्य है ।

'शैव सिद्धान्त' और 'वीरशैव' मतों का वर्णन आगे किया जायगा । यहाँ इन चारों सम्प्रदायों से भिन्न एक अन्य माहेश्वर मत का सामान्य परिचय देना आवश्यक है । इस मत के सिद्धान्त का नाम 'रसेश्वर दर्शन' है ।

(ख) रसेश्वर दर्शन

शैव दार्शनिकों का एक सम्प्रदाय रसेश्वर दर्शन का अनुयायी है । इस सम्प्रदाय का मुख्य सिद्धान्त यह है कि जीवन्मुक्ति की प्राप्ति का उपाय दिव्य शरीर का पाना है । जिस शरीर को नाना व्याधियाँ उत्पन्न होकर साधारण काम करने के लिए असमर्थ बना देती हैं, भला उस शरीर से ब्रह्म का साक्षात्कार कभी हो सकता है ? कभी इस शरीर को ज्वर कष्ट दे रहा है, कभी श्वास-कासका प्रपञ्च इसे दुःख में डाले हुए है, उस देह से कभी भी दुःख की निवृत्ति नहीं हो सकती । इसीलिए इस शरीर को दृढ़ बनाने की नितान्त आवश्यकता है । इसका नाम है—पिण्डस्थैर्य (=शरीर की स्थिरता) । जगत् के समग्र पदार्थ—धन, द्वारा, सुत, भोग आदि—अनित्य हैं । अतः मुक्ति के लिए यत्न करना आवश्यक है । यह मुक्ति ज्ञान से ही प्राप्य है । यह ज्ञान अभ्यास से होता है और यह तभी सम्भव है, जब स्थिर देह प्राप्त हो । शंकराचार्य के गुरु गोविन्द भगवत्पादने 'रसहृदय' तन्त्र में बहुत ही ठीक कहा है—

इति धन-शरीर-भोगान् मत्वाऽनित्यान् सदैव यतनीयम् ।

मुक्तौ सा च ज्ञानात्तच्चाभ्यासात् स च स्थिरे देहे ॥

शरीर को स्थिर बनाने के लिए लौकिक उपाय विद्यमान है । पारद (पारा) भस्म के सेवन से यह शरीर स्वाभाविक क्लेशों को दूर हटा कर स्थिर, नित्य तथा दिव्य बनाया जा सकता है । पारा का नाम ही है पारद—इस नाम की सार्थकता इस बात से है कि वह संसार के दुःखों से मुक्त कर उस पार पहुँचा देता है—

संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारदः स्मृतः ।

पारद की शक्ति बड़ी अलौकिक है । यह भगवान् शंकर का वीर्य माना जाता है । और अभ्रक पार्वती का रज समझा जाता है । इन

दोनों के मिलन से जो भस्म तैयार होता है, वह प्राणियों के शरीर को दिव्य बनाने में सर्वथा समर्थ है। वैद्यक शास्त्र में रस-भस्म की इतनी उपयोगिता के कारण ही इतना महत्त्व है।

शरीर के भीतर प्राण वायु तथा बाहर पारद - इन दोनों के उचित प्रयोग से नागांग तथा दिव्य शरीर बनाया जा सकता है। प्राण का नियमन प्राणायाम से होता है और पारद का उपयोग उसका भस्म बना कर किया जाता है। प्रत्येक साधक को इन दोनों उपायों का उपयोग अपने शरीर को दिव्य बनाने के लिए अवश्य करना चाहिए। पारद की तीन अवस्थाएँ होती हैं - (१) मूर्च्छित, (२) मृत, (३) वद्ध। जिस पारद में घनता और चंचलता नहीं होती, वह मूर्च्छित कहलाता है। जिसमें आर्द्रता, तेज (चमकीलापन), गौरव (भारीपन), चपलता विद्यमान नहीं रहती, उसे 'मृत' पारद कहते हैं। इसी प्रकार पारद की एक वद्ध दशा होती है। इन तीनों दशाओं में पारद का उपयोग मानव के परम कल्याण का साधन माना जाता है -

मूर्च्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्॥

वद्धः खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि ॥

पारद का ही नाम 'रस' है और यही 'रस' ईश्वर है। इस रस को सिद्ध करना होता है स्वेदन, मर्दन आदि १८ संस्कारों के द्वारा। रस-सिद्ध कवीश्वरों का शरीर जरा और मरण दोनों विकृतियों से रहित होकर दिव्य बन जाता है। इस अनुभव का समर्थन सर्वत्र शास्त्र में तथा लोक में भी होता है। भर्तृहरि ने इसी की ओर संकेत किया है -

जयन्ति ते मुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः ।

नास्ति येषां यशः काये जरा मरणजं भयम् ॥

पारद का वही सच्चा भस्म होता है जिसे रगड़ने से लोहा भी सुवर्ण बन जाता है। यह बाहरी परीक्षा है। ऐसे ही भस्म से शरीर के

भीतरी अनित्य परमाणुओं को बदल कर नित्य बनाया जाता है। असली बात यह है कि बिना योगाभ्यास के आत्म-साक्षात्कार नहीं जनमता और यह अभ्यास साधारण शरीर से साध्य नहीं है। इसीलिए पारद भस्म के प्रयोग करने से दिव्य शरीर बनाना, योगाभ्यास करना तथा आत्मा का दर्शन करना—साधना का क्रमिक विकास है।

‘रस’ को इतनी उपयोगिता के कारण ईश्वर कहा जाता है। ‘रसेश्वर’ दर्शन का यही सिद्धान्त है। इस मत में जीवन्मुक्ति ही वास्तव मुक्ति है। तैत्तिरीय उपनिषद् इसी रस को ब्रह्म का प्रतीक बतलाना है जिसे पा लेनेपर साधक वस्तुतः आनन्द का अधिकारी बनता है—रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति (तै० उप० २।७।१)

भारतवर्ष में रसेश्वर दर्शन के अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं। प्रसिद्ध बौद्धाचार्य नागार्जुन ने ‘रसरत्नाकर’ लिख कर विमल कीर्ति अर्जन की। उन्हें रस सिद्ध था। इसीलिए वे ‘सिद्ध नागार्जुन’ के नाम से विख्यात हैं। गोविन्द भगवत्-पाद ने ‘रसहृदय’ में इस शास्त्र का हृदय खोल कर रख दिया है। विष्णु स्वामी की ‘साकार सिद्धि’ तो उपलब्ध नहीं है, पर जान पड़ता है कि वे नरसिंह के दिव्य देह मानने-वाले निःसन्देह थे। सायणमाधव ने इस ग्रन्थ को ‘रसेश्वर दर्शन’ के वर्णन के प्रसंग में उद्धृत किया है। इस दर्शन का विशाल साहित्य है जो धीरे धीरे प्रकाश में आ रहा है।

तान्त्रिक पूजा के तीन प्रधान केन्द्र थे जिनमें पूजा का विधान भिन्न भिन्न द्रव्यों की सहायता से किया जाता था। इन केन्द्रों के नाम हैं—केरल, काश्मीर तथा गौड (बंगाल या कामाख्या)। इनकी पूजा पद्धति में पर्याप्त भिन्नता थी। मद्य मांस आदि पञ्च मकारों का निवेश तान्त्रिक पूजा में नितान्त आवश्यक है, परन्तु केरल में इनके स्थान पर दुग्ध आदि अनुकल्पों का प्रयोग किया जाता था, काश्मीर में उन द्रव्यों

की केवल भावना की जानी थी, केवल गौड देश की पूजा में इन द्रव्यों का प्रत्यक्ष दान था । इसका विवेचन 'शक्तिसंगमतन्त्र' के कालीखण्ड के नवम पटल (श्लोक २०) में इस प्रकार है—

दुग्धेन केरले पूजा काश्मीरे भावना मता ।

गौडे प्रत्यक्ष दानं स्यात् त्रितय्यं कीर्तितं मया ॥

इन पद्धतियों के भीतर भी अनेक अवान्तर प्रकार प्राचीन काल में विद्यमान थे जिससे इस पूजा के विशेष प्रचार तथा प्रसार का पता चलता है^१ ।

(ग) व्याकरण-दर्शन

पाणिनि का व्याकरण शैव आगम के ही अन्तर्गत माना जाता है । यह साधन मार्ग है जिसका अनुसरण करने से साधक इस प्रपञ्च से विमुक्त होकर परम तत्त्व को प्राप्त कर लेता है । व्याकरण के दार्शनिक रूप का परिचय हमें पतञ्जलि के महाभाष्य से चलता है, परन्तु इसका विकसित रूप भर्तृहरि (षष्ठशतक) के 'वाक्यपदीय' में उपलब्ध होता है । नागेशभट्ट (१८ शतक) ने 'लघुमञ्जूषा' में अन्य मतों का खण्डन कर पाणिनि के सिद्धान्तों का वर्णन कुछ विस्तार के साथ किया है, परन्तु इस विषय में 'वाक्यपदीय' ही सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है ।

भर्तृहरि के अनुसार शब्दाद्वैत का तात्पर्य यह है कि स्फोटरूप शब्द ही एकमात्र सत्यभूत पदार्थ है । यह समस्त जगत् इसी स्फोट का एक विवर्तमात्र है । वाक् चार प्रकार की होती है—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी । इनमें 'पश्यन्ती' वाक् ही परब्रह्मस्वरूपिणी है । अक्षर, शब्द ब्रह्म परावाक् इसी के नामान्तर हैं । वैयाकरणों की दृष्टि में शब्द ब्रह्म और परब्रह्म में विशेष अन्तर नहीं है । पश्यन्ती वाक् चैतन्य-

रूपा है, वह अखण्ड, अभिन्न तथा अद्वयतत्त्व है। इसमें ग्राह्य तथा ग्राहक का परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता। इसमें इसी से देशगत तथा कालगत क्रम का अभास भी उपलब्ध नहीं होता। इसीलिए इसे कहीं पर 'अक्रमा' और कहीं पर 'प्रतिसंहृतक्रमा' शब्दों से अभिहित किया गया है। यही पश्यन्ती शब्दतत्त्व विवक्षा से अर्थात् अर्थ के प्रतिपादन करने की वाञ्छा से मनोविज्ञान का रूप धारण करता है। इसी का नाम मध्यमा वाक् है। जिस समय इन्द्रियो के अभिघात के कारण प्राण में स्थूल वृत्ति का उदय होता है उसी समय वैखरी वाक् का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः पश्यन्ती ही मुख में आकर कण्ठ, तालु आदि स्थानों के विभाग से वैखरी नाम से प्रसिद्ध होती है। बाहरी अर्थ की वासना से प्रेरित होकर, अविद्या के प्रभाव से यही घट, पट आदि अर्थ के रूप में विवृत होकर चक्षु आदि इन्द्रियो की गोचर होती है। इस प्रकार शब्द ब्रह्म ही अनादि अविद्यारूपी वासना के कारणभेद को प्राप्त होकर अर्थ के रूप में परिवर्तित होता है। परन्तु वास्तव में वाचक से पृथक् वाच्य की सत्ता है ही नहीं। जो कुछ विद्यमान है वह केवल वाचक (अर्थात् शब्द) ही है। ज्ञानमात्र ही वाक् स्वरूप है। और यही वाक् परमतत्त्व है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के आरम्भ में इस तत्त्व का प्रतिपादन इस सुप्रसिद्ध कारिका में किया है—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः ॥

इस प्रकार व्याकरणसिद्धान्त के प्रधान आचार्य भर्तृहरि अद्वैतवादी ही माने जाते थे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।

उमामहेश्वर ने अपने 'तत्त्वदीपिका' ग्रन्थ में स्पष्ट ही कहा है^१ —
महाभाष्यं व्याचक्षाणो भगवान् भर्तृहरिरप्यद्वैतमेवाभ्युपगच्छति । यथोक्तं

शब्दकौस्तुभे स्फोटवादान्ते—तदेव पक्षभेदे अवियं वा ब्रह्मैव वा स्फुट्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पन्त्या स्फोट इति स्थितम् । आह च—शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरवियं वोपवर्ण्यते ।

व्याकरण की पदार्थमीमामा न्याय-वैज्ञानिक के समान ही है । द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य आदि की कल्पना दोनों दर्शनो में एक समान ही है । व्याकरण लोग शक्ति को एक विशिष्ट पृथक् पदार्थ स्वीकार करते हैं । इस विषय में वे 'मीमामा' से सहमत हैं^१ । इस प्रकार व्याकरण का दार्शनिक जगत में अपना विशिष्ट स्थान है । ईमीलिए भर्तृहरि ने इसे मत्र विद्याओ में पवित्र तथा अपवर्ग का द्वार बतलाया है--

तद् द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलाना चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानामधिविद्यं प्रकाशने ॥

(घ) वीरशैवसिद्धान्त

जिस प्रकार वेदान्त-सम्प्रदाय में अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत तथा अचिन्त्यभेदाभेद आदि सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार से वीर शैव अथवा शक्तिविशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय भी अपना विशेष स्थान रखता है । यह भी वेदान्त का एक प्रधान सम्प्रदाय है, जिस के माननेवालों की संख्या कुछ कम नहीं है । इस सम्प्रदाय का शिवाद्वैत, द्वैताद्वैत, वीर शैव, विशिष्टाद्वैत तथा शक्तिविशिष्टाद्वैत आदि अनेक नामों से पुकारते हैं, परन्तु इस सम्प्रदाय का प्रधान नाय वीरशैव या शक्तिविशिष्टाद्वैत है । श्री शंकराचार्य का अद्वैत मार्ग त्याग-प्रधान है । वह कर्म से उपरत बनाकर ब्रह्मवाद की स्थापना करता है । परन्तु यह शक्ति-विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त कर्म-प्रधान है । यह निष्काम कर्म का मार्ग

१ विशेषतः द्रष्टव्य P. C. Chakraborti. The Philosophy, of Sanskrit Grammar पृ० ४३-५९ ।

प्रदर्शित करता है, इसीलिए इसे वीरधर्म या वीरमार्ग भी कहते हैं। इस सम्प्रदाय के प्रधान देवता शिव होने के कारण इस मत का वीरशैव नाम पड़ा। शक्तिविशिष्टाद्वैत शब्द का अर्थ है शक्तिविशिष्ट जीव और शक्तिविशिष्ट शिव, इन दोनों का सामरस्य अर्थात् परस्पर एकाकार होना। इस की व्युत्पत्ति आचार्यों ने इस प्रकार बतलाया है 'शक्तिश्च शक्तिश्च शक्तो ताभ्या विशिष्टौ जीवेशौ शक्तिविशिष्टौ, तयोरद्वैतं शक्तिविशिष्टाद्वैतम्।' भाव यह है कि स्थूल चिदचिदात्मक शक्तिविशिष्ट जीव और सूक्ष्म चिदचिदात्मक शिव इन दोनों का अद्वैत (सामरस्य) वा शक्तिविशिष्टाद्वैत कहा जाता है, अतः इस नामकरण का कारण स्पष्ट है।

शक्ति का अर्थ होता है परम शिव ब्रह्म में अपृथक् मिद्ध होकर रहनेवाला विशेषण। 'शक्तिविशिष्टाद्वैत' मत में जो 'शक्ति' है, उस के शक्ति 'सूक्ष्म चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' और 'स्थूल चिदचिद्विशिष्ट शक्ति' नामक ये दो भेद हैं। इनमें से पहली शक्ति से 'स शिव' का ग्रहण होता है तथा दूसरी से 'जीव' का। शक्तिविशिष्टाद्वैत' पद के विग्रह में शक्तिविशिष्ट परमात्मा और जावात्माओं के ऐक्य का ही बोध होता है। परमात्मा से भिन्न शक्ति और शक्ति से भिन्न परमात्मा नहीं है। दृग्गोचरभूत यह चराचरात्मक जगत् परमात्मा का शक्तिरूप ही है। इस शक्ति से समुत्पन्न ही परमात्मा है। अग्नि और तद्गत दाहजनक शक्तियों की भाँति शक्ति और परमात्मा का सर्वथा अभेद है।

धर्मरूप शक्ति धर्मरूप शिव से भिन्न नहीं है। शक्तितत्त्व से लेकर पृथिवीतत्त्वपर्यन्त यह सारा संसार शिवतत्त्व से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार शिव और शक्ति में अभिन्न सम्बन्ध है। शक्ति परशिव ब्रह्म में अत्यन्त गुप्त रीति से रहती है। इस विषय का बोध करते हुए शक्ति के नित्यत्व को उद्घोषित किया गया है। श्रुति ने एक स्थान पर कहा है कि

“यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रमृता पुराणी ॥”

इस प्रकार शक्ति का विकास स्पष्ट रूप से निर्देश किया गया है ।
श्रुति और भी कहता है (‘सच्चिदानन्दलक्षणा’ परिच्छेद २)

“तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्दलक्षणा ।

समस्तलोकनिर्माणममवायस्वरूपिणी ॥

तदिच्छया ममवायिनिर्माणम्”

इस उक्ति से भी ज्ञात होता है कि सच्चिदानन्द परशिव की वह शक्ति समस्त भुवन-निर्माण के लिए उस परशिव में समवेत होकर उनकी इच्छानुसार साक्षात् स्वरूप रहती है अर्थात् परशिवभिन्न वह विमर्शशक्ति विश्वोत्पादन में कारणाभूत हुआ करती है । ‘सिद्धान्त-शिखामणि’ से यह भी पता चलता है कि नाना तरह की विश्वसृष्टि करनेवाला विमर्श नामक पराशक्ति जिस में अविनाभाव सम्बन्ध में प्रतिष्ठित है, वही ब्रह्म और वही ‘विश्वभाजन’ कहलाता है ।

वीरशैवसिद्धान्त में शिव और शक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध (समवाय सम्बन्ध) कहा गया है । जो सम्बन्ध पृथक् नहीं किया जा सकता, उसे समवाय सम्बन्ध कहते हैं, जैसे सूर्य में प्रभा और चन्द्र में चन्द्रिका । इसलिए इस मत में ब्रह्म का शक्ति वैशिष्ट्य नित्य सम्बन्ध माना गया है । परब्रह्मानित्य विमर्शशक्ति ही सूक्ष्म चिदाचिदात्मिका शक्ति कही जाती है । जो परब्रह्मानिष्ट अचिच्छक्ति है, वह सर्वजनारूप है और जो सूक्ष्म अचिच्छक्ति है, वह सर्वकर्तृत्वरूप है । इन दोनों शक्तियों की आश्रयस्वरूपा इच्छाशक्ति ही विमर्शशक्ति रूप कही जाती है । गणकाचार्यजी ने शक्ति को गुणत्रयात्मिका कहा है — “गुणत्रयात्मिका शक्तिर्ब्रह्मानिष्टा सनातनी” (मि० शि०) । यह चराचरात्मक विमर्श-शक्ति सत्व, रज और तमोगुण से युक्त रहती है । तमोगुण शक्ति ही

जड़ माया कहलाती है। सूर्यकिरण जैसे सूर्यकान्तमणि का सम्पर्क होते ही अग्निकण का रूप धारण कर रुई में लगकर अग्नि हो जाता है, वैसे ही शिव की विमर्शशक्ति जड़ मायाशक्ति में प्रतिस्फुरण गति में प्रवेश करके सूत्र, दुःख मोहों को पैदा करनेवाली सत्वरजस्तमोगुणामिका 'प्रकृति' कही जाती है। इस प्रकृति को वीरशैवाचार्यों ने 'चित्त' कहा है। यह चित्तशक्तिविशिष्ट शिवप्रकाशरूप शिवाश ही 'जीव' कहलाता है। मत्शेष में वीरशैव मत के अनुसार शक्ति का यही स्वरूप है।

वीरशैवमत के अनुसार यह जगत् सत्य है। इन लोगों का कहना है कि शक्तिविशिष्ट पराशिव ब्रह्म में समुत्पन्न हुआ चराचरात्मक यह जगत् सकल जगत् मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य है। 'तैत्तिरीय श्रुति' भी इसी विषय का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन करती है। श्रीगणुकाचार्य ने भी अगस्त्य महर्षि को उपदेश देते हुए जगत् की नित्यता का स्पष्ट रूप से प्रतिपादन किया है—

“यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवान्चराचरम् ।

तस्मादेतन्न निश्चेत यथा कुस्मादिकं मदः ॥

शिवतत्वात् समुत्पन्नं जगदस्मान्न मिथ्यते ।

फेनाभिबुद्धव्रटाकारो यथा मिन्धोर्न मिथ्यते” (सि० शि०)

“यथा पुष्पपलाशाद्वृक्षरूपात्त मिथ्यते ।

तथा शिवात्मगच्छात् जगतो नास्ति मिथ्यता ॥”

इस उद्धरण का भावार्थ यह है कि जिस प्रकार पुष्प और फल वृक्ष से निम्न नहीं है, वैसे ही शिवतत्त्व से उत्पन्न यह जगत् भी शिव से भिन्न नहीं है अर्थात् नित्य है। इस प्रकार हमें देखते हैं कि जहाँ शंकर का अद्वैतवाद 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' उपदेश देता है, वहाँ वीरशैवमत ब्रह्म (शिव) के साथ ही साथ जगत् को भी सत्य बतलाता है।

गंमार की उत्पत्ति के सम्बन्ध में वेदान्त के सम्प्रदायों में भिन्न भिन्न प्रचलित हैं, जिन को प्रधानतया दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहला परिणामवाद और दूसरा विवर्तवाद है। जब भगवान् आत्मस्वरूप को जगत् के रूप में निर्माण करता है, उसे विवर्तवाद कहते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार जगत् की सत्ता मिथ्या है, क्योंकि वह ब्रह्म से पृथक् अपनी स्थिति नहीं रखता। परन्तु परिणामवाद इस में पृथक् है। जैसे दूध में विकार पैदा हो जाने से उस विकार के परिणामस्वरूप दधि नामक एक अन्य पदार्थ पैदा हो जाता है, जिसकी सत्ता दूध से पूर्णतः पृथक् और स्वतंत्र होती है, वैसे ही परब्रह्म (शिव) की शक्तियों के द्वारा जिस जगत् की सृष्टि होती है, वह सत्य है तथा परिणामस्वरूप होने के कारण इसे परिणामवाद कहते हैं। वागशैवमतवाले थाने अन्तर के साथ इसी मत को मानते हैं। उनका मत है कि जैसे कलुआ एक समय में अपने पैरों को बाहर निकाल कर पानी में चलता रहता है तथा दूसरे समय में उन पैरों को अपने में छिपा कर चुपचाप बैठा रहता है, वैसे ही परशिव अपने में नित्य सम्बन्ध में रहनेवाले जगत् का एक समय में विकास करता हुआ दूसरे समय में सकोच करता रहता है। कलुआ जब अपने पैरों को बाहर निकालता है, तब उन पैरों की उत्पत्ति कहना, फिर जब भीतर छिपाता है, तब उन पैरों का नाश कहना जैसे अत्यन्त हास्यास्पद है, वैसे ही सत्य और नित्य इस प्रपञ्च की उत्पत्ति और नाश कहना अत्यन्त हास्यास्पद है। अतएव उत्पत्ति और नाश शब्दों की जगह शक्तिविकास और शक्तिसकोच कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसी विषय को श्रीगणुकाचार्यजी ने सक्षिप्त रूप में बड़ी सुन्दर रीति से समझाया है —

“आत्मशक्तिविकासेन शिवो विद्यात्मना स्थितः ।

कुटीभावाद्यथा भाति पटः स्वयं प्रसारणात् ॥”

वीरशैवमत जोय को शिवाशरूप ही मानता है। गणुकाचार्य जी ने

भी कहा है कि “अनाद्यविशामम्बन्धात्तदशो जीवनामकः ।” इस मत में शिव और जीवों का पारमार्थिक भेदाभेद बतलाया गया है अर्थात् एक दृष्टि से भेद है तथा दूसरी दृष्टि से अभेद । जैसे अग्नि और उसमें उत्पन्न कणों में न अत्यन्त भेद ही है और न अभेद ही, वैसे ही शिव से आविर्भूत शिवाशवाचक जीवों में तथा शिव में आत्यन्तिक न तो भेद है और न अभेद ही । इसीलिए इस मत को ‘भेदाभेद’ मत कहते हैं । यदि अश और अशी में अभेद मानेंगे, तो अग्नि को भौति अग्निकणों से भी पाकादि क्रिया की सिद्धि होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता । यदि आत्यन्तिक भेद मानेंगे, तो वह्निभिन्न जलादिकों की तरह वह्निकणों में गीतत्व का प्रसङ्ग आता है । इसी तरह यदि शिव तथा शिवाशरूप जीवों में अभेद मानेंगे, तो शिव की तरह इन जीवों में भी सर्वज्ञत्व, सर्वकर्तृत्व आदि गुण मानने पड़ेंगे । यदि दोनों में भेद कहते हैं, तो शिवगिन्न घटपटादि अचेतन वस्तुओं की तरह जीवों में भी सकल वस्तुजानाभाव-प्रसङ्ग आ जाता है, परन्तु जीवों का घटादिविषयक ज्ञानवैशिष्ट्य प्रसिद्ध है । इसीलिए वीरशैवाचार्यों ने शिव तथा जीव में पारमार्थिक भेदाभेद को स्वीकार किया है, अतएव इस द्वैताद्वैत मत भी कहते हैं ।

सच्चिदानन्दस्वरूप, सत्य, नित्य, आद्यन्तरहित और सर्वशक्ति-समन्वित उस परशिव ब्रह्म में अविनाभाव सम्बन्ध से विद्यमान विमर्श-शक्ति का स्फूर्ण ही तत्त्वरूप में परिणत होता है । ये तत्त्व छत्तीस प्रकार के होते हैं, जिनमें से मुख्य तत्त्वों के नाम शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन और अहंकार आदि हैं । वीरशैवमत के ये छत्तीस तत्त्व सात्व्यों के छत्तीस तत्त्वों के प्रायः समान ही हैं । जब परशिव ज्ञानशक्ति में एकाकार होकर ‘मैं सर्वज्ञ हूँ’ इस प्रकार के अभिमान को प्राप्त कर लेता है, तब उसे ‘शिवतत्त्व’ कहते हैं ; पराशिव जब क्रियाशक्ति में लीन होकर ‘मैं सर्वकर्ता हूँ’ ऐसे अभिमान

से युक्त हो जाता है तब वह 'शक्ति' कहलाता है । इसी प्रकार परशिव में भिन्न भिन्न शक्तियों के योग से भिन्न भिन्न तन्त्रों को उत्पत्ति समझनी चाहिए ।

वीरशैव-सिद्धान्त में परशिव ब्रह्म 'स्थल' नाम से निर्देश किया गया है । लिखा भी है कि

परशिव "स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
तद् ब्रह्म स्थलमित्युक्तं स्थलतन्त्रविशारदः ॥"

अर्थात् यह चराचरात्मक जगत् जिनमें उत्पत्ति और लय का प्राप्त होना है, वही ब्रह्म 'स्थल' नाम से पुकारा जाता है । स्थलरूपी यह परशिव ब्रह्म अपनी लीला से 'अङ्गस्थल' और 'लिङ्गस्थल' दो नाम से पुकारा जाता है । इसा तरह लिङ्ग और अङ्ग के भी तीन तीन भेद होते हैं, जिन का विशेष विवरण यहाँ स्थानाभाव से नहीं दिया जा सकता । यद्यपि इन विभिन्न अंग और लिंगों का सत्ता भिन्न दिग्वार्या देती है, परन्तु अन्त में शुद्धात्मा अंग नामक जीव का लिंग नामक शिव से सामरस्य प्राप्त कर लेना ही 'लिंगांग-सामरस्य' कहलाता है । यही 'शिवजीवैक्य' और यही शक्तिविशिष्टाद्वैत-मत का सार^१ है ।

सारांश^२— इस मत का दार्शनिक दृष्टि 'भेदाभेद विशिष्टाद्वैत' या 'शक्ति विशिष्टाद्वैत' के नाम से पुकारा जाती है । इस शब्द का अर्थ है स्थूल-चिद्चिद् शक्ति-विशिष्ट जीव और सूक्ष्म-चिद्चिद् शक्ति-विशिष्ट शिव का अद्वैत-एकाकारता या सामरस्य । परम तत्त्व एकमात्र परम शिव है जो पूर्णाहन्तारूप तथा पूर्ण स्वातन्त्र्यरूप है । उनकी परि-

१ इस मत के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—काशीनाथ शास्त्री कृत 'शक्ति-विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त', ।

२ मत का विशेष परिचय सिद्धान्त वर्ग ४. अंक ४८ पृ० ३७४

भाषिकी सज्ञा 'स्थल' है^१ । जब इन्हें उपास्य और उपासकरूप से क्रीड़ा करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब परमशिव में शान्त समुद्र के वक्ष-स्थल पर विपुलाकार तरंगों के उठने से पहले क्षुद्र कम्पन के समान लालार्थ कम्पन उत्पन्न होता है जिससे सामरस्य का विभेद होकर 'स्थल' के द्विविधरूप हो जाते हैं:—चैतन्यात्मकरूप का नाम शिव और तदितर अश का नाम जीव । शक्ति परम-शिव में अपृथक्स्मिद्ध होकर रहने वाला विशेषण है । न तो शिव शक्ति से भिन्न हैं और न शक्ति शिव से पृथक् है । दोनों की नितान्त एकता बनी रहती है । शक्ति दो प्रकार की होती है—मूढम तथा स्थूल । शक्ति के क्षोभमात्र से स्थल (परम शिव) के दो रूप उत्पन्न होते हैं—उपास्यरूप जिसका नाम है 'लिंग' (शिव) तथा उपासक रूप जिसका नाम है 'अग' (जीव) । परमशिव की द्विरूपता के समान शक्ति में भी दो रूप उत्पन्न होते हैं । 'लिंग' की शक्ति का नाम 'कला' है जो प्रवृत्ति उत्पन्न करती है तथा अग की शक्ति 'भक्ति' है जो निवृत्ति को पैदा करती है । (लिंगस्थलाश्रया शक्तिः कलारूपा प्रकीर्तिता) । कला शक्ति से जगत् परमशिव से आविर्भूत होता है^२ तथा भक्ति के द्वारा यह जगत् परमशिव के साथ एकीभूत हो जाता है । लिंग (शिव) तीन प्रकार का होता है—भावलिंग, प्राणलिंग तथा इष्ट लिंग । इसी प्रकार अग (जीव) भी तीन प्रकार का है—योगाग (कारणरूप प्राज्ञ), भोगाग (मूढमरूप तैजस), त्यागाग (स्थूल शरीररूप-विश्व) । जीव की अपनी स्वाभाविक भक्तिशक्ति से

१ आलयः सर्वभूतानां लोकानां लोकमम्पदाम् ।

यद् भवेत् परमं ब्रह्म स्थलं तत् प्रादुरक्षरम् ॥

२ तदाया परमा शक्तिः भन्निदानन्दलक्षणा ।

ममस्त-लोकनिर्माण-समवायस्वरूपिणी ।

तदिच्छयाऽभवत् साक्षात् तत् स्वरूपानुकारिणी ॥

परमशिव के साथ जो एकभावापत्ति है वही मुक्ति कहलाती है। (तस्माद् लिगागसंयोगात् पग मुक्तिर्न विद्यते) यह संसार तथा जीव शिवरूप ही है। अतः नितान्त सत्य है। शक्ति से इस जगत् का परमशिव से 'परिणाम' होता है। अंग के मलापनयन के लिए आवश्यक साधन 'भक्ति' ही है। परमशिव के अनुग्रह से अंग भक्ति प्राप्त कर सकता है। गुरु की कृपारूपिणी दीक्षा की भक्ति में बड़ी आवश्यकता रहती है। वेधात्मिका, मन्त्रात्मिका तथा क्रियात्मिका रूप से दीक्षा तीन प्रकार की होती है। दीक्षा प्राप्तकर लेने पर ही जीव शिवत्व को प्राप्त करता है। इस सम्प्रदाय के वीर शैव नाम की व्याख्या इस प्रकार की गई है:—

वीशब्देनोच्यते विद्या शिवजीवैक्यव्याधिका ।

तस्या रमन्ते ये शैवा वीरशैवास्तु ते स्मृताः ॥

(घ) शैव 'सिद्धान्त' मत

नोदयति यन्न नश्यति निर्वाति न निवृत्ति प्रयच्छति च ।

ज्ञानक्रियास्वभावं तन्मजः शाम्भवं जयति ॥

—मन्त्रप्रकाशिका ।

शैव सिद्धान्त की दार्शनिक दृष्टि भेद-प्रधान है। इसके अनुसार शिव, शक्ति और विन्दु—ये तीन रत्न माने जाते हैं। ये ही समस्त रत्नत्रय सत्त्वों के अधिष्ठाता और उपादानरूप से प्रकाशमान होते हैं। शुद्धतत्त्वमय शुद्ध जगत् के कर्ता शिव, कर्ण शक्ति तथा उपादान विन्दु है। पाञ्चरात्र आगम में 'विशुद्ध-सत्त्व' शब्द से जो समझा जाता है वही 'विन्दु' है। इसीका नाम 'महा-माया' है। यही विन्दु शब्द-ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्याशक्ति तथा व्योम= इन विचित्र भुवन तथा भोग्यरूप में परिणत होकर शुद्ध जगत् की सृष्टि करता है। शुब्ध होने पर इस विन्दु से एक ओर शुद्ध देह, इन्द्रिय,

भोग और भुवन की उत्पत्ति है (शुद्ध अध्वा), दूसरी ओर शब्द का भी उदय होता है^१। शब्द सूक्ष्मनाद, अधर विन्दु और वर्ण भेद से तीन प्रकार का होता है। इनका कारणभूत विन्दु जड़ होने पर भी शुद्ध है। शिव के साथ इस महामाया का सम्बन्ध विचारणीय विषय है। शिव की दो शक्तियाँ होता हैं—समवायिनी और परिग्रहरूपा। समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, निर्विकारा और परिणामिनी है जिसे शक्तितन्त्र कहते हैं। यह परमवि में नित्य समवेतभाव में रहती है। शिव-शक्ति का सम्बन्ध तादात्म्य सम्बन्ध है। शक्ति शिव की स्वरूप शक्ति है। परिग्रहशक्ति अचेतन तथा परिणामशालिनी है। यही विन्दु कहलाती है जिसके शुद्ध तथा अशुद्ध भेद से दो रूप होते हैं। शुद्ध विन्दु का नाम महामाया और अशुद्ध का नाम माया। दोनों में अन्तर यही है कि महामाया सात्त्विक जगत् (शुद्ध अध्वा) का उपादान कारण है और माया प्राकृत जगत् (अशुद्ध अध्वा) का उपादान है। जड़ तथा परिणामशाली विन्दु का चिदात्मक वि में से समवाय सम्बन्ध स्वीकार नहीं किया जा सकता, अन्यथा शिव को भी अचेतन मानने का प्रसंग उपस्थित हो जायगा। श्रीकण्ठाचार्य ने स्पष्टतः यह विप्रतिपत्ति उपस्थित की है:—

म हि तादात्म्यसम्बन्धी जडेन जडिमावहः ।

शिवस्यानुपमाखण्ड-चिद्घनैकस्वरूपिणः ॥

जब परमेश्वर अपनी समवायिनी शक्ति से विन्दु का आघात करते हैं, तब विन्दु में क्षोभ उत्पन्न होता है और शुद्ध जगत् की सृष्टि होती है। माया के क्षोभ होने से अशुद्ध, प्राकृत जगत् (मायाध्वा) की उत्पत्ति होती है। शिवकी ही परिभाषिकी मंशा 'पति' है।

(क) पति—'शैवसिद्धान्त' के अनुसार तीन पदार्थ होते हैं:—पति

१ जायतेऽध्वा यतः शुद्धो वर्णने यत्र लीयते ।

म विन्दुः परमादात्मः नादविन्दुर्यकारणम् ॥—रत्नत्रय का० २२ ।

(शिव), पशु (जीव), पाश (मल कर्म आदि अर्थपचक) पति से अभिप्राय परमेश्वर परमशिव से हैं। परमेश्वर्य, स्वातन्त्र्य तथा सर्वज्ञत्व पति के असाधारण गुण हैं। मुक्त जावो तथा तिरोंनादों में भी शिवत्व का निवास रहता है तथापि ये परमेश्वर के परतन्त्र रहते हैं। पशुओं की अपेक्षा उनमें अधिक स्वतन्त्रता रहती अवश्य है, परन्तु परमेश्वर के प्रसाद से ही वे मुक्ति लाभ करने में समर्थ होते हैं। अतः वे शिव के परतन्त्र हैं। शिव नित्य मुक्त है अर्थात् स्वभाव-मिद्धि नित्य निर्मल निरतिशय अर्थज्ञान-क्रियाशक्ति समन्वित हैं। शिव पञ्चमन्त्रतनु हैं। ईशानमन्त्र उनका मस्तक है, तत्पुरुष उनका मुख है, घोर उनका हृदय है, वामदेव उनका मुख अंग है, सद्योजात उनका पाद है। इसका प्रकार पशुओं के पाशक्षेपणके लिए तथा ध्यान योग के वास्ते शिव शरीर धारण करने है। ईशानादि शक्ति निर्मित यह शरीर 'शक्त' कहलाता है (मलान्धसम्भवात् शाक्त वपुर्नैतादृश प्रभोः—श्री मृगेन्द्रागम)। सृष्टि, स्थिति, संहार, तिरोंभाव तथा अनुग्रहकरण—इन कृत्यपचक के कर्ता साक्षात् शिव है^१। शुद्धाध्व-विषयक इन पंचकृत्यों के सम्पादक परमशिव हैं, परन्तु कृच्छ्राध्व (या अशुद्धाध्व) विषयक इन कृत्यों का विधान अनन्तादि विद्येश्वरों के द्वारा होता है। शिव की दो अवस्थायें होती हैं लयावस्था और भोगावस्था। जिस समय शक्ति समस्त व्यापारों को समाप्त कर स्वरूपमात्र में अवस्थान करती है, तब शिव शक्तिमान् कहा जाता है यही लयावस्था है। जिस समय शक्ति उन्मेष को प्राप्त कर बिन्दु को कार्योत्पादन के लिए अभिमुख करती है और कार्योत्पादन कर शिव के ज्ञान और क्रिया में समृद्धि करती है, वह शिव की भोगावस्था है।

(ख) पशु—अणु, परिच्छिन्नरूप तथा सीमित शक्ति से समन्वित

क्षेत्रज्ञ जीव पशुपद वाच्य है। वह न तो चार्वाक के समान देहरूप है, न नैयायिकों के समान प्रकाश्य है, न जैनियों के समान अव्यापक है, अपि तु व्यापक, प्रकाशरूप अथच अनेक है। वह साख्य पुरुष के समान अकर्ता नहीं है, क्योंकि पाशो के दूरीकरण के अनन्तर शिवत्व प्राप्ति होने पर उसमें निरतिशय ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्ति का उदय होता है। अतः जीव 'सिद्धान्त' मत में कर्ता माना जाता है। पाशो के तारतम्य के कारण पशु तीन प्रकार का होता है—(१) विज्ञानाकल, (२) प्रलयाकल, (३) सकल। मल तीन प्रकार के होते हैं—आणव मल, कर्मण मल तथा मार्याय मल। जिन पशुओं में विज्ञान, योग तथा मन्यास से या भोगमात्र से कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा जिनमें कर्मक्षय के कारण शरीरबन्ध का उदय नहीं होता, उन्हें 'विज्ञानाकल' कहते हैं। इनमें केवल मल (आणव) अवशिष्ट रहता है। दूसरे प्रकार में प्रलय दशा में शरीरपात होने से मार्याय मल तो नहीं रहता, परन्तु आणव मल तथा कर्मण की सत्ता बनी रहती है, परन्तु 'सकल' पशुओं में पूर्वोक्त दोनों मल विद्यमान रहते हैं।

विज्ञानाकल पशु भी समाप्त-कलुष तथा असमाप्त-कलुष भेद से दो प्रकार होता है। जब इन जीवों का मल पश्य हो जाता है, वह परमशिव स्वीय अनुग्रह से उन्हें 'विद्येश्वर' पद प्रदान करते हैं। तन्त्र-शास्त्र में विद्येश्वरों की संख्या आठ मानी जाती है—अनन्त, सूक्ष्म, शिवात्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिमूर्ति, श्रीकण्ठ तथा शिखण्डी। ये भी पञ्चकृत्य के अधिकारी हैं, शृङ्गाध्वके अधिष्ठाता तथा ईश्वर-तत्त्व निवासी हैं। अपक्व मल वाले विज्ञानाकल जीवों का शिव दया से 'मन्त्र' का स्वरूप प्रदान करते हैं जो मल्य में मातकोटि है और विद्यातत्त्व के निवासी हैं।

प्रलयाकल जीव भी पक्वमल तथा अपक्वमल भेद दो प्रकार के होते हैं। ये जीव प्रलयकल में माया के गर्भ में पड़े रहते हैं। सृष्टि के आरम्भकाल में मायीय तथा कर्मणमलो के नितान्त पक्व होनेवाले जीवों

को तो शिव मुक्ति प्रदान करते हैं परन्तु अपक्वमल वाले जीव पुर्यष्टक में युक्त होकर इस समार की नाना योनियों में कर्मानुसार भ्रमण किया करते हैं। 'पुर्यष्टक' प्रतिपुरुष में नियत सूक्ष्म देह को कहते हैं जो पृथिवी में आगम्य कर कला पर्यन्त ३० तत्त्वों का होता है और सृष्टि से लेकर कल्प या मोक्ष तक बना रहता है। 'मकल' पशुओं के भी ये ही दो भेद होते हैं। पक्वमल वाले इन पशुओं को भगवान् शंकर अपने 'शक्तिशाल' में मन्त्रेश्वर पद प्रदान करते हैं जो सख्या में एक सौ अठारह होते हैं। अपक्वमल वाले पशु अपने कर्मानुसार इस समार में भ्रमण करते हुए नाना प्रकार के विषयों का उपभोग किया करते हैं।

(ग) पाश—पाश का अर्थ है बन्धन जिसके द्वारा स्वयं शिवरूप होनेपर भी जीवों को पशुत्वप्राप्ति होती है। ये चार प्रकार के हैं:—(१) मल, (२) कर्म, (३) माया, (४) रोधशक्ति। जिस बन्धन के कारण जीव की नैसर्गिक ज्ञान-क्रियाशक्ति का निरोध हो जाने से वह परिच्छिन्न बन जाता है उसका नाम है—मल (या आणव मल=अणुता या परिच्छिन्नता) मल की उपमा तण्डुल के तुप (छिलका) और ताम्रस्थित कल्लिमा से दी जाती है। तुप धान के अकुरित होने का कारण होता है, उसी प्रकार यह मल देहादि की उत्पत्ति का हेतु है। जिस प्रकार ताम्र की कल्लिमा रमशक्ति से निवृत्त होती है, उसी प्रकार यह मल शिवशक्ति से निवृत्त होता है (तत्त्वप्रकाशिका का० १८):—

एको ह्यनेकशक्तिर्हृक्क्रिययोऽल्लादको मलः पुंसः ।

तुपतण्डुल वा ॥

फलार्थी जीवों से समाश्रयमान धर्माधर्मरूप वीजाकुर न्याय में अनादि कार्य-कलाप को 'कर्म' कहते हैं। जिसमें प्रलयकाल में जीव लीन हो जाते हैं तथा सृष्टिकाल में जिसमें जीव उत्पन्न होते हैं उसकी संज्ञा 'माया'। माया शब्द मा और या दो शब्दों से बना है—'मा' का

अर्थ है प्रलयकाल में जगत् का अधिष्ठान तथा 'या' का अर्थ है सृष्टि में व्यवहृत होनेवाला पदार्थ । अतः जगत् को मूल प्रकृति का नाम माया है । माया तन्त्र में वस्तुरूपा है, वेदान्त के समान अनिर्वचनीयरूपा नहीं है । माया एक और नित्य है । जिस प्रकार बिन्दु (महामाया) शुद्ध सृष्टि (शुद्धाध्वा) का उपादान कारण है, उसी प्रकार यह माया अशुद्ध सृष्टि का मूल कारण है । यही दोनों में अन्तर है । (माया च वस्तुरूपा मूला विश्वस्य नित्या सा—तत्त्वप्रकाशिका का० ९) चतुर्थ पाश का नाम रोध-शक्ति है । परमेश्वर की यह वह शक्ति है जिससे वे जीवों के स्वरूप का तिरोधान करते हैं । यह पाशों में अधिष्ठित रहती है । इसलिए इसमें पाशत्व औपचारिक है ।

मुक्ति तथा मुक्ति-साधन की कल्पना तान्त्रिक मत में अन्य मतों से विलक्षण है । यह तो निश्चित है कि अनादि काल से प्रवृत्त मलावरणों से संयुक्त होने के कारण जीव नाना योनियों में भ्रमण करता हुआ अनन्त क्लेशों का भाजन है । इस मल के आवरण के दूर करने का क्या उपाय है ? तन्त्रों का यह परिनिष्ठित मत है यह न तो ज्ञान के द्वारा, न कर्म के द्वारा, अभिनु 'क्रिया' के द्वारा ही सर्वदा के लिए हटाया जा सकता है । मलका पाक धीरे-धीरे होता है और जबतक मल पूर्ण पाक नहीं हो जाता, तबतक उसका अपसारण नहीं हो सकता । मल एक सत्तात्मक द्रव्य है । जिस प्रकार नेत्र में जाली पड़ जाने पर उसे शस्त्र-क्रिया के द्वारा आपरेण कर हटाया जाता है, ठीक वही दशा मल का भी है । परिपक्वता दोनों में अपेक्षित है । जीव में स्वतः कोई भी सामर्थ्य नहीं है जिससे यह मल हटाया जाय । ज्ञान, तप, आदि तीव्रतर उपाय भी असमर्थ हैं, क्योंकि मूर्तीधन भी असिधारा अपने को काट नहीं सकती (असिधारा मूर्तीधनापि न स्वात्मच्छेदिका यतः—मोक्षकारिका का० ६७) । मलापयन का एक ही साधन है—परम शिव की अनुग्रह शक्ति । इसे तान्त्रिक

भाषा में 'शक्तिपात' कहते हैं। भगवान् के अनुग्रह से ही जीव भव-बन्धन से निर्मुक्त होकर शिवत्व लाभ करता है। इसी अनुग्रह शक्ति का नाम 'दीक्षा' है। 'दीक्षा' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ आचार्य अभिनवगुप्त ने 'तन्त्रालोक' (१ जि० पृ० ८३) में इस प्रकार किया है:—

दीयते ज्ञानमद्भावाः क्षीयते पशुबन्धना ।

दान-धरण-भक्त्या दीक्षा तेनेह कर्तिता ॥

आचार्यमूर्ति भगवान् ही इस दीक्षा के द्वारा शिष्य का उद्धार करने और उसे भवबन्धन से उन्मुक्त कर स्वरूपापत्ति करा देते हैं^१। 'दीक्षा' का तत्त्व तथा प्रकार^२ वगैरे विस्तार के साथ आगम ग्रन्थों में दिया गया है। दीक्षातत्त्व तत्त्व का एक नितान्त निगूढ़ रहस्य है। त्रिक दर्शन में भी इसीलिए 'प्रत्यभिज्ञा' के लिए दीक्षा को योग्यता बना रहती है (तन्त्रालोक जि० ८, १०।१६३) :—

स्यातन्व्यमहिमैवाय देवस्य यदसौ पुनः ।

स्य रूपं परिगृह्य सत्त्वं तद्विदुः ॥

तान्त्रिकी मुक्ति की कल्पना के प्रसङ्ग में याद रखना चाहिए कि तन्त्रों के अनुसार ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति अभिन्न रूप हैं। क्रिया के साथ ही ज्ञान चैतन्य का उदय करता है। अतः जीव में कैवल्य-ज्ञान के उदय होने से मुक्ति नहीं होती, जब तक क्रियाशक्ति का उदय न हो जाय। अभिन्न रूप होने से विगूढ़ ज्ञान के होने ही क्रियाशक्ति स्वतः आविर्भूत हो जाती। तान्त्रिकों की दृष्टि में कैवल्यज्ञान मोक्षप्रद नहीं है क्योंकि न तो इसमें भूक्त पुरुष में ऐश्वर्य का संचार होता है, न

१ आचार्यमूर्तिभो देवो मा जय येव मुञ्चति ।

स्वयं योऽतान् पुनो भवसायन्ताभयया ॥—मोक्षकारिका का० ९६

२ द्रष्टव्य ५० गोपानाय कविनाम—दीक्षाग्रहस्य, कथाभाग १५, सं० ४ ।

क्रियाशक्ति का । बद्धजीव दीक्षा के द्वारा शिवत्व लाभ कर लेता है अर्थात् उसमें सर्वविषया दृक्शक्ति तथा क्रियाशक्ति की नैसर्गिकी उत्पत्ति हो जाती है । आचार्य अभिनवगुप्त का कथन यथार्थ है (परमार्थ-सार का० ६०) :—

मोक्षस्य नैव किञ्चित् धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।

अज्ञानग्रन्थिमिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः ॥

देहादिकों में आत्माभिमान-लक्षण मोह ही पूर्ण स्वरूप में सकोच उत्पन्न कर देने से 'ग्रन्थि' रूप है । इस ग्रन्थि के विदारण करने से स्वकीय स्वाभाविक शक्तियों का आवर्त्ताव होना ही मोक्ष है । अज्ञान-बन्धन के प्रक्षीण होने पर यदि जीव शरीर धारण भी करता है तथापि वह (जीवन्) मुक्त ही है (प्रक्षीणपुण्यपापो विग्रहयोगेऽयमौ मुक्तः— परमार्थसार का० ६१) ।

(ङ) प्रत्यभिज्ञा (त्रिक) दर्शन

विश्ववात्मिका तत्तर्त्तीर्णा हृदय परमेशितुः ।

पारादिशक्तिरूपेण स्फुरन्ती सविद नुमः ॥

—श्वेमराज ।

त्रिक दर्शन तथा शक्ति दर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि अद्वैतवाद की है । दोनों के मत में एक ही अद्वय परमेश्वर परम तत्त्व है जो शिव तथा शक्ति का, कामेश्वर और कामेश्वरी का, परमात्मा सामग्रम्य रूप है । यह आत्मा चैतन्यरूप है (चैतन्य मात्मा—शिवसूत्र १ । १) तथा स्वयं निर्विकाररूप में जगत् के समस्तपदार्थों में अनुस्यूत है । इसका नाम चैतन्य, परा संवित्, अनुत्तर, परमेश्वर तथा परम शिव है । परमेश्वर के दो भाव हैं—'विश्ववात्मक' तथा 'विश्वोत्तीर्ण' । विश्ववात्मकरूप से परमशिव प्रत्येक वस्तु में व्यापक

रहता है, परन्तु व्यापक होते भी वह अपने विश्वोत्तीर्ण रूप से सब पदार्थों को अतिक्रमण करता है। यह नानाविचित्रता-मवलित जगत् परमशिव से नितान्त अभिन्न तथा उसका स्फुरणमात्र है (श्रीमत्-परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण-विश्वात्मक-परमानन्दमय-प्रकाशकवनस्य अखिलभेदेनैव स्फुरति, न तु वस्तुतः अन्यत् किञ्चित् ग्राह्यं ग्राहक वा । अपि तु श्री परमशिवमद्वारक एवेत्य नानार्थेविध्यमद्वयैः स्फुरति-प्रत्य-भिज्ञाहृदय-सूत्र ३) । परम शिव ही इस विश्व का उन्मीलन स्वयं करते हैं । न ता किसी उपादान की आवश्यकता है न किसी आधार की । परमस्वातन्त्र्य-शक्तिसम्पन्न परमेश्वर स्वच्छया स्वभित्ति में, अपने ही आधार में, जगत् का उन्मीलन करते हैं (स्वच्छया स्वभित्ति विश्व-हृदय, सूत्र २) । जगत् पहले भी विद्यमान था । केवल उसका प्रकीर्णकरण सृष्टिकाल में शिव-शक्ति से सम्पन्न होता है । आचार्य वसुगुप्त का यह कथन नितान्त यथार्थ है:-

निरुपादानसमागमभिन्नावेव तन्वते ।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने ॥

परमेश्वर के अनन्य शक्ति सम्पन्न होने पर भी उसकी पाँच शक्तियों विशेष रूप से विख्यात हैं-चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया । चित्शक्ति प्रकाशरूपा है जिसके द्वारा परमशिव प्रकाश्य वस्तु के अभाव में भी स्वतः प्रकाशित होते हैं । वह शक्ति जिसके द्वारा परमेश्वर निरति-शय आनन्द का, बाह्य वस्तु की बिना अशेषा क्रिये, स्वयं अनुभव करता है स्वातन्त्र्यरूपा 'आनन्दशक्ति' है (आनन्दः स्वातन्त्र्यं, स्वात्मविश्रान्ति स्वभावाद्ग्राह्यप्राधान्यात्—तन्त्रसार पृ० ६) । अपने को स्वतन्त्र बोध करना तथा अविधात-इच्छा-सम्पन्न समझना 'इच्छा शक्ति' से है । ज्ञान शक्ति आमर्ष रूपा है । आमर्ष का अर्थ है वेद्य पदार्थ का साधारण ज्ञान (आमर्षैर्पत्न्यावेदोन्मुखता) । सर्व आकार धारण करने की

योग्यता का नाम क्रियाशक्ति है (सर्वाकारयोगित्वं क्रियाशक्तिः—तन्त्र-सार, १ आह्निक) । इन्हीं पञ्चशक्तियों के द्वारा परमशिव अपने को, स्वभिनि पर, जगत् रूप से परिणत करते हैं ।

त्रिकदर्शन पूर्णरूपेण अद्वैतवादी है । इसका नाम 'ईश्वराद्वयवाद' है । एक परमेश्वर ही केवलमात्र तत्त्व हैं । अज्ञान मा यया जगत् आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक अर्थात् स्वेच्छापरिगृहीत रूप है ।

ईश्वराद्वयवाद नट के समान परमेश्वर अपनी इच्छामात्र में नाना-प्रकार की मूमिका ग्रहण करते हैं । वह स्वतन्त्र है, अपने रूप को ढकने में समर्थ है और प्रकट करने में समर्थ है । अज्ञान उनकी स्वातन्त्र्यशक्ति का विजृम्भणमात्र है । अद्वैतवादी होने पर भी ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद में अन्तर है । जहाँ ब्रह्मवाद में विश्वोत्पीर्ण, सत्य, निर्मल निर्विकार ब्रह्म में कर्तृत्व नहीं है, यहाँ ईश्वराद्वयवाद में परमेश्वर में स्वातन्त्र्यशक्ति सम्पन्नता अतएव कर्तृता है । आत्मा सृष्टि स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलय-इन पञ्चकृत्यों का सम्पादक है, परन्तु शंकर मत में ब्रह्म इस प्रकार का स्वभाव वाला नहीं है । इस प्रकार दोनों दर्शनों में पर्याप्त सिद्धांतगत पार्थक्य है ।

परमेश्वर तथा जगत् का परस्पर सम्बन्ध किस प्रकारका है ? अभिन्नवगुप्त का कहना है—दर्पणविम्बवत् । जिस प्रकार निर्मल दर्पण में ग्राम नगर वृक्षादि पदार्थ प्रतिविम्बित होने पर उससे अभिन्न होने पर भी दर्पण से तथा परस्पर भी भिन्न प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार पूर्ण सविद्रूप परमेश्वरमें प्रतिविम्बित यह विश्व अभिन्न होने पर भी घटपटादि रूप से भिन्न प्रतीत होता है (परमार्थकार का० १९।१३) । एक बात ध्यान देने योग्य है । लोक में प्रतिविम्ब की सत्ता विम्ब पर अवलम्बित है, परन्तु त्रिकदर्शन में परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति के कारण बिना विम्ब के ही जगद्रूप का प्रतिविम्ब स्वतः उत्पन्न होता है । अतः द्वैतभावना कल्पित है ; अद्वैतभावना वास्तविक है । इस आभास या प्रतिविम्ब के

शिवः शक्त्या युक्तो यदि भवति शक्तः प्रमवितुं,
न चेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ॥

पुण्यानन्द ने कामकलाविलास में आद्या शक्ति को 'शिवरूपविमर्श-निर्मलादर्श' कह कर उसके स्वरूप का सुन्दर परिचय दिया है। जिस प्रकार कोई राजा निर्मल दर्पण में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर अपने सुन्दर मुख का ज्ञान प्राप्त करता है, इसी प्रकार शिव भी स्वाधीनभूता, स्वात्मशक्ति को देखकर अपने परिपूर्ण अहन्ता और प्रकाशमय स्वरूप को जानता है। अतः प्रकाश विमर्शात्मक है अथ च विमर्श प्रकाशात्मक है। एक की सत्ता दूसरे पर अवलम्बित रहती है। अतः शिव न तो शक्ति से विरहित रह सकते हैं और न शक्ति शिव से। शिवशक्ति के सामञ्जस्य के विषय में आगम का स्पष्ट कथन है^१ :—

न शिवेन विना देवी न देव्या च विना शिवः ।
नानयोरन्तरं किञ्चित् चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥

विमर्श के ही दूसरे नाम स्फुरत्ता, स्पन्द, महासत्ता, परा वाक् आदि हैं।

इसी शिवशक्ति के आन्तर निमेष को (३) सदाशिव तथा ब्राह्म उन्मेष का ईश्वर कहते हैं (ईश्वरो बहिरुन्मेषो निमेषोऽन्तः सदाशिवः - ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३) सदाशिव दशा में अचलरूप परमेश्वर में किञ्चित् चलनात्मकरूप स्फुरण होता है। प्रमा का अहमंश इदमंश को आच्छादित कर विद्यमान रहता है। अतः जगत् का अव्यक्तरूप से भान होता है (अहन्ताच्छादितअस्फुटेदन्तामयं यादृशं परावररूपं विश्वं ग्राह्यम्—प्रत्यभिज्ञाहृदय पृ० ७) 'सत्ता' का आरम्भ यहीं से होता है।

१ म शिवः शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी

शिवः शक्तस्तथा भगवान् इच्छया कर्तुमीहते

शक्तिशक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न वण्यते । सोमानन्द—शिवदृष्टि ३।२।३।

इसीसे इसका नाम 'सादाख्य' तत्त्व है (सदाख्यायां भवं सादाख्यं यतः प्रभृति सदिति प्रख्या—ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिणी ३।१।२) ।

विकासोन्मुख ज्ञान की तीसरी अवस्था को (४) **ईश्वरतत्त्व** कहते हैं जो सदाशिव का बाह्यरूप है । यहाँ 'अहं' 'इदं' (जगत्) का स्पष्टरूप से किन्तु एक आत्मा के अंशरूप में, आत्मा से अभिन्नरूप में, अनुभव करता है । पिछले विमर्श में 'अहं' की प्रधानता थी; इस विमर्श में 'इदं' की प्रधानता रहती है । पञ्चमतत्त्व को **बिद्या**, सद्विद्या या शुद्ध विद्या कहते हैं । ज्ञान की इस दशा में 'अहं' तथा 'इदं' का पूर्ण समानाधिकरण्य रहता है अर्थात् दोनों की समानरूपेण स्थिति रहती है (समानाधिकरण्यं च सद्विद्याऽहमिदंधियोः—ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ३।१।३) । इस दशा में शिव समस्त जगत् को अपना ही विभव समझने लगता है (सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः—ईश्व० प्रत्य० ४।१।१२) । सारांश यह है कि परा संवित् का शिव-शक्त्यात्मकरूप सर्गात्मक होता है । शिव-तत्त्व में 'अहं' विमर्श होता है, सदाशिवतत्त्व में 'अहमिदं' विमर्श और ईश्वरतत्त्व में 'इदमिदं' विमर्श होता है । इनमें से प्रत्येक स्थल में प्रथम-पद की प्रधानता रहती है । 'सद्विद्या' में 'अहं' और 'इदं' दोनों की समभावेन प्रधानता रहती है ।

अब (६) **माया** शक्ति का कार्य आरम्भ होता है जो 'अहं' और 'इदं' को पृथक् पृथक् कर देती है (कलादीनां तत्त्वानामविवेको माया—शिवसूत्र ३।३) । अहमंश हो जाता है पुरुष और इदमंश प्रकृति । परन्तु शिव को पुरुषरूप में आने के लिए माया पाँच उपाधियों की—कला, विद्या, राग, काल, नियति—सृष्टि करती है जिनका पारिभाषिक नाम '**कञ्चुक**' (शक्ति को परिच्छिन्न बनानेवाले आवरण) है । जीव के सर्वकर्तृत्वशक्ति को संकुचित करनेवाला तत्त्व '**कला**' है जिसके कारण जीव किञ्चित्-कर्तृत्व-शक्तियुक्त बन जाता है । 'सर्वज्ञता' के संकोच करने वाला तत्त्व '**विद्या**' कहलाता है जिसके कारण जीव किञ्चिज्ज्ञ होता है ।

नित्यतृप्तित्व गुण का संकोच का कर्ता 'राग तत्त्व' कहलाता है जिससे जीव विषय से अनुराग करने लगता है। नित्यत्व को सकुचित करनेवाला तत्त्व 'काल' है जिसके कारण देहादिको से सम्बद्ध होकर जीव अपने को अनित्य मानने लगता है। जीव की स्वातन्त्र्यशक्ति को तिरस्कार करने वाला तत्त्व 'नियति' (नियमन हेतु) कहलाता है जिसके कारण वह नियमित कार्यों के करने में प्रवृत्त होता है। इन्हीं पाँचों कला, विद्या, राग, काल तथा नियति को जीवस्वरूप के आवरण करने के कारण 'कञ्चुक' कहते हैं। इस मायाजनित कञ्चुको के द्वारा आवृतशक्ति जीव 'पुरुष' पदवाच्य है। त्रिगुणमय महत्-तत्त्व से लेकर पृथ्वीपर्यन्त तत्त्वों का मूलकारण 'प्रकृति' है। प्रकृति से महादादि पृथ्वीपर्यन्त तत्त्व सांख्यरीति से उत्पन्न होते हैं। षड्विंशत् तत्त्वों का यही सामान्य परिचय है।

त्रिकदर्शन का साधनमार्ग अपनी विशिष्टता धारण किये हुए है। यह न तो शुष्क ज्ञान का ही पक्षपाती है, और न शुष्कभक्ति का। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामञ्जस्य है। शंकराचार्य के अद्वैतवाद को चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। भक्ति द्वैतवाद पर प्रतिष्ठित है, परन्तु यह साधनरूपा अज्ञानमूलक भक्ति है। अद्वैत ज्ञान के उदय होने पर जिस साध्यरूपा भक्ति का आविर्भाव होता है वह वस्तुतः नित्य है। साधारणतया जिसे मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः इस नित्यसिद्ध ज्ञान-भक्ति का ही आवरणभंगजनित समुन्मेषमात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को 'चिदानन्दलाभ' कहते हैं। इस प्रसङ्ग में 'प्रत्यभिज्ञा' की कल्पना को भलीभाँति समझ लेना चाहिए जिसके कारण यह दर्शन 'प्रत्यभिज्ञादर्शन' के नाम से प्रसिद्ध है। 'प्रत्यभिज्ञा' शब्द का अर्थ है ज्ञात वस्तु को फिर से जानना या पहचानना। प्रत्यभिज्ञा की उपयोगिता दिखलाते समय उत्पलाचार्य ने कामिनी का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिखलाया है। जिस प्रकार कोई सुन्दरी मदनलेख या दूर्तीप्रेषण आदि अनेक उपायों के

द्वारा आये हुए और समीप में खड़े होने वाले मनोवाञ्छित प्रियतम को पाकर भी आनन्दित नहीं होती है, परन्तु दूरी के वचन से या उसके लक्षणों के अभिज्ञान से प्रियतम को पहचान कर पूर्णता प्राप्त करती है और अनिर्वचनीय आनन्द से उल्लसित हो उठती है, उसी प्रकार आणव, शाक्त, शाम्भवादि उपायों के द्वारा आत्मचैतन्य के स्फुरण होने पर भी साधक 'अहं महेश्वरः' यह ज्ञान तभी प्राप्त करता है, जब गुरु के उपदेश से शिव के गुणों के ज्ञान से वह उसे पहचान लेता है। अतः 'प्रत्यभिज्ञा' वास्तव मोक्ष—शिवत्वलाभ—में प्रधान साधन है (ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा--४।२।२) :—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितेऽन्यनिः

कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।

लोकस्यैव तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो

नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रज्ञभिज्ञोदिता ॥

ब्रह्मवाद और ईश्वराद्वयवाद में भेद

आचार्य शंकर के द्वारा प्रचारित अद्वैतवाद तथा अभिनवगुप्त आदि के द्वारा व्याख्यात ईश्वराद्वयवाद ठीक एक ही प्रकार के नहीं हैं। अद्वैत वेदान्त में माया की जो मीमांसा की गई है, उससे प्रत्यभिज्ञा को सन्तोष नहीं। अज्ञान की प्रवृत्ति कहाँ से और क्यों होती है, इसका कोई उत्तर नहीं। इस अज्ञान का प्रथम आविर्भाव ही क्योंकर होता है जिसके वश में होकर ब्रह्म जीव रूप में आविर्भूत होता है अथवा अधीश्वर होकर ईश्वर बनता है। इस प्रश्न का ठीक उत्तर वेदान्त नहीं देता, पर प्रत्यभिज्ञा दर्शन देता है। ईश्वराद्वयवाद में भी अज्ञान है, माया है, किन्तु इसकी प्रवृत्ति आकस्मिक नहीं है। वह आत्मा का स्वातन्त्र्यमूलक, अपनी इच्छा से परिग्रहीत, रूप है। जिस प्रकार नट जानबूझकर नाना प्रकार का अभिनय करता है, ठीक उसी तरह परमेश्वर भी अपनी इच्छा

से नाना प्रकार की भूमिका ग्रहण करता है। वह स्वतन्त्र है—अपने स्वरूप को ढांकने में भी समर्थ है और प्रकट करने में भी समर्थ है। परन्तु जब वह अपनी रूप को ढक लेता है, तब भी उसका आवरणहीन रूप उसी प्रकार अच्युत रूप से विद्यमान रहता है—ठीक सूर्य के समान। सूर्य अपने ही द्वारा उत्पादित मेघों के द्वारा अपने को ढक लेता है, और ढकने के समय भी वह अनाच्छादित ही रहता है, अन्यथा मेघों का प्रकाशित कौन करता ? ठीक यही दशा परमेश्वर की भी है। अज्ञान या **माया** उनके स्वातन्त्र्य-शक्ति का विजृम्भणमात्र है। संसार की सृष्टि करने में लीलापरायण भगवान् की लीला ही मुख्य कारण है। ईश्वरवादी कहते हैं कि वह स्वातन्त्र्यमूलक, स्वातन्त्र्यरूप तथा कर्तृस्वरूप है। ब्रह्मवादी कहते हैं—वह शुद्ध साक्षी हैं अर्थात् अधिष्ठान चैतन्यात्मक है, यही दोनों का अन्तर है। शंकरवेदान्त में **आत्मा** विश्वोत्तीर्ण, सच्चिदानन्द, एक, सत्य, अनन्त, सृष्टिस्थिति-लय का कारण, भाव-अभाव-विहीन है, परन्तु उसमें कर्तृत्व नहीं है। परन्तु आगमानुसारी अद्वैतवाद में यह यह कमी नहीं है। ज्ञान और क्रिया उसके लिए एक समान हैं। उसकी क्रिया ही ज्ञान है। कर्तृस्वभाव होने के हेतु उसका ज्ञान ही क्रिया है। इस प्रकार इच्छा आदि शक्तित्रय से युक्त परमेश्वर स्वातन्त्र्यमय है। प्रत्यभिज्ञाहृदय में “चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः” तथा “स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति”—इन सूत्रों का यही तात्पर्य है।

आत्मा—आगम सम्मत आत्मा सदा पञ्चकृत्यकारी है। इन पञ्चकृत्यों के नाम हैं—मृष्टि, स्थिति, संहार, अनुग्रह और विलय। परन्तु शांकरमत में आत्मा का यही स्वभाव नहीं है। इस तरह ब्रह्मवाद में आत्मा का स्वस्फुरण उतना नहीं है, जितना आगमों में है। अतः वह सत्य होते हुए असत्कल्प है। अद्वैतवाद मानने पर कुछ द्वैताभास सा बना हुआ है। आगम की मीमांसा पर विचार करने से यही प्रतीत होता है।

इस अद्वयवाद की यह महती विशेषता है कि यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है, न ज्ञानविहीन भक्तिमार्ग है। प्रत्युत यहाँ ज्ञान और भक्ति का मञ्जुल सामञ्जस्य है। शांकर अद्वैत की चरमावस्था में भक्ति का स्थान नहीं है। शंकर के मत में भक्ति द्वैतमूलक होती है। अतः ज्ञान के उदय होने पर उसकी स्थिति नहीं होती। यह मत ठीक है क्योंकि यह भक्ति साधन-रूपा अज्ञान-मूलक होती है, परन्तु जो अद्वैत-भक्ति रूप पदार्थ है वह नित्य सिद्ध है। उसकी सत्ता का पता शान्त्र के वचन तथा महात्माओं के अनुभव से चलता है। जिसे हम मोक्ष कहते हैं वह वस्तुतः नित्य-सिद्ध ज्ञान-भक्ति का ही, आवरणभंग से उत्पन्न, उन्मेषमात्र है। त्रिकदर्शन में इसी को 'चिदानन्द लाभ' कहते हैं। अद्वैत ज्ञान होने पर जो भक्ति उदित होती है वह निर्व्याज अद्वैतकी भक्ति वास्तविक भक्ति है। इसी भाँति को लक्षितकर भागवत का कथन है—

आत्मारामा हि मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।

कुर्वन्त्यहैतुर्का भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥

बोधसार में (पृ० २००-२०१) नरहरि का कथन भी यथार्थ है—

द्वैत मोहाय बाधात् प्राक् प्राप्ते बोधे मनीषया ।

भक्त्यर्थं कल्पितं द्वैतमद्वैतादपि सुन्दरम् ॥

जाते समरसानन्दे द्वैतमप्यमृतोपमम् ।

मित्रयोरिव दम्पत्योर्जीवात्म--परमात्मनोः ॥

तात्पर्य यह है कि ज्ञान होने के पहले द्वैत मोह उत्पन्न करता है, परन्तु ज्ञान होने पर भी उस द्वैत की कल्पना भक्ति के लिए अपनी बुद्धि के द्वारा की जाती है। यह कल्पित द्वैत अद्वैत से भी सुन्दर है। सामरस्य हो जाने पर वह द्वैत अमृत के समान आनन्ददायक होता है। जीवात्मा और परमात्मा का यह मधुर मिलन दम्पती के मिलन के समान

होता है। लौकिक जगत् में स्त्री पुरुष का संयोग उस अलौकिक दशा का यत्किञ्चित् परिचायक होता है। यही सामरस्य तन्त्र का सर्वस्व है। अद्वैत वेदान्त में केवल ज्ञान को ही मुक्ति का साधन बतलाया गया है। आत्मा के स्वरूपभेद हाने के कारण ही यह साधनभेद दृष्टिगोचर होता है। इस प्रकार दार्शनिक जगत् में त्रिक दर्शन की विशिष्टता नितान्त स्पष्ट है।

(च) त्रिपुरा सिद्धान्त

सा जयति शक्तिराद्या निजमुखमयनित्यनिरूपमाकारा ।

भाविचराचरबीजं शिवरूप विमर्श-निर्मलादर्शः ॥

कामकलाविलास ।

त्रिकदर्शन तथा शाक्तदर्शन दार्शनिक दृष्टि में समभावेन पूर्ण अद्वैतवाद के प्रतिपादक हैं। पूर्व वर्णित छत्तीस तत्त्व दोनों का माननीय हैं। इन तत्त्वों से परे एक तत्त्वातीत पदार्थ है जो विश्व में व्यापक होने पर भी विश्व से पृथक् है। अतः वह एक साथ विश्वात्मक भी तथा विश्वोत्तीर्ण भी है। सदाशिव से लेकर क्षिति-पर्यन्त ३४ तत्त्व 'विश्व' कहलाता है। जिस तत्त्व का यह विश्व उन्मेषमात्र है वह तत्त्व 'शक्ति' है। शक्ति के साथ शिव सदा मिलित रहते हैं। शक्ति ही अन्तर्मुख होने पर शिव है (अन्तर्लानविमर्शः) और शिव ही बहिर्मुख होने पर शक्ति हैं। अन्तर्मुख तथा बहिर्मुख दोनों भाव सनातन हैं। शिवतत्त्व में शक्ति भाव गौण और शिवभाव प्रधान है—शक्तितत्त्व में शिवभाव गौण और शक्ति भाव प्रधान है। तत्त्वातीत दशा में न शिव की प्रधानता है न शक्ति की, प्रत्युत दोनों की साम्यावस्था है। यही शिव-शक्ति का सामरस्य है। इस सामरस्य को शैवलोग परमशिव के नाम से पुकारते हैं, परन्तु शाक्त लोग पराशक्ति के नाम से। शाक्त मत में पराशक्ति से शिव उत्पन्न होकर जगत् का उन्मीलन करते हैं। प्रत्यभिज्ञा दर्शन में जो तत्त्व शिव

तत्त्व तथा शक्तितत्त्व के नाम से अभिहित है वे ही त्रिपुरामत में कामेश्वर और कामेश्वरी हैं और गौड़ीय वैष्णवमत में श्रीकृष्ण और राधा है। कामेश्वर और कामेश्वरी के सामरस्य रूप को त्रिपुरा मत में 'मुन्दरी' या 'त्रिपुरासुन्दरी' कहते हैं। त्रिपुरा ही सकलाधिष्ठानरूपा, सत्य-रूपा, समानाधिकवर्जिता, सच्चिदानन्दा, समरसा श्री ललिताम्बिका हैं। ये ही 'सर्व-वेदान्त-तात्पर्य-भूमि' हैं। इस प्रकार निरतिशय-सौन्दर्य-मूर्ति-का मातृरूपसे कल्पना करना साधनाराज्य का एक निगूड तत्त्व है। शंकराचार्य ने इसी ललितामूर्ति के सौन्दर्य का कवित्वमय चमत्कारिक वर्णन अपने 'सौन्दर्यलहरी' में किया है।

इस मुन्दरी के उपासक इसकी उपासना चन्द्ररूप में करते हैं। चन्द्रमा को सोलह कलाये होती हैं। सभी कलायें नित्य हैं। इसीलिए सामूहिक रूप से इन्हें 'नित्याषोडशिका' कहते हैं। परन्तु पहली पन्द्रह कलाओं का उदय अस्त होता है, परन्तु **षोडशकला** सर्वदा नित्य है। इसी का नाम 'अमृता' कला है। वेयाकरणलोग इसीको 'पश्यन्ती' वाणी कहते हैं। महाकवि भवभूति ने उत्तररामचरित की नान्दी में इसी वाग्देवता रुपिणी अमृताकला के लाभ के लिए प्रार्थना की है (विन्देम देवतां वाचम-मृतामात्मनः कलाम्)। यही षोडशी महात्रिपुरासुन्दरी ललिता है सौन्दर्य और आनन्द का परम धाम है। इसी 'ललिता' की अद्वैतभावना से उपासना करना 'श्रीविद्या' के उपासकों का प्रधान लक्ष्य है। साधकों के निकट यह सुन्दरी ललिता सदा षोडशवर्षीया रहती हैं। गौड़ीय वैष्णव मत में निखिलरसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण के सन्तत कुमार अर्थात् षोडशवर्षीय होने का भी यही रहस्य है। 'ललिता' ही पुरूप-धारण करने पर श्रीकृष्ण रूप से प्रकट होती हैं। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के परम शिव, त्रिपुरामत की षोडशी तथा वैष्णव मत में श्रीकृष्ण—एक ही आनन्दनिकेतन सच्चिदानन्दविग्रह परमतत्त्व के भिन्न-भिन्नप्रतीक हैं। साधन साम्राज्य का यही मञ्जुल सामञ्जस्य है।

साधना-जगत् में प्रवेश करने के लिए तन्त्रों के रहस्यो को जानना नितान्त आवश्यक है। वेदान्त माया के ऊपरी जगत् का विवरण प्रस्तुत नहीं करता, परन्तु इस माया-लोक से ऊपर महामाया के साम्राज्य का तार्थिक विवेचन तन्त्रों में किया गया है। वहाँ वैन्दव उपादान से निर्मित अनन्त लोको और जीवों की सत्ता है जिसका रहस्य-ज्ञान साधन पन्थ के लिए एक उपादेय पाथ्य है। तन्त्रों ने शाक्त के जडत्व को दूर-कर उसकी वास्तविक चित्स्वरूपताको प्रकट किया है। शाक्त तन्त्रों में पूर्ण अद्वैत वाद के साथ भक्तिका मनोरम समन्वय उपस्थित करना साधना जगत् के लिए एक विशिष्ट वटना है। तान्त्रिक साधना के अन्तिम फल का वर्णन कुलार्णव तन्त्र में सुन्दर शब्दों दिया गया है-

भोगो योगायते सम्यक् पातकं मुकृतायते ।

मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥



षोडश परिच्छेद

उपसंहार

१

भारतीय दर्शनों में समन्वय

भारतीय तत्त्वज्ञान के उदय और अभ्युदय का यही संक्षिप्त विवरण है। दार्शनिक सम्प्रदायों के विवेचन प्रस्तुत करने में उनके विशिष्ट अंशों पर ध्यान देना स्वाभाविक है। अतः इस विवरण में प्रत्येक दर्शन के विशिष्ट सिद्धान्त पृथक् रूप से दिखलाये गये हैं जिनके अनुशीलन करने से पाठकों के वृद्धय में इनके पारस्परिक विरोध की बात अपगम्य-मेव उठती है। परन्तु यह विरोध आपाततः ही दृष्टिगोचर होता है। भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों में वस्तुतः किसी प्रकार का विरोध नहीं है।

विरोध का परिहार दो प्रकारों से किया जाता है। एक प्रकार से दृष्टिमेद के कारण यह मेद है। दूसरे प्रकार से इनमें क्रमशः सिद्धान्तगतः विकाश है। नैयायिक दृष्टिकोण से जितने तत्त्वों की सम्भावना हो सकती है, उतने तत्त्वों का परिनिष्ठित विवेचन न्याय-वैशेषिक में किया गया है। इस दशा में अधिक तत्त्वों के मानने को कुछ भी आवश्यकता नहीं है। यदि कई खण्ड वाले मकान के प्रत्येक खण्ड स्वतन्त्र

हो, तो प्रथम खण्ड में रहनेवाले व्यक्ति न तो ऊपर वाले खण्ड की बात जान सकते हैं, न जानने की ही उन्हें जरूरत है, यही दशा न्याय-वैशेषिक की भी है। यह दार्शनिक विकास की जिस सीढ़ी पर खड़ा है, वहाँ वह स्वयं पूर्ण है। उसका विवेचन नितान्त सत्य है। यही दशा सांख्ययोग तथा वेदान्त की है जो अपनी दृष्टि में पूर्ण हैं। विरोध परिहार का दूसरा प्रकार यह है कि इन दर्शनों में क्रमिक विकास मानना। भारतीय दर्शन संप्रदान परम्परा के अनुरूप क्रमशः विकसित हुए हैं। अतः न्याय-वैशेषिक से अधिक विकास सांख्य-योग में है और सांख्य-योग से अधिक अद्वैत वेदान्त में। अद्वैत तत्त्व ही भारतीय तात्त्विक चिन्तनो का पर्यवसान प्रतीत होता है।

प्रथमतः शास्त्र के उद्देश्य पर ध्यान देना आवश्यक है। शास्त्र का उद्देश्य लोकसिद्ध अर्थ के व्युत्पादन में नहीं है, क्योंकि जा वस्तु आपामर प्रसिद्ध है, उसे सिद्ध करने के लिए शास्त्र को युक्तियों के व्यूह की रचना करने से क्या लाभ? लौकिक व्यवहारों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भेद लोकसिद्ध है। मैं-तुम, मेरा-तेरा आदि भेद को लेकर ही जगत् का समग्र व्यापार चलता है। अतः लोकसिद्ध भेद का निराकरण कर अभेद का प्रतिपादन ही शास्त्र का प्रधान उद्देश्य प्रतीत होता है। यदि शास्त्रों में लोकसिद्ध वस्तुओं या सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है तो यह अनुवादमात्र है, विवेक कथमपि नहीं है। वाचस्पति मिश्र के इस कथन का यही तात्पर्य है—‘भेदो लोकसिद्धत्वान्न्यूते । अभेदस्तु तदपवादेन प्रतिपादनमर्हति’। यदि अभेद का व्युत्पादन शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है, तो भेद-प्रतिपादक न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों की संगति क्यों कर सिद्ध होगी? इसके उत्तरमें शास्त्र का स्पष्ट कथन है—

अधिकारिविभेदेन शास्त्राण्ययुक्तान्यशेषतः ।

अर्थात् अधिकारभेद से शास्त्रोंकी भेदकल्पना है। वस्तुतः समस्त दर्शनों का लक्ष्य एक ही अद्वैत तत्त्व के विवेचन में है।

पङ्दर्शनो के सिद्धान्तों का विकास सोपानपरम्परा न्याय के अनुरूप है। एक सीढ़ीपर खड़ा होकर जितना भूभाग दृष्टिगोचर होता है, उससे कहीं अधिक भूभाग उसके आगे की सीढ़ियोंपर चढ़कर देखने में दृष्टिगोचर होता है। दार्शनिक विकास की भी ठीक यही व्यवस्था है। न्यायवैशेषिक की दृष्टि से जिन तत्त्वों का विश्लेषण किया जाता है, उससे कहीं अधिक तत्त्व सांख्ययोग दृष्टि में आते हैं और वेदान्त दृष्टिमें उससे भी कहीं अधिक (१)। यही कारण है कि वेदान्त की पर्यालोचना करने से हम विश्वव्यापिनी एक अखण्ड सत्ता के अस्तित्वपर पहुँच जाते हैं। कार्य-कारण की शृंखला पर दृष्टिपात करने से हम भारतीयदर्शन में तीन प्रस्थानों को मुख्यतया पाते हैं—आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्तवाद। आरम्भवाद की दृष्टि में यह विश्व विभिन्न परमाणुओं के पुंज से उत्पन्न होता है। कारण में कार्य की सत्ता नहीं रहती है, प्रत्युत कार्य की उत्पत्ति एक नवीन घटना है। आरम्भवाद न्याय-वैशेषिक तथा कर्ममीमांसा को सम्मत है। परिणामवाद में कार्यकारण में अन्तर नहीं होता, कार्य कारणमें सदा व्यक्त रूप से या अव्यक्त रूप से विद्यमान रहता है। यह दृष्टि सांख्य-योग की, अद्वैतवेदान्ती भर्तृप्रपञ्च की और वैष्णव दार्शनिकों की है। विवर्तवाद कारणकी ही एकमात्र सत्ता स्वीकार करता है। कार्य सत् और असत् से विलक्षण एक अनिर्वचनीय व्यापार माना जाता है। यह दृष्टि शांकर अद्वैत वेदान्तियों की है। इन तीनों दृष्टियों में क्रमिक विकास निश्चयरूप से दृष्टिगोचर होता है^१।

सूक्ष्म तत्त्वोंपर पहुँचने के लिए स्थूल पदार्थों का प्रथमतः अनुशीलन नितान्त नैसर्गिक है। अद्वैत तत्त्व इतना सूक्ष्म और कुशलबुद्धिगम्य है

१ आरब्ध भूमिमधरामितरोऽधिसेदु' शक्येति शास्त्रमपि कारणकार्यभावम्।

उक्त्वा, पुरा परिणतिप्रतिपादनेन सम्प्रत्यपोहति विकारमृषात्वसिद्धयै॥

कि उसका सद्यः प्रतिपादन हृदयंगम नहीं हो सकता । अतः स्थूलविषय-ग्राही मानवो के उपकारार्थ मुनियों ने न्यायादि शास्त्रों की रचना की है जिससे मनुष्य स्थूल से प्रारम्भ कर सूक्ष्म वस्तु का ग्रहण क्रम पूर्वक सुभीते के साथ कर सके^१ । आरम्भवाद का आश्रय लेकर न्याय-वैशेषिक इस स्थूल जगत् के विश्लेषण में प्रवृत्त होता है । लौकिक बुद्धि के द्वारा जितने पदार्थों की कल्पना मान्य हो सकती है, उतने ही पदार्थों का विवरण इन दर्शनों में किया जाता है । सांख्ययोग की पदार्थकल्पना न्याय-वैशेषिक से सूक्ष्म है, क्योंकि इन दर्शनों में योगानुभव के द्वारा भी साक्षात्कृत-पदार्थ मान्य माने जाते हैं । अद्वैत वेदान्त की कल्पना सूक्ष्मतरंग है । एक उदाहरण के द्वारा इस क्रमिक विकास की सत्यता प्रदर्शित की जाती है । 'आत्मा' के विषयमें दर्शनो के विवेचन में स्पष्ट पार्थक्य दीख पड़ता है, परन्तु इन विवेचनों में विरोध न होकर अविरोधिता ही विचार करने पर निश्चितरूपेण प्रतीत होती है । चार्वाक शरीर से पृथक् आत्मा की स्थिति मानना ही नहीं है । बौद्धमत स्कन्धपञ्चक रूप आत्मा को शरीर से भिन्न मानकर भी उसे 'क्षणिक' बतलाता है । न्याय-वैशेषिक का प्रधान उद्देश्य इन मतों का युक्तियों के सहारे खण्डन कर आत्मा को देह, प्राण, मन और इन्द्रियो से भिन्न तथा नित्य सिद्ध करना है । अतः न्याय आत्मा के 'सत्' रूप को युक्तिबल पर निःसंशय सिद्ध करता है । वह अवश्यमेव आत्मा को जड़ और मनः-संयोग उत्पन्न होनेपर नैऋत्य, अग्नि, वायु, जल, धरती मानता है परन्तु यह गुणाश्रयिता लोकसिद्ध वस्तु का अनुवादमात्र है, क्योंकि आचार्य शंकर के कथनानुसार आत्मामें व्यापक

१ द्रष्टव्य सश्लेषशरीरक २।५९-६५ ।

१ नहि ते मुनयो श्रान्ताः सर्वज्ञत्वान् तेषां किंतु बहिर्विषयप्रवाणाहामापातनः परम-पुरुषार्थं प्रवेशो न भवतीति नास्ति क्वचित्प्रवृत्तिवारणाय तैः प्रस्थानभेदाः प्रदर्शिताः । सर्वेषां प्रस्थानकर्तृणां मुनीनां विवर्तवादपर्यवसानेन अद्विक्ताये परमेश्वर एव वेदान्तप्रतिपाद्ये तात्पर्यम्--प्रस्थानभेद ।

अव्यापक किसी भी रूप से गुणों की सत्ता युक्तिबल पर सिद्ध नहीं की जा सकती । इस अंश के अग्राह्य होने पर भी न्यायसम्मत आत्मनित्यता भारतीय दार्शनिकों को अभीष्ट है । विज्ञानमिश्र ने न्यायवैशेषिकको इसी लिए दर्शन की 'प्रथम भूमिका' माना है—न्यायवैशेषिकाभ्यां हि सुखि-दुःख्याद्यनुवादतो देहादिमात्रविवेकेन आत्मा प्रथमः सिद्धः । एकदा परमृक्षमे प्रवेशासम्भवात् ।

सांख्ययोग की दृष्टि में आत्मा गुणों का अधिष्ठान कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता । गुणों की गुणी में स्थिति दो प्रकार से होती है—कतिपय गुण स्वाश्रय-द्रव्य-व्यापी होते हैं जैसा घट में रूप स्पर्श आदि घट के प्रत्येक अंश को व्याप्त कर विद्यमान रहते हैं । कोई कोई गुण स्वाश्रय-द्रव्य-व्यापी नहीं होते जैसे संयोग । दो वस्तुओं का संयोग एक अंश विशेष को लेकर ही सिद्ध होता है । परन्तु आत्मा में ज्ञान चैतन्यादि गुणों की उभयथा स्थिति दोषयुक्त है । अतः सांख्य-योग आत्मा को निर्लेप, असङ्ग, निर्गुण तथा चैतन्यरूप मानता है । जिस प्रकार न्याय ने आत्मा को 'सत्' सिद्ध किया है, उसी प्रकार सांख्य-योग उसे 'चित्' सिद्ध करता है । परन्तु सांख्य मत में आनन्द पुरुष में विद्यमान नहीं रहता । गुणत्रयात्मिका प्रकृति के विकाररूप बुद्धि में ही मुख दुःखादिकों की कल्पना वास्तव है । पुरुष तो बुद्धिमन्त्रक में आने से मुख-दुःख का अनुभव करनेवाला प्रतीत होता है, परन्तु वस्तुतः वह निरानन्द है । सांख्यशास्त्र में पुरुष अवश्यमेव नाना माना गया है, परन्तु यह तो लोकसिद्ध वस्तु का अनुवादमात्र है । सांख्य का वास्तव प्रयोजन तो व्यावहारिक आत्मा (जीव) का अनात्मा से विवेक होने पर मोक्षप्रतिपादन है । अतः विवेकज्ञान के प्रधान लक्ष्य होने से सांख्य अप्रमाण नहीं है (सांख्यस्य नाप्रामाण्यम् । व्यावहारिकात्मनो जीवस्य इतरविवेक ज्ञानस्य मोक्षसाधनत्वे विवक्षितार्थे बाधाभावात्—विज्ञानमिश्र) । इसके आगे वेदान्त की दृष्टि आरम्भ होती है । वेदान्तदृष्टि में जो पदार्थ

चैतन्दरूप है, वही आनन्दरूप भी है। अतः आत्मा की आनन्दरूपता सिद्ध करने में वेदान्त की सबसे अधिक महनीयता है। पूर्व दृष्टियों के द्वारा सिद्ध तत्त्वों का समन्वय देकर वेदान्त प्रतिपादित करता है कि आत्मा 'सत्', 'चित्', 'आनन्द' रूप है। इस प्रकार आत्मा की सच्चिदानन्दरूपता की कल्पना में तीनों दृष्टियों का विकासक्रम स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है।

एक प्राचीन न्यायाचार्य की उक्ति है—इदं तु कण्टकावरणं तत्त्वं तु बादरायणात् अर्थात् प्रमाण की मीमांसा करनेवाले न्याय का काम तो वैदिकधर्म तथा तत्त्वज्ञान को कुतार्किकों के कुत्सित तर्कों तथा अनुचित युक्तियों से बचाने मात्र में है। इस प्रकार न्याय वेद-वाटिका का कण्टकमय आवरण है, तत्त्व तो बादरायण से ही प्राप्य है। 'आत्मतत्त्वविवेक' के अन्त में उदयनाचार्य ने विभिन्न दर्शनों की जो **अविरोधिता** दिखलाई है वह उनकी समन्वयदृष्टि का पर्याप्त सूचक है। स्थूल जगत् के दृश्यमान वस्तुओं से आरम्भ कर अद्वैततत्त्व तक पहुँचना भारतीय दर्शन का प्रधान उद्देश्य है। इस दीर्घ मार्ग में अनेक कोटियाँ हैं जिनका पार करना आवश्यक है। पहली कोटि में बाह्य अर्थों की स्फुटतया पृथग्रूपेण प्रतीति होती है। इस स्थिति में चार्वाक दर्शन का समुत्थान है और कर्ममीमांसा का उपसंहार। दूसरी कोटि आत्मा के अर्थाकार प्रतिभासित होने में है जिसमें योगाचार का समुत्थान है और त्रिदण्डी वैष्णव मत (रामानुज) का उपसंहार है। तृतीय कोटि में स्वरूपतः और आकारतः अर्थ का अभाव प्रतिभासित होता है। इस दशा में शून्यवाद का समुत्थान और वेदान्त का द्वारमात्र उपसंहार है। इसके आगे आत्मा तथा अनात्मा के परस्पर पार्थक्य ज्ञान से 'विवेक' का उदय होता है जिसमें शक्तिसत्त्व का समुत्थान तथा सांख्यमत का उपसंहार है। इस अवस्था में त्रिगुणमयी प्रकृति की सत्ता पुरुष से पृथक् और भवतन्त्र माननी ही पड़ती है। परन्तु यह भी कोटि हेय है, क्योंकि जड़ प्रकृति

भी स्वप्रवृत्ति के लिए चेतनरूप आत्मा के अधिष्ठान की नित्य-काङ्क्षिणी है। इससे आगे केवल आत्मा की एकमात्र स्फूर्ति होती है। यही अद्वैत वेदान्त की स्थिति है। यही वेदान्त की अद्वैतावस्था है जिसका वर्णन बृहदारण्यक (४।४।२) में 'एकीभवति न पश्यतीत्याहुः' इत्यादि मंत्र में बड़े सुन्दररूप से किया गया है। परन्तु यह भी अवस्था हेय है, क्योंकि मूलतन्त्र न तो द्वैत है, न अद्वैत। द्वैताद्वैत की कल्पना भी विकल्प-साधेय है। परमार्थ इन दोनों काटियों से पृथक है, स्वतन्त्र है, द्वैताद्वैतवर्जित है। कुलार्णव तन्त्र में (१।११०) शंकर के इस कथन का तात्पर्य यही है:—

अद्वैतं केचिदिच्छन्ति द्वैतमिच्छन्ति चापरे ।

सम तत्त्वं न जानन्ति द्वैताद्वैतविवर्जितम् ॥

यही निर्विकल्पावस्था चरम वेदान्त का उपसंहार है जिसका वर्णन उपनिषद स्पष्ट शब्दों में करता है—यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसाहस। इस दशा में सर्वविकल्पशून्य अवाङ्मनसगोचर आत्मा ही ब्रह्मरूप है। आत्मा की यही चरम अवस्था है। यह कथमपि हेय नहीं है। निर्वाण इस दशा में स्वतः सिद्ध है। उदयनाचार्य का स्पष्ट कथन है—सा चावस्था न हेया। मोक्षनगरगोपुरायमाणत्वात् निर्वाणं तु तस्य स्वयमेव। × ×। तस्मादभ्यासकामोऽप्यपद्वाराणि विहाय पुरद्वारं प्रविशेत्—(आत्मतत्त्वविवेक पृ० ४५१) अन्य मार्ग केवल अपद्वार हैं, परन्तु वेदान्तमार्ग मोक्षनगर गोपुर है—पुरद्वार है, जिसमें प्रवेश कर साधक सुगमतया मोक्षनगरी को प्राप्त कर लेता है। इस दशा में सब दर्शनों का एकान्त समन्वय समुपस्थित है। भारतीय दर्शनों का यही चरम लक्ष्य है !

जैन तथा बौद्ध तत्त्व ज्ञान भी भारतीय आध्यात्मिकताके मानसरोवर-रूप उपनिषदों से ही प्रवाहित होते हैं। श्रुतिके तिरस्कार करनेसे ब्राह्मण

दार्शनिकोंको इनके सिद्धान्तोंमें आस्था नहीं है, परन्तु इतना तो स्वीकार करना पड़ेगा कि जैन धर्म की कर्तव्यमीमांसा बड़ी सुन्दर है और बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा बड़ी सूक्ष्म कोंटि की है। हम उस दार्शनिक की समन्वयबुद्धि की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते जिसके उदात्त विचार में बौद्ध तथा जैन, वैदिक तथा तान्त्रिक समस्त दार्शनिक चिन्तनों का मंजुल समञ्जस्य इस श्लोक में प्रदर्शित किया गया है:—

श्रोतव्यः सौगतो धर्मः कर्तव्यः पुनराहृतः ।

वैदिको व्यवहर्तव्यो ध्यातव्यः परमः शिवः ॥

५

भारतीय दर्शन का भविष्य

भारत में दर्शन तथा धर्म का परस्पर सहयोग जितनी सुन्दर रीति से से सम्पन्न किया गया है वह वस्तुतः नितान्त श्लाघनीय है। भारतीय दर्शन केवल तत्त्ववेत्ता पुरुषों की कल्पना का विजृम्भणमात्र बनकर पठित समाज से ही आदर और श्रद्धा का भाजन नहीं है, प्रत्युत जनसाधारण के लिए भी वह उसी प्रकार का उपादेय और ग्रहणीय है। तत्त्वशास्त्र के द्वारा उद्भावित तत्त्व मनोविनोद के साधन नहीं हैं, बल्कि प्रतिदिन धार्मिक व्यवहार के निष्पादक हैं। पाश्चात्य दार्शनिकों ने जिन तत्त्वों को खोज निकाला है, वे भारतीय तत्त्वज्ञान को अविदित नहीं हैं, प्रत्युत भारत के दार्शनिकों ने उन सिद्धान्तों का क्रमबद्ध तथा सुसंगत रूप अपने ग्रन्थों में प्रदर्शित किया है। इस प्रकार भारतीय तत्त्वज्ञान अपनी व्यावहारिकता, व्यापकता तथा विविधरूपता के लिए नितान्त मननीय तथा माननीय है। इसका भविष्य इसके भूत के समान ही गौरवशाली प्रतीत होता है। पाश्चात्य जगत् को अपनी जिस वैज्ञानिक सभ्यता पर इतना अभिमान है उसका ध्वंस तो अवश्यम्भावी प्रतीत हो रहा है।

वर्तमान प्रलयकारी युद्ध पाश्चात्य सभ्यता को भूमिसात् बिना किये नहीं रहता । इस युद्ध के अन्तर जिस भयंकर उच्छृङ्खलता के फैलने का भय है, मानवसमाज को लील जानेवाले जिस गाढ़ : : अन्धकार के उत्पन्न होने की आशंका है उनका दूरीकरण भारतीय तत्त्वके प्रकाशमान किरणों से ही हो सकेगा, इतना कहनेमें हमें तनिक भी संकोच नहीं है ।

भारतीय महर्षियोंने बाह्य भिन्नताके भीतर विद्यमान अन्तर अभिन्नता को भलीभांति पहचाना है । जितना धार्मिक झगड़ा है, सामाजिक कलह है, वह केवल बाहरी रूपों की ओर ध्यान देने का ही विषमय फल है । यदि इनके भीतर विद्यमान समानता की ओर तनिक भी मनुष्यों का ध्यान जाय, तो न तो संसार में इतना वैमनस्य हो, न गृहकलह हो, न रक्तपात हो । परन्तु अनेकता के भीतर इसी एकत्व का खोज निकालना भारतीय तत्त्वज्ञान की महती विशेषता है । बाहरी कपड़ों की भिन्नता होने से क्या प्रियतम का अभिराम रूप छिपाया जा सकता है ? प्रियतम के पहचानने के लिए क्या प्रेमी जन को बाहरी वेशभूषा की आवश्यकता होती है ? कपड़ों लत्ते बाहरी चीज हैं, स्नेह भीतरी वस्तु है । वस्तुओं के रूपरंग भले ही भिन्न भिन्न प्रकार के हों, परन्तु उनमें रखा गया जल एक ही रूप का होता है । दीपक भिन्न-भिन्न धातुओं का तथा भिन्न भिन्न आकारों का भले ही बना हो, परन्तु उसकी प्रभा एक ही रूप की होती है । गायों के अनेक वर्णों की होने पर भी उनका दूध एक वर्ण का ही रहता है^१, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न देशों तथा धर्मों के आचारों के भिन्न प्रतीत होने पर भी उनके भीतर एक अपरिवर्तनीय **एकता** की धारा बहती रहती है । इस रहस्य को भारत ने पहचाना है । इस तत्त्व का उपदेश भारतीय महर्षियों ने दिया है । तुमुल कलह तथा संग्राम से

१ गवामनैकवर्णानां क्षीरस्याप्येकवर्णता ।

क्षीरवत् पश्यते ज्ञान लिङ्गनस्तु गवां यथा ॥ ब्रह्मसिन्धु १९ ।

छिन्न भिन्न जगत् के लिए परस्पर बन्धुता, एक दूसरे के बाह्यरूप के भीतर आन्तरिक एकता के पहचानने, का सुन्दर उपदेश भारतीय तत्त्व-ज्ञान ही दे सकता है। ऋग्वेद ने स्पष्ट शब्दों में मानवों के विचार तथा हृदय के समान बनाये रखने का उपदेश दिया है—

समानी व आकृतिः समाना हृदयानि वः ।

समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥

परममाहेश्वराचार्य अभिनवगुप्त ने इसी सिद्धान्त का निरूपण बड़े ही सुन्दर ढंग से किया है—

तीर्थक्रियाव्यसनिनः स्वमनीषिकाभि-

रुत्प्रेक्ष्य तत्त्वमिति यद् यक्ष्मी वदन्ति ।

तत् तत्त्वमेव, भवतोऽस्ति न किञ्चिदन्यत्

संज्ञासु केवलमयं विदुषां विवादः ॥

भगवान् करे उस दिन का मंगल प्रभात शीघ्र हो जब मानव परस्पर कलह को भुलाकर मानवता का मूल्य समझें और शान्ति का पाठ सीखकर अपने जीवन तथा दूसरों के जीवन का आनन्दमय बनावें:—

सर्वस्तरतु दुर्गाणि सर्वो भद्राणि पश्यतु ।

सर्वः कामानवाप्नोति सर्वः सर्वत्र नन्दतु ॥



प्रमाण ग्रन्थावली

(मूल संस्कृतग्रन्थों का निर्देश पुस्तक के तत्तत्स्थानों पर किया गया है । अतः कलेवरवृद्धि के भय से उनका यहाँ उल्लेख नहीं किया जाता)

सामान्य ग्रन्थ

चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार—वसुमल्लिक फेलोशिप लेक्चर (५ भाग-बँगला)

करालप्रमन्न मुन्गोपाध्याय—तत्त्वज्ञानामृत (४ ,, ,,)

नरमिह चिन्तामणि केलकर—हिन्द तत्त्वज्ञान (मराठी) ।

नर्मदाशङ्कर मेहता—हिन्द तत्त्वज्ञाननो इतिहास (२ भाग-गुजराती)

साधु शान्तिनाथ—प्राच्य दर्शनगभीरा

राहुल सांकृत्यायन—दर्शन दिग्दर्शन

Maxmuller—Six Systems of Philosophy.

S. Ayengar—Outlines of Indian Philosophy.

S. N. Das Gupta—History of Indian Philosophy (3 Vols.)

S. Radha Krishnan—Indian Philosophy (2 Vols.)

Hiriyanna—Outlines of Indian Philosophy.

J. Sinha—Indian Psychology (Perception).

S. K. Maatra—Hindu Ethics.

J. Prasad—Indian Epistemology.

Chatterjee and Dutt—Introduction to Indian Philosophy.

J. N. Farquhar—Outline of Religious Literature of India.

श्रौतदर्शन

कोकिलेश्वर शास्त्री—उपनिषदेर उपदेश (४ भाग-बँगला)

हीरेन्द्रनाथ दत्त—उपनिषद् (ब्रह्मतत्त्व-बँगला) ।

Gough—Philosophy of Upanisads.

Deussen—Philosophy of Upanisads.

Belvelkar and Ranade—Indian Philosophy (Creative Period.)

- R. D. Ranade—Constructive Survey of Upanisadic Philosophy.
B. M. Barua—Pre-Buddhist Philosophy.
Hume—Thirteen Upanisads (Introduction).
Sen—Mystic Philosophy of Upanisads.

गीत-दर्शन

- लोकमान्य तिलक—गीतारहस्य
हीरेन्द्रनाथ दत्त—गीता में ईश्वरवाद ।
Arbindo Ghosh—Essays on Gita (2 Series).
„ „ —Message of Gita.
Garbe—Introduction to Gita.
M. Rangacharya—Bhagvata Gita Lectures.
V. G. Rele—Bhagavata Gita.
M. N. Sarkar—Mysticism in Bhagwat Gita.
D. D. Vadeker—Bhagwat Gita.
S. K. Prem—Yoga of Bhagwat Gita.
Sarvananda—Religion and Philosophy of Gita.
D. Sharma—Lectures on Gita.

चार्वाकदर्शन

- G. N. Kviraj—Theism in Ancient India (S. B. studies Vol. II)
D. R. Sastri—A short History of Indian Materialism.
„ —Charvaka S' asthi.

जैन दर्शन

- Weber—Jain Canon (Indian Antiquary Vol. XVII–XXI)
Buhler—The Indian Sect of Jains.
J. L. Juni—Outlines of Jainism.
Nahar and Ghose—An Epitome of Jainism.
C. R. Jain—The Practical Path.
H. Warren—Jainism.

- Ghoshal—द्रव्यसंग्रह (Introduction and Notes)
A Chakravarti—पञ्चास्तिकायसार (Introduction)
W. Schubring—Die Lehre der Jainas.
Mrs. Stevenson—The Heart of Jainism.
A. S n—Schools and Sects in Jain Literature.
B. C. Law—Life and Teachings of Mahavira.
C. L. Shah—Jainism in North India.

बौद्धदर्शन

- Oldenberg—Buddha.
Kern—Indian Buddhism.
Yamakami Sogen—Systems of Buddhistic Thought.
Mrs. Rhys David—Buddhism.
„ —Buddhist Psychology.
A. B. Keith—Buddhist Philosophy.
Lala Hardayal—Bodhisattva.
N. Dutt—Spread of Buddhism.
—Aspects of Mahayana Buddhism.
Macgovern—Introduction to Mahayana Buddhism.
—Manual of Buddhist Philosophy.
D. Suzuki—Outlines of Mahayana Buddhism.
—Studies in Lankavatar Sutas.
Scherbastky—Central Conception of Buddhism.
—Conception of Buddhist Nirvana.
—Buddhist Logic (2 vols.)
Poussin—Way to Nirvana.
S. Mukerjee—Buddhist Philosophy of Universal Flux.
Nariman—Literary History of Sanskrit Buddhism.

- Winternitz—History of Indian Literature (Vol 2.)
 S. Dutt—Early Buddhist Monachism.
 Eliot—Hinduism and Buddhism (3 Vols.)
 Grimm—The Doctrine of the Buddhism.
 Pratt—Pilgrimage of Buddhism.
 Obermiller—Buston's History of Buddhism.
 B. Bhattacharya—Buddhist Esoterism.
 Lounsbery—Buddhist Meditation.

न्याय वैशेषिक

- Ui—The Vais'esika Philosophy.
 Seal—Positive Sciences of the Hindus.
 Faddigon—Vais'esika Philosophy.
 Bodas—Tarka Samgraha.
 Keith—Indian Logic and Atomism.
 Randle—Indian Logic in Early Schools.
 Kuppu Swami—A Primer of Indian Logic.
 J. C. Chatterjee—Hindu Realism.
 Gopinath Kaviraj—Buddhism and Nyaya-Vais'esika.
 J. Sinha—Indian Realism.
 S. C. Chatterjee—Nyaya Theory of Knowledge.
 Umesha Mishra—Conception of Matter.
 फणीभूषण तर्कवागीश—न्याय परिचय (बँगला)

सांख्य-योग

- S. N. Dasgupta—Study of Patanjali.
 „ — Yoga as Philosophy and Religion.
 „ —Yoga Philosophy.
 A. B. Kieth—Samkhya System.
 Yajnesvara Ghosh—Samkhya and Modern Thought.
 „ —A Study of Yoga.

Mazumdar—Samkhya Conception of Personality.

N. K. Brahma—Philosophy of Hindu Sadhana.

G. N. Kaviraj—योगपरिचय (कल्याण-योगाङ्क पृ० ५१—६१ ।

„ —Causality—Sinkhya-Yoga View (S.B.S. Vol IV)

„ —The Life of a Yogi (S. B. Studies Vol. IX).

हरिहरानन्द आरण्य—मांखयीय प्रकरण मान्ना ।

„ —योगभाष्य (बँगला अनुवाद)

मीमांसा

G. N. Jha—Prabhakar School of Mimansa.

„ —Mimansa Philosophy.

Keith—Karina Mimansa.

P. N. Sastri—Introduction to the Purva Mimansa.

C. Raja—Introduction to the Brhati.

Ram Swami Sastri—Introduction to Tattvabindu.

Kaviraj—Mimansa Mss, in Govt. Skt. Library (S.B.S. VI.)

„ —Introduction to Tantravartika.

Sarkar—Mimansa Rules of Interpretation.

अद्वैत वेदान्त

Paul Deussen—System of Vedanta.

K. C. Bhattacharya—Studies in Vedantism.

K. Sastri—Introduction to Advaita Philosophy.

„ —Realistic Interpretation of Shankar Vedant.

M. N. Sarkar—System of Vedantic Thought and Culture.

„ —Comparative Studies in Vedantism.

P.N. Mukhopadhyaya—Introduction to Vedant Philosophy.

V. Kirtikar—Studies in Vedant.

D. M. Datta—Six Ways of Knowing.

S. K. Das—A Study of Vedant.

Urquahat—Vedant and Modern Thought.

G. N. Jha—Sankara Vedant.

„ Philosophical Discipline.

Mahadevan—Philosophy of Advaita

Kaviraj—अद्वैत वेदान्त (शाङ्करभाष्यानुवाद की प्रस्तावना) ।

Ghate—The Vedant.

Belvelkar—Vedant Philosophy.

पञ्चरात्र और वैष्णवदर्शन

R. G. Bhardarkar—Vaisnavism, S'aivism and Minor Sects.

Rai Choudhary—Early History of the Vaisnava Sect.

Bhagavat Kumar Goswami—Bhakti Cult in Ancient India.

Schrader—Introduction to the Pancaratra.

Gopinath Rao—History of S'rivaishnavas.

Govindacharya—Mataphysique of Mysticism.

V. Rangachary—Heritage of Indian Cluture (Vol. II, pp. 69-103)

S'rivasachari—Ramanuja's Idea of the Finite self.

„ —Philosophy of Bhedabheda.

सन्तदास बाबा—गुरुशिष्यसंवाद (ब्रह्मविद्या)

Umesha Mishra—Nimbarka Philosophy.

Nagaraja Sharma—Reign of Realism in Indian Philosophy.

Padmanabhacharya—Life and Teachings of S'ri Madhva.

ब्रजनारायण शर्मा—बल्लभभाचार्य और उनका सिद्धान्त

Glaserapp—Philosophy of Madhva (German);

C. R. Krishna Rao—S'ri Madhva—Life and Teachings.

केदारनाथदत्त—भक्तिविनोद—जैनधर्म (बं०)

„ —श्री चैतन्यशिक्षामृत (बं०)

गौर गोविन्दानन्द—साधन कुमुदाञ्जलि (बं०)

गौर गोविन्दानन्द—कृपाकुसुमाञ्जलि (बं०)

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी—चैतन्यचरितावली (५ भाग)

Kenedy—Chaitanya Movement.

G. N. Mallick—Philosophy of Vaisnava Religion.

शैव-शाक्ततन्त्र

C. Pillai—Studies in S'aiva Siddhanata.

S. Sundaram—S'aiva School of Hinduism.

N. Ayyar—Origin and Early History of S'aivism in S. India.

S. S. Sastri—S'ivadvaṭṭa of S'ri Kantha.

J. C. Chatterjee—Kas'mira S'aivism.

K. C. Pande—Abhinava Gupta—A Study.

Woodroffe—Shakti and shakta.

„ —Garland of Letters.

„ —Serpent Power.

Woodroffe and Mukhopadhyaya—World As Power Series.

नर्मदाशङ्कर मेहता—शाक्त सम्प्रदाय (गुजराती)

मतीशचन्द्र सिद्धान्तभूषण—कौलमार्गग्रहस्य (बंगला)

P. C. Chakravarti :—Philorphy of sanskrit Grammar.

Kaviraj—S me Aspects of Vir Saiva Philosophy (S B. Studies Vol 2).

—Notes on Pas'upata Philosophy (S B.S. Vol. IX.)

—Tripura Philosophy (S, B. S. Vol. IX.)

गोपीनाथ कृविराज —काश्मीरीय शैवदर्शन (कल्याण-शिवाङ्क पृ० ८०-६५)

—शक्तिपात („ -साधनाङ्क पृ० ८६-६७)

—तान्त्रिक दृष्टि („ „ पृ० ४८०-४६३)

—दीक्षा रहस्य („ १५ भा० ४ सख्या)

ग्रन्थकार सूची

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
अकलङ्क	१४७	उमास्वाति	१४४-४५
अखण्डानन्द	४०७	उम्बेक	३७२
अश्वोर शिवाचार्य	५५८	औडुलोमि	४०७
अजित केश कम्बल	९०	कणाद	२७३
अनन्नराम	५०९	कपिल	३१२
अन्नं भट्ट	२७८	कल्लट	५०७
अप्पय दीक्षित	४१०	कात्यायनीपुत्र	२०१
अमलानन्द	४०९	काष्णाजिनि	४०३
असङ्ग	२११	काशकृत्स्न	३६९, ४०३
आङ्गवार	४८३-५	काश्यप	४०४
आत्रेय	४०२	कुन्दकुन्दाचार्य	१४५
आनन्दगिरि	४०९	कुमारलात	२०७
आनन्दतीर्थ	५००	कुमारिल	३७१
आर्यदेव	२१७	कृष्णचन्द्र	५१९
आश्मरथ्य	४०२	कृष्णदास	५२६
आसुरि	३१४	केशवभट्ट	५०९
ईश्वर कृष्ण	३१५	खण्डदेव	३७३
उत्पलाचार्य	५६०	गदाधर	२३८
उदयनाचार्य	२३५, २७४	गिरिधर	५१९
उद्योतकर	२३३	गुणरत्न	१५०-५१
उपवर्ष	३६९	गोविदानन्द	४१०

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
गौडपाद	४११	पतञ्जलि	३४७
गौतम	२३२	पद्मनाभमिश्र	२७६
गंगेश	२३६	पद्मपाद	४०७
चन्द्रकान्ति	२१८	पार्थसारथि मिश्र	३७२
चार्वाक	११७	पार्श्वनाथ	१३९
चित्मुल्य	४०८	पुरुषोत्तमाचार्य	५०९
जगदीश भट्टाचार्य	२३२	पुरुषोत्तमजी	५१९
जयन्तभट्ट	२३४	पुरुषोत्तम प्रसाद	५०९
जयतीर्थ	५००	पूर्णकाश्यप	९०
जैमिनि	३६२	पूर्णानन्द चक्रवर्ती	५०२
दिङ्नाग	२१२	पौरिक	३१४
देवधिगणि	१४३	प्रकाशानन्दयति	४०९
देवाचार्य	५०९	प्रक्रुध कात्यायन	९०
देवमुरि	१४९	प्रशस्तपाद	२७३
धर्मकीर्ति	२१२-२१३	प्रभाकर	३७४
धर्मभाल	२१३	ब्रह्मरमुनि	४८०
धर्मराजाध्वरीन्द्र	४१०	बलदेव विद्याभूषण	५२६
नन्दीश्वर	३७५	वादरायण	३९९
नागार्जुन	२१६	वादरि	४०३-४०४
नाथमुनि	४८६	वादिराजसूरि	१४८
नारायणतीर्थ	४१०	बालकृष्णभट्ट	५१९
निम्बार्क	५०८	बुद्धपालित	२१७
नृसिंहाश्रम	४०९	बृहस्पति	११८
पञ्चशिख	३१४	ब्रह्मदत्त	४०५
पञ्चाधिकरण	३१५	ब्रह्मानन्द सरस्वती	४०९

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
भर्तृप्रपञ्च	४०४, ५११	रङ्गरामानुज	४९०
भवदास	३७०	रामकृष्ण	५५७
भवनाथ	३७५	रामानुजाचार्य	४८७
भावविवेक	२१७-१८	रामानुजाचार्य	३७५
भावागणेश	३१८	रूपगोस्वामी	५२३
भासर्वज्ञ	२३५	लोकाचार्य	४९०
भास्कर	५१२	वनमाली मिश्र	५०२
मंखलि गोशाल	९१	वर्धमान महावीर	१४०
मण्डन मिश्र	४०७	वल्लभ	५१८
मथुरानाय	२३२	वल्लभाचार्य	२७५
मधुसूदन सरस्वती	४०९	वसुगुप्त	५६०
मल्लिपेणसूरि	१४९	वसुमित्र	२०८
मल्लिसेन	५५२	वसुवन्धु	२०१
महेश्वर	५५५	वाचस्पति मिश्र	२३४, ४०२
माध्व	४२०	वात्स्यायन	२३३
माधवमुकुन्द	५१०	वामुदेव सांवभौम	२३७
माधवाचार्य	३७३	विजयीन्द्र	५०१
मुरारिमिश्र	३७६	विज्ञानभिक्तु	३१७, ५२५
मैत्रेय	२११	विट्ठलनाथ	५१८
यशो मित्र	२०८	विद्यानन्द	१४२
यशोविजय	१५०	विद्यारण्य	४०९
यादव	५१३	विन्ध्यवामी	३१६-३१७
यामुनाचार्य	४८६	विमुक्तात्मा	४०८
रघूत्तम तीर्थ	५०१	विश्वनाथ चक्रवर्ती	५२६
रघुनाथ शिरोमणि	२३७	विश्वनाथ पंचानन	२७७

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
विष्णु स्वामी	५१७	श्रीहर्ष	४०२
वैकटनाथ	४८९	संघ भद्र	२०२
वेदेश भिन्दु	५०१	संजयवेलट्टिपुत्र	९०
व्यास	३४२	सदानन्द	४१०
व्यास तीर्थ	५०१	सदानन्दयति	४१०
व्योमशिवाचार्य	२७४	सनातन गोस्वामी	५२५
व्रजनाथ भट्ट	५१९	समन्त भद्र	१४५-१४६
शंकर मिश्र	२७६	सर्वज्ञात्म मुनि	४०८
शंकराचार्य	४०६	सिद्धसेन दिवाकर	१४७
शबरस्वामी	३७०	सुदर्शन सूरि	४२९
शान्तरक्षित	२१८	सुरेश्वराचार्य	४०७
शालिकनाथ	३७५	सोमानन्द	५६०
शिवादित्य मिश्र	२७६	स्थिरमति	२१२
श्री कंठाचार्य	४९९	हरदत्त शिवाचार्य	५५७
श्रीधराचार्य	२७५	हरिभद्र	१४७
श्री निवासाचार्य	५०२	हरिराम	५१९
श्रीलात	२०७	हरिवर्मा	२०७
श्रीवत्स	२७५	हेमचन्द्र	१४९



पारिभाषिक शब्दसूची

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
अंग	५८३	अविद्या	३००
अक्रियावाद	९०	अष्टाङ्गिक मार्ग	१८१
अचित्	५१५	असम्प्रज्ञात समाधि	३५५
अचित्	४९६	आगम	४५७
अदृष्ट	२९८	आचार	५३६
अधर्म	१६७	आत्मा ७२, ३२२, ३२३-२७	
अध्यास	४४१	आभासवाद	४५३
अनिर्वचनीय	४३९	आयतन	२०३
अनिश्चिततावाद	९१	आर्यसत्य	१७९
अनुपलब्धि	३८२	आरम्भवाद	२५१
अनुमान	२४५-४८	आलोचनज्ञान	३३७
अन्तर्यामी	४६९	आवरणशक्ति	४२३
अन्यथाख्याति	२४१	आस्तिक	२७
अस्तिकाय	१६१	आस्रव	१६८
अपवर्ग	२६४	आसन	३५९
अपवर्ग	३३६	ईश्वर ३३९, ३६४-६५, ४२४, ४९१, ५१६	
अप्रमा	२४१	उच्छिष्ट	६३
अभाव	२९४	उच्छेदवाद	९०
अर्थारति	३	उपमिति	३७७
अवच्छेदवाद	४५३	ऊर्मि	२६५
अवधिज्ञान	१५१		

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
ऋत	५८	नियतिवाद	६१
कर्म	२६०, ३९२	नियम	३५८
कुलाचार	४४३-४६. ५४१	निर्जरा	१७०
केवल ज्ञान	१५२	निरोधप्रतिमंख्या	२०४
कौल	५३६	पञ्चकाल	४७१
क्लेश	३५७	पञ्चमकार	५४१-४३
गुण	२८८-९०, ३२३	पति	५८६
गुणस्थान	१७०-१७१	पदार्थ	३८६. ५०२
चर्या	४६३	परमाणुवाद	२६६-६८
चित्	४६०	पाञ्चरात्र	४६३
चित्तभूमि	३५०	पाश	५८८
जगत्	३२७, ५२२	पितृयान	८३
जीव	४२६, ५०५, ५१४, ५२१	प्रकृति	३२२
तन्त्र	४५७	प्रज्ञा	१८३
तर्क	२५२	प्रतिबिम्बवाद	४५३
त्रिक	५५९	प्रत्यक्ष	२४२
दीक्षा	५६०	प्रत्येकबुद्ध	१९२
दृष्टश्रुतिवाद	४५४	प्रमा	२४०
देवयान	८३	प्रलयाकल	५८७
द्रव्य	२८०-८१	प्राणायाम	३५९
धर्म	१६६	पुर्यष्टक	५८८
धातु	२०३	पुरुष	३२५
धारणा	३६०	पुरुषोत्तम	१०१
ध्यान	३६१	पुद्गल	१६४
नय बाद	१५४	पुष्टिमार्ग	५२३

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
बन्ध	१६८	व्याप्ति	२५०-५२
बोधि-सत्त्व	१९२-९४	व्यूह	४६७
ब्रह्म ७७-७८, ४१८-१९, ५२०		विक्षेप	४२३
भक्ति	५२४	विज्ञानवाद	२१३-१६
भगवान	५२७	विज्ञानाकल	५८७
भाव	५३६	विद्या	३००
भावना	३९१	विन्दु	५८४
मति	१५०	विधि	३२०
मन	२८७	विपरीतख्यालि	३८५
मनःपर्याय	१५२	विभव	४६८
माध्यमिक	२१९-२२३	विवर्त	४४०
माध्यमिक प्रासंगिक	२२३	विशेष	२९२
माया	५८९	विशुद्धसत्त्व	५८४
मीमांसा	३६७	वैभाषिक	२०१-२०४
मुक्ति	३३२	वैशेषिक	२७१
मोक्ष	१७०, ३९४	शक्तिपात	५९०
यम	३५८	शब्द	२५७
योग	३४९	शाश्वतवाद	९०
रत्नत्रय	१६७	शील	१८२
रोधशक्ति	५८९	शून्य	२१९
लक्षणा	४४९	श्रावक	१९०
लक्ष्मी	४६६, ५०४	श्रुत	१५१
लिङ्ग	२४५, ५८३	षाड्गुण्य	४६५
वज्रयान	५४५	संनिकर्ष	२४३-४५
वीरशैव	५८४	संवर	८६१

नाम	पृष्ठ	नाम	पृष्ठ
संस्कार	३५२	सांख्य	३०८
संवृति	२२१-२२	सामान्य	२९१
सकल	५८७	सिद्धशिला	१७०
सत्ता	४३७	सौत्रान्तिक	२०६
सत्य	४३५	स्कन्ध	१८५
सदसत्ख्यातिवाद	३३३	स्कम्भ	६३
सप्तभङ्गी नय	१५७	स्थल	५८३
समवाय	२९३	स्फोट	३७९
समाधि	३६१	स्याद्वाद	१५५
समय	५३९	हेत्वाभास	२५४
सम्प्रज्ञात योग	३५३		



कुछ सम्मतियाँ

यू० पी० गवर्नमेण्ट के भूतपूर्व एजुकेशन-सेक्रेटरी

श्रीमान् एन्० सी० मेहता आइ० सी० एस० का पत्र

Dear Professor Upadhyaya,

I would immediately like to convey my congratulations to you on this brilliant production which has brought lustre to Hindi and also to your University. I do think any of the Indian languages has got a book of this calibre and it is particularly useful that you have quoted the original texts so plentifully. I have been greatly struck by the sweep of your work and the simplicity with which the various complicated and difficult ideas of the vast mass of Indian philosophy have been expressed.

प्रिन्सिपल श्री जयदेव सिंह एम. ए.—

Professor Upadhyaya has laid under contribution the important works in the original and has thus given an authoritative account of Indian philosophy.

The author displays a very clear grasp of the main principle and a masterly skill in selecting the portions that need to be emphasized. He has succeeded admirably

bly in compressing the principles of the various systems of Indian philosophy.

The arrangement is systematic, the exposition sound, critical and impartial and the style perfectly lucid. The treatment of Jain and Buddhist systems is as full as one could expect in an introductory work. (Leader)

हिन्दी साहित्य के श्रेष्ठ आलोचक, विश्वभारती के हिन्दी-संस्कृत के अध्यापक पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी—

वस्तुतः यह पुस्तक इतनी उत्तम और सम्पन्न है कि बहुत से अहिन्दी भाषा-भाषी भी अपनी दार्शनिक जिज्ञासा की शान्ति के लिए इस पुस्तक का आश्रय लेंगे। हमारा विचार है कि तन्त्र जैसे महत्त्वपूर्ण शास्त्र का परिचय कराकर लेखक ने पाठकों का बहुत उपकार किया है। (विशाल भारत)

प्रान्तीय म्यूजियम (लखनऊ) के अध्यक्ष डाक्टर

वासुदेवशरण अग्रवाल—

इतने विस्तृत ग्रन्थ का अत्यन्त सार गर्भित विवेचन और क्रमबद्ध ऐतिहासिक परिचय लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में किया है। भारतीय मनोराज्य के क्षेत्र में दार्शनिक तूलिका ने कितने कितने सुन्दर चित्रों का निर्माण किया है और कौन कौन से मनीषियों ने इस चित्र सभ्य को बहुशः रूपों से अलंकृत करने में सत्प्रयत्न किया है, इसका एक सरस और सुलभ परिचय प्रत्येक जिज्ञासु इस सुन्दर ग्रन्थ से प्राप्त कर सकता है।..... इस प्रकार यह ग्रन्थ भारतीय दर्शन के साथ हमारा सुन्दर परिचय कराने

का एक सुलभ साधन है। ग्रन्थकार की विवेचन शैली सर्वथा प्रमाण-पुरःसृत और विश्वास योग्य है।

दार्शनिक प्रवर गुलाबराय—

भारतीय दर्शनों का तथ्य अवगत कराने में यह ग्रन्थ-रत्न अत्यन्त सहायक होगा। (साहित्य सन्देश)

सन्त-साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् पं० परशुराम चौबे एम०ए० एल-एल० बी०—

यह पुस्तक हिन्दी साहित्य में बे-जोड़ है। दर्शनों का इतना सांगोपांग विवेचन अत्यन्त उपलब्ध नहीं। तन्त्र-शास्त्र का वर्णन इसकी महती विशेषता है। (वीणा)

कांग्रेस के प्रसिद्ध कार्यकर्त्ता पं० कमलापति त्रिपाठी—

चार खण्डों तथा अन्तर्विभागों में विभक्त 'भारतीय दर्शन' हिन्दी भाषा के पाठकों के लिये अत्यन्त उपयोगी है। भाषा संस्कृत-बहुला होते हुए भी सुबोध और सरल है। विषय का निरूपण, प्रतिपादन एवं समीक्षण विद्वत्ता के साथ किया गया है वह मूल शास्त्र-ग्रन्थों के अध्ययन और चिन्तन के पश्चात् लिखा गया है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ हिन्दी में बेजोड़ चीज है। (आज)

नागरी प्रचारणी सभा के सभापति पं० रामनारायण मिश्र—

साहित्याचार्य पण्डित बलदेव उपाध्याय एम० ए० लिखित 'भारतीय दर्शन' पुस्तक में भारत के प्रायः सभी दार्शनिक सिद्धान्तों का क्रमबद्ध उल्लेख है और निरूपण है। विद्वान् लेखक

का दृष्टिकोण तुलनात्मक है। इसके अध्ययन से निःसन्देह ज्ञान वृद्धि होगी।

सरस्वती, प्रयाग—

हिन्दी में यह अपने विषय का एक सुन्दर ग्रन्थ है। उपाध्याय जी ने अपनी इस रचना को पूर्ण रूप से प्रामाणिक तथा अप-टु-डेट रखने में कुछ उठा नहीं रक्खा। ऐसी पुस्तक लिखकर हिन्दी साहित्य की बड़ी सेवा की है।

जैन इतिहास तथा धर्म का विख्यात पत्र 'अनेकान्त'—

ग्रन्थ में विविध दर्शनों के विवेचन के अवसर पर प्रत्येक दर्शन की ज्ञेय मीमांसा के साथ साथ चरित्र मीमांसा का संक्षिप्त परिचय दे दिया है जिससे पाठकों को सभी दर्शनों की कितनी ही ज्ञातव्य सामग्री का एकत्र संकलन मिल जाता है। समूचे ग्रंथ की लेखन-शैली बहुत कुछ रोचक उदार, तथा भाषा मँजी हुई है और इससे ग्रन्थ के पढ़ने में आनन्द आता है। वह भार सा मालूम नहीं पड़ता।

महाकवि रवीन्द्रनाथ की विश्वभारती पत्रिका—

इस देश में इस देश की भाषाओं में लिखी हुई दर्शन-विषयक जितनी पुस्तकें मेरे देखने में आई हैं उनमें आलोच्य ग्रन्थ अविस्वादिता श्रेष्ठ है। अंग्रेजों आदि समृद्ध भाषाओं में लिखी गई किसी भी पुस्तक से इसकी गहराई कम नहीं है।

वैदिक कहानियाँ

हिन्दी साहित्य का उज्ज्वल रत्न, वेद की सुप्रसिद्ध स्फूर्तिदायक ११ कहानियाँ। भाषा रोचक शैली मनोरंजक। पृष्ठ १७८ १।।।)

भूतपूर्व शिक्षा मंत्री बाबू सम्पूर्णानन्द जी—कहानियाँ सभी उत्तम हैं। उपाध्यायजी ने वेद के प्रसिद्ध आख्यानो को हमारे सामने बड़े रोचक ढंग से रखा है। (आज)

टीचर्स ट्रेनिंग कालेज के प्रोफेसर पं० सीताराम चतुर्वेदी एम० ए०—सुरुचिपूर्ण मस्तिष्कवाले कहानी-प्रेमियों को इन वैदिक कहानियों में यज्ञधूम की सुगन्ध और पवित्रता दोनों एक साथ प्राप्त होंगे। इन कहानियों में एक नवीनता भी है। ये केवल आख्यानमात्र नहीं हैं। इनमें वस्तु-वर्णन के साथ २ घटनाओं को ऐसे क्रम से गूँथा गया है कि वर्तमानकाल की घटना-प्रधान और चरित्र-प्रधान कहानियाँ भी इसके आगे पानी भरें। वैदिक युग की गाथाओं के लिए जिस मधुर और ललित पदावली से अलंकृत भाषा अपेक्षित थी वह अपने पूर्ण शृङ्गार के साथ वैदिक कहानियाँ कहती है। (संसार)

N. C. Mehta, I. C. S.--

Let me congratulate you on the splendid diction that you have adopted throughout for telling these old-world stories of such great significance for Indian culture.

Principal, Jayadeva Singh M. A.—

The credit goes to Prof. Upadhyaya for seizing upon the incidents of these Vedic stories and developing them into beautiful, literary piece. He has given them colour, form and life....Such an attempt has not been made by any writer in any of the modern Indian languages.

ग्रन्थकार के द्वारा सम्पादित और लिखित अन्य ग्रन्थ



१. वररुचि—प्राकृत प्रकाश । (संजीवनी तथा सुबोधिनी नामक प्राचीन टीकाओं के साथ)
२. भामह—काव्यालंकार
३. भरत—नाट्यशास्त्र
४. सायण—वेदभाष्य भूमिका
५. श्रीहर्ष—नागानन्द (नई संस्कृत टीका)
६. Bhamaha and His Kavyalamkara
७. सूक्तिमुक्तावली—सुन्दर प्राचीन संस्कृत कविताओं का सरस अनुवाद
८. संस्कृत कविचर्चा—संस्कृत के मान्य २१ कवियों की विशद ऐतिहासिक समीक्षा ।
९. शंकर दिग्विजय—माधवाचार्य के ग्रन्थ का विस्तृत भूमिका तथा टिप्पणी के साथ अनुवाद ।
१०. बौद्धदर्शन—बौद्धदर्शन का विस्तृत ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक विवेचन । बौद्धतन्त्र का प्रामाणिक विवरण ।
११. संस्कृत साहित्य—संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास जिसमें वेद, काव्य, नाटक, कथा आदि का सांगोपांग विवेचन है (प्रेस में)



शारदा मन्दिर से प्रकाशित पुस्तकें



भारत प्राचीन ग्राम
प्राचीन भारतीय गौरव



बासुदेव उपाध्याय
एम. ए.

शिखामयी कहानियाँ
व्रतकौमुदी



गौरीशंकर उपाध्याय
बी. ए.

चारु चरितावली
आसाम दर्शन
निबन्ध चन्द्रिका
विवाह मीमांसा



कृष्णदेव उपाध्याय
एम. ए.



